आध्यात्मिक आलोक

प्रवचनकार :
श्री मज्जैनाचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज

सम्पादक :
पं. शशिकान्त झा

प्रकाशक :
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

प्रकाशक
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
बापू बाजार, जयपुर-३०२ ००३

प्रथम संस्करण - १००० (१९६५)
द्वितीय संस्करण - ११०० (१९८९)
तृतीय संस्करण - ११०० (१९९२)

मूल्य :
विशिष्ट संस्करण - पचास रुपये मात्र
साधारण संस्करण - तीस रुपये मात्र

मुद्रक :
दी डायमण्ड प्रिण्टिंग प्रेस, जयपुर।

आमुख

भारतीय श्रमण संस्कृति के दैदीप्यमान सूर्य और महाकल्पवृक्ष आचार्यश्री हस्तीमल जी म. सा. महामनीषी, महान् जैन इतिहासकार, महान् आध्यात्म योगी, महान साधक, दिव्य पुरूष, महान् सिद्ध पुरूष और आत्मजयी आचार्य थे, जिनके व्यक्तित्व में सागर की गहराई और पर्वत की ऊँचाई, आचार की दृढता और विचारों की उदारता, अद्भुत तेज और अपूर्व शान्ति, साम्प्रदायिक सौहार्द्र और समता का नवनीत था। आचार्यश्री ज्ञान का शिखर और साधना के श्रृंग थे; युग प्रवर्त्तक होकर भी युग युगीन थे, सामायिक और स्वाध्याय के प्रबल प्रेरक होने के साथ, अहिंसा, करुणा और दया के महासागर थे; इतिहास मनीषी होने के साथ आध्यात्म के गौरव शिखर थे; रत्नवंशीय सम्प्रदाय के सप्तम पट्टधर होते हुए भी सम्प्रदाय निरपेक्ष थे। आचार्यश्री प्राणिमात्र के प्रति रागी होकर भी घोर विरागी थे। आचार्यश्री कर्मयोगी थे, जिनका समग्र व्यक्तित्व श्रेष्ठ जीवन मूल्यों का प्रतिमान था। आचार्यश्री के व्यक्तित्व में भाव कर्म और ज्ञान की त्रिवेणी प्रवाहित होती थी।

मरुभूमि के अंचल में जोधपुर राज्य के पीपाड़ सिटी में वि. सं. १९६७ पौष शुक्ला चतुर्दशी को ओसवंश के श्री केवलचन्दजी बोहरा के परिवार में मातुश्री रूपादेवी की कोख से जन्मे बालक हस्ति ने जीवनपर्यन्त आध्यात्मिकता की स्रोतास्विनी प्रवाहित करदी। आपकी दीक्षा दस वर्ष की अल्पायु में गुरुवार वि. सं. १९७७ माघ शुक्ला द्वितीय द्वितीया को अजमेर में हुई। आपके दीक्षा प्रदाता आचार्यश्री शोभाचन्द्र जी म. सा. थे। आचार्यश्री हस्तीमलजी म.सा. ने जैन और जैनेतर दर्शनों का, संस्कृत प्राकृत और हिन्दी ग्रंथों का अध्ययन मनन कर उन्हें अपने जीवन में ही नहीं उतारा, किन्तु असंख्यजनों को उसका अमृत पिलाया। रत्नवंश के षष्टम आचार्यश्री शोभाचन्द जी म. सा. के महाप्रयाण के पश्चात् बीस वर्ष की आयु में ही आचार्यश्री हस्तीमल जी म. सा. वि. सं. १९८७ वैसाख शुक्ला तृतीया गुरुवार को आचार्य पद पर अभिसिक्त किया गया।

आचार्यश्री ने सात दशकों तक अपने प्रवचनों के माध्यम से जैन समाज की सुप्त आत्मा को जगाया, मूल्य हीनता के इस युग को श्रेष्ठ मूल्यों का नवनीत प्रदान किया। आचार्यश्री ने असत्य के स्थान पर सत्य का, हिंसा के स्थान पर अहिंसा का, असहिष्णुता और अधैर्य के स्थान पर सहिष्णुता और धैर्य का; क्रूरता के स्थान पर करूणा का; कटुता के स्थान पर मृदुता का, भय के स्थान पर अभय का, अप्रामाणिकता के स्थान पर प्रामाणिकता का जयघोष किया। आचार्यश्री ने अज्ञान

का विदीर्ण कर ज्योतिस्तम्भ के रूप में ज्ञान का प्रकाश दिया; अधर्म के इस युग को धर्म की नयी परिभाषा दी, अनुशासन हीन जीवन को धर्म और नैतिकता के नियमों से अनुशासित किया और भौतिकता के भँवरजाल में फंसे संसार को आध्यात्मिकता के द्वारा मुक्त किया।

आचार्यश्री की वाणी के द्वारा इस शताब्दी में जो निर्झरणी प्रवाहित हुई, इसमें असंख्य श्रावकों ने डुबकी लगाई। आचार्यश्री की वाणी में ज्ञान और साधना का अमृत निर्झर की तरह प्रतिक्षण प्रतिपल फूटता रहा, जिसने असंख्य लोगों के जीवन को स्वार्थ से परमार्थ की ओर, राग से विराग की ओर और भोग से योग की ओर मोड़ा। अनपढ़ से लेकर विद्वान, सामान्य जन से लेकर बड़े-बड़े श्रीमन्त आपके दर्शन के लिये लालायित रहते थे। आपने भगीरथ रूप में आध्यात्मिकता की मन्दाकिनी को भारत के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक; पश्चिम से लेकर पूर्व तक, मरुप्रदेश से लेकर बंगाल की खाड़ी तक, उत्तर से लेकर दक्षिण तक – पंजाब, हरियाणा, मध्य प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक और तमिलनाडु तक लम्बी लम्बी पदयात्राएं करके सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यक्कर्म के उपदेशों के द्वारा डगर-डगर में, ग्राम-ग्राम में और नगर-नगर में धर्म का अलख जगाकर नैतिकता का शंखनाद किया।

आज हम वैज्ञानिक उपभोक्तामूलक, भौतिकवादी और सुखवादी युग में गुजर रहे हैं। इस भौतिकवादी, सुखवादी और उपभोक्तावादी वैज्ञानिक युंग ने एक सर्प की तरह आज के आदमी को अपने जहर से मरणासन्न बनाया है। आचार्यश्री की वाणी हमें एक दिशा प्रदान करती हैं – भौतिकवादी, सुखवादी और उपभोक्तावादी युग से आत्मवादी और आध्यात्मवादी युग की ओर। आज का मनुष्य युग की विसंगतियों, विषमताओं और विडम्बनाओं के मध्य जी रहा हैं, तड़प रहा है, पीड़ित है। आचार्यश्री ने आध्यात्मिकता का अमृत पिलाकर उसे जीवनदान दिया है। मृगतृष्णा की छलना में आज का मनुष्य भौतिक सुख की खोज में भटक रहा है, किन्तु उसे गन्तव्य नहीं सूझता, वह जीवन की भूल भुलैया में फंस गया है, आचार्यश्री की वाणी ने उसे गन्तव्य दिशा दी है, उसे भौतिकता के भँवरजाल से मुक्त किया है और भौतिक सुखों के गरलपान के स्थान पर आध्यात्मिकता का पीयूष पिलाया है।

आज न जाने कितनी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ इस भटके हुए मनुष्य को दिशा प्रदान करने के भ्रम में और अधिक भटका रही है, सेवा के नाम पर छद्म सेवा का ढिंढोरा पीटती है, सेवा का भौंडा, घिनौना और निर्लज्ज प्रदर्शन करती है। आचार्यश्री ने इन सबके परे आज के जीवन को और आज के मनुष्य

को नयी दिशा प्रदान की। पाश्चात्य भोगवादी संस्कृति से मुक्ति के लिये आचार्यश्री ने जीवनभर शंखनाद किया और अपनी आध्यात्म दुंदुभी, से दुखी-पीड़ित-प्रताड़ित मानवता को आध्यात्म की सही दिशा प्रदान की।

आचार्यश्री हस्तीमल म. सा. ने सन् १९६३ ई. में सैलाना (मध्यप्रदेश) में चातुर्मास किया। उस समय सुश्रावक प्यारचन्द जी राँका ने चातुर्मास में व्याख्यान लिपिबद्ध कराने की व्यवस्था की। इसे लिपिबद्ध श्री मुरलीमनोहर पाण्डेय एम. ए. [हिन्दी एवं राजनीति विज्ञान] प्राध्यापक, हायर सैकण्डरी स्कूल सैलाना ने किया। श्री शशिकान्त जी झा ने श्री पाण्डेय जी की पाण्डुलिपि का सम्पादन किया और 'आध्यात्मिक आलोक' का प्रकाशन हुआ। प्रथम संस्करण में पैतालीस प्रवचनों - प्रथम खण्ड में पन्द्रह प्रवचन और शेष को द्वितीय खण्ड में स्थान दिया गया। इसके पश्चात् 'आध्यात्मिक आलोक' के तृतीय और चतुर्थ खण्ड का प्रकाशन श्री शशिकान्त झा के सम्पादन में वि. सं. २०२३ में हुआ। तत्पश्चात् सन् १९८९ ई. में इसका पुनः प्रकाशन संयुक्त संस्करण में मण्डल द्वारा हुआ। आध्यात्मिक आलोक के इस प्रकाशन में सर्व श्री गजसिंह जी राठौड़, और प्रेमराज जी बोगावत का निस्वार्थ सहयोग रहा।

वि. सं. २०४८ वैसाख शुक्ला अष्टमी को जैन जगत का यह जाज्वल्यमान सूर्य १३ दिवसों की संल्लेखना के पश्चात् इस पार्थिव जगत से महाप्रयाण कर गया। आचार्यश्री की प्रथम पुण्यतिथि समस्त जैन समाज के लिये सांकल्पित निष्ठा की पवित्र राशि है, जो हमें कर्त्तव्य और दायित्व के प्रति सक्रिय और सजग रहने के लिये प्रबुद्ध करती है। सम्यज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर ने इस दिवस को आचार्यश्री की सार्वकालिक देशना के अनुरूप मनाने का निश्चय किया है। इस पवित्र पुण्यतिथि को पूर्व प्रकाशित 'आध्यात्मिक आलोक' का पुनः प्रकाशन इसकी एक महत्वपूर्ण कड़ी है।

वैसाख शुक्ला अष्टमी
वि.सम्वत् २०४९

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
जयपुर।

अनुक्रम

खण्ड प्रथम

खण्ड द्वितीय

आध्यात्मिक आलोक

[१]

साधना के मूलमन्त्र

साधना के भेद –

संसार में प्राय: दो प्रकार की साधना पायी जाती हैं, एक लोक साधना और दूसरी धर्म साधना। अधिकांश मनुष्य अर्थ और कामरूप लोक साधना के उपार्जन में ही अपने बहुमूल्य जीवन का समस्त समय खो देते हैं और उन्हें धर्म साधना के लिये अवकाश ही नहीं रह जाता। ऐसे मनुष्य भौतिकता के भयंकर फेर में पड़कर न केवल अपना अहित करते वरन्, समाज, देश और विश्व का भी अहित करते हैं।

आज के युग में चारों ओर फैले संघर्ष और अशान्ति का मूल कारण अतिशय भौतिक भावना ही है, दृश्यमान जगत् का कण-कण आज भौतिकता से प्रभावित दिखाई देता है और दीपक लौ पर पतंगे की तरह हर क्षण मानव मन उधर आकृष्ट होता जा रहा है। इससे बहिरंग और अन्तरंग दोनों ही प्रकार की अशान्ति बढ़ती है तथा मनुष्य दानवता और पशुता की ओर बढ़ते हुए निरन्तर मानवता से विमुख होता जा रहा है।

धर्म साधना –

धर्म साधना का लक्ष्य इससे बिल्कुल विपरीत है। यह मनुष्य को मानवता से भी ऊंचा उठाकर देवत्व या अमरत्व की ओर अग्रसर करती है। वास्तव में धर्म साधना के बिना मानव जीवन निष्फल, अपूर्ण और निरर्थक प्रतीत होता है। आर्थिक दृष्टि से कोई व्यक्ति चाहे कितना ही सम्पन्न, इन्द्र या कुबेर के समान क्यों न हो, किन्तु उसका आन्तरिक परिष्कार नहीं हुआ हो तो निश्चय ही जीवन अधूरा ही रहेगा और उसे वास्तविक लौकिक एवं पारलौकिक सुख प्राप्त नहीं होगा।

इसी दृष्टिकोण ने अतीतकाल में अनेक राजाओं और महाराजाओं को पुनीत प्रेरणा दी थी। जिसके फलस्वरूप उन्होंने राजसी सुख भोगों को त्याग कर धर्म साधना का पावन मार्ग अपनाया, पर आज का समाज उस पवित्र परम्परा को भूल बैठा और यही कारण है कि उसे लोक साधना और धर्म साधना के बीच सामंजस्य करना कठिन हो रहा है ।

लोक साधना –

आज के मानव ने धन को साधन न मान कर साध्य बना लिया है । धन संचय को धर्म संचय से भी बढ़कर समझ लिया है । हर जगह उसे धन की याद सताती है और हर तरफ उसे धन का ही मनोरम चित्र दिखाई देता है । और तो क्या ? आज संत दर्शन और संत समागम में भी धन लाभ की कामना की जाती है। किन्तु श्रेणिक सारे धन वैभव को साथ लेकर वीतराग प्रभु को वन्दन करने चला। इसके पीछे भावना थी कि जन-साधारण के मन में धर्म के प्रति विश्वास उत्पन्न हो और वे यह समझें कि धन-वैभव और शाही-सत्ता से भी कोई बड़ा है। सत्पुरुषों के पास कोई विशिष्ट वस्तु है जिसको पाने के लिये सत्ताधारी भी लालायित रहते हैं, इस प्रकार धर्म के प्रति जन-मन की श्रद्धा जगाने और सद्‌गुणों के प्रति आदर का भाव उत्पन्न करने को ही महान् मगध सम्राट श्रेणिक– बिम्बसार भी भगवान महावीर स्वामी के चरणों में पहुँचा । जिस प्रकार जलधारा के मध्य में पड़ा हुआ विपन्न व्यक्ति तीर (किनारा) पाने से प्रसन्न होता है, वैसी ही स्थिति महाप्रभु के चरण, शरण में आकर श्रेणिक की हुई। क्योंकि संतों का दर्शन एवं प्रवचन संसार सागर से तारने वाला होता है । मुक्ति की प्राप्ति के लिए संत संसार सागर के तीर या तीर्थ के समान माने गये हैं। कारण, जिसके द्वारा तिरा जाय, सचमुच वही तीर्थ है और कामादि विकारों में गुड़ चींटी की तरह सदा लिप्त रहने वाले मनुष्यों को छुटकारा दिलाना ही तीर्थ की वास्तविक उपादेयता है, जो संतों के चरणों में ही पूर्ण होती है। इसीलिये कहा है कि– 'तीर्थभूता हि साधवः'

श्रेणिक की साधना –

यद्यपि श्रेणिक अविरत-सम्यग्दृष्टि होने से किसी व्रत नियम की साधना नहीं कर सका फिर भी उसकी श्रद्धा शुद्ध एवं स्थिर थी। नवकारसी पचक्खाण भी नहीं करने वाला श्रेणिक संघ भक्ति के लिये सदा तत्पर रहता, क्योंकि साम्राज्य-पद पाकर भी वह धर्म को नहीं भूला था । जिस प्रकार एक चतुर किसान फसल पकने के समय विशाल धन राशि पाकर पेटभर खाता, देता और ऐच्छिक खर्च करते हुए भी बीज को बचाना नहीं भूलता, वैसी ही सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी पुण्य-फल का भोग करते हुए सत्कर्म साधना रूप धर्म बीज को बचाना नहीं भूलता। ठीक ही कहा है:–

बीज राख फल भोगवे, ज्यों किसान जग मां हि।
त्यों चक्री नृप सुख करे; धर्म विसारे नाहिं ।

महाराज श्रेणिक इसी उच्च आदर्श एवं उद्देश्य को लेकर प्रभु के समक्ष उपस्थित हुआ था । उसके पास किसी भी वस्तु की कमी नहीं थी । भण्डार भरा हुआ था। फिर भी उसने शासन सेवा के लिये राज-रानी और राज-पुत्रों को अर्पण कर दिया । कितनी बड़ी साधना है यह ? इसलिये आचार्यों ने कहा है—जो अविरति होकर भी संघ में भक्ति रखता और शासन की उन्नति करता है, वह प्रभावक श्रावक है।

आज के गृहस्थ को धर्म और अर्थ दोनों में सुन्दर सामंजस्य स्थापित करने की आवश्यकता है। धर्म को साध्य के रूप में तथा अर्थ को साधन रूप में ग्रहण करने से ही स्थिति का सुधार हो सकता है। यदि धर्म साधना का परित्याग कर केवल अर्थ संचय को ही प्रमुखता दी गई तो मनुष्य और पशु के जीवन में कोई अन्तर नहीं रहेगा। सद्गृहस्थ के लिये यह आवश्यक है कि अर्थ साधन के साथ धर्म को महत्व की दृष्टि से देखता रहे, और उसका सर्वथा परित्याग नहीं करे।

श्रेणिक की तरह नगर के गणमान्य सद्गृहस्थ भी भगवान् की सेवा का लाभ लेते थे, उनमें आनन्द का नाम प्रमुख है। वह वाणियग्राम नगर का एक करोड़पति सेठ था। उसके पास धन और मन दोनों थे। वह अपने परिवार की तरह लोक में भी विश्वासपात्र था। सुख सामग्रियों में किसी बात की कमी नहीं थी। उसका घर सुख सम्पदाओं से भरपूर था । सुयोग से सुशीला शिवानन्दा-सी जीवन-संगिनी पाकर उसका जीवन और भी सुखमय बन गया । एक बार अपने नगर में भगवान् महावीर के पधारने की बात सुनकर वह भी सेवा में गया और प्रभु का सदुपदेश सुनकर उसका नैतिक जीवन चतुर्गुणा चमक उठा एवं उसमें पर्याप्त बल आ गया । आनन्द ने सोचा कि प्रभु का मार्ग सच्चा है । प्राणी जब तक पाप का सम्पूर्ण त्याग नहीं करता, संताप मुक्त नहीं हो सकता । मुझे आरम्भ और परिग्रह का त्याग करना चाहिये और जब तक इनके सम्पूर्ण त्याग का सामर्थ्य न हो तब तक इनका परिमाण तो जरूर कर लेना चाहिये। इस प्रकार उसने इनकी मर्यादा करली और अपने सद्गुणों की सौरभ से समस्त वातावरण को सुरभित बना दिया । आज भी वह सबके लिये अनुकरणीय है।

सुयोग्य गृहिणी की आवश्यकता –

आनन्द के धार्मिक जीवन की साधनाओं में शिवानन्दा जैसी सुशीला और कुशल पत्नी का भी बड़ा योग था। उसके अभाव में शायद ही इस कुशलता से साधना के बीहड़ पथ को वह पार कर पाता । यह एक मानी हुई बात है कि

पारिवारिक जीवन की सफलता बहुत अंशों में गृहिणी की क्षमता पर ही निर्भर है। दुर्दैव से यदि गृहिणी कर्कशा, कटुभाषिणी, कुशीला तथा अनुदार मिल जाती है तो व्यक्ति का न सिर्फ आत्म-सम्मान और गौरव घटता, बल्कि घर की सारी इज्जत मिट्टी में मिल जाती है। ऐसी को, गृहिणी के बजाय ग्रहणी कहना अधिक संगत लगता है। ऐसी संगिनी के संग पुरुष अपने उत्तरदायित्व को भली-भांति संभाल नहीं पाता। अतएव पत्नियों का सुयोग्य होना भी आवश्यक है। पुरुष और स्त्री गृहरूपी शकट के दो चक्र हैं। उनमें से एक की भी खराबी पारिवारिक जीवन रूपी यात्रा में बाधक सिद्ध होती है, योग्य स्त्री सारे घर को सुधार सकती है। नास्तिक पुरुष के मन में भी आस्तिकता का संचार कर देती है। स्त्री को गृहिणी इसीलिये कहा है कि घर की आन्तरिक व्यवस्था, बच्चों की शिक्षा-दीक्षा तथा सुसंस्कार एवं समुचित लालन-पालन और आतिथ्य-सत्कार आदि सभी का भार उस पर रहता है और अपनी जिम्मेवारी का ज्ञान न रखने वाली गृहिणी राह भूल कर गलत व्यवहारों में भटक जाती है । अतः उसका विवेकशील होना अत्यन्त आवश्यक है । बिना पुण्य बल के ऐसी गृहिणी हर किसी को नहीं मिलती, कहा भी है :–

शरीर-सुख ने सम्पदा, विद्या ने वरनार ।
पूरवला दत्तव बिना, मांग्या मिले न चार ।

आज की गृहिणी –

यह बड़ी विडम्बना है कि आज की गृहिणियां अपने नहाने, धोने और शरीर सजाने में इतनी व्यस्त रहती हैं कि उनको घर संभालने और बच्चों की शिक्षा-दीक्षा व संस्कार दान के लिये कोई समय ही नहीं मिलता । वे चाहती हैं कि बच्चों को कोई दूसरा संभाल ले। आजकल बालमन्दिरों पर जिस कार्य का भार डाला जा रहा है, प्राचीन काल में वह कार्य गृह महिलाओं द्वारा किया जाता था। बच्चों पर जो संस्कार योग्य माताएं डाल सकती हैं, भला वह बाल मन्दिरों में कैसे सम्भव हो सकता है ? वस्तुतः आज की माताएं नाममात्र की माताएं रह गयी हैं, पहले का आदर्श, त्याग सेवा और वात्सल्य को उन्होंने भुला दिया है। यही कारण है कि आज बालकों में संस्कार और शील नहीं पाये जाते। "कुपुत्रो जायते क्वचिदपि कुमाता न भवति" का वात्सल्य भरा मधुर आदर्श आज नहीं रहा। वास्तव में मातृ जीवन के गौरव से आज की महिला पराङ्मुख हो गयी है।

संतति निरोध –

आज की माताएं माता बनना तो चाहती हैं किन्तु मातापन की खटपट उनको पसन्द नहीं । उन्हें आहार-विहार और अपने साज-श्रृंगार में संयम रखना इष्ट नहीं । खुले रूप में वासना का तर्पण ही आज के जीवन का लक्ष्य बन रहा है ।

ऐसी स्थिति में अवांछनीय जनवृद्धि होना क्या आश्चर्य है ? सदाचार की ओर दुर्लक्ष्य ही इस सारी विषम-स्थिति का मूल है। दूसरों का पालन करने वाला मानव आज अपनी ही वृद्धि से चिन्तित हो रहा है। करोड़ों पशु-पक्षियों को दाना खिलाने वाला भारत आज अपनी खाद्य समस्या के लिये चिन्तित हो, ताज्जुब की बात है। जनसंख्या की वृद्धि से चिन्तित राष्ट्रीयजन वैज्ञानिक तरीकों से संतति नियन्त्रण करना चाहते हैं। भले इन उपायों से संतति निरोध हो जाय और लोग अपना बोझा हल्का समझ लें क्योंकि इन उपायों से संयम की आवश्यकता नहीं रहती और ये सुगम और सरल भी जंचते हैं किन्तु इनसे उतने ही अधिक खतरे की सम्भावना भी प्रतीत होती है। भारतीय परम्परा से यदि ब्रह्मचर्य के द्वारा सन्तति निरोध का मार्ग अपनाया जाये तो आपका शारीरिक व मानसिक बल बढ़ेगा, और दीर्घायु के साथ आप अपने उज्वल चरित्र का निर्माण कर सकेंगे ।

साधना का महत्व –

जीवन को महिमाशाली बनाने के लिये सद्गुणों को अपनाना अत्यन्त आवश्यक है । सद्गुण हमारे भीतर उसी तरह विद्यमान हैं जैसे लकड़ी में अग्नि। आवश्यकता है उन्हें प्रदीप्त करने के लिये समुचित साधना की। घर्षण करने से लकड़ी में से आग निकलती है और चकमक पत्थर से भी घर्षण द्वारा ज्योति पैदा हो जाती है । जब लकड़ी या पत्थर जैसे निर्जीव पदार्थों से भी घर्षण द्वारा ज्योति पैदा की जा सकती है तो क्या साधना के द्वारा मनुष्य के हृदय में ज्ञान की ज्योति प्रदीप्त नहीं की जा सकती ? यदि जीवन की डोर ढीली न की जाये तो पुरुषार्थ के द्वारा साधना के मार्ग में हम जीवन को ऊपर उठा सकते हैं । निम्न स्तर पर गिरा हुआ पतित व्यक्ति भी साधना के द्वारा कराल-पाप-पुञ्ज से अपनी उन्नति कर गौरव-गिरि का अधिवासी बन सकता है ।

साधना या अभ्यास में महाशक्ति है। वह साधक को उच्च से उच्च स्थिति पर पहुँचा सकती है । रवि-शशि की तरह साधन है दैदीप्यमान बन सकता है । स्मरण और भक्ति की कणिका में लगी अग्नि पौरुष के बल पर हृदय में ज्योति जगा देती है ।

साधनाहीन विलासी जीवन कुछ भी प्राप्त नहीं करता, वह अपनी शक्ति को यों ही गंवा बैठता है। जीवन चाहे लौकिक हो या आध्यात्मिक, सफलता के लिये पूर्ण अभ्यास की आवश्यकता रहती है। जीवन को उन्नत बनाने और उसमें रही हुई ज्ञान क्रिया की ज्योति को जगाने के लिये साधना की आवश्यकता है। साधना के बल पर चंचल मनपर भी काबू पाया जा सकता है। जैसे-गीताकार श्रीकृष्ण ने भी कहा है–

"अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते"

सद्गुणों के प्रति आदर और दुर्गुणों के प्रति क्षोभ साधना के द्वारा सहज प्राप्त होता है। जैसे कपड़ों में लगे कीचड़ या गन्दगी से हमें घृणा होती है और उसे हम निकाल डालते हैं, वैसे ही साधक अभ्यास द्वारा पाप पंक को निकाल देता है। विलासमयी महानगरी कलकत्ते के जौहरी श्री सागरमलजी ने साधना के बल से ही भोग और योग की ओर प्रगति की। गुरु भक्ति के उस मस्त साधक ने ५९ दिन का कठोर अनशन हंसते-२ पार कर दिया। एक दिन के व्रत में अकुलाने वाला शान्त-भाव से ५९ दिन पार कर दे, यह साधना का ही बल है ।

साधना मार्ग के विघ्न और बाधाओं को हटाकर त्यागमय जीवन बिताना ही इष्ट फलदायक है । त्याग और वैराग्य के उदित होने पर सद्गुण आप से आप आते हैं। जैसे ऊषा के पीछे रवि-रश्मियां स्वतः ही जगत को उजाला देती हैं । वैसे अभ्यास के बल पर सद्गुण अनायास चमक पड़ते हैं ।

साधु सम्पूर्ण त्यागमय जीवन का संकल्प लेकर जन मानस के सामने साधना का महान् आदर्श उपस्थित करता है । वह रोटी के लिये ही सन्त नहीं बनता । रोटी तो पशु-पक्षी भी पा लेता है । संत की साधना का लक्ष्य पेट नहीं 'थेट' है वह मानता है कि रोटी शरीर पोषण का साधन है और शरीर उपासना एवं सेवा का मूल आधार। जैसा कि कहा है–

"शरीरमाद्यंखलुधर्मसाधनम्"

किन्तु शरीर यदि साधना मार्ग पर नहीं चले तो किस काम का ? महामुनि ने सोचा कि तप से शरीर भले क्षीण होता है पर आत्मिक शक्ति बढ़ती है । अतः यह भावदया है । उन्होंने हंसते-हंसते प्राणोत्सर्ग कर दिये ।

आज दिवंगत सागर मुनि का भौतिक शरीर यद्यपि अस्तित्व में नहीं है, फिर भी उनकी अमर-साधना युग-युग तक साधकों के दिल-दिमाग को झुकाती रहेगी। कहा भी है–

प्रभुताई को सब मरे, प्रभु को मरे न कोय ।
जो कोई प्रभु को मरे, तो प्रभुता दासी होय ।।

वास्तव में प्रभु के पीछे मरने से लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रभुता मिलती हैं जिनको पाकर कि और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। आज का मानव दिवंगत साधक के पुनीत जीवन से कुछ साधना का महत्व समझ पाये और जीवन को पुण्य-पथ पर गतिशील बना सके तो निश्चय ही उसका उभय लोक मंगलमय बन जायेगा।

(सैलाना, २०-१२-६२)

---

[२]

साधना के स्वर

पुण्य कला -

परमदर्शी आचार्यों ने अपने गम्भीर चिन्तन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि धर्माराधना के बिना जीवन में सच्ची शान्ति नहीं मिलती। संसार की समस्त कलाएं, निपुणताएं और विशेषताएं जीवन को तब तक समुन्नत और सफल नहीं बना सकतीं, जब तक कि उनमें पुण्य-कला की प्रधानता नहीं होती । आत्मार्थी ऋषियों का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि–

सकलापि कला कलावतां, विकला पुण्यकलां बिना खलु ।
सकले नयने वृथा यथा, तनुभाजां हि कनीनिकां बिना ।।

जिस प्रकार तारा (पुतली) विहीन नयन व्यर्थ है, वैसे ही धर्म भक्ति विहीन व्यक्ति का जीवन भी बेकार है–पुण्यविहीन व्यक्ति जलहीन बादल के समान है। वस्तुतः जीवन में प्राण का संचार करने वाली शक्ति धार्मिकता ही है। यही कारण है कि सब तरह से समृद्ध और सम्पन्न सम्राट श्रेणिक को भी प्रभु महावीर के चरणों में सच्ची शान्ति एवं पुण्य-पीयूष पान के लिये जाना पड़ा। आनन्द और शिवानन्दा ने भी पारस्परिक सहयोग से आध्यात्मिक रस का पान कर जीवन को सफल बनाया। इन सब उदाहरणों से यह भली भांति समझा जा सकता है कि जीवन का उद्देश्य केवल जीना और लोक साधना ही नहीं है। उदर-पूर्ति, ऐश-आराम और धन-संग्रह ही यदि जीवन का परम उद्देश्य होता तो स्वयं भगवान महावीर को भी साधना के इस कठिन पथ से गुजरना नहीं पड़ता।

सौन्दर्योपासना की आंधी -

मगर आज की तो हवा ही बदली हुई है। भौतिकता की चकाचौंध में लोग आध्यात्मिकता को भूलते जा रहे हैं। पाश्चात्य देशों से प्रभावित होकर आज का मानव प्रधानतः सौन्दर्य का उपासक बनता जा रहा है। पाश्चात्य संस्कृति सुन्दरता की

उपासिका है और उसकी छाप आज भारतीयों पर भी दिखाई दे रही है। वे अपनी संस्कृति के मूल तत्व "सत्यं शिवं" को भूल से गए हैं। उनकी दृष्टि में आज सिर्फ सुन्दरता ही समायी हुई है। वे इसके पीछे छिपी हुई बुराइयों पर ध्यान नहीं देते किन्तु यह ठीक नहीं। यदि शीघ्रता में एक अत्यन्त सुन्दर भवन तैयार कर लिया जाय और वर्षा ऋतु में उससे पानी टपकने लगे तो उस भवन की सुन्दरता किस काम की ? यदि एक बहुत सुन्दर बांध बनाकर तैयार कर लिया जाये और बाद में उसमें से पानी बहने लगे तो उसका सौन्दर्य किस काम का ? हर क्षेत्र में सुन्दरता के साथ सत्य और शिवं भी होना चाहिये। उचित तो यह है कि पहले सत्यं और शिवं हो फिर सुन्दरं । यही भारतीय संस्कृति की विशेषता मानी गयी है ।

प्राचीन काल की मिट्टी की दीवारें आज कुदाली से भी मुश्किल से टूटती हैं जबकि आज की ईंटों की पक्की दीवारें अनायास टूट-फूट जाती हैं। मतलब यह कि कोई भी वस्तु चाहे कितनी ही सुन्दर क्यों न हो ; यदि उसमें 'सत्यं और शिवं ' तत्व नहीं हैं तो वह वस्तु वास्तविक आदर योग्य नहीं होती। सौरभहीन कागज का फूल चमक-दमक और कमनीय कलेवर वाला होते हुए भी उसे कोई भी नहीं सूंघता । यह तो बाहरी सुन्दरता की बात हुई । जीवन की दशा भी ठीक यही है ।

आज हम कोरे सौन्दर्य के उपासक बन गये हैं और अच्छी वेश-भूषा ही आज के जीवन का उच्च-स्तर माना जाता है। इससे जीवन अप्रमाणिक और अवास्तविक बन गया है। जीवन को चमकाने वाली नैतिकता और आध्यात्मिकता की अतिशय कमी हो गयी है। जैसे पोषक-शक्ति के अभाव में शरीर पीला और व्याधिग्रस्त होकर बेकाम बन जाता है, वैसे ही आध्यात्मिकता के अभाव में भारतीय संतति हतप्रभ और उत्साह-विहीन होती जा रही है। इसका मूल कारण है साधना की कमी और माता-पिता से प्राप्त होने वाले सुसंस्कार का अभाव।

जीवन-निर्माण में माता-पिता का महत्त्व –

जीवन की साधना में माता-पिता के उत्तम संस्कार का बड़ा हाथ रहता है। माता के उत्तम संस्कार पाकर ही महात्मा गांधी श्रद्धाशील और संस्कारवान बने रहे। उन्होंने यद्यपि बैरिस्टरी तक पाश्चात्य शिक्षा ग्रहण की किन्तु उनके आहार-विहार एवं आचार-विचार सभी भारतीय ढंग के बने रहे। क्योंकि उनकी माता बड़ी धर्मशीला थीं, विलायत जाने के पूर्व माताजी उन्हें संत रायचन्द्र स्वामी के चरणों में ले गईं और वहीं उनसे संकल्प करवाया कि सात्विक भोजन एवं सदाचार का सदा पालन करूंगा। इसी प्रेरणा का प्रभाव है जो गांधीजी को विलायत के विलासी वातावरण में भी गिरावट से बचाकर पवित्र रख सका ।

गांधीजी के जीवन में साधना, व्रत, भक्ति, सादगी और सुचरित्र आदि का समावेश उनकी माताजी के संस्कार का ही परिणाम कहा जा सकता है । पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित व्यक्ति आध्यात्मिकता के विरोध में तर्क उपस्थित करते हैं, किन्तु वैसी तर्क-भावना बैरिस्टर गांधी के मन को प्रभावित नहीं कर सकी। कारण स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति में पली जननी का सुसंस्कार पाश्चात्य शिक्षा जन्य बुराइयों को दूर रखने में सर्वथा सफल रहा। यदि भोजन सात्विक और मन दृढ़ न हो तो कोई भी तरुण हर्गिज पाश्चात्य रमणियों से प्रभावित हुए बिना स्वदेश नहीं लौट सकता।

घर में माता-पिता का जैसा व्यवहार होता है, प्रेम या विरोध के जो वातावरण दृष्टिगोचर होते हैं सन्तान के मन पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ता है, इसीलिये बच्चे को जैसा बनाना चाहते हैं, दम्पत्ति को स्वयं वैसा बनना होगा। यदि माता-पिता स्वयं विनयशील न होंगे तो बच्चे कैसे विनयशील होंगे ? यदि पिता स्वयं की बुढ़िया मां से ठीक व्यवहार नहीं करे तो उसके बच्चे बड़े होने पर मां-बाप से विनय का व्यवहार कैसे रक्खेंगे ? बहुत बार लोग शिकायत करते हैं कि महाराज ! बच्चों में विनय नहीं रहा, ये लोग बड़ों की बात नहीं मानते । वास्तव में इसके लिये माता-पिता भी जिम्मेदार हैं। मां-बाप शीलवान एवं विनम्र हैं तो उनके बच्चे भी वैसे ही बनेंगे। बचपन में डाला गया संस्कार अमिट होता है और यह दायित्व पूर्ण रूप से माता-पिता पर अवलम्बित रहता है। नीति भी कहती है–

"यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत् ।"

शिक्षा का प्रभाव –

जीवन-निर्माण में दूसरी छाप शिक्षा की भी पड़ती है। माता-पिता की वात्सल्यमयी गोद छोड़ने के बाद बच्चे शिक्षालय की शरण में जाते हैं और वहां जैसी शिक्षा प्राप्त होती है, उसके अनुकूल अपने आचरण का निर्माण करते हैं। मगर देखने से पता चलता है कि आज की शिक्षा जीवनोपयोगी होते हुए भी, व्यावहारिकता और आध्यात्मिकता से कोसों दूर है । आज के अध्यापक का जितना ध्यान, शरीर, कपड़े, नाखून, दांत आदि की बाह्य स्वच्छता की ओर जाता है, उतना उनकी चारित्रिक उन्नति की ओर नहीं जाता। बाह्य स्वास्थ्य जितना आवश्यक समझा जा रहा है, अतंरग भी उतना ही आवश्यक समझा जाना चाहिये। अंतर में यदि सत्य-सदाचार और सुनीति का तेज नहीं है तो बाहरी चमक-दमक सब बेकार साबित होगी। सही दृष्टि से तो स्वस्थ मन और स्वस्थ तन एक दूसरे के पूरक व सहायक हैं। आज ग्रामीण बालक धूलि भरे बदन होते हुए भी नगर किशोरों से अधिक हृष्ट-पुष्ट क्यों दीख पड़ते हैं ? मानना होगा कि इसका प्रमुख कारण उनका आहार-विहार व सदाचार ही

है, वे शहरी कृत्रिमता की अपेक्षा प्राकृतिक जीवन के अधिक निकट होते हैं और आज की शिक्षा वास्तविकता से अधिक कृत्रिमता की ओर झुकी हुई है।

आज की शिक्षा से प्रभावित लोग अपनी संस्कृति को भुला कर विदेशी संस्कृति की जोरों से नकल करने पर तुल गये हैं। अन्धानुकरण की अनेक बुरी आदतों ने भारतीयों में अपना घर बना लिया है, प्राचीन लोग दांत की सफाई के लिये निम्बादि के दतौन तथा उंगली का प्रयोग किया करते थे जब कि आज के शिक्षित टूथ-पाउडर और ब्रुश का उपयोग करने लगे हैं। जड़ी-बूटी से निर्मित अल्प मूल्य की भारतीय औषधियों को छोड़ कर आज के लोग इंग्लैंड और अमेरिका की बनी बेशकीमती दवाओं पर अधिक निर्भर रहने लगे हैं। और भी ऐसी कई बातें हैं जिनके लिये देशवासी आज पश्चिम की ओर लालायित दृष्टि से देखते हैं। इसी नकल की प्रवृत्ति के कारण लोग आर्थिक, सामाजिक व धार्मिक दृष्टियों से हानि उठा रहे हैं। इन सबका मूल कारण शिक्षण-पद्धति में विकार है, जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता। अंग्रेज चले गए मगर उनकी चलायी शिक्षण-पद्धति आज भी हमें उनकी ओर देखने को विवश कर रही है।

भारतीय परम्परा में "सत्यं शिवं सुन्दरम्" के आदर्श पर शिक्षण दिया जाता तो विद्यार्थियों में नैतिकता के साथ चरित्र-निर्माण का भी कारण होता । बड़े-बड़े गुरुकुल सुसंस्कारी नागरिक-निर्माण करने को देश-विदेश तक प्रसिद्ध थे । नालन्दा और तक्षशिला के गुरुकुल विश्वभर के लिये आकर्षण के केन्द्र थे। उनमें साक्षरता के साथ संस्कार दिये जाते थे।

जीवन-विकास में परोपकार-सेवा का महत्व कम नहीं है। अतीत का भारत आज की तरह परावलम्बी नहीं किन्तु स्वावलम्बी और परोपकारी था।

आज बड़े-बड़े पदाधिकारी या शिक्षित व्यक्ति स्वयं काम नहीं करते। क्योंकि, काम करना उनकी दृष्टि में हीनता की निशानी है। उन्हें हर काम के लिये सेवक या नौकर चाहिये। ऐसे लोगों से दूसरों की सेवा की क्या आशा की जाय, जो स्वयं अपना काम नहीं कर सकते। उनसे त्यागमय उच्च-जीवन की तो आशा ही व्यर्थ है। मगर प्राचीनकाल की घटनाएं आंखें खोलने वाली हैं। एक बार श्रीकृष्ण अरिहन्त अरिष्टनेमि को वन्दन करने अपनी सेना के साथ द्वारिका नगरी के मध्य से जा रहे थे। वहां मार्ग में उन्होंने एक अत्यन्त वृद्ध ब्राह्मण को ईंट ढोते हुए देखा। श्रीकृष्ण उसकी अवस्था देख कर द्रवित हुए और ब्राह्मण के सहायतार्थ स्वयं हाथी से उतर कर एक ईंट उठा कर उसके घर में डाल दी। फिर क्या था ? अपने स्वामी को ईंट ढोते देखकर सेना के सभी कर्मचारियों ने उस कार्य में हाथ बटाया और

देखते-देखते उस वृद्ध का काम पूरा हो गया। यह था श्रीकृष्ण के काम करने का तरीका। जो काम कहके कराया जाता है उसकी अपेक्षा स्वयं करके कराया गया काम अधिक प्रिय होता है। यदि परिवार या दल के प्रमुख अपना कार्य स्वयं प्रारम्भ करें तो अन्य सदस्य उनका अनुकरण सहज ही करेंगे। आज भी संत लोग दूसरों से अपनी सेवा न लेकर अपना काम स्वयं करते हैं। यह स्वाश्रयी वृत्ति का नमूना है। पूर्वकाल के श्रावक स्वयं पौषधशाला में प्रमार्जन करते थे, तब उसका महत्त्व समझा जाता था। आज उपाश्रय का कचरा सेवकों से साफ कराया जाता है। इस प्रकार दूसरों पर असर नहीं पड़ सकता।

ज्ञान की आवश्यकता –

साधना की सफलता के लिये ज्ञानार्जन की भी बड़ी आवश्यकता है। बिना ज्ञान का जीवन सचमुच में नींवहीन महल की तरह है वास्तविक ज्ञान और विश्वास की भूमिका के बिना मनुष्य ऊंचा नहीं उठ सकता। शास्त्र में कहा है कि जो जीव अजीव को नहीं जानता वह संयम को, पाप-पुण्य को, तथा धर्म-अधर्म को कभी नहीं जानेगा। ऐसा अज्ञानी संयम या साधना क्या करेगा ? जैसा कहा है–

जो जीवेऽवि न जाणइ, अजीवेऽवि न जाणइ।
जीवाजीवे अजाणन्तो, कहं सो नाहीउ संजमं ।।

द.अ. ४/१२/

प्रश्न हो सकता है कि ज्ञान-सम्पादन कैसे किया जाये ? बालक के लिये पाठ के रूप में ज्ञान ग्रहण करना कुछ सुगम हो सकता है परन्तु प्रौढ़ों के लिये ऐसा सहज नहीं। उनके मन में चंचलता बनी रहती है अतः आर्थिक सामाजिक विक्षेपों के बीच उनकी ज्ञान साधना कठिन होती है। स्वाध्याय के द्वारा वे प्रौढ़ भी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिये एकाग्रता, तन्मयता और दृढ़-संकल्प के साथ अटूट लगन की भी आवश्यकता है। सत्प्रवृत्ति में अनुराग और दुष्प्रवृत्ति के त्याग के लिये ज्ञान का होना अत्यावश्यक है। राम की तरह आचरण करना या रावण की तरह यह ज्ञान के बिना कैसे जाना जा सकता है ?

स्वाध्याय और ज्ञान –

कुछ लोग कहते हैं कि हमारा धर्म सत्य और दयामय है, इसमें सीखना क्या है ? ठीक है, दया और सत्य पर धर्म का प्रासाद खड़ा है और महामनीषियों ने दया को धर्म का मूल कहा है, किन्तु ज्ञान के बिना दया को जानना और पालना भी तो सम्भव नहीं है। ज्ञान-वृद्धि का प्रमुख साधन स्वाध्याय है; साक्षात् गुरुवाणी

का योग नहीं मिलने की स्थिति में स्वाध्याय स्थायी साधन ही सहारा है । क्योंकि योग्य गुरु और साधु तो अंगुली पर गिनने योग्य हैं फिर ऐसे योग्य गुरुओं तथा संतों की वाणी सुनने का हमेशा अवसर भी नहीं मिलता। अतः उनके अभाव में उनकी प्रेरणा का लाभ हमें स्वाध्याय से ही मिल सकता है।

विभिन्न दृष्टिकोणों से स्वाध्याय के अनेक अर्थ होते हैं। स्व+अध्याय, इस अर्थ में दूसरों को पढ़ने की अपेक्षा स्वयं के जीवन का अध्ययन या मनन करना । दूसरा सु+आ+अध्याय, अर्थात् उत्तम ग्रन्थों का अध्ययन करना होता है । भगवान् महावीर ने उत्तम शास्त्रों का लक्षण यह बतलाया है कि, "जं सुच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिसयं। उ० ३ । जिस शास्त्र को पढ़कर या सुनकर मानव मन को सुप्रेरणा मिले तथा क्षमा-तप और अहिंसा आदि की भावना बलवती हो। जैसे मुझ में लगे कांटे मेरे लिये दुःखजनक हैं वैसे कांटे दूसरों के लिये भी दुःखद होंगे, ऐसी भावना या उत्तम वृत्तियां जिसके अध्ययन से जगे, वही उत्तम शास्त्र है और ऐसे शास्त्रों के अध्ययन से ही मनुष्य में विमल ज्ञान चमकता है और वह जीवन को उच्चतम बनाता है ।

आत्म साधना –

जीवन की समुन्नति या साधना की सफलता के लिये तन की तरह आत्मा का भी महत्त्व समझना आवश्यक है। तन की रक्षा और पोषण के लिये लोग क्या नहीं करते, पर आत्म-पोषण की ओर कोई विरला ही ध्यान देता है। पर याद रखना चाहिये कि तन यदि एक गाड़ी है तो आत्मा उसका चालक है; गाड़ी में पेट्रोल देकर चालक को भूखा रखने वाला धोखा खाता है। आज संसार की यही हालत है । तन के लिये मनुष्य खाता-पीता, सोता, वस्त्र धारण करता और समय पर मल-मूत्र त्यागने को भी जाता है। इनमें से एक काम भी कभी नहीं छोड़ा जाता, लोग मानते हैं कि इनको छोड़ा जाय तो शरीर नहीं चलेगा। कहा भी है–

खान-पान परिधान पट, निद्रा मूत्र पुरीस ।
ये षट् कर्म सब कोई करें राजा-रंक सरीस ।।

शरीर रक्षण में इनको आवश्यक माना गया है। इसी प्रकार ज्ञानियों ने आत्म रक्षण के लिये भी देवभक्ति, गुरु सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दानरूप षट्कर्म का विधान किया है। कहा भी है–

देवार्चा गुरु शुश्रूषा, स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दान चेति गृहस्थानां, षट् कर्माणि दिने-दिने ।।

पारस के संयोग से जैसे लोहा स्वर्ण बन जाता है, वैसे ही षट्कर्म की साधना साधक को पुरुषोत्तम बना देती है और आत्मा परमात्मा बन जाता है । आवश्यकता है कि आज हम सब साधना का प्राण हर मानस में फूंकें, इससे समाज ऊंचा उठेगा और संसार का कल्याण होगा ।

गृहस्थ को देवभक्ति १ गुरू सेवा २ स्वाध्याय ३ संयम ४ तप ५ और दान ६ इन् षट्कर्मों का प्रतिदिन साधन करना चाहिये । शरीर को एक दिन भी खाना नहीं मिले या मलावरोध हो जाये तो क्षीण और बेचैन हो जाता है, तब आत्मिक षट्कर्म के अभाव में क्या आत्मा क्षीण एवं अस्वस्थ नहीं होगी ? अवश्य।

सैलाना २१-१०-६२

---

[३]

साधना का ध्येय

प्रभु महावीर ने स्वाध्याय के समान सत्संग को भी ज्ञान का बड़ा कारण माना है। जीवन निर्माण में सत्संग का बहुत बड़ा हाथ है । इसके प्रभाव से मनुष्य कोयले से हीरा और कंकर से शंकर बन जाता है। सत्संग की महिमा में किसी संस्कृत के विद्वान ने ठीक ही कहा है—

दूरीकरोति कुमति विमली करोति, चेतश्चिरन्तनमघं चुलुकि करोति

भूतेषुकिंच करुणां बहुलीकरोति, सत्संगतिः कथय किन्न करोति पुंसाम् ।

सत्संग से कुमति दूर होती है, चित्त निर्मल होता है और चिर संचित पाप क्षय हो जाता है। प्राणिओं पर दयाभाव की वृद्धि होती, इस प्रकार सत्संग से सभी भलाइयां सहज मिल जाती हैं।

सत्संग एक तालाब या सरोवर के सदृश है जिसके निकट पहुँचने मात्र से ही शीतलता, स्फूर्ति तथा दिमाग में तरी आ जाती है। चाहे कितना भी संतप्त और परिश्रान्त तन मन क्यों न हो, जलाशय का चुल्लूभर जल पिये बिना भी बिल्कुल तरोताजा बन जाता है। कल्याण मन्दिर स्तोत्र में कहा है—

तीव्रातपोपहतपान्थजनान्निदाघे।

प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि ।।

फिर यदि कोई उसका जलपान करे अथवा डुबकी लगाये तो क्या उसकी तृषा और पाप नहीं मिटेंगे ? निश्चय उसके रोम-रोम उल्लास एवं शान्ति से पुलकित हो उठेंगे। ऐसे ही सन्तों के चरणों में पहुंचते ही उनके समागम से मानव-मन को अपूर्व शान्ति मिलती है। यह शान्ति वैभव-विलास से मिलने वाले सुख में नहीं मिल पाती। यही कारण है कि साधक वैभव-विलास की अनन्त सामग्रियों को ठुकराकर आध्यात्मिक मार्ग में आने के लिये किसी सन्त-चरण की छत्र-छाया में पहुंचते हैं।

श्रेणिक के राज्य-भोग त्यागकर वीतराग प्रभु के चरणों में जाने का भी मूल रहस्य यही है। साधनों के द्वारा मिलने वाले अवर्णनीय आनन्द और अलौकिक शान्ति के मुकाबिले भौतिक सुख तुच्छ और नगण्य है।

लौकिक दृष्टि में बड़प्पन का मापदण्ड धन, योग्यता या पद आदि माना जाता है और चरित्र को उतना महत्व नहीं दिया जाता, किन्तु धार्मिक दृष्टि में चरित्रवान ही सम्मान का पात्र समझा जाता है, पूंजी, उच्चपद, हुकूमत या भूमि वाला नहीं । कुटी में रहने वाले ऋषि-मुनियों के मुकाबले में गगनचुम्बी महलों में रहने वाले छत्रपति नरेश की कोई गिनती नहीं होती। कहा भी है–

राजा योगी दोनों ऊंचा, तांबा तूंबा दोनों सुच्चा ।
तांबा डूबे तूंबा तिरे, या कारण राजा योगी के पांवा पड़े ।

सम्राट् श्रेणिक पद, धन, सम्पदा और सम्मान की दृष्टि से साधक आनन्द से ऊंचे थे किन्तु धर्म के क्षेत्र में आनन्द का स्थान श्रेणिक से ऊंचा माना जाता है, क्योंकि वह व्रतधारी है। साधक को अनुकूल साधन की भी आवश्यकता होती है, साधना के मार्ग में जब साधक को अनुकूल वातावरण मिलता है, तभी वह सुमार्ग में अग्रसर होता है। प्रतिकूल परिस्थिति में साधक क्षणभर भी शान्ति नहीं पाता। परिस्थिति मन को आन्दोलित करती रहती है और साधक में तन्मयता एवं एकाग्रता का समावेश ही नहीं होने देती।

स्थानांग सूत्र के दूसरे स्थान में भगवान् महावीर ने कहा है कि–दो कारणों से मनुष्य वीतराग धर्म का श्रवण नहीं कर पाता, वे हैं 'आरम्भे चेव परिग्गहे चेव' आरम्भ और परिग्रह।

आरम्भ और परिग्रह साधना के राजमार्ग में सबसे बड़े रोड़े हैं। जिस मनुष्य का मन आरम्भ और परिग्रह के दलदल में फंसा हो, वह सहसा उससे निकल कर साधना के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता ।

परिग्रह से तात्पर्य केवल संग्रह-वृत्ति ही नहीं, वरन् आन्तरिक आसक्ति भी है। ग्रह का शाब्दिक अर्थ पकड़ने वाला जानता है, आकाश के ग्रह दो प्रकार के होते हैं एक सौम्य और दूसरा क्रूर । ये मानव-जगत से दूर के ग्रह हैं फिर भी इनमें से एक मन को आनन्दित करता है और दूसरा आतंकित । हम इन दूरवासी ग्रहों की शान्ति के लिये विविध उपाय करते हैं किन्तु हृदय गगन-मण्डल में विराजमान परिग्रह रूप बड़े ग्रह की शान्ति का कुछ भी उपाय नहीं करते । परिग्रह चारों ओर से पकड़ने वाला है। इसके द्वारा पकड़ा गया व्यक्ति न केवल तन से बल्कि मन और

इन्द्रियों से भी बंधा रहता है। यह दिल-दिमाग और इन्द्रिय किसी को हिलने तक नहीं देता । 'परि समन्तात् गृह्यते इति परिग्रहः' रूप व्युत्पत्ति को सार्थक करता है ।

माया के फेर में पड़ने से ही परिग्रह की भावना उदित होती है। आत्म-स्वरूप के दर्शन में यह परिग्रह बाधक है। सरकार का सिपाही तो अपराधी के शरीर को बांधता है, किन्तु परिग्रह तो आत्मा को जकड़ लेता है। गगन-मण्डल स्थित ग्रह यदि साधारण ग्रह कहा जाये तो परिग्रह महाग्रह है। भौतिकवादी आस्था ही परिग्रह की जननी है, विश्व के अधिकांश लोग जिसके आज शिकार बने हुये हैं । इससे पिण्ड छुड़ाये बिना सच्ची शान्ति नहीं मिल सकती। साधु लोग परिग्रह का पूर्ण त्याग करके अपना जीवन शान्तिमय चलाते हैं। किन्तु ऐसा करना हर एक के वश की बात नहीं है ।

साधारण मानव यदि परिग्रह का पूर्ण रूप से त्याग नहीं कर सके, तो भी वह उसका संयमन कर सकता है। परिग्रह के मोह में फंसा हुआ व्यक्ति अफीमची के सदृश है और मोही प्राणियों के लिये धन अफीम के समान है। अफीम के सेवन से जैसे अफीमची में गर्मी स्फूर्ति बनी रहती है किन्तु अफीम शरीर की पुष्ट धातुओं को सोखकर उसे खोखला बना देती है; परिग्रह रूपी अफीम भी मनुष्य के आत्मिक विकास को न सिर्फ रोक देती है बल्कि उसे भीतर से तत्वहीन कर देती है। अतः हर हालत में इसकी मात्रा निश्चित कर लेने में ही बुद्धिमानी है ।

परिग्रह का विस्तार ही आज संसार में विषमता और अशान्ति का कारण बना हुआ है। यदि मनुष्य आवश्यकता को सीमित कर अर्थ का परिमाण करले तो संघर्ष या अशान्ति भी बहुत सीमा तक कम हो जाये। आज जो अति श्रीमत्ता को रोकने के लिये शासन को जनहित के नाम पर जनजीवन में हस्तक्षेप करना पड़ रहा है, धार्मिक सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर यदि मानव आप ही परिग्रह की सीमा बांध ले तो बाह्य हस्तक्षेप की आवश्यकता ही नहीं रहेगी और मन की अशान्ति, हलचल और उद्विग्नता भी मिट जायेगी ।

बहुधा देखा जाता है कि बड़े-बड़े श्रीमंत लोग इन्कमटेक्स और सेल टेक्स के साधारण इन्सपेक्टरों के सामने भी झुक जाते हैं और उनकी खुशी के लिये कुछ उठा नहीं रखते। यदि सन्तों की सत् शिक्षा को ध्यान में रखकर चलें तो उन्हें झुकने या भय करने की कोई जरूरत नहीं रहेगी, तथा मन भी शान्त रहेगा। कारण भय और अशान्तियों का कारण परिग्रह का अति संचय ही है ।

साधक आनन्द ऐसे गृहस्थों में था जो परिग्रह को साधन मात्र ही समझता रहा और कभी उसका गुलाम नहीं बना, अज्ञानी मनुष्य परिग्रह को जीवनोद्देश्य या

साध्य बनाकर मोहरूपी रोग से ग्रस्त हो जाते हैं। कमजोरी की अवस्था में, बीमार मनुष्य जैसे छड़ी का सहारा लेता है और सबलता के आते ही उसे छोड़ देता है, उसी प्रकार ज्ञानवान परिग्रह को दुर्बल का सहारा मानता और समय के आते ही छोड़ देता है। जैसे केंचुली सांप को अन्धा बना देती है वैसे परिग्रह की अधिकता भी मनुष्य के ज्ञान पर पर्दा डाल देती है। केंचुली से बँधा सांप जैसे परेशान होकर पीड़ा सहकर भी झिल्ली को निकाल फेंकता है–वैसे ही मनुष्य को भी परिग्रह रूपी केंचुली को प्रयत्न करके निकाल फेंकना चाहिये । क्योंकि यह ज्ञानचक्षु को बन्द कर देने का कारण है।

परिग्रह का दूसरा नाम 'दौलत' है जिसका अर्थ है दो-लत अर्थात् दो बुरी आदत। इन दो लतों में पहली लत–हित की बात न सुनना, दूसरी लत–गुणी माननीय, नेक सलाहकार और वन्दनीय व्यक्तियों को न देखना, न मानना । समष्टि रूप से यह कहा जा सकता है, कि परिग्रह ज्ञानचक्षु पर पर्दा डाल देता है– जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य अपना सही मार्ग निर्धारित नहीं कर पाता ।

महामुनि शय्यंभव भट्ट ने यशोभद्र के परिग्रह का पर्दा अपनी उपदेश-धारा द्वारा हटा दिया और उसे अलौकिक आत्म-सुख दिलाया। शय्यंभव महाराज तो निमित्त ही बने किन्तु अपनी साधना के द्वारा यशोभद्र अमर बन गये ।

हर मानव में ऐसी शक्ति छिपी है जो उसे ऊपर उठा सकती है। जगत् का प्रत्येक नर नारायण बनने का हकदार है और चाहे तो बन सकता है। किन्तु आवश्यकता है, पुरुषार्थपूर्वक साधना के पथ पर चलने की। जो साधना-मार्ग के कांटों, रोड़ों और आपत्तियों की परवाह नहीं करता, मंजिल उसके स्वागत के लिये पलक पांवड़े बिछाये तैयार खड़ी रहती है। जो सांसारिक क्षण-भंगुर प्रलोभनों के चक्कर में नहीं पड़ता और साहस से साधना के मार्ग में चलने के लिये जुट जाता है, उसका इहलोक और परलोक दोनों सुधर जाते हैं ।

२०-११-६२

[४]

जैन संस्कृति की साधना

महापुरुष का जीवन स्वयं ऊपर उठा होता है और वे संसार के लोगों को भी उठाने में सहायक होते हैं जैसे चन्दन स्वयं भी सौरभ वाला है और पास के दूसरे वृक्षों को भी सुगन्धित कर देता है। यही कारण है कि संसार के लोग खासकर सौभाग्यशाली जन महापुरुषों के पीछे चलते हैं। साधक जब अच्छा निमित्त पा लेता है तो उसके ऊपर उठने में समय नहीं लगता। लता भूमि पर प्रसरित होने वाली है, किन्तु आधार पाकर ऊपर चढ़ती है क्योंकि उसका स्वभाव फैलने का है। यदि उसे कोई आधार खम्भा इत्यादि नहीं मिले तो वह जमीन पर ही फैलती है किन्तु ऊपर नहीं उठती, क्योंकि सहारा नहीं है। ऐसे ही साधक को भी सहारा चाहिए। बिना सहारे के अन्तःशक्ति होते हुए भी ऊपर उठना दुःशक्य और असंभव।

सत्संग का सहारा–निमित्त जीवन को उच्चतम स्थिति पर पहुँचा देता है। महावीर स्वामी का सहारा पाकर कोल्लाग ग्राम का गृहस्थ आनन्द आदर्श-जीवन बनाकर न सिर्फ लोक में ही सम्मानित बना, बल्कि उसका परभव भी सुधर गया। सुमार्ग में ले जाने वाले महावीर स्वामी का पवित्र निमित्त मिलने से ही आनन्द अपना जीवन बना सका।

जब कोल्लाग ग्राम में वीतराग भगवान-महावीर स्वामी पधारे तो वहां की स्थिति बड़ी मंगलमय बन गई। वहां का वातावरण आध्यात्मिकता से ओतप्रोत हो गया। किसी कवि ने ठीक कहा है–

विवेकी संत बसे जेहि देश।
ऋद्धि सिद्धि तहं वास करत है, धरि दासिन का वेश॥

त्याग और ज्ञान के मूर्तिमान रूप प्रभु जब कोल्लाग पधारे तो चारों ओर समाचार फैल गया कि हृदय-पटल को खोलने वाले ज्ञानी संत आए हैं। उस युग में

उनकी बराबरी का कोई दूसरा महापुरुष नहीं था । शरीर, मन, और वाणी के तप से युक्त महावीर स्वामी अंतरंग और बहिरंग तपस्वी थे । उनसे आधि व्याधि और उपाधि रूप त्रय ताप सर्वथा दूर रहा करते थे । जैसे अन्धकार प्रकाश से दूर रहता है । प्रभु के आगमन की सूचना से सारा जनपद उनके दर्शनार्थ उमड़ पड़ा । जन-समुदाय को जाते देख कर ज्ञान ग्रहण की कामना से आनन्द भी जाने को उद्यत हुआ ।

कहावत है कि जैसा संग वैसा लाभ । गंधी के संग में गंध का लाभ होता लोहार के घर में उसकी संगति से आग की चिनगारी का दर्शन तथा कोयले की दूकान में कालापन मिलता है । वैसे ही ज्ञानवान की संगति में ज्ञान-लाभ के संग आत्मिक शान्ति भी मिलती है । इस प्रकार संगति का फल मिले बिना नहीं रहता । कहा भी है – 'ज्ञान बढ़े गुणवान की संगत' ।

आनन्द जब ज्ञान ग्रहण करने की सुभावना लेकर चला तो महावीर स्वामी के सदृश त्याग, तप और आचारपूर्ण संत की संगति से भला लाभ क्यों न होता, जबकि आचारहीन विद्वानों की संगति से भी कुछ-न-कुछ लाभ मिल जाता है । फिर धर्म साधना का अधिकार हरएक को है, क्योंकि धर्म किसी एक की जागीरदारी नहीं जो दूसरा उसमें प्रवेश नहीं करे ।

यद्यपि प्रभु-दर्शन को जाने वाले कई लोग महावीर स्वामी की ख्याति, बड़ाई और विशेष-गुण-दर्शन की उत्कण्ठा से जा रहे थे । जिज्ञासावश जाने वाले को भी सत्संगति का लाभ मिलता है । जैसे किसी सुरभित उद्यान में प्रवेश करने वाले का मानस सुरभिपूर्ण और सुखी हो जाता है, मगर सत्संग में दर्शक की अपेक्षा गुण-ग्राहक अधिक लाभान्वित होता है । दर्शक की प्रसन्नता तो तभी तक है, जब तक दर्शनीय उसके सामने हो किन्तु ग्राहक वस्तु को ग्रहण कर पीछे भी प्रमुदित होता रहता है । साधना के मार्ग में ग्राहक बनकर जाना चाहिए, दर्शक बनकर ही नहीं, ग्राहक बनकर जाने वाला तात्कालिक लाभ से भी अधिक भविष्य का लाभ लेकर जाता है ।

आनन्द समस्त कौटुम्बिक जंजाल को त्याग कर शुद्ध मन से प्रभु की सेवा में जा रहा था । इसलिये उसने धर्म-सभा के अनुकूल अपनी वेशभूषा बना ली । क्योंकि राजसभा की तरह धर्म-सभा में भी अनुशासन और अदब का ध्यान रखना आवश्यक है । अन्यथा आत्मा उत्थान के बदले पतन की ओर झुकती है । संत के पास जाने के लिए पांच नियम हैं :– १-सचित्त द्रव्य, फल-फूल और श्रीफल आदि दूर रखकर जाना । २-अचित्त-वस्त्राभूषण बिना छोड़े, वंदन में बाधक, छड़ी-छाता आदि दूर रखकर जाना । ३-द्वार से संत को देखकर अंजलि जोड़े जाना । ४-एक शाटी के वस्त्र से उत्तरासन करना । ५-मन को सांसारिक विषयों से दूर कर स्थिर करना ।

राजा हो तो पांच राज्य-चिन्हों को छोड़ना धर्म-सभा का नियम है :–जैसे १-छत्र २-चामर ३-मुकुट ४-मौजड़ी और खड्ग तथा फूलमाला । यह सभी त्याग धर्म के प्रति आदरभाव प्रदर्शित करने वाला है ।

विवेक से काम लेने पर राजा से लेकर रंक तक सभी धर्म-साधना कर सकते हैं और निश्चित रूप से सबको करना भी चाहिए । क्योंकि संसार की सभी वस्तु नाशवान् हैं, कहा भी है –

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे, भार्या गृहद्वारि जनः श्मशाने ।
देहश्चितायां परलोकमार्गे, कर्मानुगो गच्छति जीव एकः ।।

यहां से प्रयाण करने पर कोई भी भौतिक वस्तु साथ नहीं जाती, परलोक मार्ग में जीव को कर्म के साथ अकेले ही जाना है । केवल धर्म ही उसके साथ रहने वाला है । परभव के लिए संबलरूप धर्म को अपनाये बिना यात्रा दुःखद रहेगी। संत एवं शास्त्र का काम तो तत्व बता देना है, पर साधक में श्रद्धा, विश्वास एवं रुचि होने पर ही ग्रहण किया जा सकता है , इनके बिना न तो साधना में मन लगेगा और न वास्तविक आनन्द ही आएगा । केवल आदेश पालन से व्रत-साधना उतनी श्रेयस्कर नहीं होती, जितनी ज्ञान–युक्त रुचि से की गई । रुचि का कारण कभी-कभी आज्ञा भी बन जाती है । किन्तु इस प्रकार की आज्ञा-रुचि जब तक ज्ञान से समर्थित न हो, स्थायी नहीं होती ।

आनन्द को प्रभु की वीतरागता पर श्रद्धा थी वह उनके वचन को एकान्त हितकारी मानता था, अतः अन्तर में रुचि जगी कि कुछ साधना करूं । उसने प्रभु की संगति में अलौकिक ज्ञान प्राप्त किया और अपने जीवन को धन्य बनाया ।

आनन्द की तरह मुनि शय्यंभव भट्ट के उपदेश से यशोभद्र को भी साधना की रुचि जगी और वे साधु बन गये और शय्यंभव भट्ट के स्वर्गवास के बाद आप युग प्रधान आचार्य बने एवं शासन-सूत्र का संचालन करने लगे । आचार्य यशोभद्र ने धर्म-शासन को सुरुचिपूर्ण ढंग से चलाया और जगह-जगह भ्रमण कर सहस्रों नर-नारियों को अपनी संगति का लाभ दिया । बड़े-बड़े विद्वान उनसे ज्ञान ग्रहण कर जीवन को सफल बनाते थे । यशोभद्र में त्याग और ज्ञान का सुन्दर सामन्जस्य था ।

त्याग के साथ ज्ञान का बल ही साधक को ऊंचा उठा सकता है । जैसे सुक्षेत्र में पड़ा हुआ बीज, जल-संयोग से अंकुरित होकर फलित होता है और बिना जल के सूख जाता है, वैसे त्याग और ज्ञान भी बिना मिले सफल नहीं होते । जिस साधक में पेय, अपेय, भक्ष्य-अभक्ष्य, और जीव-अजीव का ज्ञान न हो वह साधक कैसे

उत्तम साधक होगा ? मछली, मांस, मैथुन आदि को बुरा न मानने वाले साधक भी मिलेंगे, परन्तु ऐसे पथभ्रष्ट साधकों से किसी का भला नहीं होने वाला है । कोरा त्याग हो किन्तु ज्ञान न हो तो आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता, तथा ऐसे साधक जन-जीवन को भी प्रभावित नहीं कर सकते । आत्म-ज्ञान विहीन व्यक्ति उस चम्मच के समान है जो मिष्ठान्न से लिप्त होकर भी उसके माधुर्य के आनन्द से वंचित ही रहता है । कहा भी है –

पठन्ति वेदशास्त्राणि, बोधयन्ति परस्परम् ।
आत्मतत्वं न जानन्ति, दर्वी पाकरसं यथा ।।

लोक और परलोक दोनों को बनाने के लिए परमात्म तत्व का ज्ञान जरूरी है और इसके लिए सत्संगति परमावश्यक है । बिना सत्संगति के न तो साधना की रुचि ही होगी और न आत्म तत्व का ज्ञान ही । अतः मनुष्य जीवन को पाकर चाहिए कि उसको सफल बनावें, अन्यथा कीट-पतंगे आदि की घृणित योनियों में भटकते हुए नाना दुःखों से टकराना पड़ेगा । आनन्द और संभूति विजय आदि का उज्ज्वल जीवन प्रकाश-स्तम्भ की तरह हम सबका मार्ग निर्देशन कर रहा है और हमें इंगित कर रहा है कि हमारी तरह तुम भी अपने अन्तःकरण में ज्ञान की ज्योति भर कर जगत् के भूले-भटकों का मार्गदशर्न करो और बुराइयों से बचकर भलाइयों के पथ पर बढ़ते हुए अपने जीवन को यशः पूर्ण बनालो ।

[५]

भुक्ति से मुक्ति की ओर

मानव के सामने जीवन के मुख्य दो लक्ष्य हैं, एक भुक्ति और दूसरा मुक्ति। भुक्ति का अर्थ भोग या भोग की सामग्री में तल्लीन होना है तो मुक्ति का अर्थ मोक्ष है जिसमें कि मनुष्य बारबार जन्म ग्रहण करने से छुटकारा पा ले । इन दोनों में से उसका साध्य क्या होना चाहिए, इसके लिए विवेकशील बुद्धि ही निर्णायक है । कहा भी है—"बुद्धेः फलं तत्व-विचारणं च" याने तत्वातत्व का निर्णय करना ही बुद्धि का फल है ।

सारी दुनिया भुक्ति या भोग के पीछे छटपटा रही है, क्योंकि परिग्रह की साधना में किए गए समस्त कार्य भुक्ति के अन्तर्गत आते हैं । मनुष्य यदि भुक्ति को ही जीवन का लक्ष्य बनाले तो पशु और मनुष्य में कोई अन्तर नहीं रहता । मनुष्य को छोड़ कर अन्य प्राणियों के सन्मुख मुक्ति का लक्ष्य ही नहीं है । वे तो भुक्ति को ही सब कुछ समझते हैं । उनके भोग में किसी की रोकथाम नहीं, भक्ष्य-अभक्ष्य, गम्य-अगम्य का कोई प्रतिरोध नहीं । चलता हुआ भी पशु किसी वस्तु में मुंह डाल देता है । रातदिन मधुकोष में बैठने वाली मक्खी और कमल के कोमल सुमनों में सोने वाला भ्रमर भोग में किस मानव से कम है । इस प्रकार भोग भोगने में मनुष्य से बढ़ा हुआ पशु आदरणीय नहीं कहलाता और मनुष्य की पूजा होती है । इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य की कोई खास विशेषता है जो उसे पूज्य बनाती है ।

मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है । वह हर वस्तु की गहरी गवेषणा के बाद ही कुछ निर्णय करता है । मनुष्य का भोग राज और समाज के नियमों से नियन्त्रित रहता है । उसके भोग में कुटुम्ब की भी बाधा रहती है और भी कतिपय मर्यादाएं होती हैं जिन्हें मनुष्य सहसा लांघ नहीं सकता । वह भुक्ति पर विजय पाकर मुक्ति की साधना करना जानता है और जानता है पशुता और मनुष्यता के विभाजक तत्व धर्म की विशेषता को । कहा भी है—

आहार-निद्रा भय-मैथुनं च, सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ।

अर्थात् खाना, सोना, भय और मैथुन रूप क्रिया मनुष्य और पशु में बराबर है। धर्म ही एक मनुष्य का विशेष गुण है । जिसमें धर्म नहीं, वह पशु के समान है ।

जो लोग अज्ञानता या वासना की दासता से अपना लक्ष्य स्थिर नहीं कर पाते, साधना करके भी वे शान्ति प्राप्त नहीं करते । जिनका लक्ष्य स्थिर हो गया है वे धीरे-धीरे चलकर भी पहुँच जाते हैं ।

अनुभूति-प्राप्त ज्ञानियों ने कहा है कि मानव ! तेरा अमूल्य जीवन भोग के लिए नहीं है । तुझे करणी करना है और ऐसी करणी कि जिससे तेरे अनन्तकाल के बन्धन कट जायँ । तेरा चरम और परम लक्ष्य मुक्ति है, इसको मत भूल । अस्थिर लक्ष्य से काम करने वाला कोई लाभ नहीं पाता । पुराणों में एक कथा आती है कि एक बार भगवान शंकर और पार्वती में इसी बात को लेकर वाद-विवाद हो गया । भगवान् शंकर का कहना था कि संसार के मनुष्यों को भक्ति अधिक प्रिय है; जबकि पार्वती कहती थी कि पैसा अधिक प्रिय है । शंकरजी ने कहा कि "हाथ कंगन को आरसी क्या ? चलो, मनुष्यलोक में चलकर इस बात की सप्रमाण परीक्षा करलें ।"

दोनों अपने पक्ष की परीक्षा के लिए निकल पड़े । शंकरजी सन्यासी का रूप धारण कर भ्रमण करते हुए एक बड़े नगर में पहुँचे। लोगों ने उनका बड़ा स्वागत किया और बड़ी प्रीति बतलाई । उसी नगर के किसी प्रतिष्ठित सेठ ने सन्यासी रूप भगवान् शंकर से निवेदन किया कि आप कुछ दिन यहां रहकर सत्संग का लाभ देने की कृपा करें । सन्यासी ने कहा कि मैं श्मशान का वासी, आप लोगों के बीच कैसे रहूं ? इस पर सेठ ने शहर के बाहर अपने उद्यान के बंगले में रहने की प्रार्थना

बाबाजी को स्थान पसन्द आ गया । वे सेठ से बोले कि मैं स्वतन्त्र प्रकृति का हूँ, अपनी इच्छा के अनुसार रहूंगा और बिना मेरी इच्छा के तुम कहोगे कि चले जाओ तो मैं नहीं जाऊँगा । तुम्हारे आंगन में चिमटा गाड़कर धूनी रमाऊंगा । यदि तुम्हें मेरी शर्त स्वीकार हो तो ठहरूं अन्यथा जाने दो । सेठ ने बाबा की शर्त मान ली और बाबा वहां जम गए। सेठ नित्य प्रति उनके दर्शन का लाभ लेने लगे।

कुछ दिनों के बाद साध्वी रूप में पार्वतीजी भी भ्रमण करती-करती उसी नगर में चली आयीं और उसी सेठ के द्वार पर पहुँच कर बोलीं कि "देहि मे जलम्" याने जरा पीने को जल दो । सेठ ने सेवक से जल देने को कहा । तत्काल एक आदमी पानी का कलश लेकर उपस्थित हुआ और पार्वतीबाई ने बगल से एक

रत्न-जटित कटोरा निकाला और पानी पीकर फैंक दिया । घरवालों ने स्वर्ण-कटोरे को फैंका देखकर समझा कि बाई जी अप्रसन्न हो गई हैं । सेठजी ने बाईजी से करबद्ध प्रार्थना की कि हम सबसे कोई गलती हुई हो तो उसे क्षमा कर दें । यह सुनकर बाईजी हँसी और बोली कि नाराजगी का कारण नहीं, यह तो मेरा नियम है कि जूठे बर्तन को दुबारा काम नहीं लेती । यों मैं तुम सब पर नाराज नहीं हूँ ।

सेठ ने सोचा कि इस देवी के यहां ठहरने से तो दुहरा लाभ है, धर्म और धन दोनों प्राप्त होंगे । उसने इस सुअवसर का लाभ लेना चाहा और बाईजी से आग्रह किया कि आप कुछ दिनों तक यही ठहरें, जिससे स्त्रियां भी कुछ शिक्षा प्राप्त कर सकें । ज्ञानाभाव से स्त्रियों का जीवन बिगड़ रहा है । विश्वास है कि आपके सत्संग से उनके जीवन पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा । यह सुनकर साध्वी बोली कि हम माया वालों के बीच में कैसे रहें । सेठ ने बगीचे के बंगले की ओर इशारा किया और प्रार्थना की कि अपने चरणरज से उसको पवित्र कीजिए, बाईजी ने बंगला देखा और इस पर साध्वी बोली कि जहां साधु रहते हों, वहां हम नहीं रहतीं ।

सेठ ने काम बिगड़ते देखकर बाबाजी से निवेदन किया कि आप दूसरे मकान में पधारिए । किन्तु बाबाजी ने उसे स्वीकार नहीं किया । इस पर सेठ बोला कि महाराज ! कृपाकर आप दूसरे बंगले में पधार जावें, नहीं तो सेवकों द्वारा मुझे आपको उठवाना होगा । बाबाजी ने देखा अब यहां रहना ठीक नहीं । यहां पार्वती का चक्र चल गया है, वे वहां से चले तथा अदृश्य हो गए ।

इधर सेठ साध्वी को लिवाने गए किन्तु उन्होंने टका-सा जवाब दिया कि जहां से साधु रूठकर चला जावे वहां साध्वी नहीं ठहरती, यह कहकर वह भी चल पड़ी, तथा कुछ दूर चलकर अन्तर्धान हो गई । सेठ ने देखा बाबा भी गायब और साध्वी भी गायब । दुःखित मन से उसने कहा कि–

सूजा सुधि पायी नहीं, घर आए थे राम ।
दुविधा में दोनों गए, माया मिली न राम ।।

संसार में ऐसे लोग बहुत हैं जो संतों के पास आकर मुक्ति की बात करेंगे और बाहर जाते ही पूरे मायामोह में रंग जाएँगे । उनका कोई लक्ष्य स्थिर नहीं होता। साधक को बुद्धिपूर्वक अपना लक्ष्य स्थिर कर लेना आवश्यक है । अस्थिर लक्ष्य वाला मुक्ति और भुक्ति दोनों से वंचित रहता है ।

भारतीय संस्कृति साधना-प्रधान है क्योंकि मुक्ति रूप फल की प्राप्ति साधना के बिना नहीं होती । ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य वानप्रस्थ और सन्यास रूप चारों आश्रमों में त्याग तथा साधना को ही महत्व दिया गया है । मनुष्य अनुकूल समय देखकर भुक्ति

से दूर होता तथा मुनिव्रत सन्यास ग्रहण कर मुक्ति के पथ पर अग्रसर हो जाता था। वस्तुतः जीवन का कल्याण इन्हीं से होता है, धन और भौतिक साधनों से नहीं । सम्राट् सिकन्दर ने प्रबल शौर्य प्रदर्शित कर खूब धन संग्रह किया किन्तु जब यहां से चला तो उसके दोनों हाथ खाली थे । बड़े-बड़े वैद्य और डाक्टर वैभव के बल से उसको बचा नहीं सके और न उसके सगे सम्बन्धी ही उसे चलते समय कुछ दे सके।

साधना के मार्ग में पैर बढ़ाना कुछ आसान नहीं है । बड़ी-बड़ी विघ्न-बाधाएं साधक को विचलित करने के लिए पथ पर रोड़े डालती रहती हैं जिनमें मुख्य मोह और कामना है । इनमें इतनी फिसलन है कि साधक अगर सजग न रहा तो वह फिसले बिना नहीं रहता । कहा भी है–

एक कनक अरु कामिनी, जग में दो तलवार ।
उठे थे हरि भजन को, बीच लिया है मार ।।

यदि मोह और कामना पर विजय प्राप्त नहीं हुई तो कीचड़ युक्त मार्ग में चलने वाले यात्री की तरह स्खलित होने का खतरा है । साधक को भूख, प्यास, गाली, तिरस्कार, अपमान आदि अनेक कष्टों को सहना पड़ता है । उसके जीवन में अनेक परीक्षाकाल आते हैं जिनमें कुछ अनुकूल और कुछ प्रतिकूल भी होते हैं । मोह एवं कामना का वातावरण साधक को अन्य कष्टों की अपेक्षा अधिक विचलित करता है । भौतिक पदार्थों की कामना गृहस्थों की तरह सन्यासियों पर भी असर डालती है। और उन्हें भटकाने की चेष्टा करती है । प्रभु महावीर स्वामी का कहना था कि कामनाओं को असीम बनाकर तथा मोह की परिधि को बढ़ाकर मानव सुख-शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता । किसी कवि ने ठीक कहा है–

मुझे नहीं चाहिए राज्यपद, अथवा भौतिक विभव विलास ।
कष्टोपार्जित प्रजाग्रास, हरने से उत्तम है उपवास ।।

मुमुक्षु ज्ञान के प्रकाश में इन बाधाओं पर विजय पा लेता है जो उसकी अपनी दिशा ही बदल देती है । कामना और मोह को समाप्त करना एवं उसके बन्धन से मुक्त होना ही मनुष्य का साध्य है और इसका साधन-उपाय साधना है ।

कामना और मोह विजय के साथ-साथ साधक में श्रद्धा-विश्वास और रुचि होनी चाहिए । यदि श्रद्धा और विश्वास हो किन्तु रुचि न हो तो साधना के मार्ग में अभीष्ट गति नहीं होगी । जैसे रोगी पथ्य भोजन के प्रति भी रुचि नहीं रखने से स्वास्थ्य-लाभ नहीं कर सकता, वैसे साधना के मार्ग में श्रद्धा और विश्वास के होने पर भी रुचि न होने से साधक अपनी साधना में सफल नहीं हो सकता ।

संतों की वाणी में श्रद्धा और विश्वास के जागृत होने पर भी यदि रुचि जागृत नहीं हुई तो भोग को त्याज्य मानकर भी मानव उससे विरत नहीं हो सकेगा और बिना भोग-विरति के साधना में रति प्राप्त नहीं होगी । मानव को यह निश्चय कर लेना चाहिए कि भोग मात्र जीवन निभाने को है–जीवन बनाने की कला तो मुक्ति मार्ग में ही है ।

आप देखते ही हैं कि मनुष्य अन्न के बिना भले ही निर्वाह करले किन्तु हवा का कभी परित्याग नहीं कर सकता, अथवा परित्याग करने से जी नहीं सकता । ऐसे ही हवा की तरह धर्म जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक खुराक है । इसी के द्वारा मनुष्य मुक्ति रूप साध्य को प्राप्त कर सकता है जो कि मानव-जीवन का चरम एवं परम ध्येय है ।

जीवन में अहिंसा, क्षमा, सत्य, अपरिग्रह आदि सद्गुण अपनाने से ही सच्ची आत्म-शान्ति मिलती है और जीवन सफल बनता है ।

---

[६]

कर्म एक विश्लेषण

भगवान् महावीर कहते हैं, मानव ! साधक का मोक्षमार्ग जग से निराला होता है । भौतिकता के लुभावने दृष्य साधक को क्षण भर के लिए भी अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकते । भौतिक साधनों के प्रति स्नेह का परित्याग ही सच्ची साधना या तपस्या है । अध्यात्म मार्ग में लगा साधक ही मुक्ति की मंजिल पर पहुँच सकता है । जो इस साधना से दूर भौतिक प्रपंचों में उलझा रहता है, उसका इहलोक और परलोक दोनों बिगड़ते हैं एवं उसकी दशा मरीचिका-मुग्ध-मृग जैसी हो जाती है ।

भगवान् महावीर ने जीवन के स्वरूप की बहुत ही सुन्दर व्याख्या की है । उनका कथन है कि जीव अपने कर्मों के द्वारा ही कभी देव, कभी नरक तो कभी पशुरूप नाना योनियों में परिभ्रमण करता रहता है । जीव का बन्धन स्वकृत है, परकृत नहीं । इस संसार में दिखाई देने वाले विविध प्रकार के सुख-दुःख भी स्वकृत कर्म के ही परिणाम हैं । पर-सुख को ईर्ष्या या द्वेष की नजरों से देखने वालों को यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि वह भी अपने किए का ही फल भोग रहा है । न तो कोई किसी का सुखदाता या न कोई दुःखदाता ही है ।

किसी व्यक्ति के द्वारा चोट खाने से जब कोई दुःखी या परेशान हो जाता है, तो दुनिया चोट देने वाले को दोषी समझती है या उस चोट को परकृत मानती है, किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से बात ऐसी नहीं है । शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार चोट खाने वाले का कहीं न कहीं कुछ दोष अवश्य है । नहीं तो चोट देने वाले ने किसी दूसरे को चोट न देकर उसे ही क्यों दी, यह यहाँ एक प्रश्न उठता है ।

भगवतीसूत्र में गणधर गौतम ने प्रश्न पूछा कि भगवन् ! जीव स्वकृत दुःख भोगता है या परकृत अथवा उभयकृत ? इसके उत्तर में प्रभु ने कहा—गौतम ! जीव

स्वकृत कर्म भोगता है, परकृत और उभयकृत नहीं । जैसे कहा है–जीवा सयं कडं दुक्खं वेदेति, परकडं दुक्खं वेदेंति, तदुभय कडं वा दुक्खं वेदेंति ? गोयमा ! जीवा सयं कडं दुक्खं वेदेंति, नो पर कडं, नो तदुभय कडं । भ. ।

इसमें कोई शक नहीं कि जीव अपने ही किए हुए कर्म भोगता है । ठीक ही कहा है – 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।' कई बार देखा जाता है कि भले आदमी को बिना कारण के भी सहसा दुःख का सामना करना पड़ता है और अनचाहे भी कर्म फल भोगने पड़ते हैं । उदाहरण के रूप में देखिये – संसार में तीन प्राणी सीधे-सादे जीवन व्यतीत करने वाले हैं, मृग, मीन और संत । फिर भी मनुष्य इन्हें सताते हैं । इन तीनों का जीवन संतोष का होता है । मृग घास-पात खाने वाला और बिलकुल भोला-भाला प्राणी है । वह अपनी चंचल गति की चौकड़ी और बड़ी-बड़ी आँखों से देखने वालों का मन मोह लेता है । मगर ऐसे निर्दोष और सीधे जानवर के लिए भी मनुष्य वैरी बन जाता है । मछली भी उपकारी प्राणी है । वह बिना कुछ दिए लिए केवल जल पर निर्वाह करती है, तथा जल को शुद्ध करती है । मनुष्य के द्वारा की हुई गंदगी की वह सफाई करती है, किन्तु मनुष्य उसकी स्वतन्त्रता को ही नष्ट नहीं करता वरन् उसकी जान भी ले लेता है । संतजन संतोष पूर्वक सादगी से अपना जीवन व्यतीत करते हैं, किन्तु बिना कारण के संत के भी लोग दुश्मन बन जाते हैं । इस प्रकार दुष्ट का साधुओं को सताना, शिकारी का मृग मारना और मछुए का मछली पकड़ना आदि निष्कारण शत्रुता के उदाहरण हैं ।

मच्छी आदि के दुःख में कर्म फल को अन्तरकारण मानते हुए भी इस सत्य को नहीं भूलना चाहिए कि अज्ञान या मोहवश जो किसी को सताते हैं, वे भविष्य के लिए स्वयं वध्य बनकर अपने को भयंकर यातना के लिये तैयार करते हैं । अतएव मानव के लिए संतों का उपदेश है कि अपना भाग्य कुकर्म की मसि से मत लिखो। बुरे कर्म से तुम्हारा उभय लोक बिगड़ता है और जीवन भारी बनता है । भूमि में धान का दाना भले न उगे, पर करनी का दाना बिना उगे नहीं रहेगा । कहावत भी है – "जैसी करनी, वैसी भरनी" कोई बुरा कर्म करके अच्छा फल पाने की इच्छा करे, यह कदापि संभव नहीं है । कहा भी है–

करे बुराई सुख चहे, कैसे पावे कोय ।
रोपे पेड़ बंबूल का, आम कहां से होय ।।

बुरे कर्मों का ही परिणाम दरिद्रता है । पाप और दुःख की परंपरा कैसे बढ़ती है, अनुभवी आचार्यों ने इसका ठीक ही चित्र खींचा है । जैसे कि –

पापप्रभावाद् भवेद्दरीद्रो, दरिद्रभावाच्च करोति पापं ।
पापप्रभावान्नरकं प्रयाति, पुनर्दरिद्र : पुनरेव पापी ।।

अर्थात् पाप के उदय से जीव दरिद्र होता है और दरिद्रता में दुर्मतिवश चोरी, हत्या, मांस भक्षण आदि फिर पाप करता है जिससे नरक में चला जाता है, फ़िर दरिद्र और फिर पापी इस प्रकार दीर्घकाल तक कर्म परम्परा में भटकता रहता है।

अक्सर देखा जाता है कि पूर्व जन्म के पाप तो भोग रहा है और फिर मनुष्य नये-नये पाप कर्मों में प्रवृत्त रहता है । इस स्थिति में भला उसके अच्छे दिन कैसे आएंगे ? बुरे कर्मों से उपार्जित वैभव भी शान्ति-दायक नहीं होता, वह कोई न कोई अशांति खड़ी कर देता है और चंचल चमक सम अनायास नष्ट भी हो जाता है ।

आप देखते हैं, पैसे के लिए भाई-भाई, बाप-बेटा और पति-पत्नि तक में भयंकर झगड़े होकर पारिवारिक जीवन दुःखद बन जाता है । हिंसा, झूठ और परिग्रह के चलते परम-शान्त और सुखद जीवन भी अशान्त बन जाता है और देवों से स्पर्धा करने वाला भी मानव, दानव और पशु-तुल्य हो जाता है ।

मनुष्य जीवन जो सकल अभ्युदयों की जड़ है, उसको व्यर्थ में गंवाना बुद्धिमानी का कार्य नहीं माना जा सकता । जिस प्रकार वृक्ष अपने स्वभाव और गुण-धर्म को नहीं छोड़ते तथा अपकारी का भी उपकार करते हैं, उसी प्रकार मनुष्यों को भी मानवोचित महान् गुण और धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए । मन से दुख के कारणों को दूर किए बिना वास्तविक सुख की प्राप्ति असंभव है । लड़ाई, हिंसा या कलह से प्राप्त सम्पदा, स्वयं और परिवार किसी के लिए भी कल्याणप्रद नहीं हो सकती ।

आज हजारों लोग दोनों समय भोजन नहीं पाते और सर्दी एवं घाम में छटपटाकर पशुवत् जीवन व्यतीत करते हैं, आप अपनी सुख-सुविधा में उन्हें भूल जाते हैं । लेन-देन के पैसे लेना तो नहीं भूलते, किन्तु उनके जीवन सुधार पर ध्यान नहीं देते क्योंकि वैसा करने में थोड़ा लोभ घटाना पड़ता है । जो लोग अज्ञानतावश मच्छी बेचते, शिकार करते और पशु बेचकर आपको पैसा चुकाते हैं, आप लोग उनको सान्त्वना देते हुए पाप की बुराई समझावें और कुछ सहानुभूति रक्खें तो उनका जीवन सुधर सकता है, हिंसा घट सकती और थोड़े त्याग में अधिक लाभ हो सकता है । सम्पन्न लोगों को इस ओर ध्यान देना चाहिए ।

आज संसार में सर्वत्र मन की संकीर्णता और स्वार्थपरता ही दृष्टिगोचर होती है । और की तो बात ही क्या ? जो पुत्र पिता से अनन्य प्रेम करता है, उनकी

आज्ञा को सतत माथे चढ़ाता है तथा उनके पसीने पर खून बहाने को तत्पर रहता है, विवाह के बाद वह भी कुछ और ही बन जाता है । उनके मन में पिता से बढ़कर पत्नी का स्थान हो जाता है और वह उसी के इशारे पर नाचने लगता है । सुदैव से यदि स्त्री सुशीला एवं बड़ों की मर्यादा को मानने व समझने वाली हुई तब तो ठीक, अन्यथा वह घर कुरुक्षेत्र का मैदान बन जाता है । पराए घर में जनमी और पली वधू, यदि पराएपन का व्यवहार करती है तो उसमें कुछ विशेष आश्चर्य नहीं, आश्चर्य तब होता है जब अपना लाडला भी पराया बन जाता है । इस तरह जहाँ रोम-रोम में स्वार्थ के कीट भरे हुए हों, वहाँ जीवन को समुन्नत बनाने की क्या आशा की जाय ?

यों तो नर की अपेक्षा नारियां स्वभावतः विशाल हृदय, कोमल, दयामयी और प्रेम-परायणा होती हैं किन्तु शिक्षा, सुविचार एवं सत्संगति के अभाव में वे भी संकुचित हृदयवाली बन कर आत्म कल्याण से विमुख बन जाती हैं जबतक उनमें समुचित ज्ञान का प्रकाश प्रवेश नहीं पाएगा, तबतक उनका जीवन जगमगा नहीं सकता । नारियों की संकीर्णता का प्रभाव पुरुषों पर भी अत्यधिक पड़ता है और वे उसी की लपेट में पड़कर साधना विमुख बन जाते हैं ।

जीवन का गत काल यदि भोग-विलास में बीत गया और उसमें किसी प्रकार की साधना नहीं हो सकी तो उसकी चिन्ता मत कीजिये, चिन्ता करिए वर्तमान का जो जीवन शेष है । उसका निश्चय सदुपयोग होना चाहिए । मनुष्य पिछली अवस्था में जगकर चेतकर भी कल्याण कर सकता है । संभूतिविजय ने अधिकवय में जीवन के सुख भोगों का त्याग किया और साधना के लिए कृत-संकल्प हुए एवं अपने त्यागमय जीवन के कारण सद्गति के अधिकारी बन गए ।

इस तरह के अन्य अनेकों उदाहरण हैं, जिनसे पता चलता है कि मानव जीवन के निर्माण के लिए समय की बहुलता जितनी आवश्यक नहीं, उससे अधिक आवश्यक मानसिक एकाग्रता और निश्छलता है ।

जब तक पाप की भारी गठरी सिर पर रहेगी और मन में उससे कोई झुंझलाहट नहीं आएगी, तब तक सद्गति कैसे संभव है ? शिला का भारी वजन लेकर हिमालय की चोटी पर भले ही कोई चढ़ जावे परन्तु पाप की गठरी लेकर भवसागर के पार जाना संभव नहीं है । संतों ने कहा है–

नादान भुगत करनी अपनी, ओ पापी पाप में चैन कहां ।
जब पाप की गठरी शीश धरी, फिर शीश पकड़ क्यों रोवत है ।।

इसीलिए तो संत तुलसी ने भी कहा है कि निर्मल मन से ही ईश की प्राप्ति होती है –

"निर्मल मन जन सो मोहि पावा, मोहि कपट छल छिद्र न भावा ।"

ज्ञान का समुद्र बहुत विस्तृत एवं अगाध है और मनुष्य का जीवन सीमित और लघु । वह चाहे तो अनुकूल ज्ञान ग्रहण कर सकता है और अपने जीवन को ज्ञान ज्योति से दीपावली की तरह जगमगा सकता है । जागृत और प्रयत्नशील मनुष्य का कल्याण हुए बिना नहीं रहता ।

[७]

साधना की कला

आत्मा की मलिनता को दूर करने का सबसे बड़ा उपाय भोगों से मुक्त होना है और इसके लिए अनुकूल साधना अपेक्षित है। मनुष्य जब तक सांसारिक प्रपन्च रूप परिग्रह से पिण्ड नहीं छुड़ाता, तब तक उसके मन में चंचलता बनी रहती है, भौतिकता के आकर्षण से उसका मन हिलोरें खाते जल में प्रतिबिम्ब की तरह हिलता रहता है। लालसा के पाश में बंधा मानव संग्रह की उधेड़ बुन में सब कुछ भूल कर आत्मिक शान्ति खो बैठता है। अतएव सच्ची शान्ति पाने के लिए उसे अपरिग्रही होना अत्यन्त आवश्यक है।

अपरिग्रह से मन में स्थिरता आती है। जैसे गर्म-भट्टी पर चढ़ा हुआ जल बिना हिलाए ही अशान्त रहता है। उसी प्रकार मनुष्य भी जब तक कषाय (विकार) की भट्टी पर चढ़ा रहेगा, तब तक अशांत और उद्विग्न बना रहेगा। जल की जलन और दाहकता को मिटाने के लिए उसे गरम भट्टी से अलग रखना आवश्यक है, वैसे ही मनुष्य को भी अपने मन को अशांत स्थिति से निपटने के लिए क्रोध, लोभादि विकार से दूर रहना होगा। जल का स्वभाव ठंडा होता है अतः वह भट्टी से अलग होते ही अपने पूर्व स्वभाव पर आ जाता है, ऐसे ही शान्त-स्वभावी आत्मा भी कषाय-ताप से अलग होते ही शांत बन जाता है। कभी-कभी गर्म जलवत् अशान्त मन को शीघ्र ठंडक पहुँचानी हो तो सत्संगति का सहारा भी लिया जाता है, किन्तु कषाय के ताप को दूर कर दिया जाय तो कालान्तर में आत्मा स्वयं शान्ति अनुभव कर लेगी।

मन में विकारों के आवेगों को संयमित न करने वाले मनुष्य बड़े-बड़े भयंकर हृदय विदारक कुकृत्य कर जाते हैं। ऐसे उदाहरण नित्य हजारों देखे जाते हैं, जिनमें मनुष्य दानवता को भी लजाने वाले कारनामों से मानवता को कलंकित करने पर

उतारू हो जाते हैं । अभी हाल में ही एक सैनिक ने भ्रमवश अपनी पत्नी को छुरा भोंक कर मार डाला । यहाँ दानवता का नग्न रूप और असंयम की पराकाष्ठा है ।

मानव के मन में सद्भावना आए बिना उसके आचरण प्रशस्त नहीं हो सकते । शास्त्र में पुण्य संचय के नौ कारण बतलाए गए हैं जैसे—१. अन्नदान, २. जलदान, ३. स्थान-गृहदान, ४. शय्यादान, ५. वस्त्रदान, ६. मनशुभ, ७. वचनप्रिय, ८. कायिक सेवा और ९. नमस्कार । इनमें मन अशुभ हो तो आठों पाप के कारण हो सकते हैं और शुभ भाव हों तो आठों पुण्य संचय के कारण बन जाते हैं । यही कारण है कि सुभावना से किया गया कार्य ही अच्छा गिना जाता है और उसीका फल भी अच्छा होता है । जैसे एक डाकू को सम्पदा प्राप्ति के लिए अन्न दिया जाए तो यह पाप कर्म है, क्योंकि दान के साथ सुभावना नहीं है अथवा अन्न-जल देकर किसी डाकू को पकड़वा दिया जाय तो भी यह पाप में ही गिना जायेगा । उद्योग व्यवसाय में सहायता लेने की दृष्टि से किसी मंत्री को थैली भेंट की जाय, या कर से बचने के लिए तत्सम्बन्धी अधिकारी को प्रीतिभोज दिया जाय तो यह स्वार्थ कर्म-पाप है । शुभ-भावना से प्रेरित कर्म ही पुण्य कहा जायेगा अन्यथा पाप की कोटि में आएगा । तात्पर्य है कि करनी को भला-बुरा बनाने का मापदण्ड मन की भावना है ।

मनुष्य माया से दूर रहकर, दंभ का परित्याग कर तथा मान को मन से हटाकर ही संत सेवा का लाभ उठा सकता है । हाथ जोड़कर आदर से संत की वाणी सुनना तथा अनुशासन में रहना यह कायिक उपासना है और संत समागम में जाकर लोगों के प्रति उद्दण्डता दिखाना, कायिक अपराध है । जिससे सर्वथा बचने में ही कल्याण है ।

शास्त्र में कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य ऐसे तीन प्रकार के आचार्य बतलाए हैं । माता-पिता या कलाचार्य की उपासना, उन्हें अच्छा खिलाना-पिलाना, नहलाना एवं मालिश आदि से की जा सकती है, पर धर्माचार्य त्यागी होने से गृहस्थ की इन सेवाओं को स्वीकार नहीं करते । जिन वचनों को जीवन में उतारना और सद्विचारों का प्रसार करना ही उनकी सही सेवा है । शरीर से अयतना की प्रवृत्ति नहीं करना, वाणी से हित, मित और पथ्य बोलना एवं मन से शुभविचार रखना सेवा है । आनन्द इसी प्रकार प्रभु की त्रिविध सेवा कर रहा था ।

महर्षियों ने सम्यक् दृष्टि में चार भावनाओं का विकास आवश्यक माना है, जैसेः—१. मैत्री, २. प्रमोद, ३. करुणा, और ४. मध्यस्थता । समस्त प्राणियों के प्रति

मैत्री, दुःखियों के प्रति करुणा भाव, गुणीजनों में प्रमोद और दुर्जनों पर माध्यस्थ जागरण ही सम्यक् दृष्टि है । कहा भी है–

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु दयापरत्वम् ।
माध्यस्थ भावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ।।

आशंकावश प्राणियों को मनुष्य इसलिए मार देता है कि वह किसी को क्षति न पहुँचाए । परिणाम यह होता है कि ऐसे प्राणियों की हिंसक वृत्ति बढ़ जाती है और वे पहले से अधिक खूंखार होकर मानव समुदाय को सताने लगते हैं । कुत्ता सताने वाले को देखकर भौंकने लगता है और सांप भय की भावना से प्रेरित होकर देखते ही काट लेता है । इसी तरह अन्य प्राणी भी द्वेषवश मानव से हिंसक प्रतिकार के लिए तुल जाते हैं ।

विचार कर देखा जाए तो इसमें मुख्य दोष मानव का ही है । संसार को कंटक-रहित करने के अभिप्राय से समस्त कांटों को विनष्ट नहीं किया जा सकता । कांटे और फूल दोनों की अपने-अपने स्थान में उपयोगिता है, वैसे सांप, बिच्छु, कुत्ते और कौए आदि निरर्थक जंचने वाले प्राणधारियों का भी उपयोग तथा महत्व है। जो लोग यह समझते हैं कि हिंसक जीवों को मारना तो धर्म है, वे भूल करते हैं । यदि इसी प्रकार पशु जगत् यह ख्याल करे कि मानव बड़ा हत्यारा और खूंखार है उसे मार भगाना चाहिए तो इसे आप सब कभी अच्छा नहीं कहेंगे, इसी तरह अन्य जीवों की स्थिति पर भी विचार करना चाहिए। संसार में रहने का अन्य जीवों को भी उतना ही अधिकार है, जितना कि मनुष्यों को। सबके साथ मैत्री बना के रहना चाहिए। अपनी गलती के बदले दूसरों को दंड देना अच्छा नहीं। इस प्रकार की हिंसा से प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की भावना बढ़ती है, जो संसार के लिए अनिष्टकारी है ।

पाप या हिंसा करना मनुष्य का मूल स्वभाव या आत्म-धर्म नहीं है । वह पाप या विकार रूप रोग से ग्रस्त होने के कारण अज्ञानवश पापी या खूनी बनता है। हमें ज्ञान की ज्योति जगाकर उसको सुधारने का यत्न करना चाहिए । यदि पापी हमारे सद्प्रयत्नों से नहीं सुधर पाता तो भी उसके ऊपर क्रोध न कर मध्यस्थ भाव की शरण लेनी चाहिए । ऐसा शोचनीय व्यक्ति दया का पात्र है, क्रोध का नहीं । किसी पाप कर्म के कारण किसी भी व्यक्ति को मारने की अपेक्षा उसे समझाना या सुधारने का प्रयत्न करना अच्छा है और यदि प्रयास के बाद भी वह नहीं सुधरे तो तटस्थ भाव को ग्रहण कर लेना चाहिए । क्योंकि समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम मैत्री भाव एवं दया ही मानवता का मूलोद्देश्य है ।

भगवान महावीर के संदेश में एक कवि ने ठीक ही कहा है–

घृणा पाप से हो पापी से, कभी नहीं लवलेश ।
भूल सुझाकर प्रेम भाव से, करो उसे पुण्येश ।।

यही है महावीर सन्देश ।

संतों के आश्रय में, नहीं बोलने की स्थिति में भी उनके मूक उपदेश चलते रहते हैं । तप और त्याग के वातावरण में त्यागी पुरुषों के जीवन का मूक प्रभाव लोगों पर पड़ता ही रहता है और उनकी जीवनचर्या से भी प्रेरणा मिलती रहती है । जैसे पुष्पोद्यान का वातावरण मन को प्रफुल्लित करने में परम सहायक होता है, वैसे संत संगति भी आत्मोत्थान में प्रेरणादात्री मानी गई है ।

संतो की वाणी को सुरक्षित रखने के लिए हम सब अपने पूर्वाचार्यों के प्रति अत्यन्त ऋणी हैं । यशोभद्र एक ऐसे ही आचार्य हुए हैं । भगवान महावीर के पश्चात् आपने श्रुतज्ञान के बल पर प्रवचन तथा धर्म शासन का रक्षण कर जन समुदाय का विराट उपकार किया । यशोभद्र के चालीस शिष्यों मे संभूतिविजय अग्रगण्य थे, जिन्होंने ४२ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली तथा राजयोगी भर्तृहरि की तरह आदर्श भुक्तभोगी संत निकले । राजा भर्तृहरि ने पिंगला सदृश अद्वितीय सुन्दरी रानी एवं राज्य सुख पाकर भी असलियत समझ कर क्षण भर में सबका परित्याग कर दिया। सांसारिकता उन्हें अपने बन्धन में नहीं डाल सकी और मोह की महिमा गरिमा सब उनके त्याग के सामने ढ़ीली पड़ गई ।

जिस समय भर्तृहरि राज्यपद एवं सुख को अशांति का कारण समझकर तिलांजलि देने लगे तो मन्त्रियों ने उन्हें समझाया कि आप सहसा राज्यपद क्यों छोड़ रहे हैं ? आपके मार्ग में जो बाधा हो उसे ही हटाकर आप सर्वथा निर्विघ्न क्यों नहीं हो जाते । इस पर भर्तृहरि ने कहा–भोग सब रोग का कारण है ।शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये सब सुख के साधन नहीं हैं, वरन् दुःख की सामग्रियां हैं । इन्हीं के द्वारा इन्द्रियां मनुष्य को दुःख पहुँचाती हैं तथा मन को अशांत बनाती हैं । भूख के रोग में भोजन का मूल्य है । किन्तु यदि मूल्यवान भोजन अधिक मात्रा में खा लिया जाय तो निश्चय ही हानिकारक होगा । इसलिए कबीर ने कहा है –

कबिरा काया कूकरी, तन से लिवी लगाय ।
पहले टुकड़ा डालिये, पीछे हरि गुण गाय ।।

भर्तृहरि ने भी यह कहते हुए कि –

"सर्वं वस्तु भयान्वितं, भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्"

अर्थात् संसार की सभी वस्तुएं भयवाली हैं, केवल वैराग्य ही एक निर्भय पद है । तो मुझे रोग पैदा करके दवा लेने की अपेक्षा, मूल में रोग का ही सर्वनाश कर देना चाहिए " ऐसा कहकर वे वनवासी हो गए ।

विद्वद्वर संभूति विजय ने भी इसी तरह मान-पूजा और संसार के सुख भोगों को छोड़कर वीतराग का मार्ग ग्रहण कर लिया, निर्ग्रन्थ-मुनि हो गये ।

साधना की मस्ती आते ही साधक मस्त होकर सांसारिक बन्धनों को बलपूर्वक तोड़ फैंकता है । समुद्र में जिस प्रकार अनन्त नदियां समा जाती हैं और उसका कुछ पता नहीं चलता वैसे साधक में ज्ञान की अनन्त धाराएं समाहित हो जाती हैं । साधक अपने पुरुषार्थ एवं साधना के बल से ऊपर उठकर अमर पद प्राप्त कर जीवन को धन्य बना लेता है ।

---

[८]

साधना का चमत्कार

जीवन को ऊँचा उठाने का एकमात्र उपाय सुसाधना है, जैसे नल के द्वारा पानी गगनचुम्बी इमारतों पर पहुँच जाता है, वैसे साधना के द्वारा मनुष्य का जीवन महा-उच्च बन जाता है । मगर ज्ञान के अभाव में साधना की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति नहीं होती । अतः सर्वप्रथम मनुष्य को ज्ञान प्राप्ति में यत्न करना चाहिए ।

दो तरह से मानव को ज्ञान प्राप्ति होती है एक प्राक्तन संस्कारों से–जिसको बिना गुरु या उपदेश के ज्ञान प्राप्त होता है, उसे निसर्ग कहते हैं और दूसरे सत्संग से होने वाले ज्ञान को संसर्ग ज्ञान भी कहते हैं। कहा भी है–'सुच्चा जाणइ कल्लाणं, सुच्चा जाणइ पावगं' । सत्संगति भी ज्ञान की प्राप्ति का प्रमुख साधन है । जिसका पूर्व जन्म उल्लेख योग्य नहीं होता, वह सत्पुरूषों की संगति द्वारा ज्ञान की झलक पा लेता है ।

प्राणिमात्र के हृदय में ज्ञान का भण्डार भरा है । कहीं बाहर से कुछ लाने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु निमित्त के बिना उसका पाना कठिन है । सुयोग से किसी विशिष्ट निमित्त के मिलते ही उसका उपयोग लिया जाय तो अनायास प्रकाश प्राप्त हो जाता है । जैसे दियासलाई में अग्नि सन्निहित है, केवल तुली के घर्षण की आवश्यकता है। वैसे ही मानव की चेतना सद्गुरु से घर्षण पाते ही जल उठती है । आवश्यकता केवल शुभनिमित्त पाकर पुरुषार्थ करने की है ।

सामान्यजन की चेतना नाबालिग श्रीमंत पुत्र के कोष की तरह है, जो अज्ञानता के कारण अपने खजाने को खोल नहीं सकता है । जब किसी योग्य व्यक्ति की संगति से उसका अज्ञान दूर होता है, तब वह खजाने को पा लेता और जीवन को संभाल लेता है । ऐसे सद्गुरु की कृपा से जीव भी आत्म-ज्ञान का अखूट खजाना पा लेता है ।

योग्य गुरु के होते हुए भी यदि कोई शिष्य लाभ न ले, पुरुषार्थ न करे तो उसका दुर्भाग्य ही समझना चाहिए। जैसे कि – किसी पण्डितजी के एक दुलारा पुत्र था, पण्डितजी अपने इस लाडले पुत्र को रजाई में पड़े-पड़े पढ़ाया करते थे। एक बार उनके घर में एक दूसरे विद्वान पधारे। शास्त्रीजी ने नवागंतुक विद्वान से अपने पुत्र की परीक्षा लेने का आग्रह किया। पण्डितजी ने उस बालक की योग्यता के अनुसार दो-चार प्रश्न पूछे किन्तु उसने कोई उत्तर नहीं दिया। एक दर्शक जो बराबर उस बालक को पढ़ते देखता था, बोला कि पण्डितजी इसको रजाई में लेटे-लेटे पढ़ाते हैं। अतः आप भी इसको रजाई के भीतर सुलाकर प्रश्न कीजिए और वैसा करने पर वास्तव में बालक ने सभी प्रश्नों का उत्तर दे दिया।

यह गुदड़ी का ज्ञान था। दुनिया में हर जगह रजाई कहाँ से मिल सकती है? यह अभ्यास का प्रशस्त तरीका नहीं है। इस प्रकार विद्वान पिता को पाकर भी बालक अच्छा नहीं बन सका। यद्यपि निमित्त अच्छा था, पर विधिपूर्वक पुरुषार्थ नहीं किया गया। योग्यता होते हुए भी पुरुषार्थ की आग को ढ़क कर रखने से ज्ञान रूपी प्रकाश नहीं मिलता।

आनन्द श्रावक ने भगवान् महावीर स्वामी का निमित्त पाकर योग्य पुरुषार्थ किया। उसने प्रभु के मुख से जो कुछ भी सुना उसको शुद्ध मन से ग्रहण कर जीवन में उतारने का यत्न किया, फलतः उसका जीवन सफल बन गया।

यदि वीतराग की वाणी को सुनकर कोई उसे ग्रहण न करे तो उसकी आत्मा में बल नहीं आवेगा, उसमें बुराइयों से जूझने की शक्ति नहीं होगी। ऐसी स्थिति में समझ लेना चाहिए कि श्रोता में कुछ मानसिक रोग अवशेष हैं। सुनी हुई बात को मनन करने से आत्मिक बल बढ़ता है। मनन के बिना सुना हुआ ज्ञान स्थिर नहीं होता।

ज्ञान सुनने को यदि खाना कहें तो मनन करना उसको पचाना है। मनुष्य कितना ही मूल्यवान एवं उत्तम भोजन करे पर यदि उसका पाचन नहीं करे तो वह बिना पचा अन्न, अनेक प्रकार की व्याधियों का कारण बन जाता है। यदि गाय, भैंस खाकर जुगाली न करे तो वह अच्छा दूध नहीं देगी।

इस प्रकार सतगुरु की संगति से जीवन में परिवर्तन लाना हो तो श्रवण के पश्चात् मनन करना होगा। क्योंकि रुचि ही सत्वृत्ति का प्रमुख कारण है, जैसे भूखा व्यक्ति भोजन की ओर अभिरुचि और प्रवृत्ति रखता है, वैसे साधक की रुचि साधना की ओर रहती है। वह इस पथ पर सहज भाव से प्रसन्नता पूर्वक बढ़ता और क्रमशः बढ़ता ही जाता है, जब तक कि मंजिल पर नहीं पहुँच जाता।

जीवन निर्माण की दिशा में मात्र सत्पुरुषों के गुणगान से ही आत्मा लाभ प्राप्त नहीं कर पाता, इसके लिए करणी की भी आवश्यकता है और गुणीजनों को भी केवल अपनी प्रशंसा भर से वह प्रमोद नहीं प्राप्त होता, जो कि उनकी कथनी को करनी का रूप देने से होता है। समझिए किसी दुकानदार के पास ऐसा ग्राहक आवे जो सभी वस्तुओं को अच्छी तो बतावे पर कुछ भी खरीद नही करे तो क्या दुकानदार लाभ समझेगा ? ऐसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र में भी ऐसे भक्त जो उपदेशों की बहुत प्रशंसा करें किन्तु ग्रहण कुछ न करें तो उनका कोई भी महत्व नहीं है।

जैसे जीवन निर्वाह के लिए हर एक व्यक्ति कुछ न कुछ धन्धा करता है और उसमें यथा योग्य सफलता भी पा लेता है, वैसे आत्म-बल की वृद्धि के लिए भी प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ करना चाहिए। मन, वाणी और काया की साधना करने से सहज ही आत्मा की शक्ति बढ़ेगी, यश प्राप्त होगा और समाज में सम्मान और सुख मिलेगा।

संसार में दूसरे की अच्छाई, कीर्ति और भौतिक उन्नति देखकर ईर्ष्या करने वालों की कमी नहीं है। यह एक मानसिक दोष है और यदि इसका निराकरण करने के लिए मन पर नियंत्रण करें तो आत्मिक बल बढ़ सकता है। असद् विचारों को रोक कर कुशल मन की प्रवृत्ति करना यह मन का धर्म है। असत्य, कटुक और अहितकारी वाणी न बोलना यह वाणी की साधना है। वाणी का यदि इस तरह दुरुपयोग रोक कर भगवद्-भक्ति की जाय तो इससे भी आत्मिक लाभ होगा। मन और वाणी की साधना के समान तन की साधना भी महत्त्वपूर्ण है। तन को हिंसा, कुशील आदि दुर्व्यवहारों से हटाकर, सेवा, सत्संग और व्रत आदि में लगाना, कायिक साधना है। ये सभी साधनाएं साधक को ऊपर उठाने में सहायक होती हैं। गरीब मनुष्य भी इस प्रकार मन, वचन, और काया के तीन साधनों से धर्म कर सकता है।

साधना की सामान्यतः तीन कोटियां हैं–

१. समझ को सुधारना–साधक का यह प्रथम कर्तव्य है कि वह धर्म को अधर्म तथा सत्य को असत्य न माने। भगवान् की भक्ति करे। देव, अदेव और संत-असंत को पहचानना भी साधकों के लिए आवश्यक है।

शास्त्र में देवों के पांच भेद किए हैं – १. द्रव्यदेव, २. नरदेव,३. धर्मदेव, ४. भावदेव, और ५. देवाधिदेव। ज्ञान का आदान-प्रदान करने एवं सदाचरण के कारण ब्राह्मणों को भी भूदेव कहा गया है। चक्री राजाओं को नरदेव तथा संतों को धर्मदेव कहा है। भावदेव चार प्रकार के हैं। देवगति में जाने वाला द्रव्यदेव है। इस सब में साधक के लिए केवल वीतराग देवाधिदेव ही वंदनीय है। अतः किसी

तमोगुणी या सरागी देव की वंदना से बचना चाहिए। हमें किसी का तिरस्कार नहीं करना है किन्तु वस्तु का सही रूप तो देखना ही होगा। यही सुदृष्टि वाले का काम है। यों तो सम्यग्दृष्टि कीट-पतंगों से भी मित्रवत् व्यवहार करता है, फिर किसी देव-देवी के तिरस्कार की तो बात ही क्या ? मगर सरागी देव को अपना मित्र समझेगा, आराध्य देव नहीं।

इस प्रकार धर्म-अधर्म और पूज्य-अपूज्य का उचित विवेक रखकर चलना सम्यग्दृष्टिपन है। पाप नहीं छोड़ने की स्थिति में भी उसे बुरा मानना और छोड़ने की भावना रखना साधना की प्रथम श्रेणी है।

२. देश विरति या अपूर्ण त्याग–जो श्रमण धर्म को ग्रहण कर पूर्ण त्याग का जीवन नहीं बिता सकते, वे देश विरति साधना को ग्रहण करते हैं, इसमें पापों की मर्यादा बांधी जाती है। सम्पूर्ण त्याग की असमर्थता में आंशिक त्याग कर जीवन को साधना के अभिमुख करना, देश विरति का लक्ष्य है।

३. सम्पूर्ण त्याग – पूर्ण त्याग का मार्ग महा कठिन साधना का मार्ग है। इस पर चलना असि पर चलने के समान दुष्कर है इस साधना में पूर्ण पौरुष की अपेक्षा रहती है। संसार में सब कुछ है किन्तु उसको ही वह मिलता है, जिसमें उसके ग्रहण की क्षमता होती है। रत्नाकर के पास पहुँच कर भी मनुष्य अपनी शक्ति से अधिक लाभ नहीं उठा सकता। तुलसीदासजी ने ठीक ही कहा है –

कर्म कमण्डलु कर लिए, तुलसी जहं तहं जात।
सागर सरिता कूप जल, अधिक न बूंद समात।।

यह निश्चित है कि जितना अन्तःकरण में बल होगा, उतना ही आत्मिक गुणों को मानव अपना सकेगा।

यह सच है कि सांसारिक वासना का सर्वथा त्याग कोई आसान और सरल बात नहीं है। बड़े-बड़े मजबूत मन वाले भी मोह के वशीभूत होकर हार जाते हैं। संसार में प्राणीमात्र को वासना ही भटकाती है। यह कभी रुलाती और कभी हंसाती है। प्रतिक्षण चंचल बनाए रहती है। मगर इसका यह मतलब नहीं कि वासना की भट्टी में मन को अहर्निश जलने के लिए छोड़ दिया जाय। आग हर घर में जलाई जाती है। और कम से कम दो बार उसकी पूजा होती है किन्तु अत्यावश्यक वस्तु होते हुए भी वह गफलत से इधर-उधर खुले स्थान में नहीं छोड़ी जाती। अगर उसे यों खुली छोड़ दें तो उसका परिणाम घातक सिद्ध होगा। अतएव सुविधा भी रहे और घातक परिणाम भी न हो इसके लिए आग को नियन्त्रित रखना पड़ता है।

वैसे ही हिंसा आदि दुर्वासना की आग को भी नियन्त्रित रखना आध्यात्मिक जीवन रक्षण के लिए आवश्यक है ।

संसार परिवर्तनशील है, यहाँ हर क्षण परिवर्तन होता रहता है । रीति-रिवाज भी समय-समय पर बदलते रहते हैं, रहे हैं, और रहेंगे । मगर धर्म के सिद्धान्तों में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता । सत्य, अहिंसा आदि धर्म की बातें सदा ऐसे ही स्थिर रहेंगी । उन पर देश और काल का कोई प्रभाव नहीं पडता । ऋषि मुनियों का अनुभव जन्य ज्ञान जो शास्त्रों में संकलित है, आज हम सब के लिए वह धर्म ग्रहण में परम सहायक बना हुआ है । उसके आधार पर हम तप-त्याग रूपी साधना में प्रवृत्त होते और उसे जीवन निर्माण में उपयोगी मानते हैं । क्योकि त्यागियों का आचरण साधना पथ का संबल माना जाता है ।

आपके सामने तपःपूत पुर्वाचार्यों के बहुत से उदाहरण हैं, जिनमें एक पूर्ण त्यागमय जीवन व्यतीत करने वाले महामुनि यशोभद्र के शिष्य संभूति–विजय भी हैं, उनके समय में जैन संप्रदाय की श्वेताम्बर तथा दिगम्बर शाखाएं नहीं थीं, आज की तरह विभिन्न फिरकाबन्दियों की तो बात ही क्या ? आपके उत्तराधिकारी भद्रबाहु स्वामी हुए । छात्र या शिष्य भी दो प्रकार के होते हैं, एक जल में घृत-बिन्दु सम, दूसरा तेल बिन्दु सम । भद्रबाहु जल में तेल-बिन्दु के समान प्रसरणशील बुद्धि वाले थे । भद्रबाहु को उत्तराधिकारी बनाने से उनके दूसरे शिष्य वराहमिहिर को बड़ी ईर्ष्या हुई क्योंकि वे अधजल गगरी के सदृश्य थे और भद्रबाहु भरे घड़े की तरह गंभीर । ईर्ष्या वश वराहमिहिर साधु मण्डली से अलग हो गए और ज्योतिष-शास्त्र के सहारे अपना प्रभाव विस्तार करते हुए पाटलिपुत्र के नये राजा नन्द के राजपुरोहित नियुक्त हो गए। इस प्रकार क्रोध ने एक तपोधनी तपस्वी को सांसारिक उलझन में उलझा दिया ।

सौभाग्यवश राजा को एक पुत्र रत्न प्राप्त हुआ । वराहमिहिर ने बालक की जन्म कुण्डली बनाकर उसे शतायु एवं पुण्यात्मा बतलाया । राज दरबार में सभी लोग मंगल कामना के लिए पहुँचे । महामुनि भद्रबाहु भी पाटलिपुत्र के पास ही कहीं अपनी साधना में लगे हुए थे किन्तु वे इस खुशी के अवसर पर राजदरबार में नहीं गए। इस प्रसंग को पाकर वराहमिहिर ने राजा को भद्रबाहु के विरुद्ध भड़काया जिससे राजा भी उन पर रुष्ट हो गए । महामन्त्री शकटार ने भद्रबाहु के न आने का हेतु बतलाते हुए राजा से निवेदन किया कि गुरुदेव कीट से कुंजर तक सभी प्राणियों पर दया करने वाले हैं फिर वे आप से भला द्वेष कैसे रखेंगे ? निश्चय ही उनके न आने का कोई दूसरा ही कारण है । मगर राजा इससे संतुष्ट नहीं हुआ ।

आखिर शकटार भद्रबाहु के पास आया और उनकी सेवा में सारी बातें निवेदन कर दीं और साथ ही यह भी अनुरोध किया कि यदि आप राज दरबार में मंगल-कामना के हेतु जल्द नहीं पधारेंगे तो हमारा बुरा होगा । यह सुनकर भद्रबाहु ने कहा "बालक सात दिनों के बाद ही बिड़ाली के मुख से चोट खाकर मर जाएगा, अतः आज न जाकर हमने एक बार ही जाने का सोचा है ।" शकटार ने गुरुमुख से सुनी बात राजा को कह दी । दो प्रकार के निर्णय से राजा विचार में पड़ा और उसने समस्त नगर की बिल्लियों को निकलवा दिया ।

संयोगवश सात दिन के बाद बालक का स्वर्गवास हो गया । क्योंकि धाई के प्रमाद से एक बिडालमुखी अर्गला उस बालक पर गिर पड़ी । इस घटना से राजा बहुत दुःखी हुआ । भद्रबाहु ने राजदरबार में जाकर राजा को सान्त्वना दी । राजा ने भद्रबाहु का बड़ा आदर किया और उनके त्याग, सत्य एवं ज्ञान पूर्ण जीवन से बड़ा प्रभावित हुआ । वराहमिहिर इस घटना से बहुत क्षुब्ध हुए तथा उनके हृदय में प्रतीकार की भावना प्रदीप्त हो गई मगर भद्रबाहु ने उस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और अपनी साधना में लीन रहकर शान्त मन से आत्म-कल्याण करने लगे । वास्तव में ज्ञानीजीवन सागर की तरह गम्भीर और मेरु की तरह अचल होते हैं ।

यदि हम भद्रबाहु के समान धर्म मार्ग में दृढ़ रहकर आत्म साधना करेंगे तो निश्चय ही आत्मा का कल्याण होकर रहेगा ।

---

[९]

दुःख मुक्ति का उपाय

साधक जब ज्ञान का प्रकाश पा लेता है तब वह भौतिकता के सारे लुभावने आकर्षणों से दूर हट जाता है । किन्तु जैसे दीपक का प्रकाश हवा से झिलमिला जाता है, वैसे ही ज्ञान का प्रकाश भी बाधक तत्वों से कभी विचलित हो सकता है और उस समय ज्ञान की ज्योति में मन्दता भी आ सकती है ।

सत्पुरुषों ने अनुभव किया कि मानव मन में ज्ञान की ज्योति अखण्ड रहे, इसके लिए निरन्तर सत्संग, स्वाध्याय और साधना की स्नेह-धारा चलती रहनी चाहिए, ताकि मोह के झोकों में उसका ज्ञान-प्रदीप बुझ न जाए । आचार्य भद्रबाहु ने कहा है –

जीवो पमायबहुलो, बहुसोऽवि य बहुविहेसु अत्थेसु ।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइअं कुज्जा ।।

जीव प्रमाद बहुल होने से योग्य सत्संग के अभाव में चटपट ही इधर-उधर भटक जाता है किन्तु सत्संग और स्वाध्याय में शास्त्रों का परिशीलन होने से ज्ञान का प्रकाश क्षीण नहीं होता । सत्संग और शास्त्र निमित्त हैं, जो सद्‌विचारों को जागृत करते हैं, एवं जीवन सुधार में प्रेरणाभूत बनते हैं । मगर जीवन का ऊंचा उठना साधक के पुरुषार्थ पर ही निर्भर है । जिसमें स्वयं का बल नहीं होगा, निमित्त उसको लक्ष्य पर नहीं पहुँचा सकता ।

यह संसार आकर्षणों का भण्डार है, जिसमें भांति-भांति के आकर्षण भरे पड़े हैं किन्तु उनमें कनक और कान्ता रूप दो प्रमुख आकर्षण हैं । इनके प्रभाव से बचना कोई आसान नहीं है । मनुष्य वनराज के भीषण प्रहार से कदाचित् आत्म-रक्षा कर सकने में सफल हो सकता है, मगर इन दो के आगे धैर्य बनाए रखना, परम साहस का काम है । कनक और कामिनी की नींव पर आधारित परिवार भी कोई

साधारण उलझन का स्थान नहीं है । जाले की मकड़ी की तरह एक बार इसमें फंस जाने पर जल्दी निकलना भारी पड़ जाता है । भांति-भांति के मोह तन-मन को इस प्रकार घेर लेते हैं कि आत्म-साधना की ओर ध्यान ही नहीं जा पाता ।

साधक आनन्द के सामने भी ये सारे लुभावने आकर्षण थे , फिर भी उसने संयम का परित्याग नहीं किया और भोग के लिए कभी व्याकुल नहीं बना । वह दंपति सम्बन्ध को साधना में भी परस्पर के लिए सहायक मानता था । भोगों के बीच में रहकर भी वह जल में कमल-पत्र की तरह निर्लेप रहा । उसका लक्ष्य भोग से बदल कर योग बन गया था ।

भगवान् महावीर की सेवा में पहुँच कर आनन्द ने उनसे प्रार्थना की कि भगवन् ! वे पुण्यशाली धन्य हैं, जो आपकी सेवा में पूर्ण त्याग की दीक्षा ग्रहण करते हैं, पर मेरी शक्ति नहीं है कि मैं इस समय सर्वथा आरंभ-परिग्रह का त्याग कर दूं । मैं आपकी सेवा में गृहस्थ के पांच मूल-व्रत, तीन गुण-व्रत और चार शिक्षा-व्रत धारण करना चाहता हूँ । स्थूल हिंसा, बड़ा झूठ और बड़ी चोरी का त्याग एवं स्वदार संतोष की तरह पांचवें व्रत में उसने इच्छा का भी परिमाण किया ।

आनन्द की तरह प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने जीवन में संयम का अभ्यास करे और विषयराग को मर्यादित बनाए । कारण, बिना मर्यादित जीवन के मानव को शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती । तृष्णा की प्यास असीम होती है, यह बड़वानल की तरह कभी शान्त नहीं हो पाती । संसार की समस्त सम्पदा और भोग के साधन पाकर भी मनुष्य की इच्छा पूरी नहीं होती । क्योंकि शास्त्र में –'इच्छा हु आगास-समा अणंतिया' इच्छा को आकाश के समान अनन्त कहा है । लोक भाषा के किसी कवि ने ठीक कहा है–

जो दस बीस पचास भए, शत होय हजार तो लाख मंगेगी,
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य, धरापति होने की चाह जगेगी ।
स्वर्ग पाताल को राज मिले, तृष्णा तबहूं अति लाग लगेगी,
"सुन्दर" एक संतोष विना शठ, तेरी तो भूख कभी न भगेगी ।।

एक बालक नंगे बदन जन्म लेता है, धीरे-धीरे उसके पास दो-चार रुपये जमा होते हैं और वह चाहता है कि इसी तरह कुछ आता रहे तो अच्छा । इस तरह लाखों अरबों की सम्पदा मिलने पर भी उसे संतोष तृप्ति और शान्ति नहीं मिलती, मन की भूख बढ़ती ही जाती है । इसलिए ज्ञानियों ने कहा है कि तृष्णा और लालसा को सीमित करो । यदि लोभवश इसे सीमित नहीं करोगे तो वह मन को सदा आकुल व्याकुल बनाए रखेगी ।

अन्न और धन की कोठी भरी जा सकती है परन्तु पेट की तरह तृष्णा कभी भरी नहीं जा सकती । अनुभवियों ने सात बड़ी खाड़ें बताई हैं । जैसे–१. पेट की खाड़, २. श्मशान की खाड़, ३. समुद्र की खाड़, ४. राज खजाने की खाड़, ५. अग्नि की खाड़, ६. आकाश की खाड़ और ७. तृष्णा की खाड़ । ये कभी भरी नहीं जा सकतीं । इनमें सबसे बड़ी तृष्णा की खाड़ होती है । इस सम्बन्ध की एक कहानी पढ़ने योग्य है–

किसी नगर में एक सत्कर्म प्रेमी भक्त गृहस्थ रहता था, जो धन की दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ था । और तो क्या, धनाभाव में कुलीनों की तरह उसका आहार भी पूरा नहीं पड़ता था । इससे उसका मन अशान्त और चंचल बना रहता था । सत्संगति और भक्ति के स्थान में भी उसके मन को शान्ति नहीं मिल पाती, फिर भी श्रद्धा से वह सत्संग में अवश्य जाता था ।

संयोगवश एकदा उस नगर में एक महात्मा पधारे । महात्मा का प्रवचन आकर्षक और प्रेरणादायक था, जिससे प्रवचन सुनने के लिए उनके पास बहुत से लोग आया करते थे । वह भक्त भी सत्संग का लाभ लेने के लिए नित्य महात्मा के पास आने लगा । एक दिन प्रवचन के पश्चात् वह अवसर पाकर ठहर गया और महात्माजी से अपनी सारी राम कहानी कह सुनायी तथा बोला कि महाराज ! मन को साधना में लगाने का बहुत प्रयत्न करता हूँ किन्तु मन में बिलकुल शान्ति नहीं रहती ।

आँसू भरी आँखों से उसने अपने घर की आर्थिक परिस्थिति का ऐसा करुण चित्र खींचा कि महात्माजी दया से द्रवित हो उठे और उसकी हथेली पर एक का अंक बना दिया । उस दिन उस भक्त को व्यापार में शीघ्र ही एक रुपया मिल गया। इससे उसकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति कुछ और अधिक जागृत हुई और वह महात्माजी की भक्ति में खूब जोर लगाने लगा । उसकी बढ़ती भक्ति से प्रसन्न होकर महात्मा ने उसकी हथेली में एक के सामने एक शून्य बढ़ा दिया । उस दिन भक्त को दस रुपये मिले जिससे बड़ी प्रसन्नता हुई ।

कुछ दिन बाद महात्मा ने उसको पूछा–बोलो भक्त क्या बात है ? उसने कहा–महाराज ? कुछ कर्ज टिका हुआ है और करने के आवश्यक काम तो सिर पर यों ही पड़े हुए हैं । महात्मा ने उसकी हथेली में एक शून्य और बढ़ा दिया जिससे भक्त की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी हो गई । अब प्रतिदिन एक सौ की आमदनी होने लगी । महात्मा ने फिर पूछा तो बोला–अभी लड़की को ब्याहना है । महात्मा ने एक बिन्दी और बढ़ा दी जिससे उसे हजार रुपये की नित्य आय होने लगी । अब तो उसे व्यापार से अवकाश ही नहीं मिलता । उसका व्यापार बहुत विस्तृत हो

गया और हर तरफ से आमदनी के साथ खर्च भी बढ़ने लगा । घर पर गाड़ी-घोड़े और चिट्ठी पत्री आती-जाती रहती । भक्त व्यापर की धुन में दिन-रात मस्त रहकर बाबाजी के पास तीन की जगह दो बार ही जाने लगा । महात्माजी ने उसकी हथेली में एक बिन्दी और बढ़ा दी । फिर तो क्या था, हजार से बढ़कर उसकी आमदनी प्रतिदिन दस हजार हो गई और वह इससे भी अधिक के लिए व्यस्त रहने लगा । एक रोज बाबा ने एक बिन्दी और बढ़ा दी जिससे उसकी दैनिक आमदनी एक लाख की हो गई ।

वह अपने व्यापार में इतना उलझ गया कि महात्मा के दर्शनों को जाना भी भूल गया । सत्संग और कथा श्रवण की तो बात ही क्या ? अब नित्य आने वाले भक्त के महात्माजी को दर्शन नहीं होने लगे । महात्माजी ने समझ लिया कि माया ने अब भली-भाँति भक्त को घेर लिया है और उससे अब वह निकल नहीं सकता । निदान एक दिन महात्माजी स्वयं उस भक्त के द्वार पर पहुँचे और पूछा कि क्या बात है, जो अब प्रवचन सुनने नहीं आते हो ? भक्त ने निवेदन किया कि महाराज! बहुत परेशानी रहती है । व्यापार धन्धों से अवकाश ही नहीं मिलता । अतः चाहकर भी आपकी सेवा में नहीं पहुँच पाता । बाबा ने भक्त को पास बुलाया और कहा कि घबराओ नहीं, मैं पलभर में तुम्हारी सभी परेशानी मिटा दूंगा, यह कहकर उन्होंने उसकी हथेली पर के एक के अंक को मिटा दिया । परिणामतः व्यापार की हालत खराब हो गई और नित्य प्रति के भयंकर घाटे से उसका कामकाज बन्द हो गया । इस प्रकार उसकी सारी परेशानी अनायास ही मिट गई ।

भक्त सिंह से फिर चूहा बन गया था । अब उसे दिन भर पहले की तरह अवकाश ही अवकाश था । बीच में माया से जो बैचेनी बढ़ गई थी वह माया के जाते ही सारी की सारी कूच कर गई ।

सामान्यतः यही स्थिति साधारण मानवों की होती है । वे लाभ की दशा में बेभान अथच बेचैन हो जाते हैं । खाना-पीना, सोना, आराम करना आदि शारीरिक सुविधा का भी जब ख्याल नहीं रहता तो आत्मिक सुधि और साधना की तो बात ही क्या ?

किन्तु याद रखना चाहिए जैसे घृत की आहुति से आग नहीं बुझती वैसे धन की भूख धन से नहीं मिटती है । तन की भूख तो पाव भर अन्न से मिट जाती है किन्तु मन की भूख असीम है । उसकी दवा त्याग और संतोष के पास है, धन या तृष्णा के पास नहीं । यदि मनुष्य इच्छा को सीमित करले तो संघर्ष के सब कारण आप से आप समाप्त हो जाएगे, विषमता टल जायेगी, वर्गभेद मिट कर शान्ति और आनन्द की लहर सब और फैल कर यह पृथ्वी स्वर्ग के समान बन जाएगी ।

मानव जन्मते समय कुछ भी साथ लेकर इस वसुधा पर नहीं आता । किन्तु बिना साधन के आने पर भी जीवन की सभी आवश्यक सामग्री उसे उपलब्ध होती रही है । माँ का मीठा ताजा दूध, स्वच्छ हवा, प्रियजनों का प्यार एवं प्रकृति की अन्य सुविधा का पूर्ण लाभ उसे मिलता रहता है । जन्म से नंगा मानव होश में आकर विविध साज-श्रृंगारों से अपने जीवन को सजाता और मरकर भी कफन से तन ढक कर ही चिता पर चढता है । आवश्यकता की पूर्ति के लिए कर्मानुसार सबको मिलता है । हाँ–लाभ में पुण्य का बल अवश्य अपेक्षित है । वस्तुतः मनुष्य जब सहज रूप से अपना जीवन निभा सकता है तो वैभव के लिए दुर्गुण अपनाने की क्या आवश्यकता है ?

किसी कवि ने ठीक ही कहा है–

ग्रामे ग्रामे कुटी रम्या, निर्झरे निर्झरे जलम् ।
भिक्षायां सुलभं चान्नं, विभवैः किं प्रयोजनम् ।।

आज के मनुष्य ने अपनी करनी, योग्यता तथा भगवान पर से विश्वास उठा लिया है, उसीका परिणाम यह विस्तृत दुःख और दारिद्र्य है ।

वह सोचता है - आज खाने को है कल न रहा तो····। आज स्वस्थ हैं कल बीमार पड़ गये तो·········। इसी प्रकार हर बात के लिए 'तो' का शंकास्पद प्रश्न मन में उठता रहता है और मनुष्य इसी शंका के चक्कर में पड़कर हरक्षण अशान्त एवं दुःखी बना रहता है ।

आत्म-साधना में तर्क और शंका को हटाना ही श्रेयस्कर है । सत्य और विश्वास के बल पर चला हुआ हर कार्य सुखदायी होता है, जो मनुष्य जीवन के लिए अपेक्षित है । आज मानव दुर्बलता से घिरा हुआ है । दुर्बलताओं को मन से निकाले बिना उसे सच्ची शान्ति नहीं मिल सकती ।

संसार में उनका ही जीवन महत्वपूर्ण है, जिनके मन में रंचमात्र भी संशय या शंका नहीं होती तथा जो प्रण पर अपने प्राण को न्यौछावर करने की हिम्मत रखते हैं । देखिए अनुभवी पुरूषों ने जीवन की परिभाषा करते क्या कहा है –

जगत में उनका जीवन जान ।
जिन्हें न होती शंक रंच भी, प्रण पर देते प्राण ।
जो क्षत खाकर भी करते हैं, औरों का उत्थान ।जगत.।

इतिहास और धर्म-शास्त्र उनकी यशोगाथा गाता है तथा प्रेमभरे हृदय से उनका सम्मान करता है, जो जीवन में आत्म-विश्वास उत्पन्न कर राग रहित हो गए हैं। आत्म-विश्वास से असंभव कार्य भी सुगम और संभव हो जाते हैं और साधना ही आत्म-विश्वास जगाकर साधक को परम-पद पर पहुँचाने की क्षमता रखती है, यह सत्य एवं निश्चित है । ऐसा समझ कर निःशंक मन से साधना करेंगे तो कल्याण ही कल्याण है ।

[१०]

अहिंसा का आलोक

अनन्त-काल से संसार का प्राणी कर्मपाश में बंधा हुआ है । जिससे वह अपने ज्ञानादि गुणों का पूर्ण प्रकाश नहीं फैला सकता । कर्म बन्ध की अनादिता से प्रश्न होता है कि जब कर्म अनादि है तो फिर मनुष्य की मुक्ति कैसे हो ?

यहाँ समझने की बात है कि सम्बन्ध दो प्रकार के होते हैं एक संयोग सम्बन्ध और दूसरा समवाय सम्बन्ध । एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ सम्बन्ध अथवा आत्मा का कर्म के साथ सम्बन्ध, यह संयोग सम्बन्ध है और आत्मा का ज्ञान आदि निज गुण के साथ सम्बन्ध समवाय है, इसमें से पहले का सम्बन्ध अनादि होकर भी सान्त है, जबकि दूसरे का अनादि अनन्त सम्बन्ध है न उसका संयोग है और न वियोग ।

किसी को यदि योग्य निमित्त मिल जाय और उसमें उचित पुरुषार्थ हो तो आत्मा के साथ जो कर्म का सम्बन्ध है, उसका वियोग भी कर सकता है । जैसे सुवर्ण और धूलि का सम्बन्ध अनादि से होने पर भी रासायनिक प्रयोग से सोना शुद्ध होता है । मिट्टी में मिला हुआ भी जल शुद्ध किया जाता है वैसे ही आगंतुक कारणों को रोक कर कर्म का भी अन्त किया जाता है । कर्म भी प्रवाह की अपेक्षा अनादि और स्थिति की अपेक्षा सादि है । जैसे छने जल के पात्र को ढंक दिया जाय तो नया मैल नहीं आता फिर वाष्प नलिका में फिल्टर कर उसे पूर्ण शुद्ध कर लिया जाता है । ऐसे ही व्रतों के द्वारा पापों का आगमन रोक कर तप एवं ध्यान से कर्म-मल का सर्वथा अन्त भी कर लिया जाता है ।

कर्म के अणु संसार में चारों ओर भरे पड़े हैं, जब आत्मा उन्हें ग्रहण करती है तो वे उस-उस परिणति के अनुकूल फल देते हैं, जैसे भावावेश में आकर कोई भंग पी लेता है तो उसके दिल-दिमाग सब मस्ती से आवृत्त होकर कुछ और ही

रूप हो जाते हैं । धीरे-धीरे उपचारों से वह प्रभाव मिटकर मन स्वस्थ होता है । जैसे भंग के परमाणु स्वयं के द्वारा ग्रहण करने पर ही दुःख देते हैं, वैसे कर्म परमाणु भी अपने द्वारा ग्रहण किए जाने पर ही दुःखदायी होते हैं ।

कर्म बन्ध से बचने का उपाय साधना है जो दो प्रकार की है, एक साधु मार्ग की साधना और दूसरी गृहस्थ धर्म साधना । दोनों में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पांच व्रतों के पालने की व्यवस्था की गई है । साधु-मार्ग की साधना महा कठोर और पूर्ण त्याग की है किन्तु गृहस्थ की धर्म साधना सरल है। गृहस्थ के व्रत में मर्यादा होती है । आनन्द की साधना भी देश साधना है । उसने श्रावक धर्म को स्वीकार करते हुए सर्व प्रथम स्थूल हिंसा का त्याग किया जो साधना पथ की सबसे बड़ी बाधा है ।

संसार में जीवन निर्वाह करते हुए शरीर धारी के सम्मुख हिंसा के अवसर आते रहते हैं । ऐसी स्थिति में अहिंसा व्रत का निर्वाह कैसे किया जाय ? इस प्रकार आनन्द के द्वारा पूछे जाने पर प्रभु ने बतलाया कि हिंसा के दो भेद हैं :- एक स्थूल हिंसा और दूसरी सूक्ष्म हिंसा । सूक्ष्म हिंसा के अन्तर्गत निम्न पांच बातें आती हैं – १-पृथ्वी काय के जीवों की हिंसा, २-जलीय जीवों की हिंसा, ३-अग्नि के जीवों की हिंसा, ४-वायु के जीवों की हिंसा, ५-वनस्पति के जीवों की हिंसा । गृहस्थ के लिए दैनिक व्यवहार में इनका सर्वथा त्याग संभव नहीं । फिर भी विवेकी को इसके लिए ध्यान रखना चाहिए, यह सूक्ष्म हिंसा है । किन्तु दूसरी स्थूल हिंसा जिसमें एक कीट से लेकर पशु पक्षी और मनुष्य तक सारे चर प्राणी आ जाते हैं, श्रावक को स्थूल रूप में चलने-फिरने वाले जीव जन्तुओं की जान-बूझकर दुर्भाव से हिंसा नहीं करनी चाहिए । आनन्द ने ऐसी प्रतिज्ञा कर ली ।

साधु या व्रती से पाप हो सकता है परन्तु उसका संकल्प है कि जान-बूझकर पाप नहीं करना । पाप का हो जाना और पाप करना ये दो भिन्न-भिन्न बातें हैं । करने में मन की प्रेरणा होती हैं और होने में मात्र काय चेष्टा । यदि हमारे व्यवहार से किसी के हृदय पर ठेस लग गई और उससे क्षमा मांगकर परिशोधन कर लिया तो वह शान्त हो जायगा और यदि अनायास ही किसी को पीड़ा पहुँच जाय तो यह जान-बूझकर पीडा न पहुँचाने के कारण क्षम्य है किन्तु कंकर की चोट भले ही कम हो, पर जानबूझकर मारने वाले को आप कड़ी दृष्टि से देखते हैं । किन्तु अनजाने मिलने वाली पीड़ा को भी क्षमा की नजरों से देखते हैं ।

हर प्राणी को अपनी जान प्यारी होती है, अतएव हिंसा से बचना हर मानव का परम पुनीत कर्तव्य है । कवि ने ठीक ही कहा है–

प्रथम तो प्रिय धन सब ही को, द्रव्य से सुत लागे नीको ।
पुत्र से वल्लभ तन जानो, अंग में अधिक नयन मानो ।।

दोहा – *नयन आदि सब इन्द्रियन, अधिक पियारे प्राण ।*
या कारण कोई मत करो, पर प्राणन की हान ।

बुरी है जग में बेईमानी, दयापालो बुधजन प्राणी ।
स्वर्ग अपवर्ग सौख्यदानी ।

जीव को अपना जीवन सबसे प्यारा होता है । अपनी जानके आगे वह किसी की भी परवाह नहीं करता ।

एक जगह की बात है कि एक सेठजी को चौथेपन में पुण्य योग से एक पुत्र रत्न प्राप्त हुआ । पुत्र का बड़े ठाठ से लालन-पालन हुआ । एक दिन सेठ कहीं बाहर गए हुए थे कि उनके घर में अचानक आग लग गई और बच्चा घर के भीतर पालने में ही रह गया घर के सब लोग जल्दी में बाहर हो गए । बच्चे की याद आयी तब तक तो घर में चारों ओर आग फैल गई थी और जोरों की ज्वाला निकल रही थी ।

जब सेठ को पता चला तो उसने, बच्चे को बचाने के लिए बहुत धन देने का निर्णय किया, किन्तु धन के लिए जान पर खेलने वाला व्यक्ति उस जगह नहीं मिल सका । सेठ बच्चे के लिए छाती पीट कर रो रहा था । सेठ की व्याकुलता देख कर किसी व्यक्ति ने कहा कि सेठजी ! स्वयं ही भीतर जा कर बच्चे को क्यों नहीं निकाल लाते हो ? यह सुनकर सेठजी बोले कि यदि बचाने के बदले मैं स्वयं जल जाऊं तो……! यदि मैं ही नहीं रहा तो पुत्र-मुख दर्शन का सुख कौन देखेगा? नीति में भी तो कहा है –

आत्मानं सततं रक्षेत्, दारैरपि धनैरपि

इस दृष्टान्त से तात्पर्य यह है कि सम्पदा, और पुत्र आदि से, हर एक मनुष्य को अपना जीवन अधिक प्यारा है । अतः आत्मवत् मान कर किसी के भी प्राण को खतरे में डालना महान् घातक व बड़ा पातक है ।

हिंसा करने वाले मनुष्य को हमेशा चिन्तित रहना पड़ता है । सताए गए व्यक्ति से प्रतीकार पाने की भावना भी मन को कचोटती रहती है । क्योंकि हिंसा प्रति हिंसा को उत्पन्न करती है, जो मनुष्य के लिए चिन्ता का कारण है । आप जानते हैं एक साधारण व्यक्ति कहीं भी स्वतन्त्रता पूर्वक भ्रमण कर सकता है । उसे किसी भी बात की चिन्ता नहीं होगी, किन्तु देश के प्रधानमन्त्री या बड़े-बड़े पदाधिकारी

अकेले नहीं घूम सकते । उनके मन में शंका लगी रहती है, मगर जिसके मन में अहिंसा की भावना है, वह अकेले भी जगत् में घूम-फिर सकता है । गांधीजी हिन्दू-मुस्लिमदंगे के समय में भी नोआखाली आदि पाकिस्तानी क्षेत्रों में घूम गए । कारण स्पष्ट है कि उनके मन में अहिंसा की पवित्र भावना थी, अतः वे सर्वत्र निर्भय रहते थे ।

आचार्य पातंजलि ने योग दर्शन में साधना के मार्ग में यम का लक्षण बतलाते हुए कहा है–'अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः ।' फिर अहिंसा की महिमा बताते हुए आप कहते हैं कि जिसके मन में अहिंसा की प्रतिष्ठा हुई हो, उसका किसी से वैर-विरोध नहीं रहता और भयंकर प्राणी भी उसके सामने वैर-भाव भूल जाते हैं जैसे कि–

"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः" योग. ।

साधु वन-भूमि में हिंसक पशुओं से घिर कर तपस्या करते हैं । इन साधु संतों के पास अहिंसा का ही बल है । पूर्ण अहिंसक के शरीर पर सर्प, बिच्छू आदि विषैले जीव-जन्तु भी अपना विष नहीं लगाते । धार्मिक साधना में अहिंसा के द्वारा ही लोगों का दिल जीता जा सकता है । गृहस्थ भी यदि अहिंसा का व्रत धारण करे तो उसका कौटुम्बिक जीवन मधुर बन सकता है ।

अहिंसा का क्षेत्र बड़ा ही व्यापक है । शरीर से नहीं मारना तक ही अहिंसा सीमित नहीं है । मंत्र द्वारा दूसरे को हानि पहुँचाना, जादू-टोना करना, कटुवाणी का प्रहार कर ठेस पहुँचाना ये सब भी हिंसा के ही रूप हैं । यदि कोई किसी की कटुवाणी या छींटाकशी से उत्तेजित होकर आत्म-हत्या कर ले, तो आत्म-घाती के साथ-साथ छींटाकशी करने वाला भी पातकी होगा । अतएव खूब ध्यानपूर्वक हिंसा के पाप से बचने का प्रयत्न करना चाहिए । आनन्द श्रावक ने प्रभु से कहा कि मैं ऐसी स्थूल हिंसा स्वयं नहीं करूंगा और न कराऊंगा ही । मन, वाणी एवं शरीर तीनों से स्थूल हिंसा का त्याग करता हूँ ।

संयमित जीवन का अर्थ साधना को ऊपर बढ़ा ले जाना है । मगर जो साधना ऊपर बढ़ने के बजाय अधोगामिनी हो, उसे साधना कहना साधना शब्द के महत्व को घटाना है । अब जरा पूर्ण साधक की जीवन झांकी प्रस्तुत करते हैं–भद्रबाहु । वे पूर्ण त्यागी थे । उनकी सत्यवादिता के चमत्कार से अपमानित वराहमिहिर के हृदय में आकुलता भर गई और वह प्रतिशोध के लिए प्रज्वलित हृदय हो गया, आर्त्तध्यान में प्राण त्याग कर वह व्यन्तर देव बना और प्रतिशोध की भावना से पाटलिपुत्र के संघ में प्लेग, हैजा का जन संहारक रोग फैलाने लगा । जब भद्रबाहु

के पास संघ ने आकर रक्षा की प्रार्थना की तब भद्रबाहु ने शान्ति के लिए एक स्तोत्र की रचना की और कहा कि इसके पाठ से कोई संकट नहीं रहेगा । यद्यपि मंत्र-यंत्र आदि विद्या की जानकारी या प्रयोग गृहस्थ को बताना जैन साधुओं के लिए वर्जित है, किन्तु आगम व्यवहारी होने से भद्रबाहु ने इसमें संघ रक्षा के साथ शासन की प्रभावना देखी । अतः 'उवसग्गहर' स्तोत्र की रचना कर दी जो आज भी अपने मंगल रूप में विद्यमान् है ।

कालान्तर से इस स्तोत्र का उपयोग साधारण दुःखों में भी होने लगा, तब कहा जाता है कि दुरुपयोग के कारण उसकी दो गाथाएं निकाल दी गई, स्तोत्र की पांच गाथा अभी भी शेष हैं ।

पाप मानव के सत्यानाश का कारण बनता है, पाप से संताप मिलता है तथा धर्म आत्म-सुख का निमित्त है । देशविरति आनन्द का नमूना और पूर्ण त्याग में महामुनि भद्रबाहु का आदर्श हम सबके सामने है । अपने सामर्थ्य के अनुसार हमें साधना का रूप ग्रहण करना है । वीतराग की प्रेरणामयी वाणी का लाभ लेकर स्वयं साधना करने से लौकिक और पारलौकिक दोनों तरह का कल्याण होगा और आत्मिक शान्ति प्राप्त होगी ।

---

[११]

साधना का बाधक तत्वः असत्य

साधना के क्षेत्र में कुछ साधक और कुछ बाधक कर्म होते हैं । यदि साधक, साधक कर्म को स्वीकार करे तो सुख शान्ति और बाधक कर्म करे तो दुःख और अशान्ति होती है । शास्त्र की भाषा में इसी को उपादेय और हेय कहते हैं । बाधक कर्मों में अनेक विकार रहते हैं, जो साधना में व्यवधान-रुकावट उपस्थित करते हैं, जिनमें भय और लोभ ये दो प्रमुख हैं ।

ये दोनों विकार साधना के क्षेत्र में साधक को आगे बढ़ने से रोकते हैं । परमार्थ की साधना तो बहुत ऊंची है, किन्तु व्यवहार साधना में भी ये दोनों बाधक हैं। यदि कोई लोभवश अर्थ संचय करना चाहे तो उसे भी भय का सामना करना पड़ता है और अर्थ संचय के बाद भी जीवन भर उसके संरक्षण का भय तन-मन पर सवार रहता है, फिर भी भय जीतना आसान है किन्तु लोभ को जीतना उतना आसान नहीं है । लोभाधीन प्राणी मौत का भी मुकाबिला करते देखा जाता है ।

बड़े-बड़े महाजन लोभ के वशीभूत होकर सब कुछ बर्बाद कर लेते हैं और पीढ़ियों की कमाई हुई अतुल धनराशि लोभ की वेदी पर भेंट चढ़ा कर, फकीर हो जाते हैं । इस सम्बन्ध के सैकड़ों उदाहरण आप सब के सामने होंगे, कि किस तरह रोज घर में दीवाली जलाने वाले जन लोभवश सट्टे और जुए में अपना दिवाला निकाल लेते हैं तथा ऊँचे-ऊँचे महलों में रहने वाले प्रियजनों को भी झोंपडी में रहने को विवश कर देते हैं ।

अतएव भगवान् महावीर स्वामी ने कहा—कामना को वश में करो । कामना के कारण ही मनुष्य विविध जन्म-मरण करता और अनचाहे भी दुःख प्राप्त करता है । कामना पर विजय ही दुःख पर विजय है । जैसा कि शास्त्र में कहा है-'कामे कमाहि, कमियं खु दुक्खं ।' कामना की विजय दुष्कर प्रतीत होती है। आनन्द ने

कामना पर विजय प्राप्त करते हुए मन, वचन, और कार्य से स्थूल हिंसा करने एवं कराने का त्याग कर लिया। हर एक पाप तीन प्रकार से होता है, करना, कराना और करने वाले को प्रोत्साहित करना, उसकी प्रशंसा करना। मनुष्य स्वयं पाप करता है, उसकी अपेक्षा सैकड़ों गुणा अधिक कराता व अनुमोदन करता है। अतः अनुमोदन नहीं त्यागने की स्थिति में भी करने-कराने का त्याग आनन्द ने किया।

परिहार्य और अपरिहार्य रूप दो प्रकार की हिंसा में श्रावक को परिहार्य के बाद अपरिहार्य त्याग का भी धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ाना चाहिए। यह पहला व्रत है।

इसके बाद साधना-क्षेत्र में दूसरा स्थान सत्य का आता है। साधना में अहिंसा अगर वायु की तरह है तो सत्य को भी पानी की तरह प्राण-रक्षक समझना चाहिए। सत्य से विचलित होने पर कोई भी साधना सफल नहीं होती। मगर पूर्वाचार्यों ने बतलाया है कि अहिंसा के पालन में सत्य आदि व्रत स्वयं आ जाते हैं। क्योंकि जहां हिंसा है, वहां सत्यादि व्रत नहीं रह सकते और जहां असत्य, कुशील आदि हैं, वहां अहिंसा भी सुरक्षित नहीं रहती।

झूठ, चोरी एवं कुशील आदि भी एक प्रकार से हिंसा है, देखिए—झूठ बोलने वाला अपनी हत्या करता है, क्योंकि सत्य बोलना आत्मा का स्वभाव है और इस दृष्टि से झूठ बोलना उसकी हत्या हुई। फिर नकली को असली और असली को नकली बना कर कहने वाला मिथ्याभाषी, पदार्थ के सही रूप का भी हनन करता है। अतः झूठ बोलने वाला वाणी से हिंसा का कारण बनता है।

स्थूल और सूक्ष्म भेद से असत्य-झूठ भी दो प्रकार का है। साधक के लिए यदि सर्वथा त्याग संभव न हो तो भी उसे स्थूल असत्य का त्याग कर मर्यादा तो करनी होगी, उस को ऐसे झूठ से बचना होगा जिससे कि दूसरे की हानि होती हो।

संसार के सभी धार्मिक सम्प्रदायों ने एक स्वर से हिंसा की तरह झूठ को भी त्याज्य माना है। जगत् में लाखों का लेन-देन सत्य से होता है। यदि भरोसा नहीं निभाया गया तो मनुष्य विश्वासघाती समझा जायगा और झूठ से उसका विश्वास समाप्त हो जायेगा। इसलिए सद्गृहस्थ को स्थूल असत्य से अवश्य बचना चाहिये।

सत्य एवं सदाचार की पालना में सत्संग की तरह बाल्यकाल के संस्कारों का भी बड़ा हाथ होता है, संस्कार का प्रभाव देखने के लिए प्राचीन इतिहास देखिये—

एक साधु को एक बार एक सजीव भिक्षा (बालक की भिक्षा) प्राप्त हुई। साधु ने भिक्षा लाकर भिक्षा-पात्र गुरु को दिया, पात्र भारी था, अतएव उस बालक

का नाम वज्रकुमार रखा गया । अब बच्चे का लालन-पालन कैसे हो ? यह समस्या सामने आई, क्योंकि मंडली साधु की थी, वे त्यागी थे । आखिर साध्वियों के द्वारा बालक शय्यातरी की देखरेख में रख दिया गया । उसी के घर में साधुओं का भी डेरा था अतः बच्चे को जन्म-घूंटी धर्म की मिलती रही ।

कुछ दिनों के बाद बच्चे को खुशहाल देख कर उसकी असली माँ उसे लेने आई, किन्तु साधु-मंडली बालक को देने को तैयार नहीं हुई, जिससे विवाद खड़ा हुआ। राजा के समक्ष निर्णय के लिए यह प्रकरण रखा गया । जन्म देने वाली मां विविध प्रकार के खिलौने, मिठाई आदि लेकर आई और संघ की ओर से शय्यातरी रजोहरण, मुंहपत्ती, पुस्तक, पात्र, आसन, माला, सुमरनी आदि धार्मिक उपकरण लेकर आयी । दोनों सामग्रियों के बीच बच्चे को रखा गया । बच्चा धार्मिक उपकरण की ओर बढ़ा और खिलौनों की ओर उसने मुँह फेर कर भी नहीं देखा ।

तात्पर्य यह कि एक अबोध बच्चा भी धार्मिक संस्कारों के कारण खिलौनों को छोड़ कर धार्मिक उपकरणों की ओर बढ़ा । यदि इसी प्रकार माताएँ अपने बच्चों में जन्म से ही धार्मिक और अच्छे संस्कार डालें तो आगे चलकर बच्चों को अपना जीवन ऊँचा उठाने में कोई दिक्कत नहीं होगी ।

भगवान् महावीर स्वामी ने आनन्द आदि को सम्बोधित करके बड़े झूठ के पांच प्रकार बतलाए । जैसे–

१. कन्यालीक–

कन्या का सम्बन्ध करने को झूठ बोलना, कन्या के दोषों को छिपाकर अच्छा बताना, वय में छोटी को बडी और बड़ी को छोटी कहना आदि । इस प्रकार यदि वैवाहिक सम्बन्ध किया तो झूठ बोलने का पातक लगेगा तथा कन्या भी अपने ससुराल में सुखमय जीवन नहीं व्यतीत कर सकेगी । कन्या की तरह बच्चे के लिए भी समझना चाहिए । लोग स्वार्थवश दूसरे की हानि का भी विचार नहीं करते । एक भाई ने किसी जानकार से पूछा कि यह लड़का कैसा है ? अपनी बाई का सम्बन्ध करना है । उसने कहा–पढ़ा-लिखा होशियार तो है मगर मृगी का दौरा आता है । बेचारा उम्मीदवार धरा रह गया । यह बड़ा झूठ है । नौकरी आदि के लिये भी बात करने का अवसर आ सकता है । श्रावक का कर्तव्य है कि बात-चीत में दूसरे को धोखे में न डाले और किसी का अहित हो, ऐसा भी न कहे ।

२. गवालीक–

गाय, भैंस आदि पशु के सम्बन्ध में झूठ बोलना भी बड़ा असत्य है । दुधारु गाय-भैंस को खराब या खराब को दुधारु बताना, धोखा देकर गाय, भैंस, बैल घोड़ा आदि जानवरों को दूसरे के गले लगा देना आदि पशु-पक्षियों सम्बन्धी झूठ है ।

३. भौमालीक–

पराई जमीन को अपनी बताकर ले लेना या टैक्स बचाने के लिए अपनी को पराई कहना आदि । यह भूमि सम्बन्धी झूठ है ।

४. न्यासापहार–

दूसरे की रकम (रुपये पैसे आदि) को हड़पने की बुद्धि से झूठ बोलना, इधर-उधर की बात बना कर टालना आदि धरोहर सम्बन्धी झूठ है ।

५. झूठी साक्षी–

न्यायालय, पंचायत आदि में स्वार्थवश झूठी गवाही देना, असत्य को सत्य और सत्य को असत्य बतलाना आदि कूट साक्षी सम्बन्धी झूठ हैं ।

गृहस्थ का धर्म है कि वह दूसरे के लिये हानिकारक हो वैसे बड़े झूठ को कभी नहीं बोले । बहुत बार, खाकर न आने पर भी "भोजन कर लिया" ऐसा कहना, ठहरने की फुर्सत नहीं है, कहकर ठहर जाना आदि छोटे--छोटे झूठ मनुष्य अनावश्यक रूप से अनेक बार बोल जाता है । यों तो सभी प्रकार के झूठ वर्जित एवं निन्दित हैं किन्तु यदि सम्पूर्ण झूठ छोड़ने की शक्ति न हो तो बड़े झूठ से तो बचना ही चाहिए ।

देवालय की ध्वजा और गाड़ी के चक्के के समान अपनी बातों को हमेशा बदलने वाले मर्द (व्यक्ति) दुःखमय जीवन व्यतीत करते तथा अपनी आत्मा को दूषित कर लेते हैं । लोक में उनकी प्रीति और प्रतीति कम हो जाती है । सत्य का पालन करने वाला जीवन में सदा सुखी रहता है । अतएव कवि ने बड़ा ही उत्तम परामर्श दिया है–

ना नर गज न नापिये, ना नर लीजे तोल ।
'परशुराम' नर नार का, बोल बोल में मोल ।।

मनुष्य की कीमत उसकी वाणी से है, नाप-तौल से उसकी कीमत नहीं होती। सत्य की महिमा ही वाणी में निहित है । महावीर भक्त आनन्द सत्यव्रत का संकल्प लेकर बड़े ही सम्माननीय व्यक्ति बन गए ।

यदि कोई सेठ स्वयं झूठ का त्याग करे किन्तु मुनीम को झूठ बोलने को कह दे तो यह भी सेठ के लिए स्वयं झूठ बोलने के समान पापपूर्ण है । थोड़े लाभ के लिए, झूठ बोलकर अपने जीवन को लांछित करना सभ्य मनुष्य के लिये शोभनीय नहीं होता । लेन-देन में सौदेबाजी (मोलभाव घट-बढ़कर करना) भी ग्राहक और व्यापारी दोनों के लिए परेशानी का कारण है सौदेबाजी से दूर रह कर,

प्रामाणिकता से व्यवहार करने पर ग्राहक और व्यापारी दोनों का समय बच जाता है और अनावश्यक झूठ बोलने से भी छुटकारा मिल जाता है ।

झूठ से जिसका व्यवहार अशुद्ध होगा, तो प्रामाणिकता के अभाव में उसके पूजा-पाठ आदि भी लांछित होंगे । शुभ-कर्म करने वाले पर आक्षेप की अधिक संभावना रहती है । संसार का नियम है कि जो उजला वस्त्र होगा, उसमें दाग जल्दी नजर आता है, किन्तु जो वस्त्र पहले से काला है, उसमें नवीन दाग का कोई असर नहीं पड़ता । ऐसे अनार्य लोगों की अपेक्षा, एक भक्त गृहस्थ का जीवन उजला है। गृहस्थ-धर्म की दृष्टि से उसका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि मन, वचन और काय से न तो झूठ बोले और न बोलावे । संत का जीवन व्रती गृहस्थ से भी अधिक उजला होता है । उसको सर्वथा झूठ का त्याग है । सर्व-त्यागी भद्रबाहु और देश-त्यागी यानि स्थूल त्यागी गृहस्थ आनन्द का आदर्श आप सबके सामने है ।

पाटलिपुत्र के राजा नन्द महामुनि भद्रबाहु के ज्ञानबल तथा आचारबल से बहुत प्रभावित थे । उनके समय में पाटलिपुत्र के लोगों का चरित्र बहुत ऊँचा था । पाटलिपुत्र में नगरी की खुली दुकानों से कोई चोरी के रूप में माल नहीं उठा पाता था । चीनी यात्री ह्वेनसांग, फाहियान आदि, यहां के लोगों के सत्य व्यवहार से बड़े प्रभावित थे । इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने यात्रा-विवरण में यहां के लोगों की प्रशंसा की है ।

दुर्दैव से एक बार पाटलिपुत्र में बारह वर्षों का लगातार दुर्भिक्ष पडा, क्षुधा की पीड़ा से लोक-जीवन सिहर उठा और उसका प्रभाव संत-जीवन पर भी पड़ा, क्योंकि ज्ञान और सदाचार की सुरक्षा के लिए शरीर रक्षा आवश्यक है, शरीरधारणार्थ संतो को शुद्ध आहार, वहीं मिल सकता है, जहां लोगों में स्वस्थ मन और कुछ उत्सर्ग करने की शक्ति हो । पाटलिपुत्र तो अकाल की चपेट में कंगाल बन गया था। अतएव भद्रबाहु वहां से उत्तर की ओर निकल पड़े और पक्षी की भांति अपना घोंसला बदल दिया । भद्रबाहु ने देश के कोने-कोने में धर्म का सन्देश फैलाया और साथ ही आत्म-साधना का तेज भी चमकाया ।

आज लोगों का चरित्र-बल इतना अधिक क्षीण हो गया है कि संतों को भी समय-समय पर सामान्य नैतिक जीवन तक की शिक्षा देनी पड़ती है । इस के लिए आज संतों का उपदेश ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि हर गृहस्थ का यह कर्तव्य है कि वह अपनी जीविका संचालन में सत्य-अहिंसा आदि का भी पालन करे तथा दूसरों को भी उस मार्ग पर चलने की प्रेरणा करें । साधना-पथ पर स्वयं चलते और दूसरों को

चलाते हुए मानव अक्षय पुण्य का भागी बनता है । जहां सौभाग्य से समाज में दोनों कार्यों को करने वाले होंगे वहां धर्ममयता एवं शान्ति बनी रहेगी ।

आज समाज में ऐसे अवकाशप्राप्त लोगों की आवश्यकता है जो नैतिक सुधार के साथ भावी-प्रजा को धर्म शिक्षा दे, स्वाध्याय की प्रेरणा देकर युवकों में रुचि जागृत करे और लोक-मानस में ज्ञान की ज्योति जगा सके । गृहस्थ आनन्द और मुनि भद्रबाहु की-सी साधना का लक्ष्य हर मानव का हो तो सबका लोक और परलोक सुखमय बन सकता है ।

---

[१२]

साधना की क़सौटी : अस्तेय

साधना जीवन-निर्माण की जड़ है । इसके बिना कोई भी ऊपर नहीं उठ सकता । मगर इस पथ पर चलने में बड़ी-बडी बाधाएँ और कठिनाइयां हैं । एक व्यक्ति जो पहाड़ के जंगली मार्ग से चलता है, जहां एक ओर उत्तुंग शिखर तथा दूसरी ओर गहरी खाई है, पर वह मार्ग उतना कठिन नहीं है जितना कि साधक का मार्ग जिसके चारों ओर रेडियो, खेल-तमाशे, सिनेमा एवं विविध आहार-विहार की वस्तुएं मन को आकृष्ट करने के लिए सजी पड़ी हैं ।

साधना के त्यागमय मार्ग में चलने वाले के लिए लुभावने वातावरण से अपने को बचा लेना बड़ा दुष्कर होता है । राग का आकर्षण त्याग को हर घड़ी दबाता रहता है । इसलिए जब तक कामनाओं पर पूर्ण नियन्त्रण नहीं होता तब तक साधना निर्विघ्न नहीं हो सकती । साधक शुद्ध हृदय से एक बार जब कामना पर विजय पा लेता है तो फिर वह साधना-पथ से हर्गिज विचलित नहीं हो सकता । वह काम विजयी कुशलतापूर्वक कठिन मार्ग से भी निकल जाता है, क्योंकि आत्म-बल का सम्बल उसे प्राप्त हो गया है जो साधक को पथच्युत नहीं होने देता ।

किसी भी वस्तु को त्यागने से पूर्व संकल्प की दृढ़ता के लिए नियम लेना आवश्यक माना गया है । नियम लेने से आत्मा में विश्वास और बल प्राप्त होता है। लौकिक दृष्टि से भी नियम का पालना करना आवश्यक है । शासन के उच्च पदाधिकार प्राप्त करने वाले को भी विधानानुसार शपथ लेनी पड़ती है । जब व्यवहार क्षेत्र में भी इसके बिना काम नहीं चलता तो फिर साधना के क्षेत्र में बिना नियम के काम कैसे चलेगा ? नियम न लेने की भावना मन की दुर्बलता या कमजोरी को प्रगट करती है–जिससे साधना में सफलता नहीं मिल सकती ।

धार्मिक नियमों का लक्ष्य मनुष्यों को स्वानुशासित बनाना है । पर-शासन से मन को पीड़ा पहुँचती है और जीवन भारवत् मालूम पड़ता है । अतः स्वयं ही

अनुशासित जीवन बिताने का अभ्यास मनुष्य के लिए सुख और कल्याणदायक है । स्वशासन से शासित प्राणी ही विश्व में सर्वप्रिय हो सकता है । उसके लिए शासन-व्यवस्था, दंड और निरीक्षण की आवश्यकता ही नहीं रहती ।

साधक आनन्द ने नियमों के द्वारा साधना करना आवश्यक समझा । अहिंसा और सत्य का व्रत तो वह ले ही चुका था । अब उसने अचौर्य व्रत को भी स्वीकार किया । क्योंकि इसके बिना जीवन की साधना पूर्ण नहीं बन पाती ।

चोरी शारीरिक अपराध के साथ-साथ एक भयंकर मानसिक अपराध भी है । सफलता मिलने पर यह अपराध वैसे ही बढ़ता है जैसे घृत पड़ने से आग की ज्वाला। इसके लिए निर्धनता कोई कारण नहीं मानी जा सकती । क्योंकि धनवान लोग भी लालचवश इस रोग के शिकार बने मिलते हैं ।

अदत्त ग्रहण (चोरी) भी स्थूल और सूक्ष्म रूप से दो प्रकार की होती है। जिस वस्तु के लेने में मनुष्य अगल-बगल देखे और दूसरों की आंख बचावे वह बड़ी (स्थूल) चोरी है । चाहे चोरी का सामान साधारण हो या मूल्यवान् । इस स्थिति की चोरी हीरा और सुई दोनों में समान ही मानी जाती है । सामान्यतया जो वस्तु किसी दूसरे की है, उसकी अनुमति के बिना उस वस्तु को ग्रहण करना ही चोरी है । यही कारण है कि साधु-संत बिना पूछे किसी दूसरे के चबूतरे का उपयोग करना भी उचित नहीं समझते । क्योंकि उनके जीवन में छोटी से छोटी वस्तु की चोरी के भी त्याग का नियम रहता है ।

गृहस्थ-जीवन में भी जो व्यक्ति चोरी से विलग रहता है , वह सम्माननीय माना जाता है । सड़क पर नाजायज कब्जा, सरकारी या दूसरे व्यक्ति की भूमिं पर अवैधानिक अधिकार आदि भी चोरी का ही रूप है जिसके लिए शासन द्वारा दण्ड दिया जाता है । गाय बैल बकरी आदि पशु धन तथा पुत्र-पुत्री की चोरी सजीव चोरी का नमूना है ।

वास्तव में मानव समाज के लिए चोरी एक कलंक है। गृहस्थ को संसार में प्रतिष्ठा का जीवन बिताना है और परलोक बनाना है तो वह चोरी से अवश्य बचे । चोरी करने वाला आत्म-गुणों की हत्या करता है । जिसकी वस्तु ली जाती है, उसके हृदय में हलचल होती है, दुःख होता है जो प्रकारान्तर से हिंसा भी है । भला हिंसा के द्वारा किसी का जीवन कैसे पवित्र माना जा सकता है और उसका परलोक कैसे सुधर सकता है ।

स्थूल चोरी के भी भगवान् महावीर स्वामी ने पांच प्रकार बतलाए हैं–जिनसे बचने का आदर्श हर गृहस्थ के समक्ष होना चाहिए । वे इस प्रकार हैं–

१–सेंध मारना-दीवारों में छेद बनाकर मकान के अन्दर घुसना और वस्तुओं को उठा ले जाना इसके अन्तर्गत आता है ।

२–गांठ की वस्तु खोल लेना, जेब, पल्ले और गांठ, काट कर व बिस्तर आदि में से वस्तु निकाल लेना । नगरों में आज कल गांठ काटने की शिकायत बहुत होती है, चलते आदमी की जेब से माल निकाल लिया जाता है । यह बड़ी चोरी है ।

३–यंत्रोद्घाटन–ताले को तोड़कर या खोलकर माल निकाल लेना ।

४–किसी के घर की वस्तु को नजर बचाकर उठा ले जाना ।

५–गिरी, पड़ी हुई रास्ते की वस्तु, जिसके स्वामी का पता हो ग्रहण कर लेना या राह चलते किसी को लूटना ।

साधक आनन्द ने इन पांचो प्रकार की स्थूल चोरी का त्याग किया और वह उसका बराबर पालन करता रहा । यही कारण है कि आज भी वह साधक जगत् में अनुकरणीय माना जाता है ।

चोरी की लत बहुत बुरी होती है । मनुष्य को चाहिए कि वह सदा इससे बचने का प्रयत्न करे और साथ ही अपने परिवार पर भी दृष्टि रखे कि कोई इस कुटेव का शिकार तो नहीं हो रहा है । यदि कोई गृहस्थ अपने बच्चे द्वारा लाई हुई एक साधारण वस्तु भी घर में रख लेता है तो समझना चाहिए कि वह बच्चे को पक्का चोर बनने को प्रोत्साहन दे रहा है । इस तरह बालक की बुरी प्रवृत्ति नित्य बढ़ती ही जाएगी और एक दिन वह चोरों का राजा डाकू भी बन सकता है । यदि मां-बाप सजग रहें तो बच्चों में चोरी की कुत्सित आदत कभी नहीं पड़ेगी । परन्तु आज के पालकों को पुत्र-पुत्री के संस्कार निर्माण की चिन्ता कहां है ?

एक जगह की बात है–कुछ पास गांव के लोग संतों की सेवा में आए हुए थे । गांव के एक श्रीमन्त ने सबका अपने यहां आतिथ्य किया । उनमें एक भाई जो साधारण स्थिति का था, जिसके पास पांच रुपये और कुछ पैसे थे । कपड़े खूंटी पर रख कर वह भोजन करने बैठा । भोजन के बाद जब उसने कपड़े संभाले तो रुपये गायब । बेचारा किराये की फिक्र करने लगा । पास के किसी भाई ने कहा–कदाचित् इनके लडके ने निकाल लिए होंगे, क्योंकि उसकी ऐसी आदत है । भाग्ययोग से लड़का रास्ते में मिल गया । पकड़ कर जेब टटोली तो पांच का नोट

मिल गया, पैसे नदारद । पाए हुए में सन्तोष कर यात्री चला गया । सम्पन्न घर में ऐसा होने का कारण बच्चे में संस्कार का अभाव ही कहा जायेगा ।

यदि इस प्रकार की स्थिति रही और बच्चों में अच्छे संस्कार नहीं डाले गए तो निश्चय ही भविष्य भयावह बनेगा और मनुष्य जन्म पाने का कुछ भी लाभ नहीं होगा । जिस व्यक्ति ने लाखों रुपए कमाये किन्तु समाज में प्रतिष्ठा नहीं रही तो वह नुकसान में ही रहा, ऐसा समझना चाहिए । दिवालिए का कोई विश्वास नहीं करता । साख वाले को ही बाजार में सम्मान मिलता है । वास्तव में उसने बोया कम, किन्तु अधिक प्राप्त करना चाहा ।

आज कुछ लोग यह समझने लगे हैं कि चोरी में क्या बुरा है ? एक बार दो मित्रों में बात हो रही थी, एक ने कहा चोरी करना बुरा नहीं, चोरी करके पकड़ा जाना बुरा है, किन्तु यह गलत विचार है । भारतीय नीति में चोरी चाहे पकड़ी जाए या नहीं पकड़ी जाए, दोनों हालत में निन्दनीय, अशोभनीय और दण्डनीय कृत्य है । चोरी या अनीति का पैसा सुख शान्ति नहीं देता । वह किसी न किसी रूप में हाथ से निकल जाता है । कहावत भी है कि 'चोरी का धन मोरी में' । मतलब यह कि साधक को चोरी से और खास कर बड़ी चोरी से सदा दूर रहना चाहिए । उसका जीवन संसार में प्रामाणिक एवं विश्वसनीय होना चाहिए । अज्ञान और कुसंगति से कई लोगों में पापाचार की आदतें पड़ जाती हैं और वे उसी में आनन्द मानने लगते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है । साधक को सतत् इस बात के लिए जागृत रहना चाहिए कि अपने जीवन में गलत व्यवहार का अवसर न आवे । यदि मनुष्य अपनी कुप्रवृत्तियों को वश में रखे तो जीवन उन्नत बना सकता है । भगवान् की आज्ञा में वे ही साधक आ सकेंगे जो दुर्गुणों को छोड़ेंगे और माया से सतत् दूर भागेंगे ।

धर्म की महिमा अपार है । साधक धर्म पर आस्था रख कर अपना उभय लोक सुधार सकता है । किन्तु साथ ही यह ध्यान रखना चाहिये कि धर्म प्रदर्शन की चीज नहीं वह ग्रहण करने की चीज है, सिनेमा और प्रदर्शनी देखने से मन प्रसन्न हो जाता है, परन्तु स्वादिष्ट भोजन केवल सामने देखने को रखा जाय और खाने को न दिया जाय तो तुष्टि नहीं होगी और भूख भी नहीं मिटेगी । धार्मिक स्थल भी भोजनालय के समान हैं जहां भोजन पेट में रखने से प्रसन्नता होती है । धार्मिक जीवन के प्रभाव से मनुष्य चोरी आदि सकल दुष्प्रवृत्तियों से बचकर जीवन निर्माण कर सकता है ।

भगवान् महावीर स्वामी ने लोक अनुकम्पा हित श्रुत धर्म और चारित्र धर्म का उपदेश देकर जगत् का महान् उपकार किया है । इसके पालन से जीवन सफल

हो जाता है । प्रभु की वाणी से प्रभावित हो जहां लाखों ने श्रावक धर्म ग्रहण किया, वहां हजारों पूर्ण त्यागी श्रमण भी हो गए थे । उसमें से एक थे महामुनि भद्रबाहु । वे चौदह पूर्व (एक प्रकार का उत्कृष्ट आध्यात्मिक ज्ञान) के ज्ञाता थे। एक बार वे साधना के लिए नेपाल की तराई में गए हुए थे । उस समय जैन संघ का सन्देश लेकर दो सन्त उनकी सेवा में पहुँचे कि ज्ञान की सुरक्षा के लिए एक बार आप स्वदेश पधारें । भद्रबाहु ने नम्रता पूर्वक उन सन्तों से कहा कि मैं महाप्राण ध्यान की साधना प्रारम्भ कर चुका हूँ । अतःएव आने की स्थिति में नहीं हूँ ।

जैन संघ को उनके सन्देश से बड़ा खेद हुआ । सन्त दुबारा उनके पास भेजे गए और उनसे पुछवाया गया कि यदि कोई संघ की आज्ञा न माने तो उसे क्या कहा जाय ? भद्रबाहु ने इस प्रश्न का लक्ष्यार्थ समझ लिया और बोले :–"वह बहिष्कार करने योग्य होगा । संघ जो आज्ञा देगा, मुझे शिरोधार्य होगी ।"

व्यक्ति के जीवन निर्माण में संघ समाज का भी बड़ा हाथ है । इसीलिए मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा जाता है । समाज की आज्ञा टालने वाला अकृतज्ञ (कृतघ्न) है, यह जानकर महामुनि ने सन्देश दिया कि मैं आने में विवश हूँ किन्तु यहां साधुओं को सात वाचनाएं (आध्यात्मिक पाठ) दे सकता हूँ । मुनि भद्रबाहु के उत्तर में विनय और विवशता का समावेश था । अतः संघ ने ज्ञान सुरक्षा की दृष्टि से कुछ सन्त चुनकर उनकी सेवा में भेजे और श्रुतज्ञान का रक्षण करवाया, जिसके आधार पर आज भी हम सब धर्मा-धर्म समझकर साधना पूर्ण जीवन बिताने में समर्थ होते हैं । इस प्रकार जो भी श्रुत सेवा करेगा उसका कल्याण होगा ।

---

[१३]

साधना के दो मार्ग

सन्तों का जीवन जगत् में पूर्ण शान्ति का जीवन है। वे संसार में रहते हुए भी, कामनाओं से सदा अलग-थलग रहते हैं। प्रपन्चों के बीच जम कर भी, उनसे अछूते रहते हैं। कर्म उन्हें बाँधने में असमर्थ हैं, माया उन्हें लुभाने में असफल है। मदिरा का ठेकेदार जैसे सैंकड़ों हजारों लोगों को अपने यहां मदिरा पीते देखकर भी मस्त नहीं होता, क्योंकि जो उसे ग्रहण कर पीता है वही नशे में चूर होता है। ठेकेदार विक्रय करते हुए भी उसका पान नहीं करता, अतःएव उसे मादकता नहीं सताती। ऐसे ही निर्मोही सन्त और संसारी दोनों के सामने कर्म परमाणु फैले हुए हैं, वीतराग सन्त उसके जाल में नहीं फंसते और संसारी उस जंजाल में उलझ कर बंध जाता है। अतः सन्त कर्मों से अलिप्त और शान्त रहते हैं; जबकि संसारी लिप्त तथा अशान्त।

भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं कि मनुष्य यदि अज्ञान का पर्दा हटाकर विवेक से काम ले तो उसे शान्ति और आनन्द कहीं अन्यत्र खोजने की जरूरत नहीं होगी, वह स्वयं शान्ति और आनन्द का धाम बन सकता है। कर्मों का जंजाल ही उसे ऐसा होने में बाधक बनता है।

आनन्द धाम की प्राप्ति के दो साधन—एक श्रमण धर्म और दूसरा श्रावक धर्म। पहला मार्ग पूर्ण त्याग और संयम का है। इसका पालन वही कर सकता है जो कबीर के शब्दों में घर जलाकर तमाशा देख सकता है अथवा सर को हथेली में रखकर घूम सकता है या कि दहाड़ते सिंह के खुले जबड़े में हाथ डालने की हिम्मत रखता है। मतलब यह कि जिसमें अपूर्व साहस, शौर्य और सहनशीलता नहीं होगी, वह इस असिधारा व्रत का पालन नहीं कर सकता। कदाचित् आवेश में आकर कोई ग्रहण भी कर ले तो बराबर उस पर कायम नहीं रह सकता।

दूसरा मार्ग अपूर्ण त्याग वाला गृहस्थ जीवन का है । इसे श्रावक धर्म भी कहते हैं। इसका पालन हर एक व्यक्ति कर सकता है, चाहे वह वकील, जज, कृषक, उद्योगपति, श्रमजीवी मजूदूर या कोई भी धन्धा करने वाला क्यों न हो ? गृहस्थ धर्म के पालन के लिए सुदृष्टि अपेक्षित है । वह पुण्य पाप, जीव-अजीव, खाद्य-अखाद्य और करणीय अकरणीय के भेद को भली भाति समझे, यह आवश्यक है ।

जीव का स्वभाव है चेतना शक्ति से युक्त होना । एक छोटे-सें छोटे कीट से लेकर कुंजर तक सभी प्राणियों में चेतना वेदन करने की शक्ति है और सभी का जीव समान है । पूरे कमरे को प्रकाशित करने वाले दीपक को यदि छबड़ी से ढांक दिया जाय तो वह छबड़ी की परिधि तक ही प्रकाश देगा, जो पहले पूरे कमरे को प्रकाश दे रहा था । यदि उससे भी छोटे पात्र से उसे ढांक दें तो उसके भीतर तक ही प्रकाश फैलेगा । और यदि उसी दीपक को द्वार पर रख दें, तो दुर तक भीतर एवं बाहर प्रकाश फैला देगा ।

दीपक की रोशनी विभिन्न स्थितियों में बड़ी छोटी नहीं हुई, किन्तु उसमें विस्तार तथा संकोच होता रहा । ऐसे ही जीव की चेतना भी बराबर है, केवल उनके शरीर की आकृति के अनुसार चेतना का विस्तार न्यूनाधिक परिमाण में होता है । बच्चा मां के पेट में छोटे आकार में रहता है, मगर बाहर आते ही वह धीरे-धीरे बड़ा होने लगता है और एक दिन पूर्ण बड़ा हो जाता है । उसकी चेतना वाणी के द्वारा प्रस्फुटित होती है । मस्तक से लेकर पैर तक शरीर के सभी भागों में उसे चोट का या स्पर्श का ज्ञान होता है । इससे सिद्ध है कि चेतना शरीर के किसी एक भाग में नहीं, बल्कि सम्पूर्ण शरीर में है । अतः कीड़ी से लेकर कुंजर तक सभी में जीव समान है और सब के साथ प्रेमभाव रखना हर मानव का कर्तव्य है ।

जिस व्यक्ति में विवेक का प्रकाश फैल जाता है, चाहे वह राजा है या रंक अथवा किसी भी स्थिति का हो, श्रावक धर्म का पालन कर सकता है । यदि किसी व्यक्ति ने प्रपंच नहीं त्यागा, संयत जीवन नहीं बनाया, जीने की दिशा में कोई सीमा नहीं निर्धारित की, तो वह सर्व-विरति या देश विरति-श्रावक धर्म का साधक नहीं बन सकता । केवल मन को जागृत करने की आवश्यकता है । फिर हर एक साधक, साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ सकता है ।

आनन्द ने तीसरे व्रत में स्थूल अदत्त का त्याग कर दिया । उसका जीवन बहुत प्रामाणिक एवं विश्वस्त था । वह चाहे राजा के भण्डार में अकेले भी चला जाता तो उसका कोई अविश्वास नहीं करता, क्योंकि वह प्रामाणिक और त्यागी था ।

धर्म व्यवस्था से मनुष्य का मन मजबूत होता है । धार्मिक जन का त्याग शुद्ध मन से होता है, भय या परवशता से नहीं । बहुत से मनुष्य हिंसा, कुशील, चोरी आदि महापापों को राजदण्ड के भय से और कुछ यमदण्ड से भी त्याज्य मानते हैं, परन्तु ज्ञानी सद्गृहस्थ आत्मा को मलिन बनाने वाले पाप कर्मों को बुरा समझकर उनका त्याग करता है ।

धार्मिक जीवन मनुष्य के मन को निर्मल व महत्वपूर्ण बनाता है । पाप के प्रति मन में घृणा के भाव हों और सद्गुणों के प्रति अनुराग, तो अनायास ही पाप मन में नहीं आवेगा और घड़ी आध-घड़ी के लिए कदाचित् आ भी जाय तो वह अधिक समय तक मन के भीतर नहीं ठहर सकेगा । ऐसी स्थिति में मन पूर्ण चन्द्र की तरह दिव्य आभा से आलोकित हो उठेगा ।

आज तो घृणा का दृष्टिकोण भी बदला हुआ दिखाई देता है । समाज में बहुत से ऐसे लोग हैं, जो हरिजनों, शूद्रों या निम्न जातियों के लोगों से तो घृणा करेगें और उनकी छाया तक से बचेंगे मगर मैला से बने खाद एवं नालियों के गंदे पानी से पैदा होने वाली साग-सब्जियों से जो कि उन्हीं गंदे जनों के द्वारा उपजाई गई हैं, कोई घृणा नहीं करेंगे, वरन् मौसम के समय ऐसी सब्जियों व फलों को बड़े चाव से ग्रहण करेंगे । पाप एवं बुराई से घृणा नहीं करेंगे । अजीब तमाशा है । एक ओर जहां घृणा नहीं करनी चाहिए, वहां घृणा करते हैं और जहां करनी चाहिए वहां नहीं करते हैं ।

ज्ञानी जन पाप से घृणा करते हैं जैसे कोई कै और मल के स्पर्श से परहेज करता है, किन्तु पापी से नहीं । कारण पापी घृणा का नहीं, किन्तु दया का पात्र है । आज का पापी कल सुधर सकता है । अज्ञानतावश कोई बुरे कर्मों में उलझता है । साधु या सद्गृहस्थ का कर्तव्य है कि प्रेम से उसका मार्ग दर्शन करे तथा बुराई से उसको बचावे । धर्म नीति की यही विशेषता है कि वह हृदय परिवर्तन कर मानव का दृष्टिकोण ही बदल देती है ।

आज के धर्म विहीन देश एवं समाज भौतिकता के प्रभाव में धर्म की महिमा भूल रहे हैं । किन्तु उन्हें याद रखना चाहिए कि इसमें वे धोखा खा रहे हैं । इतिहास साक्षी है कि भौतिकता के उन्माद में हजारों वर्षों से मानव सुन्दोपसुन्द न्याय से सुख शान्ति प्राप्ति के लिए लड़ रहा है, पर उन्हें आज तक प्राप्त नहीं कर सका । हर देश की जल, थल एवं नभ की सीमा निर्धारित की जा चुकी है फिर संघर्ष की ज्वाला क्यों उठ रही है ? इसका उत्तर साफ है कि आज के जन-जीवन में धर्म नहीं और त्याग नहीं । धर्म साधना के लिए समाज में सुन्दर परम्पराएं डाली

जायं, तो निश्चय ही सहज रूप में होने वाले बहुत से पाप-कर्म नहीं हो पाएगे और रौरव रूपा आज की यह धरती, स्वर्ग के समान सुन्दर बन जाएगी ।

आनन्द की तरह जगत् के सभी गृहस्थों को अपनी मर्यादा बांध लेनी चाहिए । कोई भी वस्तु मर्यादा बांधी जाने पर ही हितकर और सुखकर हो सकती है । भोजनादि भी मर्यादित समय पर ही अच्छे और हितावह हो सकते हैं, मर्यादा हीन उच्छृंखल मन बेलगाम-घोड़े की तरह पाप कर्मों की ओर दौडता फिरेगा और सुलभता से उसमें रमण करेगा । फिर तो लक्ष्य की प्राप्ति असम्भव हो जाएगी । क्योंकि सन्त या भगवान् के निकट मनुष्य तभी पहुँच सकता है जब वह जीवन में पाप कर्मों का त्याग करेगा ।

देश विरति-श्रावक धर्म, पूर्ण त्याग-रूप श्रमण धर्म की ओर अग्रसर होने की भूमिका है । श्रमण धर्म की साधना के ज्वलन्त उदाहरण आपके सामने हैं । आचार्य संभूतिविजय और उनके मुनि संघ ने कितने कष्ट सहे तथा बतला दिया कि विकारों के साथ जूंझना सत्पुरुषों का काम है । पामर मनुष्य जहां आपस में लड़कर संसार को रौरव बनाते, वहां ज्ञानी क्रोध, लोभादि विकारों से जूझते हैं, चाहे कितनी ही कठिनाई क्यों न आवे, वे पीछे नहीं हटते । कहा भी है–

सूरा चढ़ संग्राम में, फिर पाछो मति जोय ।
उतर जाय चौगान में, करता करै सो होय ।।

शास्त्रकारों ने चार बातें दुर्जय बतलाई हैं । जैसे–

अक्खाण सणी, कम्माण, मोहणी तह वयाण बंभवई ।
गुत्तीण य मण गुत्ती, चउरो दुक्खेण जिप्पंति ।। (दशाश्रुतस्कंध)

पांच इन्द्रियों में रसना, आठ कर्मों में मोह, तथा व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत और गुप्तियों में मन गुप्ति को वश में करना कठिन है, अतः ये दुर्जय हैं । शेर, हाथी और शत्रु के कष्टों को सहन करने वाला पुरुष वीर कहलाता है किन्तु मन की गति राकेट और तीव्रगामी यानों की गति को भी मात करने वाली है । इसीलिए कवि ने कहा है–

सब कर्मों में मोह कर्म का, विजय कठिन बतलाया है ।
काम वासना को जीते वह, बड़ा शूर कहलाया है ।।

हरि करि अरि के कष्ट सहे, वह दुष्कर कर्म कहाता है ।
मोह जीतने वाला साधक, महावीर कहलाता है ।।

संतों की जीवनचर्या इसीलिए पढ़ी और सुनी जाती है कि इससे मन की सोयी हुई ज्ञान शक्ति जागृत हो जाय । जिस प्रकार सूर्य किरण को यदि सूर्यमणि में केन्द्रित किया जाय तो रूई को जला सकती है, वैसे ही ज्ञान रूपी सूर्य किरण को हृदय रूपी कांच में साधकर पाप पुंज रूपी रूई की ढ़ेरी को जला सकते हैं । हर मानव यदि पाप से भय करने लगे तो वह लोक और परलोक दोनों में अपना हित साध सकता है ।

---

[१४]

जीवन का प्राण सदाचार

दुनिया के साधनों में भले ही चंचल चित्त वाला आगे बढ़ सके, किन्तु अध्यात्म मार्ग में उसकी गति तेज नहीं हो सकती । इस संसार में चित्त को चंचल बना देने के सहस्रों साधन हैं, जिन में कामिनी का स्थान सर्वोपरि माना गया है । इसकी दृष्टि में वह जादू है, जो साधक के मन की चंचलता को बढ़ाकर, साधना मार्ग से उसे विचलित कर देती है ।

मन की चंचलता को दूर करने के लिए, पहले उसका शुद्धिकरण करना होगा । जब मानसिक अशुद्धि दूर हो जाएगी तो स्थिरता सहज प्राप्त हो सकेगी । मन को निर्विकार समाधिस्थ कैसे बनाना, शिष्य की इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है :–

तस्सेस मग्गो गुरु-विद्धसेवा, विवज्जणा बालजणस्स दूरा ।
सज्झाय एगंत–णिसेवणा य, सुत्तत्थ सं चितणया धिई य ।।

अर्थात्-निर्विकार होने को गुरु तथा वृद्धजनों की सेवा करना, अज्ञानी एवं क्षुद्र प्रकृति के लोगों से दूर रहना, स्वाध्याय और चिन्तन द्वारा एकान्त सेवन करना । इस प्रकार सूत्रार्थ के चिन्तन से मन में धृतिबल प्राप्त हो सकेगा ।

मन की दृढ़ता के लिए दृढ़ संहनन अर्थात् तन दृढ़ होने की भी अपेक्षा रहती है । कहावत भी है कि "स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन बसता है" शारीरिक स्वस्थता के लिए वीर्यबल अपेक्षित है । अतएव भारतीय संस्कृति में ब्रह्मचर्य की महिमा गाई गई है । आत्म स्वरूप का गान यह वाचिक ब्रह्मचर्य है । शरीर स्पर्श के सिवा चार अन्य भोग, शब्द, रूप, रस, गंध की आसक्ति भी ब्रह्मचर्य में विघातक है ।

जैसे साधु-जीवन में पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन का नियम है। वैसे गृहस्थ जीवन में भी भारतीय संस्कृति ने ब्रह्मचर्य पालन को आवश्यक माना है किन्तु आवश्यकतावश

इसमें थोड़ी सी छूट दी गई है । पाश्चात्य संस्कृति में ब्रह्मचर्य पालन का कोई खास महत्व नहीं है, फिर भी इसकी उपयोगिता और महत्व से वे सब भी अनभिज्ञ नहीं हैं।

व्यवहार में स्त्री-पुरुष के समागम को कुशील माना गया है । यद्यपि संसार वृक्ष का मूल होने से गृहस्थ इसका सम्पूर्ण त्याग नहीं कर सकता, फिर भी पर स्त्री–विवर्जन और स्व स्त्री समागम को सीमित रखना तो उसके लिये भी आवश्यक है । भारतीय संस्कृति के अनुसार भोग मानव का लक्ष्य नहीं है क्योंकि भोगरत तो अन्य सभी प्राणी हैं, फिर मानव जीवन की विशेषता क्या ? अतः मानवों के लिए त्याग को सुखद कहा गया है । कहा भी है "यतस्त्यागस्ततः सुखम्" ।

यदि मानव अपनी असीम कामना को ससीम नहीं करेगा तो वह न सिर्फ अपने लिए, बल्कि समाज के लिए भी दुःखद बनेगा । जैसे गिरिश्रृंग से गिरने वाली जलधारा यदि अबाध गति से खुली बहती रहे, तो गांव, घर, खेत-खलिहान आदि सब को भयंकर क्षति पहुँचाएगी । अतः इसका नियन्त्रण करना भी आवश्यक होता है । वैसे ही वासना की धारा को नियन्त्रित करना आवश्यक है ।

संसार में साधारणतया देखा जाता है कि युवावस्था प्राप्त होते ही स्त्री पुरुष एक दूसरे से मिलने के लिए आतुर से रहते हैं । इस अवस्था में उन्माद की इतनी अधिकता हो जाती है कि लोग महान् से महान् अनर्थ का काम करने पर भी उतारू हो जाते हैं । अतः इन सब अनर्थों को रोकने और कामना वृत्ति को ससीम बनाने के लिए भारतीय पूर्वजों ने विवाह सम्बन्ध का नियम बनाया । इसके द्वारा व्यक्ति वासनाओं के बहाव से हट कर अपनी स्त्री में मर्यादित रह सकता है ।

कामनाओं को समेटना व सीमित करना जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है । भगवान महावीर ने कहा है कि मनुष्य यदि कामना नहीं समेटेगा तो शारीरिक और आत्मिक दोनों दृष्टियों से बर्बाद होगा । कुसंग में पड़ा तरूण तन, बल, ज्ञान और आत्मा सभी का नाश करता है ।

सदाचार मानव जीवन का प्राण है । इसके बिना मानव अहिंसादि किसी भी धर्म-तत्व को नहीं निभा सकता। क्योंकि हरक्षण उसमें मानसिक दुर्बलता बनी रहती है। ब्रह्मचर्य व्रत उत्तेजना के समय मनुष्य को कुवासनाओं पर विजय प्राप्त करा कर धर्म-विमुख होने से बचाता है । ब्रह्मचारी-सदाचारी गृहस्थ अपने जीवन में बुद्धि पूर्वक सीमा बांध कर, अपनी विवेक शक्ति को निरन्तर जागृत रखता है। वह भोग विलास में कीड़े के सदृश तल्लीन नहीं रहता और न समाज में कुप्रवृत्तियों को ही फैलाता है। कामना को सीमित ढंग से शमन कर लेना ही उसका दृष्टिकोण रहता है।

कुशील की मर्यादा के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप से अनेक रूप हैं। अपने स्त्री पुरुष का परिमाण यह द्रव्य मर्यादा है, क्षेत्र से विदेश का त्याग करना, काल से दिन का त्याग और रात्रि की मर्यादा, भाव से एक करण एक योग आदि रूप से व्रत की मर्यादा होती है। प्राचीन काल में सामान्य जन भी पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन की मर्यादा रखते थे। उस समय भारत वर्ष में आश्रम व्यवस्था चल रही थी। किन्तु आज स्थिति बदली हुई है। उत्तेजक वस्तुओं के भोजन और श्रृंगार प्रधान वातावरण में रहने के कारण बच्चों में काम-वासना शीघ्र जागृत होती है। परिस्थिति को ध्यान में लेकर ही जैन शास्त्र में अवस्था का नियम नहीं बताया। क्योंकि शरीर वृद्धि में जल, वायु, वातावरण तथा वंश आदि का भी प्रभाव पड़ता है। उष्ण प्रदेश में असमय में ही बालक बालिकाएं यौवन धारण करते दिखाई देते हैं और इस स्थिति में उनको संभालकर चलाना भारी लगने लगता है।

जब जीवन में तरुणाई अंगडाई लेने लगे और मन की गति मृग सम चंचल बन जाय तब ऐसे ही नाजुक क्षणों में तरुणाई को कुवासनाओं से बचाने की जरूरत रहती है। प्रमादवश यदि एक बार भी वे गलत मार्ग पर लग गए तो फिर उससे उनका पिण्ड छुड़ाना मुश्किल हो जाएगा।

जब शरीर पूर्ण विकसित होकर अंग प्रत्यंग जागृत एवं पुष्ट हो जाते थे तभी प्राचीन काल में विवाह की स्थिति समझी जाती थी। इससे तरुणों या तरुणियों को बहकने का अवसर नहीं मिल पाता और वे अपनी कामवासना को अपने तक ही सीमित कर अनर्थ एवं अधर्म से भी बच पाते थे। प्रागैतिहासिक काल तक २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालना मामूली सी बात मानी जाती थी और उसका पालन ऐतिहासिक काल तक भी चलता रहा। शादी के पश्चात् दुबारा जब बालिका का ससुराल में पुनरागमन होता, तब उसे उत्सव माना जाता था। परन्तु दुर्भाग्य या तरक्की की बात यह है कि आजकल शादी के प्रथम वर्ष में ही लड़की मां तथा लड़का बाप बनने का सौभाग्य प्राप्त कर लेता है और जो जल्द नहीं बन पाते उनके मां बाप उनके लिए देवी-देवता की मिन्नतें मनाने लग जाते हैं। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि दोनों का शरीर असमय में ही बिगड़ जाता है। उनसे पैदा होने वाली संतान भी किसी काम की नहीं रह पाती।

आज के लोगों का आहार-विहार नियन्त्रित नहीं है। सदाचार को भूल जाने से मानव अपने को पद-पद पर पीड़ित और व्याकुल अनुभव कर रहा है। उत्साह, उमंग और उल्लास आदि प्रमोदकारी तत्वों का जिनसे जीवन में जान आती है आज सर्वथा अभाव देखा जा रहा है। तरुणाई में ही बुढ़ापा झांकने लगता है तथा शरीर रक्त-हीन एवं निस्तेज प्रतीत होता है। आज के भारतीय तरुण की

शारीरिक दुर्दशा देखकर सचमुच में दया आती है, जो समय से पहले ही कुम्हलाया और मुर्झाया सा लगता है । एक उर्दू के शायर ने ठीक ही कहा है –

फूल तो दो दिन बहारें, जां फिजां दिखला गए ।
हसरत उन गुंचों पै है, जो वे खिले मुरझा गये ।।

यदि मानव का आहार विहार ठीक हो, तो उसमें विषमता नहीं आ सकती तथा शरीर के क्षीण होने की भी संभावना नहीं रहती । जिनमें ब्रह्मचर्य का तेज रहेगा, वे निश्चय ही आनन्दमय जीवन व्यतीत करेंगे ।

मनुष्य के शरीर में वीर्य ही वास्तव में तेज या बल है । जब तक शरीर में यह बना रहता है तब तक एक प्रकार की दीप्ति मुख मंडल पर छायी रहती है और शरीर अंगूर की तरह दमकता रहता है । वीर्य के अभाव में शरीर कुछ और ही हो जाता है । वस्तुतः वीर्यनाश ही मृत्यु और वीर्य धारण ही जीवन है । कहा भी है–

"मरणंबिन्दुपातेन जीवनंबिन्दुधारणात्"

अर्थात् बिन्दु भर वीर्य का पात मरण तथा बिन्दु भर वीर्य का रक्षण ही जीवन है । शरीर शास्त्रियों का कहना है कि प्रतिदिन सेर भर पौष्टिक भोजन खाने वाला मनुष्य ४० दिनों में डेढ़ तोला वीर्य संचय करता है । आज साधारण मनुष्य को खाने के लिए दूध, घी सरीखा पौष्टिक पदार्थ तो दूर रहा, दो बार पेट भरने को साधारण अन्न भी नहीं मिलता । ऐसी सामान्य खुराक में ४० दिनों में कितना वीर्य संचित होगा ? यह सोचने की बात है ।

यदि एक बार भी पुरुष स्त्री का संग करे तो चालीस दिनों का संचित वीर्य समाप्त हो जाता है । शरीर की इतनी बहुमूल्य वस्तु के विनाश का यह क्रम चलता रहा तो शरीर की गाड़ी कैसे और कब तक चलेगी ? यह बाल जीवन के वीर्य रक्षण का ही परिणाम है कि गाड़ी धक्के खाकर भी चलती रहती है ।

यूनान के महा पण्डित एवं अनुभवी शिक्षक सुकरात ने अपने एक जिज्ञासु भक्त से कहा था कि मनुष्य को जीवन में एक बार ही स्त्री समागम करना चाहिए । यदि इतने से कोई नहीं चला सके तो वर्ष में एक बार और यदि इससे भी काम न चले तो मास में एक बार । जिज्ञासु ने पूछा – अगर इससे भी आदमी काबू नहीं पा सके तो क्या करे ? उत्तर मिला – कफन की सामग्री जुटा कर रखले, फिर चाहे जितना भी समागम करे ।

यह तो शरीरिक दृष्टिकोण से विचार हुआ । आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने पर ब्रह्मचर्य का महत्व अनन्त एवं उपादेय रूप है । ब्रह्मचर्य व्रत, सेना में

सेनापति के समान अन्य सब व्रतों में अधिक महत्वशाली है । इसकी रक्षा के लिए नव नियम नव बाड़ के रूप में बतलाए गए हैं । यह अन्य व्रतों का रक्षक है । जैसे दीपक तेल बिना बुझ जाता है, वैसे ही शरीर का तेल अधिक जलाया गया तो जीवन दीप भी शीघ्र ही बुझ जाएगा । अल्पायु में मृत्यु का एक कारण अधिक मैथुन, एवं आहार-विहार का असंयम भी है । सदाचार के महत्व को समझने वाला गृहस्थ, ब्रह्मचर्य का हमेशा पूर्ण पालन करेगा ।

कुशील सेवन करने वाले, वीर्य हानि के साथ असंख्य कीटाणुओं के नाश रूप हिंसा के भी भागी बनते हैं । ब्रह्मचर्य की चोरी करने वालों को प्रकृति के घर से सजा होती है और इसी के कारण आज रोगियों की संख्या अधिक हो रही है । जिन्होंने गृहस्थ जीवन में प्रवेश किया है या प्रवेश करने वाले हैं, उन्हें इन बातों का गम्भीरतापूर्वक मनन करना चाहिए । यदि ब्रह्मचर्य रूप दवा का सेवन किया जाय तो सहज में डाक्टरों के चक्कर में नहीं पड़ना पड़ेगा और शरीर भी सदा स्वस्थ बना रह सकेगा ।

सदाचार में प्रमुख बाधक तत्व आहार विहार की खराबी है । चाय, पान, सिनेमा के अश्लील चित्र, नशीली वस्तुएं आदि उत्तेजक उपकरणों ने सदाचार को बिगाड़ रखा है । ब्रह्मचर्य मानव का एक स्वाभाविक गुण है और कदाचार बाहर से आया हुआ एक अस्वाभाविक तत्व है । जानी हुई बात है कि दुराचारियों की सन्तान भी दुराचारी बन जाती है ।

इस प्रकार दुराचारी व्यक्ति आत्म गुणों को ही नष्ट नहीं करता, वरन् भावी पीढ़ी को बिगाड़ कर समाज के सामने भी गलत उदाहरण प्रस्तुत करता है । अतएव कहा है –"शीलं परं भूषणम्" अर्थात् सोने चांदी आदि के आभूषण एवं वस्त्रादि ब्राह्य सजावट की वस्तुएं वास्तविक आभूषण नहीं हैं, किन्तु शील ही मानव का परम आभूषण है । सदाचारी व्यक्ति कभी ठगाता नहीं और प्रगति पूर्वक अपने पथ पर आगे बढ़ता है ।

समझ आ जाने के बाद मनुष्य के लिए बुराई का त्याग कोई कठिन कार्य नहीं है, केवल मन की दुर्बलता हटाकर सदाचार पालन की भीष्म प्रतिज्ञा लेनी पड़ेगी । गांगेय-भीष्म के कामना-नियन्त्रण का दृष्टान्त संसार से छिपा नहीं है । भीष्म ने अपने पिता शान्तनु के सुख के लिए आजीवन ब्रह्मचर्य पालन की भीष्म प्रतिज्ञा की । क्योंकि शान्तनु की इच्छा पूर्ति के लिए सत्यवती के पिता धीवर ने कहा कि सत्यवती की संतान ही राज्याधिकारी हो, वह इसी शर्त पर अपनी बेटी दे सकता है । पिता की मनस्तुष्टि के लिए गांगेय ने आजीवन ब्रह्मचारी बने रहने का व्रत ले

पिता की मनस्तुष्टि के लिए गांगेय ने आजीवन ब्रह्मचारी बने रहने का व्रत ले लिया । जो लोग कहा करते हैं कि बिना पुत्र के मुक्ति नहीं मिलती, भीष्म ने उनकी गलत परम्परा को नया मोड़ दिया और बतलाया कि सुकृत्य से मानव मुक्ति पाता है, पुत्र से नहीं । महाभारत के हजारों पात्रों में भीष्म का जो ओज व तेज है वह किसी दूसरे को नहीं मिला । अतः भरसक हर युवक युवती को भीष्म सी प्रतीज्ञा पालन कर आदर्श उपस्थित करना चाहिए ।

महामुनि स्थूलभद्र की जीवन गाथा भी हमारे सामने है । वे स्वयं तो निष्कलंक चरित्र रहे ही, पर साथ ही एक कदाचारिणी वेश्या के जीवन को भी सुधार दिया । जिस प्रकार काम विजय कर स्थूलभद्र ने अपने जीवन में सिद्धि प्राप्त की, वैसे हर मानव यदि ब्रह्मचर्य का पालन करे तो उसका उभयलोक सुखद होगा ।

---

[१५]

सा विद्या या विमुक्तये

द्रव्य कर्म को अपनी ओर आकर्षित करने वाला भाव कर्म है । भावकर्म यदि कमजोर हुआ तो द्रव्यकर्म स्वतः कमजोर हो जायेगा । भावकर्म यदि सज़ोर है और द्रव्य-कर्म कमजोर है तो वह उसे भी सबल बना देगा । भावकर्म का रूप–काम क्रोध, माया, मोह आदि है, जो मनुष्य को विविध प्रपन्चों में उलझाए रखता है ।

श्रावक आनन्द प्रभु के समीप व्रत ग्रहण कर अहिंसा सत्यादि का पालक बन गया। व्रत ग्रहण के पूर्व उसे तत्व-अतत्व का ज्ञान नहीं था । वह दुनिया के प्रवाह में तन, धन, परिजन, एवं पुत्र कलत्र आदि को ही सब कुछ मानता था । महावीर स्वामी के पास उसे सद्विद्या मिली, प्रकाश मिला और वह वस्तु स्वरूप को समझने लगा ।

प्राचीन आचार्यों ने परा और अपरा दो विद्याएं मानी हैं । साक्षरता ही विद्या नहीं वह तो एक साधन है । वास्तव में जिस विद्या के द्वारा मनुष्य, हित, अहित, उत्थान और पतन के मार्ग को समझ सके वही सच्ची विद्या है । जैसे–"वेत्ति हिताहितमनया सा विद्या" । दूसरे व्याख्याकार का मत है कि जो आत्मा का बंधन काट दे वही सही विद्या है । जैसे–"सा विद्या या विमुक्तये" ।

आज का मनुष्य विद्या को जीविका-संचालन का साधन मानता है, निर्वाह का संबल मानता है, यह नितान्त भ्रम है । जीवन निर्वाह के लिए वस्तुएं जुटाना, खाद्य पदार्थ जुटाना, संतति का पालन-पोषण करना, गर्मी-सर्दी-वर्षा से बचाव करना आदि बातें तो पशु भी कर लेते हैं । पक्षी बड़ी चतुराई से अपना घोंसला बना लेता है और वह भी ऐसे स्थानों में जहां अन्य प्राणियों का संचार न हो । मगर उनको विद्वान् नहीं कह सकते । पेट पालने का तरीका, हुनर या शिल्प-विद्या विज्ञान है, तथा आत्मतत्व को जानने की विद्या ज्ञान है । ऐसा अमर कोषकार अमरसिंह का कथन है। जैसे कि "मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः ।"

धन कमाने का इल्म या हुनर जानने वाला विज्ञान रखता है परन्तु ज्ञान के अभाव में उसे सच्ची शान्ति नहीं मिलती । इस प्रकार की विद्या जो पेट पालने का केवल हुनर सिखावे वह मृग जलवत् है । जैसे ग्रीष्मकाल में तृषित मृग भ्रम में पड़कर झूठे जल के लिए दौड़-दौड़कर अपने प्राण दे डालता है वैसे ही मनुष्य अन्न के कणों के लिए चांदी या कागज के टुकड़ों के लिए दौड़-दौड़ कर अपना बहुमूल्य जीवन नष्ट कर डालता है । मन की लहरों के अनुसार मर्कट-नाच नाचने से क्या प्यास बुझ जायेगी ? नहीं, वह तो सद्विद्या के द्वारा ही बुझ सकती है और उससे अशान्त जीवन में सच्ची शान्ति आ सकती है । आनन्द पूर्व गृहीत चार व्रतों के पश्चात् पंचमव्रत इच्छा परिमाण को स्वीकार करता है । किसी कवि ने ठीक ही कहा है–

इच्छा के पीछे जग जाता, जिमि शरीर अनुगत छाया ।
जहां चाह है वहां राह है, यह परेश की है माया ।।

इच्छा मनुष्य को सतत अशान्त बनाए रखती है । संसार उसके पीछे वैसे ही दौड़ता है जैसे काया के पीछे छाया । जगत् में सब बातों की पूर्ति की जा सकती है । किन्तु इच्छा की पूर्ति संभव नहीं । जब तक मनुष्य अपने मन पर अंकुश नहीं लगाता, तब तक वह उसे विविध रूप से नचाती है, और सदा आकुल बनाए रखती है । ज्ञानवान् मन को अपने वश में रखकर आत्म-शान्ति का सुखानुभव करता है । कहा भी है–

मन सब पर असवार है, मन का मता अनेक ।
जो मन पर असवार है, वह लाखन में एक ।।

ज्ञान-बल न होने से मानव इच्छा पर नियन्त्रण नहीं कर पाता और रात-दिन आकुलता का अनुभव करता है । ज्ञान की बागडोर यदि हाथ लग जाय तो चंचल मन-तुरंग को वश में रखा जा सकता है, इसके लिए सत्संगति और सुशिक्षा में प्रयत्न किया जाता है ।

वर्तमान काल में शिक्षा का बहुत प्रसार है और साक्षरता में भी अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि हुई है, किन्तु साक्षरता तो साधन मात्र है, जिसके द्वारा ज्ञान के प्रवेश द्वार तक पहुँच सकते हैं । शास्त्रों के पठन-पाठन एवं भाव ग्रहण करने के लिए इसकी आवश्यकता है । मगर जैसे किसी प्रासाद के द्वार पर पहुँच कर यदि भोजनशाला में न पहुँचे, तो भूख ज्यों की त्यों बनी रहेगी । वैसे साक्षरता मात्र से शान्ति नहीं मिलती, वरन् ज्ञान की प्राप्ति होने पर सदाचार पालन से ही शान्ति मिलती है ।

कोरी साक्षरता वाली सन्तान विपरीत हो जाने पर 'राक्षस' तुल्य बन जाती है—जैसे कि 'साक्षरा' शब्द को उलट देने से 'राक्षसा' शब्द बन जाता है । यही कारण है कि आज की साक्षरता के अनेक दुष्परिणाम देखे जा रहे हैं । तलाक की प्रथा से बात की बात में स्त्री-पुरुष को और पुरूष स्त्री को छोड़ देता है । पुत्र पिता पर मुकदमे चलाता है और स्त्री पति पर । यह उलट गंगा साक्षरों के द्वारा ही बहायी जाती है । फिर ऐसी साक्षरता किस काम की ? जो अपनी परम्परा, संस्कृति और मर्यादा का ध्यान नहीं रखे । कला विज्ञान के साथ यदि सद्विद्या हो तो जीवन में सरसता रहेगी । सरस विद्वान् विरोधी होने की स्थिति में भी सरस ही रहेगा । इसीलिए कहा है—

"सरसाविपरीताश्चेत्, सरसत्वं न मुच्यन्ति ।"

सद्गृहस्थ आनन्द ने जब भगवान् महावीर स्वामी के समक्ष इच्छा परिमाण का व्रत लिया, तब उसे सच्ची शान्ति मिली । इच्छा परिमाण के लिए अध्यात्म विद्या की आवश्यकता होती है जो आत्मा के महत्व और संसार की असारता का परिचय कराती है ।

आज के शिक्षण से संसार, दुष्प्रवृत्तियों का शिकार हो गया है । तरह-तरह की उद्दण्डताएं और असामाजिक आचरणों की प्रधानता से विद्यार्थी समाज बदनाम होता जा रहा है। अतएव, आज की शिक्षा को लोग शंका की दृष्टि से देखने लगे हैं । यही कारण है कि आज के शिक्षण शास्त्रियों को यह मानना पड़ा है कि नैतिक और आध्यात्मिक विद्या के बिना छात्रों की अनुशासन-हीनता कम नहीं हो सकती । यदि बच्चों में शिक्षा-प्रणाली के माध्यम से सुसंस्कार डाले जायं, तो वे आदर्श-जीवन बनाने की कला सीख सकेंगे ।

यदि कोई स्वस्थ अवस्था में विकार से बचने की सजगता न रखे तथा रुग्ण हो जाने पर उपचार न करे तो इस असावधानी का परिणाम भयंकर हो सकता है । ऐसे ही समय रहते, बच्चों के सुसंस्कार के लिए यदि समाज तन, मन, धन नहीं लगाएगा तो इसके कटु-फल उसे अवश्य भोगने पडेंगे । पहले की सी विनम्रता, श्रद्धा, भ्रातृत्व, शिष्यत्व और भक्ति आदि के भाव अब बहुत कम दिखाई देते हैं । अध्यात्म-विद्या की शिक्षा से यह कमी दूर की जा सकती है । माता-पिता का यह पुनीत कर्तव्य है कि बच्चों की सद्विद्या का उसी प्रकार ध्यान रखें, जैसे उनके भरण-पोषण का ध्यान रखते हैं ।

महामन्त्री शकटार की धर्म-पत्नी लाछलदे ने अपनी सन्ततियों की सत्शिक्षा का ऐसा समुचित प्रबन्ध किया था कि उनकी हर एक सन्तान अद्वितीय निकली । स्थूलभद्र

में उत्तम संस्कार डालकर, उसने एक अमर साधक उत्पन्न कर दिया । महामन्त्री शकटार राजनीति और अर्थनीति में लिप्त रहते थे । राजनीति एवं अर्थनीति में भाई-चारा नहीं रहता, किन्तु अध्यात्म विद्या में सब के लिए मैत्रीभाव रहता है । लाछलदे आध्यत्मिक प्रवृत्ति वाली थी । वह पतिभक्ता, गुणवती, शीलवती और रूपवती नारी थी । वह वाणी में मिठास, मन में प्रीति और व्यवहार में कुशलता रखने वाली थी । अतिथिगण उसके मधुर व्यवहार से मुग्ध थे । वह धर्म में पति की सहायिका एक आदर्श धर्म-पत्नि थी । लाछलदे पति-पत्नि के सम्बन्ध को भोग का ही नहीं मानती थी । उसने हीरे, जवाहरात के आभूषणों से नहीं, बल्कि सद्गुणों से अपने को अलंकृत किया था । यदि ऐसी ललनाएं भारत-भूमि में जन्म लेकर कर्तव्य के प्रति जागरुक रहें तो भावी सन्तति को सुधरने में कुछ भी देर नहीं लगे ।

आनन्द ने इच्छा परिमाण का संकल्प लेकर जीवन को जंजालों से अलग किया । क्योंकि इच्छा परिमाण के बिना परिग्रह पर नियन्त्रण असम्भव है । जंगम स्थावर या सचित्त-अचित्त रूप से परिग्रह ही मनुष्य को संसार–कान्तार में चक्कर खिलाता है या भवसागर में गोते पर गोते लगवाता है, जिसकी आकांक्षा द्रोपदी के चीर की तरह बढ़ी होती है वह आर्त्त एवं अशान्त हो जाता है और अशान्त मन से धर्म-साधना कभी सम्भव नहीं होती । परिग्रह की दृष्टि से मनुष्य के तीन भेद होते हैं जैसे –

१–महापरिग्रही, २–अल्पपरिग्रही, ३–और अपरिग्रही । अपरिग्रही वही बन सकता है, जिसकी आकांक्षाएं पूर्ण नियन्त्रित हों । ऐसा व्यक्ति कभी राजकीय अपराधों में नहीं पड़ता । ऐसा अपरिग्रही महाव्रती साधु है । दो हाथ वाला प्राणी, जब दस हाथ वाले के सदृश काम करे और काम के पीछे दिन-रात हाय-हाय करे तो भला उसे सुख-शान्ति कैसे मिल सकती है? जहां परिग्रह की कोई सीमा नहीं, वहां जीवन में शान्ति नहीं और अशान्त जीवन में साधना को गति नहीं ।

आनन्द व्यावहारिक और आध्यात्मिक दोनों जीवन का सामन्जस्य करता है और अपने को अल्पपरिग्रही बनाता है । निश्चय ही वह चतुर व्यक्ति है जो लोक एवं परलोक दोनों को संभालता है । गृहस्थ होकर जो इस लोक में ही बिलकुल मस्त हो जाय और काम के पीछे दिन-रात का भी ज्ञान न रखे, वह जीवन की चतुराई को नहीं जानता । कहा भी है–

"या लोकद्वयसाधिनी तनुभृतां, सा चतुरी चातुरी ।"

यानि उभयलोक साधने वाली चातुरी ही वास्तविक चातुरी है ।

अनियन्त्रित लोभ या क्रोध व्यावहारिक जीवन को कटु बना देता है और वैसी परिस्थिति में साधक का लोक-जीवन भी ठीक नहीं बन पाता। वह माता-पिता, परिजन एवं बन्धु-बान्धव आदि के प्रति भी ठीक व्यवहार नहीं रख पाता। वस्तुतः लोभ व लालसा आदि पर अंकुश लगाने वाला ही जीवन में सुखी बनता है। सन्त की तरह सर्वथा परिग्रह-मुक्त नहीं होने की स्थिति में भी गृहस्थ को परिग्रह साध्य के रूप में नहीं, वरन् साधन के रूप में मानना चाहिए। परिग्रह कमजोर अवस्था में लिए गए लाठी के सहारे के समान है। जैसे कमजोर व्यक्ति बल आते ही लाठी को हटा देता है, वैसे ही ज्ञानी गृहस्थ परिग्रह को सहारा मानता और संयमित कर उसे उपधि-उपकारी बना कर समय आते ही छोड़ देता है।

व्यवहार में लोक, आनन्द को महापरिग्रही और एक भिखारी को अल्पपरिग्रही कहेंगे, परन्तु प्रभु कहते हैं–अल्पपरिग्रह और महापरिग्रह का मापदण्ड निराला है। जिसके पास कुछ नहीं पर इच्छा बढ़ी हुई है, तृष्णा असीम है, तो वह महापरिग्रही है और करोड़ों की सम्पदा पाकर भी जिसकी इच्छा पर नियन्त्रण है, चाह की दौड़ घटी हुई है, वह अल्पपरिग्रही है। चेडा राजा और आनन्द आदि श्रावक इसी श्रेणी के पुरुष हैं।

आनन्द ने स्थावर और जंगम दोनों प्रकार के परिग्रहों का परिमाण किया। उसने सोना, चांदी आदि जड़ तथा गोधन, बाजिधन एवं अन्य चतुष्पद धनों को भी संयमित कर लिया। बारह करोड़ की सम्पदा, चालीस हजार पशु और ५०० हल के परिमाण से अधिक भूमि का त्याग कर दिया। बाह्य परिग्रह नव प्रकार का है, जैसे क्षेत्र और घर-प्रासादादि-१-२ सोना एवं चांदी ३-४ धन-मणि-मौक्तिक मुद्रा और धान्य ५-६ दास-दासी और पशु-पक्षी ७-८ और घर का सामान ९ इन सबका परिमाण करके उसने सीमित कर लिया। इसीलिए उसका परिग्रह अल्पपरिग्रह कहा गया। परिग्रह परिमाण के उसके तीन प्रयोजन थे १-इच्छाओं के बढ़ते वेग पर नियन्त्रण करना, २-वैर-विरोध का कारण घटाना। ३-साधना में आने वाले विक्षेप को घटाना। मानसिक शान्ति बढ़ाना और साधना के विक्षेप को दूर करना।

इच्छाओं को सीमित किए बिना साधना की ओर चरण नहीं बढ़ेगा और मानव-जीवन कीट पतंगों की तरह छटपटाता रहेगा। यदि मनुष्य ने अपना जीवन पेट भरने के धंधे में ही बिता दिया तो समझना चाहिए कि उसने नरभव को महत्वहीन बना लिया। कहा भी है–

हँस के दुनिया में मरा कोई, कोई रोके मरा।
जिन्दगी पायी मगर, उसने जो कुछ होके मरा॥

दुर्गुणी मानव परिग्रह के पीछे हाय-हाय करते मरता है । किन्तु ज्ञानी भक्त मरते समय सद्गुणों का धन संभालता है । अतएव लड़की जैसे ससुराल से पिता के घर जाने में प्रसन्नचित्त होती है, वैसे वह भी परलोक की ओर हँसते-हँसते जाता और आनन्दित होता है । हर मानव को ऐसी ही साधना करनी चाहिए और ऐसी तैयारी रखनी चाहिए, जिससे कि वह हंसते-हंसते इस संसार से प्रस्थान कर सके।

महामुनि स्थूलभद्र ने पूर्ण त्याग का जीवन व्यतीत किया; उनकी साधना में जीवन-सुधार की कला थी । उनका जीवन आज भी धन्य-धन्य माना जाता है। भला जिनका जीवन बिगड़ा होगा, उनकी मृत्यु हँसते-हँसते कैसे हो सकती है । उसके लिए साधना की आवश्यकता है, वह संयम, श्रद्धा और विवेकपूर्ण होने पर ही हितकर हो सकती है । अन्यथा साधक के स्थान में मारक बन जाती है ।

आत्म-साधना की तो बात ही क्या ? व्यवहार के साधारण काम भी विवेक के बिना उपहास के कारण हो जाते हैं । एक सासू अपनी बहू को काम सिखा रही थी । झाडू निकालने के बाद सासू रोटी बनाने बैठी तो बहू बोली माँ ! यह तो मैं ही बना लुंगी और उसने परात में आटा लेकर लोटा भर पानी डाल दिया । पानी की अधिकता से आटा ढीला हो गया । बहू आकर सासू से कहने लगी कि रोटी तो नहीं बनती । सासू ने कहा अच्छा ठहरो, थोड़ा पानी और डाल दें तो राबड़ी हो जाएगी । बहू न कहा पानी डालकर राबड़ी तो मैं ही बना दूंगी । उसने आटे को हाण्डी में डालकर पानी भर दिया और हण्डिया को चूल्हे पर रख कर चली आयी । आंच की तेजी से हण्डी में उफान आया और राब अग्नि की भेंट चढ़ गई । कुछ समय बाद बहूजी राब लेने को आयी तो देखा कि राब उफनने से चूल्हा बुझा पड़ा है । बची-खुची राब लेकर बुढ़िया के पास गई । सासू राब देखते ही स्थिति समझ गई और प्रसाद के रूप में राब लेकर संतोष मान चुप हो गई ।

चूल्हे को साफ कर सासू जब राख डालने को तैयार हुई तो बहू बोली—माताजी ? इतना तो हमें भी करने दो ।

कचरा डालने में क्या है ? इस पर सासू बोली, देखो बेटी ! भले आदमी को देखकर गिराना । हाँ, कहकर बहूजी गई और थोड़ी देर बाद एक भले आदमी को आते देखकर उस पर कचरा गिरा दिया । राहगीर बड़ा नाराज हुआ । उसने कहा—एक भले घर की स्त्री होकर तुमने जंगली को भी न शोभे ऐसा काम किया शर्म की बात है । शोर सुनकर बुढ़िया आयी और देखा तो बड़ा दुःख हुआ; हाँ, तो हर काम में विवेक की जरूरत है।

संयम के बिना किए गए कार्य में स्व पर की हानि होती है । अतः हर एक कार्य संयम और विवेक से किया जाना चाहिए । यह शिक्षा घर में कुटुम्ब के मुखिया तथा समाज के सत्पुरुषों के द्वारा मिलनी चाहिए । तभी संस्कार का रक्षण और भावी प्रजा का कल्याण हो सकता है ।

---

[१६]

परिग्रह

संसार में जितने प्राणी हैं, उनमें से कोई भी दुःखमय जीवन जीना नहीं चाहता । फिर मनुष्य का तो कहना ही क्या ? वह तो संसार का सबसे बढ़कर बुद्धिमान प्राणी है । फिर भी देखा जाता है कि अज्ञानवश वह दुःख के मार्ग पर स्वयं चलता रहता है । दूसरों को दुःख में पड़ा देख कर भी मनुष्य उनसे सीख ग्रहण नहीं कर पाता तथा उन्ही कारणों को स्वयं अपनाता है जिनसे उसके दुःख घटने के बजाय बढ़ते रहते हैं । सम्यग्ज्ञानपूर्वक चारित्र से दुःख के इस बन्धन को काटा जा सकता है । सद्ज्ञान प्राप्ति के लिए सद्गुरु की शरण और अटूट लगन की जरूरत रहती है । संसार में मोह का सबसे बड़ा रूप लोभ है जो कि मानव की आंखों में अहर्निश समाया रहता है । संसार के सकल अनर्थों की जड़ यही लोभ है जो सतत सबको नचाता रहता है । यदि मनुष्य अपने बढ़ते परिग्रह पर नियन्त्रण कर ले तो वह स्वयं को सुधार कर दूसरों को भी आसानी से सुधार सकता है और कर्म के भार से हल्का हो सकता है । जब तक हृदय में मोह है तब तक सद्ज्ञान की स्थिरता असंभव है । अगर लोभ से सर्वथा पिण्ड छुडाना कठिन है तो उसकी दिशा बदली जा सकती है और उसे गुरुसेवा या जप-तप तथा सद्गुणों की ओर मोड़ा जा सकता है । ऐसा करने पर परिग्रह का बन्धन भी सहज ढीला हो सकेगा ।

साधारणतः मानव मोह का पूर्णरूप से त्याग नहीं कर सकता, पूर्ण अपरिग्रही नहीं बन सकता तो क्या वह उस पर संयम भी नहीं कर सकता ? ऊंची डालियों के फूल हम नहीं पा सकते तो क्या नीचे के कांटो से दामन भी नहीं छुड़ा सकते ? अवश्य छुड़ा सकते हैं । जब शरीर के किसी अंग में अनावश्यक मांस-वृद्धि हो जातीहै तो उससे शारीरिक कार्यों में बाधा पड़ती है । उस बाह्य वृद्धि को पट्टी बांधकर या अन्य उपचार के द्वारा रोकना पड़ता है, सीमित करना पड़ता है वैसे ही बढ़ा हुआ परिग्रह भी अच्छे कार्यों में – साधना में बाधक होता है । अतः उस पर

नियमन की पट्टी लगानी आवश्यक होती है । आनन्द गाथापति ने भगवान् महावीर स्वामी के समक्ष इसीलिये इच्छा परिमाण का व्रत स्वीकार किया ।

यदि मन का नियमन नहीं किया गया तो मन में कभी शान्ति नहीं रहेगी । जिसने सम्पदा पर बाह्य दृष्टि से तो परिमाण किया है किन्तु इच्छा पर नियमन नहीं किया तो उसे सच्ची शान्ति प्राप्त नहीं होती और उसका व्रत धारण भी विधिपूर्वक नहीं समझा जाएगा । इसीलिए परिग्रह परिमाण का दूसरा नाम शास्त्र में इच्छा परिमाण भी रखा है । जब इच्छा की सीमा होगी तो मन में आकुलता नहीं रहेगी ।

आनन्द के पास बारह करोड़ की सम्पदा तथा चालीस हजार का पशुधन था। वह अपनी बढ़ी हुई सम्पदा की बेल को सीमा के अन्दर रखना चाहता था, इसीलिए उसने संकल्प किया कि भगवान् ! इस वर्तमान सम्पदा से अधिक का मैं संचय नहीं करूंगा । वस्तुतः इच्छा पर नियन्त्रण होने से सहज ही त्याग की ओर मन बढ़ता है, जिससे जीवन में एक अलौकिक आनन्दानुभव होता है, जो धन के लिए सतृष्ण होने पर कभी संभव नहीं । आनन्द ने पांचवें व्रत में नौ प्रकार के परिग्रह १. खेत २. वस्तु ३. धन ४. धान्य ५. हिरण्य ६. सुवर्ण ७. दास-दासी ८. पशु और ९ गृह-सज्जा आदि अन्य सामान का परिमाण किया ।

१—खित्त याने खुले मैदान की भूमि खेत आदि (२)—वास्तुक याने गृह प्रासाद आदि यथा-घर, गौशाला, घुड़शाला, हाट-हवेली आदि । वस्तु परिमाण के सम्बन्ध में आनन्द ने नियम किया कि वर्तमान में जितने मकान हैं उनसे अधिक अब नहीं बढ़ाऊंगा । इस प्रकार का व्रती दैववश प्राप्त होने वाली नयी सम्पत्ति, दान, पुरस्कार या अन्य किसी भी प्रकार की ऐसी सम्पत्ति से अपने को विमुख रखेगा जिसके चलते कि आज जगह-जगह महाभारत का श्रीगणेश होता है । जब तक मनुष्यों के मन में सन्तोष का रूप स्थिर नहीं होता तब तक सरकार द्वारा किया गया नियमन एवं लाखों का व्यय भी व्यर्थ ही जंचता है । इच्छा परिमाण के अन्तर्गत जो भावना निहित है वह शासनतन्त्र से प्राप्त नहीं हो सकती ।

नौ परिग्रहों में से किसी परिग्रह में देश काल समय देखकर अधिक या कम नियन्त्रण की आवश्यकता पड़ती है । आज ऐसे बहुत सारे परिवार हैं जहां दास-दासी रखने की आवश्यकता नहीं होती । मनुष्य अपना काम आप कर लेता हे और इसमें वह किसी प्रकार की हीनता का अनुभव नहीं करता। दास रखने की आवश्यकता काम की अधिकता, रोगी या कमजोरी की दशा एवं प्रभुता या बड़प्पन के प्रदर्शन करने आदि के लिए होती है। आज अधिकांश अल्पकालिक वेतनभोगी दास से काम चला लिया जाता है । अपने करके दास-दासी थोड़े ही सम्पन्न लोग रख पायेंगे । किन्तु

मध्ययुग में तो दास-दासी रखने की प्रथा थी चाहे जरूरत हो या नहीं । आनन्द ने इसका भी परिमाण कर लिया । क्योंकि दास के साथ अनात्मभाव से काम लेना अहिंसा के विपरीत यानि धार्मिकता के विरुद्ध है । आनन्द के सैंकड़ों दास थे ।

आज कुछ लोग नौकर रखकर यह तर्क उपस्थित करते हैं कि हम मजदूर लोगों का पालन करते हैं । ऐसी दुहाई देने वाले कहां तक सच कहते हैं यह उनका हृदय जानता है । आज के कारखाने स्वार्थ के लिए चलते हैं या लोकपालन के लिए ? इसका जवाब तो स्वयं से पूछना चाहिए ।

जिन घरों में संस्कार अच्छे होते हें, वहां के बच्चे भी धर्म-भावना से सदा प्रेरित रहते हैं, अतः हर गृहस्थ को अपने अमर्यादित लोभ पर नियन्त्रण करना आवश्यक है । कहा भी है :

अति लोभो न कर्तव्यः, लोभो नैव च नैव च ।
अति लोभो प्रसादेन, सागरः सागरं गतः ।।

जिस प्रकार एक मोटरगाड़ी है जिसकी तेल वाली टंकी में पेट्रोल तो डाला गया किन्तु पानी की टंकी में पानी नहीं डाला तो ऐसी गाड़ी में यात्रा करना खतरे से खाली नहीं होगा । ऐसे ही जीवन की यात्रा में व्रत नियम के जल की टंकी भी आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना जीवनरूपी गाड़ी को भयंकर खतरा हो सकता है ।

धनी घरों में बच्चे प्रारम्भ से ही अर्थ की घुट्टी पीते हैं । अतः श्रीमन्त घरों के बच्चों में अनायास धर्म की ओर प्रवृत्ति नहीं हो पाती । ऐसे बच्चों के मन में सदा धनोपार्जन की कामना रहती है । उनमें सेवा देने वाले, धर्मभावना वाले लोग बहुत कम मिलते हैं, क्योंकि मन में सेवा की रुचि जगाने के लिए परिग्रह पर नियन्त्रण आवश्यक है । घर के जन-जन में अर्थ रुचि देखने वाला बच्चा सेवा रुचि या धर्म रुचि वाला कैसे हो सकता है । इसके लिए समाज के प्रति प्रेम होना आवश्यक है। गुणियों के प्रति यदि आदरभाव जागृत हो तो समाजसेवी भी मिल सकेंगे । राजिया कवि ने कहा है :-

"गुण ओगुण जिण गांव, सुणे न कोई सांभले ।
उण नगरी विच नांह, रोही भलो रे राजिया ।। (रोही-जंगल)

कोई व्यक्ति धर्म के लिए समाजसेवा या प्रचार में अपना समस्त जीवन लगा दे फिर भी समाज यदि उसके प्रति आदर न करे तो ऐसे व्यक्ति की सत्प्रवृत्ति आगे कैसे बढ़ेगी ? कोई सोना, चांदी भूमि-भवन, पशुधन आदि परिग्रह की अपेक्षा यदि गुणों

की ओर अधिक ध्यान लगावे तो ऐसे सद्गुणियों का समाज में आदर होना चाहिए। महामात्य शकटार की पत्नी लाछलदे ने अपनी सातों कन्याओं तथा दोनों पुत्रों स्थूलभद्र तथा श्रीयक पर बचपन से ही सुन्दर संस्कार डाले थे। फलतः उनका भविष्य उज्ज्वल बना।

प्रजापति गीली मिट्टी के पिण्ड से विभिन्न रूपों का निर्माण करता है। कारीगर अपनी कला का रूप गीली मिट्टी के पिण्ड पर ही बता सकता है। सूखी मिट्टी के पिण्ड से रूप निर्माण नहीं होता। एक कुशल कारीगर या प्रजापति की तरह कोमल अवस्था में यदि माता-पिता सुसंस्कार के चाक पर बच्चों को चढ़ावें तो उनका जीवन निश्चय ही सुसंस्कृत हो सकता है। यदि पुत्र को सुसंस्कृत न बनाया जाय तो सिर्फ एक घर की हानि होगी किन्तु यदि बालिका में सुसंस्कार नहीं दिए जायं तो पितृघर और श्वसुरघर दोनों को धक्का लगेगा तथा भावी संतानों पर भी कुप्रभाव पड़ेगा। जो बालिका कुसंस्कार लेकर ससुराल जायेगी, वह वहां भी कुसंस्कार का रोग फैलायेगी। अतः लड़के की अपेक्षा लड़की की शिक्षा पर माता-पिता को अधिक ध्यान देना आवश्यक है।

प्राचीन काल के पुरुषों ने स्त्रियों की मर्यादा का पाठ पढ़ाकर समाज का बड़ा उपकार किया है। उनके लिए पक्षपात की बात कह कर स्त्री जाति के प्रति उनकी सद्भावना और सम्मान बुद्धि पर लांछन लगाना उनके सद्विचारों को गलत रूप में समझना है। मनुष्य बहुमूल्य हीरे-जवाहरातों को अधिक सुरक्षित रखता है वैसे ही हीरे-जवाहरातों से भी अधिक वेशकीमती स्त्रियों की सुरक्षा का प्रबन्ध क्या उनके आदर का सूचक नहीं है? लाछलदे ने बहुमूल्य जवाहरातों से भी बढ़कर अपनी पुत्रियों की सुशिक्षा एवं रक्षा की ओर ध्यान दिया। साथ ही पुत्रों की शिक्षा पर भी कुछ कम ध्यान नहीं रखा। उन्हें सभी विद्याओं में ग्सम्पन्न किया। महामन्त्री शकटार ने पुत्रों को धनुर्विद्या, राजनीति, अर्थनीति, ज्योतिष, ब्रह्मज्ञान आदि सिखाने का उचित प्रबन्ध किया। चौदहों विद्याओं का निरूपण एक कवि ने अपनी कविता में अच्छी तरह किया है, जो इस प्रकार है :—

राग रसायण नृत्य गीत, नटबाजी, वैद्यग,
अश्व चढ़न व्याकरण पुनि, जानत ज्योतिष अंग।
धनुष बाण, रथ हांकवो, चित चोरी ब्रह्मज्ञान,
जल तिरवो, धीरज वचन, चौदह विद्या निधान॥

उस समय पाटलिपुत्र में रूपकोषा नाम की एक विख्यात वेश्या थी। अपने रूप और गुणों के कारण वह नगर-नायिका मानी जाती थी। उसके रूप लावण्य की

प्रशंसा सारे देश में छायी हुई थी । साथ ही वह मनोविज्ञान में भी निपुण थी । विभिन्न उद्देश्यों को लेकर लोग उसके पास आया करते थे । शकटार ने सोचा कि अपने पुत्र को सभी विद्याओं में दक्ष बनाने के लिए इसे वेश्या का संग भी कराना चाहिए । क्योंकि नीति कहती है दक्षता के लिए "वारांगना राज सभा प्रवेशः" की भी आवश्यकता होती है । राजकीय पदों में सफलता प्राप्ति के लिए विद्या का बहुमुखी रूप न हो तो सफलता नहीं मिलती । कहा भी है हाकिमी गरम की, दुकानदारी नरम की और बहू-बेटी शरम की आदि ।

शकटार ने स्थूलभद्र को रूपकोषा के घर प्रशिक्षण के लिए भेजने का निश्चय किया, परन्तु स्थूलभद्र सुसंस्कार के कारण जाने को अनिच्छुक हुए आदि बातें आगे सुस्पष्ट होंगी । किन्तु इस उपरोक्त कथन से हमें यह सीख लेनी है कि अपनी सन्तान को सुशिक्षा देकर भावी पीढ़ी का जीवन सुमधुर व सुन्दर बनाने में संस्कार की बड़ी आवश्यकता होती है क्योंकि उत्तम जीवन-निर्माण में ही स्वपर का कल्याण संभव है ।

---

[१७]

इच्छा नियम

श्रावक धर्म की साधना करने वाले गृहस्थ आनन्द ने पांच मूलव्रतों के पालन का नियम लिया। इन मूलव्रतों का नाम अणुव्रत भी है। अन्य व्रतों का पालन अवसर के अनुसार किया जाता है, किन्तु मूलव्रतों को हमेशा धारण करना पड़ता है। पदार्थों की संख्या घटाने से इच्छा घटती है और इच्छा के घटने से संसार का चक्कर घटता है। केवल बाहरी वस्तु के परिमाण करने से काम नहीं चलता। यह तो इच्छाओं को सीमित करने की एक साधना मात्र है। साधना-क्षेत्र में बाह्य और आन्तरिक परिसीमन की नितान्त आवश्यकता है तथा दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

आनन्द ने ५०० हल परिमाण की भूमि रखी, वह अर्थ-संचय के लिए काश्त नहीं करता, वरन् अपने परिवार तथा स्वाश्रित पशुओं के गुजर-बसर के लिए करता था। आनन्द के यहां विशाल जन-मंडली थी इसलिए उसको सामग्री ढोने तथा सवारी के लिए वाहन एवं आदमी की भी आवश्यकता निरन्तर बनी रहती। पांच पांच सौ गाड़िया एक देश से दूसरे देश माल ले जाने के लिए तथा पांच सौ घरेलू भार ढोने के लिए एवं गमनागमन के लिए पांच-सौ शकट उसके यहां उपयोग में आते थे। आनन्द ने इनसे अधिक नहीं बढ़ाने का संकल्प कर लिया।

मनुष्य इच्छाओं का दास बन कर कभी वास्तविक शान्ति को प्राप्त नहीं कर पाता। सरित लहर की तरह इच्छाओं की लहरें भी निरन्तर एक के बाद दूसरी उठती रहती हैं। जागृत दशा की कौन कहे, इच्छा स्वप्न में भी नर को मर्कट नाच नचाती रहती है। जब तक इच्छा पिशाचिनी पर नियन्त्रण न किया जाय, तब तक सुखशान्ति की प्राप्ति असंभव है। इच्छा पर जितना ही साधक का नियन्त्रण होगा उतना ही उसका व्रत दीप्तिमान होगा। इच्छा की लम्बी-चौड़ी बाढ़ पर यदि नियन्त्रण नहीं किया गया तो उसके प्रसार में ज्ञान, विवेक आदि सद्गुण प्रवाह-पतित तिनके की तरह बह जायेंगे।

आज साधना का रूप जीवन से निकाल दिया गया है, जिससे आवश्यकताएं अनियन्त्रित हो गई हैं । व्रतों और नियमों को केवल दस्तूर के रूप में न लेकर आत्मा को कसने का उनसे काम लिया जाय, तो वास्तविक लाभ हो सकता है । खाने-पीने की वस्तुओं, सम्पदा, भूमि, वस्त्र और अलंकार आदि हर एक के परिमाण में यह लक्ष्य रखना है कि नियम दिखावे के लिए, दूसरे के कहने पर या नाम के लिए नहीं, वरन् आत्मा को ऊपर उठाने एवं जीवन को उज्ज्वल बनाने के लिए करना है । देश काल तथा परिस्थितियों को देखकर यदि कोई आदमी अपनी परिधियों को सोचे तथा पराधीनता की स्थिति में हो तो व्रत में छूट रखना उचित भी हो सकता है, किन्तु साधारण स्थिति में यदि कोई गलियां रखे तो समझना चाहिए कि उसे अभी व्रत की सही दृष्टि प्राप्त नहीं हुई है ।

साधना के क्षेत्र में व्रत करते समय तीन उद्देश्यों को सदा ध्यान में रखना चाहिए । इन तीनों का पारस्परिक गहरा सम्बन्ध है जैसे (१) हिंसा घटाने के लिए (२) कुछ नियम अविरति रोकने के लिए (३) कुछ स्वाद जय तथा जितेन्द्रियता की साधना के लिए होते हैं । गृहस्थ आनन्द ने इन उद्देश्यों को ध्यान में रखकर आत्मिक-शान्ति प्राप्त की थी ।

आनन्द की गुणगाथा गाने मात्र से हमारा काम नहीं चलेगा, किन्तु स्वयं की साधना करनी पड़ेगी । आनन्द अपने पर शासन करता हुआ आनन्दित था । हर एक साधक जब आनन्द के जैसे आत्म-नियन्त्रण में आनन्द लेगा, ममता को काट सकेगा, तभी वह वास्तविक आनन्द प्राप्त कर सकेगा ।

साधक का लक्ष्य शरीर से भी ममता हटाने तथा कामनाओं को वश में करने का होना चाहिए । साधक अभ्यास द्वारा धीरे-धीरे मन पर पूर्ण अधिकार कर सकता है । कई शक्तिशाली पहलवान अभ्यास द्वारा छाती पर हाथी चढ़ा लेते हैं । जब शरीर-बल द्वारा ऐसा असंभव संभव हो सकता है तो आत्मा का बल शरीर बल से कम नहीं है । आत्म-बल के द्वारा काम, क्रोध, लोभ आदि को भी वशीभूत किया जा सकता है, केवल पौरुष जगाने भर की देर है । मानसिक कमजोरी को हटाइए तो व्रत करने के मार्ग में आपके कदम स्वयं आगे बढ़ते जाएंगे ।

संसार में अनेक प्रकार के शूर हैं-युद्ध शूर, कर्म शूर, दान शूर, वाक्शूर, तथा कलह शूर आदि-आदि । किन्तु हमें तो साधना शूर या तप शूर चाहिये । अपने ऊपर नियन्त्रण करने वाला, राग-द्वेष को जीतने वाला क्षमाशील साधक शूरों का भी शूर महावीर कहलाता है । कहा भी है–

जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ।।

अर्थात् जो दस लाख सुभटों को दुर्जय संग्राम में जीत लेता है और दूसरा एक आत्मा को जीतता है तो वह परम जयी है । ऐसे साधक स्वर्गारोहण के पश्चात् संसार में अमरता छोड़ जाते हैं ।

एक छोटे से बीज को देखकर यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि आगे चलकर यही विशाल वृक्ष बन जाएगा, जिसकी सुखद शीतल छाया में हजारों प्राणी अपने को शीतातप के कष्ट से मुक्त कर पाएँगे । किन्तु उसमें सभी आवश्यक संस्कार विद्यमान् हैं, अतएव वह उचित सामग्री पाकर वृक्ष का विशाल रूप धारण कर लेता है । महामन्त्री शकटार और लाछलदे को जब स्थूलभद्र का जन्म हुआ तब क्या पता था कि आगे चलकर यही बालक एक महान् साधक होगा । शकटार ने स्थूलभद्र को राजनीति में निपुण बनाने के लिए रूपकोषा गणिका के यहां रखना चाहा । जैसे बच्चे गन्ने को चूसकर फेंक देते हैं वैसे ही गणिका रस, रूप एवं अर्थ को चूसकर अपने प्रेमी को ठिकाने लगा देती है, किन्तु रूपकोषा कुछ विलक्षण विचारों वाली थी । साथ ही स्थूलभद्र ने भी सुसंस्कारी होने के कारण बिना मान गणिका के घर जाना उचित नहीं समझा जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है–

आदर भाव विवेक बिना, वहि ठौर के त्याग कियो चहिये ।
जिनसे अपनी मर्जी न मिले, उनसे निर्लेप सदा रहिये ।
प्राणहिं जाय कुसंग तजो, सत्संग से प्रेम सदा लहिये ।
सत्संग मिले न जहां तुलसी वहि, ठौर को पंथ नहीं गहिये ।।

मन में जाने की इच्छा नहीं होते हुए भी, पितृ आज्ञा का पालन करने के लिए स्थूलभद्र रूपकोषा के भवन की ओर चल दिये ।

आकृति, प्रकृति, चाल-ढाल और वाणी आदि से मनुष्य की योग्यता जान ली जाती है । रूपकोषा ने ऐसे हजारों व्यक्तियों की परीक्षा की थी, इसलिए राजमार्ग पर चलते स्थूलभद्र को भी उसने दूर से ही पहिचान लिया तथा दासी को भेज कर उनको बुलवाया, मगर स्थूलभद्र ने दासी की बात नहीं मानी और कहा कि यदि तुम्हारी स्वामिनी स्वयं बुलाने को आवे तो आ सकता हूँ । आज रूपकोषा ने अर्थ के बजाय गुणों की कद्र की और वह स्वयं स्थूलभद्र को बुलाने आयी; उसने सामने आकर घर में पधारने का निवेदन किया और बोली कि जीवन का अनुभव लीजिए और ज्ञान-विज्ञान का प्रयोग कीजिए ।

स्थूलभद्र को पाकर रूपकोषा की मनोवृत्ति में परिवर्तन हो गया। अनेक नवयुवक गलत रास्ते पर चलकर मां-बाप के हाथ से निकल जाते हैं। राजनीति के अखाड़े में कूदा हुआ व्यक्ति भी घर के किसी काम का नहीं रहता और देखते-देखते लड़का "धोबी के गधे की तरह" न घर का रहता है और न घाट का। देशाटन के दीवाने बने बच्चे घर के काम नहीं आते। इस प्रकार कुमार्ग में जाने से कभी सन्तान से हाथ धो लेना पड़े तो मनुष्य सन्तोष मान लेगा किन्तु यदि वीतराग के चरणों में पड़कर कोई बच्चा कभी त्याग के मार्ग पर लगे तो मां-बाप को विचार होता है, वे नाराज होते हैं। शास्त्र-ज्ञान मनुष्य के मन में साधना का रूप निश्चित कर उसको परम पवित्र बनाता है। स्थूलभद्र मनहरण विद्या सीखने के लिए माता-पिता की आज्ञा से, अनिच्छावश भी रूपकोषा गणिका के घर गया। लौकिक ज्ञान की तरह माता-पिता यदि अध्यात्म ज्ञान के लिये इस प्रकार बालकों को सत्संग में लगाने का भी ध्यान रखें तो उभयलोक कल्याणकारी हो सकते हैं।

[१८]

इच्छा की बेल

शास्त्रकार का हृदय माता के समान होता है । जैसे माता अपने छोटे-बड़े विभिन्न बच्चों के लिए उनकी शक्ति और स्थिति को देखकर यथा योग्य भोजन प्रस्तुत करती है । दूध पीने वाले को दूध, अन्न ग्रहण करने वाले के सुस्वादु अन्न और रोगी के लिए पथ्य, हल्का भोजन रखती है । वीतराग भगवान् भी इसी प्रकार साधक लोगों को ज्ञान की खुराक देते हैं । वे जानते हैं कि मनुष्य रोगी है और उसे उसके रोग के अनुसार ही खुराक देना उपयुक्त रहेगा । जिसका कर्मरोग प्रबल हो वह मिथ्यात्व निवारण रुप शुद्ध पौष्टिक भोजन को अधिक ग्रहण नहीं कर सकता । उसके लिए गृहस्थ धर्म रूपी हल्का आहार सुझाया गया है और पूर्ण त्याग विराग की खुराक शक्तिशाली समर्थ साधकों के लिए प्रस्तुत की गई है, पूर्णत्यागी साधक को कमजोरी की शिकायत नहीं रहती ।

आनन्द ने स्वेच्छा से अपनी इच्छारूपी बेल के विस्तार को सीमित कर लिया । जैसे तार, बांस या लकड़ी का मण्डप बनाकर बेल का फैलाव सीमित कर दिया जाता है उसी प्रकार आनन्द ने भी व्रतों और नियमों के द्वारा इच्छाओं को नियन्त्रित कर लिया । द्रव्यों का परिमाण कर लेने से चाहना की बेल भी उस परिमित स्थान में ही सीमित हो जाती है । आनन्द ने मन की आकुलता को अधिक न बढ़ने देकर वर्तमान सम्पत्ति के विस्तार में व्रतों के द्वारा रोक लगा दी ।

काया की हिंसा की तरह मन की हिंसा में भी नियन्त्रण किया जाना चाहिए। पर मन की हिंसा संयम, और ज्ञान द्वारा बचाई जा सकती है । वह दबाव से नहीं मिटती । प्राचीन समय की बात है जणकि महाराज श्रेणिक मगध का शासन कर रहे थे । उस समय वहां की राजधानी पाटलिपुत्र में कालसौर नाम का एक कसाई रहता था, जो नित्य पांच-सौ भैंसे काटता था । इस महा हिंसा को रोकने के

लिए महाराज मगधपति प्रयास करने लगे । भगवान् महावीर स्वामी ने सम्राट श्रेणिक को बतलाया कि यदि एक दिन भी वह कसाई हिंसा को बन्द कर दे तो तुम्हारी नर्क गति बच सकती है । महाराज श्रेणिक ने उस कसाई से एक दिन के लिए कसाईखाना बन्द करने को कहा तो कसाई ने उत्तर दिया कि महाराज ! यह मेरा धर्म है और यही मेरी आजीविका है । अतएव और जो कुछ भी आप कहें सो कर सकता हूँ पर यह धन्धा एक दिन तो क्या एक क्षण के लिए भी नहीं बन्द कर सकता । अज्ञानता के कारण वह धर्म और अधर्म के मर्म को नहीं समझता था । उसने अपनी कुटेव या दुर्भाव को ही धर्म समझ रखा था ।

जो व्यक्ति धर्म और अधर्म, पाप और पुण्य, बन्ध और मोक्ष तथा जीव और अजीव में भेद नहीं समझता वह सचमुच में दयनीय और शोचनीय है । धर्म आत्मा को शान्ति दिलाता है और अधर्म से अशान्ति मिलती है । आत्मा का शुद्ध गुण जिससे दब जाय या मलीन हो जाय, उसे अधर्म कहते हैं । ज्ञान, आनन्द, शुद्धता, शक्ति और निष्कलंकता आदि आत्मा के गुण हैं । जिन विचारों और व्यवहारों से विकार दबे, या दूर हों तथा मैले आचार तथा व्यवहार शुद्ध हों, वे धर्म हैं । पानी गंदला होने पर उसे गरम करके साफ करते हैं । मूल में वह ठंडा है, पर जब भट्टी पर चढ़ा और अग्नि की आंच रूप पर–धर्म (अधर्म) के साथ उसका संग हुआ तो वह गरम हो गया, पानी ने अपना स्वधर्म ठंडापन छोड़ दिया । गन्दे पानी में यदि निर्मली (एक जड़ी विशेष) को डाल दें तो पानी शुद्ध हो जाता है। निर्मली के सत्संग के कारण गन्दे पानी का गन्दापन दब गया । ऐसे ही हवा गर्म पानी के लिए ठण्डा बनाने का कारण (धर्म) बन गई । इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव क्रोध करना नहीं है परन्तु कुछ कारण आ जाने से मनुष्य गरम हो जाता है। यह आत्मा का अधर्म है। पुत्र कलत्र को क्रोधावेश में मारना-पीटना आत्मा का अधर्म है। यह तमोगुण का प्रकटीकरण है, क्योंकि यह बाहर के कुसंग से आया है ।

आंख के मूल में स्वभावतः सफेदी रहती है, किन्तु तमोगुण के प्रसंग उपस्थित होते ही उसमें ललाई छा जाती है । सफेदी की जगह यह रक्तिम परिवर्तन अधर्म है । यदि दुकानदार या महाजन तराजू को लोभवश इधर-उधर करना धर्म समझे तो वह भूल है, अधर्म है । वह लोभ के कारण अपने स्वभाव से हट गया । दुकानदार यदि ग्राहक का सिर मूंडकर उसे अर्थहीन कर दे तो यह भी अधर्म है । कृषक स्वार्थ छोड़कर यदि दया करे, और जीवों को हिंसा से बचावे तो यह धर्म है । व्यवहार में आत्मा के स्वभाव के निकट लाने वाले व्यवहार भी धर्म हैं जैसे–प्रामाणिकता रखना, धोखा न देना आदि । सम्यक् दृष्टि व्यक्ति के लिए दूसरे को बिना उजाड़े या दूसरे की बिना हानि किए अपना कार्य बनाना उचित है ।

कसाई ने तो अधर्म को ही धर्म समझ रखा था और इसीलिए वह उससे अलग होने को तैयार नहीं हुआ । यदि कोई धर्म की गलत परिभाषा करे, तो यह भी धर्म के साथ अन्याय करना है । महाराज श्रेणिक ने कसाई को कालकोठरी में बन्द कर दिया । फिर भी कसाई वहां शरीर के मैल से भैंसा बनाकर मारने लगा । इस प्रकार उसके द्वारा शरीर से तो हिंसा कार्य बन्द रहा परन्तु मन की संकल्पजा (मानसिक) हिंसा चालू ही रही । मन की हिंसा ज्ञान से ही बचाई जा सकती है । यदि ज्ञान का प्रकाश न हो, तो मन की हिंसा नहीं बचाई जा सकती ।

वासना-लता को सीमित रखने से पाप का भार घटेगा । सुसंगति और सद्शास्त्र पाप की प्रवृत्ति को सुधारने के अच्छे साधन हैं । सुसंगति पाकर भी यदि मनुष्य पाप का बोझ न घटा सके तो उसका दुर्भाग्य है । किसी कवि ने ठीक ही कहा है ।

कुसंगत में बिगड़ा नहीं, वांका बड़ा सुभाग ।
सुसंगत में सुधरिया नहीं, वांका बड़ा अभाग ।।

नरश्रेष्ठ स्थूलभद्र एक ऐसे ही आदर्श पुरुष थे जो अतिथि के रूप में रूपकोषा के घर आए, परन्तु कुछ काल रूपकोषा के साथ रहने पर उसके संस्कार इन पर डोरे डालने लगे । जन-मन-मोहिनी उस वेश्या ने स्थूलभद्र को अपने में उसी प्रकार समेट लिया जैसे कमलिनी भौंरे को अपने अन्दर समेट लेती है । वेश्यागामी पुरुषों में धर्म, धन और शरीर को क्षति पहुँचाने वाले असंख्य लोग मिल सकते हैं; किन्तु गुण के ग्राहक स्थूलभद्र सरीखे दूसरे नहीं मिलेंगे । राजा या महामन्त्री के पारिवारिक सदस्यों को आदि से अन्त तक प्रसन्न रखना कठिन कार्य है, किन्तु रूपकोषा ने स्थूलभद्र के चित्त को चुराकर स्ववश में कर लिया । वे गणिका के घर मन हरण विद्या सीखने आए थे, किन्तु अपना परमोद्देश्य भूल गए और रूपकोषा में ही तल्लीन हो गए । मनहरण कला सीखने की जगह स्वयं का मन हरण हो गया। स्थूलभद्र के लालन-पालन के लिए महामन्त्री शकटार ने अपना खजाना खोल दिया । रूपकोषा को मुंहमांगा धन मिला और वह स्थूलभद्र की प्रेम-पात्रा बन गई । स्थूलभद्र के मन को रूपकोषा ने जीत लिया ।

शकटार मन में सोचते थे कि अनेक कलाओं की शिक्षा लेकर उनका पुत्र कुल का दीपक बनेगा और परिवार को सुख पहुँचाएगा । इस तरह सोचते वर्षों बीत गये, मगर स्थूलभद्र वापिस नहीं आया तो महामन्त्री को चिन्ता हुई । उनके मन में अनेक कुशंकाएं उठने लगीं । सुसंगति का मतलब यह होता है कि ग्रहण करने योग्य वस्तु लेकर साधक वापिस लौट आवे और निज गुणों को नहीं खोवे । जैसे गोता-खोर समुद्र में गोता लगाकर कीचड़, गन्दगी और खारे पानी में जाकर भी रत्न

लेकर वापिस आता है, उसी प्रकार उच्च कुलवान और सुसंस्कृत व्यक्ति निम्न कुल में असंस्कृत जनों के बीच जाकर भी कुछ मनचाहा ज्ञान-रत्न लेकर आता है, मगर गंवाता कुछ भी नहीं । महामन्त्री शकटार का भी यही उद्देश्य था कि स्थूलभद्र गणिका रूपकोषा से जो उस समय की अनिन्द्य सुन्दरी और चतुर थी, चातुर्य कला सीखकर यथा शीघ्र घर लौट आवे, किन्तु यहां तो स्थिति ही दूसरी हो गई । कहा भी है–"आये थे हरिभजन को ओंटन लगे कपास ।" स्थूलभद्र की प्रीति अपनी मर्यादा को छोड़कर मोह के रूप में परिणत हो गई । अब उन्हें रूपकोषा का साथ छोड़ना असंभव प्रतीत होता था । उनकी आंखों में हरदम रूपकोषा की मूर्ति नाचती रहती थी; वे अब इस कल्पना से सिहर उठते थे कि कभी रूपकोषा से अलग भी होना पड़ेगा । उन्हें सोते-उठते-बैठते रूपकोषा की याद बनी रहती थी । वस्तुतः रूपकोषा की रूप वारुणी से स्थूलभद्र का तन-मन बेभान हो गया था ।

प्रीति यदि मोह का रूप ले ले तो साधक के लिए गिरावट का कारण बन जाती है । रूपकोषा के साथ जो स्थिति स्थूलभद्र की हुई वैसी ही कुछ परिस्थिति बिल्वमंगल की भी हुई थी । बिल्वमंगल का प्रेम जब चिन्तामणि नाम की वेश्या से हो गया तो वह अपना होश-हवाश ही गंवा बैठा । और तो क्या ? वह अपनी नव-विवाहिता पत्नी से भी संभाषण नहीं कर पाया एवं अपने पिता से अन्तिम समय भी नहीं मिल सका । पिता के स्वर्गवास हो जाने पर वेश्या को कहना पड़ा कि जाकर अपने पिता का क्रिया-कर्म तो करो ।

किसी तरह अनिच्छा से, चिन्तामणि की फटकार पर पितृकर्म के लिए बिल्वमंगल घर गया तो जैसे-तैसे कर्म समाप्त कर, वर्षा ऋतु की अन्धेरी रात में ही वह वेश्या के घर लौट पड़ा। मार्ग में नदी पड़ती थी जिसको पार करने के लिए मुर्दे को नौका समझ कर उस पर सवार हो, वह नदी पार हुआ । भवन के पास पहुँच कर, सर्प को रस्सी समझ कर, उसी के सहारे वह चौक में कूद पड़ा । चिन्तामणि बिल्वमंगल के इस दीवानेपन पर दंग रह गई । उसके मुँह से सहसा निकल पड़ा–

जैसा चित्त हराम में, वैसो हरि सों होय ।
चल्यो जाय बैकुण्ठ में, पल्लो न पकड़े कोय ।।

बिल्वमंगल ने चिन्तामणि को अपना गुरु माना और उसकी मीठी फटकार से प्रभावित हो कर वह हरिभक्त बन गया । यह एक आश्चर्य का विषय है कि एक अटल वेश्या-भक्त जीवन में मोड़ आने से, हरिभक्त के रूप में बदल गया । मोह छूट जाने से ही वह हरिभक्त बन सका । यदि आप सब भी इसी प्रकार मोह का परित्याग करेंगे, तो अपना कल्याण कर सकेंगे ।

---

[१९]

साधना की पाँखें

संसार का अनादि से नियम है कि हर वस्तु पर उत्कर्ष और अपकर्ष का चक्र घूमता रहता है । चेतन द्रव्य और धर्म भी इससे अछूते नहीं रहते । गुणों की अपेक्षा आत्मा का भी उत्कर्ष एवं अपकर्ष होता रहता है । धर्म भी आविर्भाव और तिरोभाव के कारण उन्नत, अवनत हुआ कहलाता है । फिर भी इतना निश्चित है कि नरेन्द्र हो या सुरेन्द्र, जब तक धर्म की शरण नहीं ली जाती, आत्मा को सच्ची शान्ति प्राप्त नहीं होती । वस्तुतः धर्म की शरण में ही शान्ति का अनुभव होता है । अतः हम सब की एक ही आवाज होनी चाहिए । 'धम्मं सरणं पवज्जामि ।'

धर्माराधन में अर्थनीति, राजनीति या भोग का आकर्षण नहीं है । वर्तमान में शान्तिलाभ और जीवन-निर्माण ही इसके प्रमुख आकर्षण हैं । वे सभी प्रकार की साधनाएं धर्म के नाम से कही जा सकती हैं जिनसे कि मन को विशुद्ध शान्ति प्राप्त हो । महात्माओं की सत्संगति में लोग इसीलिए आते भी हैं किन्तु पुरुषार्थ के अभाव में आज हमारा श्रुत-बल एवं चरित्र-बल गिर गया है । इसीलिए आज हम आकुल हैं। श्रुत-धर्म के द्वारा ही सत्शास्त्र की उपासना होती है । जहां श्रुत-धर्म न हो, भला वहां चारित्र-धर्म के स्थिर होने की संभावना कैसे होगी ?

जैसे गगन विहारी पक्षी को दो पंख आवश्यक होते हैं, वैसे ही धर्म के भी मुख्य दो अंग हैं—श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म । छोटे पतंगे के भी दो पंख होते हैं । एक भी पंख कटने पर पक्षी उड़ नहीं सकता । फिर मनुष्य को तो अनन्त ऊर्ध्व आकाश को पार करना है, जिसके लिए श्रुत और चारित्र-धर्म ही साधन हैं । आत्महितैषी मानव कुलधर्म-गुणधर्म और संघधर्म को पालन करते हुए श्रुत-चारित्र धर्म की साधना करे, यह आवश्यक है । यदि कुल का भय होगा तो मनुष्य चारित्र से हीन नहीं होगा । जो रीति-रिवाज समाज को व्यवस्थित रखे और जिससे संघ या समाज की उन्नति हो उसे संघधर्म कहते हैं ।

व्यक्तिगत रूप से प्राप्त प्रेरणा समय पर ढीली हो जाती है । यदि कुलधर्म का पालन करने वाला व्यक्ति चारित्र-धर्म का पालन करता हो, किन्तु कुल का वातावरण गन्दा हो, पारिवारिक जन लोक-धर्म शून्य विचार के या तमोगुणी हों तो मन में विक्षेप उत्पन्न होने के कारण व्यक्ति का श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म ठीक नहीं चल सकेगा । "गृह कारज नाना जंजाला" की बातें यदि साधना के समय आवें तो आत्म-धर्म का साधन सुलभ नहीं होगा । यदि कुलधर्म में अच्छी परम्परायें होंगी तो आत्म-धर्म का पालन सरलता से हो सकेगा । जितना ही कुल, गण एवं संघ-धर्म सुदृढ़ होगा उतना ही श्रुत तथा चारित्र्य-धर्म अच्छा मिलेगा । जैसे स्वजनों की मृत्यु पर न रोना यदि किसी का व्यक्तिगत धर्म हो, किन्तु जातिधर्म में रोने का रिवाज हो, तो व्यक्ति–धर्म नहीं चलेगा । किन्तु कुछ समाजों में मृत्यु होने पर शान्त रूप में वेद-ध्वनि करते हुए शव ले जाने की परम्परा है और कई जातियों में रोते हुए आवाज मारते हुए शव को श्मशान ले जाया जाता है । यदि भगवान् महावीर की वाणी की प्रेरणा को स्थायी बनाए रखना है तो संघधर्म को पक्का करना होगा । कुछ धर्मानुकूल रीति-रिवाजों को स्थान देना होगा ।

जैसे सिक्खों में दाढ़ी रखने का संघधर्म है, इसी प्रकार समाज में प्रभु स्मरण, गुरु-दर्शन एवं स्वाध्याय का दैनिक नियम बना लिया जाय, तो संस्कारों में स्थिरता आ सकती है । समाज को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए संघ-धर्म आवश्यक है । समय रहते हमें सोचना पड़ेगा कि आचार्यों ने महावीर स्वामी की परम्परा को आज तक अक्षुण्ण रखा और शासन अबाध गति से चलता रहा, किन्तु इसके पाए (नींव) और मजबूत होने चाहिए । जिस समाज में ज्ञान और आचरण के पाए मजबूत होंगे वही समाज या धर्म संसार में उत्तम है तथा वही स्थिर रह सकेगा ।

आचार्य देववाचक महाराज ने संघ को रथ की उपमा दी है । लम्बी यात्रा में रथ या वाहन का सहारा लेना पड़ता है । हमारी जीवन-यात्रा लम्बी और उलझनों से भरी हुई है । हमें शिवनगरी तक यात्रा करनी है । जब छोटी-सी यात्रा में वाहन, एवं अन्य आवश्यक सामग्रियों की आवश्यकता रहती है, तब शिवनगरी तक पहुँचने के लिए भी वाहनादि साधनों की नितान्त अपेक्षा रहेगी । भगवान् महावीर स्वामी ने कहा कि संघ ही रथ है, जो हमें मुक्ति तक पहुँचने में सहायता पहुँचाएगा । रथ में मंगल तूर्य होता है । संघ रथ का मंगल तूर्य स्वाध्याय का नन्दिघोष है । आगे फिर प्रभु ने कहा–हे संघ रथ ! तेरे ऊपर शील की पताका फहरा रही है और तप एवं नियम रूप दो मजबूत घोड़े जुते हैं ।

तप और नियम से नये कर्मों की वृद्धि रुकती है । साधकों को चाहिए कि नियमों के द्वारा स्वयं तथा समाज में कर्म की धूल नहीं आने दें । संघ धर्म के रूप में स्वाध्याय और तप-नियम आदि जुड़ जाएँ तो व्यक्ति-धर्म का पालन आसान हो सकता है। धर्म-विरुद्ध संस्कारों और प्रथाओं को दूर करने के लिए धर्मानुकूल सामाजिक नियम होने चाहिए जैसे—जातीय प्रतिबन्ध होने के कारण जैन जगत् में आतिशबाजी की रोक है, वर्षा ऋतु में शादी नहीं करना भी राजस्थान में समाज धर्म है, क्योंकि इससे अनावश्यक हिंसा बढ़ती है तथा अनेक व्यावहारिक कठिनाइयां भी आती हैं । इसको संघ-धर्म में सम्मिलित कर देने से व्यक्ति-धर्म का पालन सरल हो गया ।

यदि व्यक्ति-धर्म और जाति-धर्म में प्रभु-भक्ति एवं स्वाध्याय का भी नियम हो, तो व्यक्ति और जाति दोनों के लिए हितकर हो सकता है । धर्मस्थान इसीलिए बनाए जाते हैं कि उनसे सदा प्रेरणा मिलती रहे और धर्म-विमुख लोगों में भी उनको देखकर कुछ-कुछ धर्मभावना जगती रहे । पाश्चात्य देशों में भी लोग गिरिजाघरों तथा धर्मस्थलों में प्रेरणा ग्रहण करने को जाते हैं और धीरे-धीरे वहां आते-जाते कुछ-न-कुछ प्रेरणा प्राप्त कर लेते हैं ।

ज्ञान-बल के अभाव में अनेक कुत्सित कर्म किए जाते हैं और मन में सतत कमजोरियां घर करती रहती हैं, क्योंकि ज्ञान नहीं होने से हेयोपादेय का कुछ पता नहीं चलता । यदि सामूहिक स्वाध्याय का रिवाज होगा, तो मन की दुर्बलता दूर भगेगी और करने योग्य शुभ कर्मों में प्रवृत्ति एवं दृढ़ता जोर पकड़ती जाएगी ।

धार्मिक स्थल, उपाश्रय, स्थानक और मन्दिरों में स्वाध्याय का नन्दिघोष अवश्य होना चाहिए । चातुर्मास में साधु-साध्वी और उनके प्रवचन के अभाव में भी धार्मिक स्थल खाली नहीं रहने चाहिए । साधु-साध्वी आसमान से नहीं टपकते और न जमीन से तथा न साधुओं के यहां ही पैदा होते हैं । फिर उतनी बड़ी संख्या में साधु-साध्वी कहां से आएँगे, जितने कि समाज को अपेक्षित हैं । अतएव श्रावक संघ को स्वतः स्वाध्याय में बढ़ावा देकर अपने धर्म स्रोत को प्रवाहित बनाए रखना चाहिए । यदि संघ द्वारा स्वाध्याय को बढ़ावा नहीं मिला तो व्यक्ति का चारित्र-धर्म उत्कर्ष की ओर नहीं बढ़ेगा ।

वस्तु का स्वभाव नहीं जानने से ही राग-द्वेष की परिणति होती है, जो ज्ञान से दूर होती है । स्वाध्याय के द्वारा आसानी से वस्तु स्वरूप का परिचय मिल जाता है । अतः जहां साधुओं का गमनागमन नहीं हो, वहां पर भी संघ में, साधु का अभाव न अखरे ऐसे उपदेशक उत्पन्न करना चाहिए । संघ-सेवा अपनी और दूसरे की उभय सेवा है । तप-व्रत आदि साधना व्यक्ति-धर्म है, जो साधारण जन भी कर

सकते हैं, पर शासन सेवा सब नहीं कर सकते । उसकी महिमा में स्व. पू. माधव मुनि ने कैसा अच्छा कहा है

जिन भाषित आगम अनुसार,
जिनवर धर्म करें ।
धारें शिर जिन आज्ञाभार,
वो ही जन जैनी कहलाए ।।

जैन धर्म का प्रचार-प्रसार केवल जैन नाम धराने से नहीं होगा , इसके लिए दो बातें चाहिये ।

(१) शास्त्रानुसार वीतराग धर्म का प्रसार करना । और
(२) स्वयं जिनाज्ञा का पालन करना ।

फिर आचार्य श्री आगे कहते हैं :-

उपदेशक-जन कर तैयार ।
भेजें देश-विदेश मझार ।।

जिन देशों और क्षेत्रों में साधुओं का पदार्पण नहीं होता, वहां उपदेशक तैयार कर दया धर्म का जो प्रसार करे, वह प्रभावक श्रावक है ।

जहां पै नहीं साधु संयोग उनको दया धर्म दरसावे ।

स्वाध्यायशील व्यक्ति ज्ञान के बल से स्वयं स्थिर रहते हैं और दूसरों को भी धर्म-मार्ग पर लगाते हैं । ज्ञातासूत्र में सुबुद्धि प्रधान का वर्णन आता है । उसमें स्पष्ट लिखा है कि खाई के गन्दे पानी को लेकर जब राजा को घृणा हुई तो मन्त्री ने वहां जैन नीति से उत्तर दिया और कुछ ही सप्ताहों में उसी जल को शुद्ध कर राजा को पिलाया ।

मन्त्री के उपदेश से राजा ने समझा कि वास्तव में पुद्गल का स्वभाव क्या है ? अच्छा देख मनुष्य प्रशंसा करता है और बुरा देखकर घृणा करता है । वास्तव में पुद्गल परिवर्तनशील है, इसमें अच्छे का बुरा और बुरे का अच्छा होता रहता है । सुबुद्धि स्वाध्यायशील नहीं होता तो राजा को नहीं सुधार सकता था। यह श्रावक का धर्म है। साधु सब बात नहीं कह सकते और न सब जगह पहुँच ही सकते हैं। अतः श्रावक-संघ को अपना कर्तव्य समझ कर स्वाध्याय को बढ़ावा देना चाहिए ।

एक मदिरा का ठेकेदार स्वयं मदिरा नहीं पीते हुए भी उसका व्यापार कर सकता है । उसी प्रकार सिगरेट, बीड़ी, नायलोन के वस्त्र का व्यापारी इन वस्तुओं का व्यवहार किए बिना भी इनका व्यापार व प्रचार कर सकता है । किन्तु धर्म का प्रचार शुद्ध सदाचारी बने बिना संभव नहीं है । जो सत्य, अहिंसा और तप का स्वयं तो आचरण नहीं करे और प्रचार मात्र करे, तो वह अधिक प्रभावशाली नहीं हो सकता । इसके विपरीत, आचरणशील व्यक्ति बिना बोले मौन-आत्म-बल से भी धर्म का बड़ा प्रचार कर सकता है । महर्षि अरविन्द का उदाहरण हमारे सामने है । मूक साधकों का दूसरे के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है । आचार तथा त्याग बिना बोले भी हर व्यक्ति के जीवन पर प्रभाव डालता है ।

संत-दर्शन से भी व्यक्ति लाभान्वित होता है । जो इस बात को जानते हैं, उन्हें सन्त-दर्शन का लाभ क्यों छोड़ना चाहिये ? बिना स्वाध्याय और आचार के भला काम कैसे चलेगा ? साधु-साध्वियों तथा उपदेशकों के कंधे पर चढ़कर कब तक चला जायेगा । यदि संघ-धर्म के रूप में स्वाध्याय को अपना लिया जाय, तो धर्म की एवं अपनी रक्षा हो सकती है । कहा भी है–"धर्मो रक्षति रक्षितः "।

स्वाध्याय की महिमा गाते हुए किसी ने ठीक ही कहा है :–

"स्वाध्याय बिना घर सूना है, मन सूना है सद्ज्ञान बिना"

सत्संग से अपना ज्ञान भण्डार भरो । स्वाध्याय जनित जानकारी और अनुभव हो तो गृहस्थ-साधकगण साधुओं के जीवन को निर्मल बनाने में भी सहायक हो सकते हैं, नहीं तो वे ही अज्ञानवश उन्हें फिसलाने वाले भी होते हैं । रागादिवश पहले तो अकल्प में सहायक होते हैं और फिर वे ही त्यागियों की कटु आलोचना करते हैं । यह अज्ञान, स्वाध्याय नहीं करने का ही फल है ।

राजा सम्प्रति ने साधुओं की कमी को दूर करने के लिए सैनिकों को साधु बनाकर जगह-जगह भेजा । यह उनका धर्म के प्रति उत्कट अनुराग का उदाहरण है। श्रमणों के तपस्तेज को कायम रखने के लिए प्रचार की आवश्यकता है। केवल प्रस्तावों या महत्वाकांक्षाओं से धर्म का संरक्षण, संवर्धन और उत्थान कैसे हो सकेगा? स्वाध्याय से श्रुत-धर्म पुष्ट होगा और सामायिक से चरित्र-धर्म शुद्ध बनेगा। स्वाध्याय का बल होने से चिन्तन-मनन की शक्ति बढ़ेगी और तू-तू मैं-मैं की स्थिति उत्पन्न नहीं होगी। तत्व ज्ञान तथा अन्य आध्यात्मिक बातों का आदान-प्रदान भी संघ में स्वाध्याय के द्वारा ही हो सकता है।

राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए गांधीजी और सुभाषचन्द्र दोनों के अलग-अलग तरीके थे । लक्ष्य दोनों का एक था, पर नीति में भेद था । यदि दोनों टकरा जाते तो देश को स्वतन्त्रता नहीं मिल पाती । थोड़ा-सा भी संघ-धर्म के कमजोर हो जाने पर श्रुतधर्म और चारित्र-धर्म की ज्योति फीकी हो सकती है । एक-दूसरे के सहकार से जीवन ऊंचा उठाया जा सकता है । कुल धर्म, गण धर्म और संघ धर्म का सहारा नहीं मिलने से चारित्र धर्म पंगु एवं दुर्बल हो जाता है, वह स्थिर नहीं रह सकता । अतः साधक को मानना चाहिए कि संघ के हित में ही मेरा हित है। शासन के हित में अपना हित है, ऐसा हर एक माने तो शासन का विमल यश चमक सकता है ।

कभी संघ के सहृद भाइयों में कीचड़ लगा हो, कोई चूक हो गई हो, तो उसको धोने का प्रयास करना चाहिए, किन्तु बाजार या जन-समूह के बीच कहते फिरना, पर्चेबाजी या अखबार रंगना शुद्धि का मार्ग नहीं । वह अनुचित है । ऐसे ही किसी साधक में कहीं त्रुटि हो तो उसे दबाए रखना भी भूल है । दबाने से भी सड़ान बढ़ती है । सच्चे साधक और उनके हितैषी का काम है कि दोष का अविलम्ब सरल मन से परिमार्जन करें । साधक की रक्षा और दोष का नाश ही आत्मार्थी का प्रमुख लक्षण है । चिकित्सक रोग का दुश्मन है, पर रोगी का मित्र होता है । वही दृष्टिकोण आत्म-सुधार की दिशा में भी रखा जाना चाहिए, तो शासन तेजस्वी रह सकता है ।

सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन और चारित्र से ही व्यक्ति समाज, राष्ट्र और विश्व का कल्याण कर सकता है । स्वाध्याय ही इन सबका मूल है । इसके साधन से ज्ञान, दर्शन और चारित्र निर्मल रखा जा सकता है । अतः कहा भी है :–

एक ही साधे सब सधे, सब साधत सब जाय ।
जो तू सींचे मूल को, फूलेहिं फलहिं अघाय ।।

---

[२०]

आवश्यकताओं को सीमित करो

वीतराग भगवान् महावीर स्वामी का अनुशासन संसार के जीवों को सबकाल के लिए लाभदायक है। मन को स्थिर कर अनेकों ने उनकी वाणी से लाभ उठाया तथा जीवन को सफल किया है। आज भी उनकी वाणी उतनी ही प्रेरणादायक, शक्तिवर्द्धक और स्फूर्तिदायक है, जितनी कि वह पहले थी। केवल शुद्ध दृष्टि से उसपर सोचने और विचारने की आवश्यकता है। बाहरी संसार में धन, जन-परिवार एवं राज का बन्धन कितना ही दृढ़तम क्यों न हो, यदि आन्तरिक बन्धन जो काम-क्रोध लोभ-मोह का है ढीला हो जाय तो साधना का मार्ग खुल सकता है। बाग से कसा हुआ अश्व भी सवार की आत्मदृढ़ता से ही नियन्त्रित रहता है। अन्यथा वह मनमाना चलने लगता तथा आरोही को जमीन पर गिरा देता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि आन्तरिक बन्धन मनुष्य को फंसा लेते हैं और अपनी दृढ़ पकड़ में जकड़ लेते हैं। बाहरी बन्धन ढीला करने से आन्तरिक बन्धन को ढीला करने में मदद मिल सकती है। और जब अन्तर का बन्धन ढीला हो गया तो साधक को अपनी साधना में सफल होते देर नहीं लगती। साधक शंकारहित होकर कठिन साधना में भी सफलता प्राप्त कर लेते हैं।

आनन्द श्रावक के हृदय में महावीर स्वामी की वीतरागता का प्रभाव पड़ने से हृदय का बन्धन ढीला हो गया। उसने पांच मूलव्रत पालने का तो संकल्प कर लिया। अब इनकी निर्मलता के लिए भोगोपभोग, आहार-विहार, सजावट आदि पर अंकुश लगाना आवश्यक जानकर, कयोंकि रसना पर अंकुश होगा तो हिंसा घटेगी, वाणी पर नियन्त्रण से सत्य निर्मल रहेगा और सजावट कम करने से आरम्भ एवं आवश्यकता घटेगी, वह उनका परिमाण करता है।

मानव-जीवन को आदर्श बनाने के लिए आवश्यकता का परिमाण आवश्यक है। क्योंकि आवश्यकता जितनी अधिक बढ़ेगी पाप एवं आरम्भ भी उतना ही अधिक बढ़ेगा। देखा जाता है कि आवश्यकताओं से प्रेरित मानव जघन्य से जघन्य काम करने पर भी उतारू हो जाता है। वह नहीं सोच पाता कि क्षणभंगुर जीवन के लिए क्षणभंगुर आरम्भ ठीक है या नहीं ? वह अपनी आवश्यकता से इतना अन्धा हो जाता है कि भले-बुरे का कुछ विचार ही नहीं कर पाता। बच्चे से जवान की आवश्यकता अधिक होती है। बड़े होने पर अपने-पराए का भेद समझने लगता है। जैसे आवश्यकता आविष्कार की जननी है, उसी प्रकार आवश्यकता पाप की भी जननी है।

आवश्यकता दो प्रकार की होती है—अनिवार्य और दूसरी निवार्य। खाना, पीना, पहिनना, मकान आदि अनिवार्य आवश्यकताएं हैं, क्योंकि जीवन-निर्वाह के लिए सबको इनकी आवश्यकता होती है। इनके बिना काम नहीं चल सकता। इन आवश्यक वस्तुओं की भी दो कोटियां हो जाती हैं (१) उपभोग्य वस्तुएं और (२) परिभोग्य वस्तुएं। एक बार काम में लेने पर जो वस्तुएं निकम्मी हो जावें यथा भोजन, फल मेवा आदि, इनका सेवन उपभोग है। कपड़ा पलंग, फर्नीचर आदि अनेक बार तथा दीर्घकाल तक उपयोग में आते रहते हैं, अतः इनको परिभोग्य कहा जाता है।

आनन्द ने अपनी अमित आवश्यकताओं को सीमा में करने का संकल्प लिया। यह सांतवा व्रत है; इसको भोगोपभोग भी कहते हैं। दैनिक आवश्यकताओं की यहां एक तालिका बतला दी है। जैसे :—

(१) उल्लणिया विधि – प्रातःकाल मनुष्य जब उठता है, तो सर्वप्रथम हाथ-मुंह धोकर एक वस्त्र से पोंछता है। श्रीमंत ही नहीं, साधारण गृहस्थ के घरों में भी अनेक प्रकार के तौलियों का प्रयोग किया जाता है। आनन्द ने इसके लिए सीमा निर्धारित की कि आज से मैं एक मोटा रोंएदार गुलाबी कपड़े का ही उपयोग करूंगा अन्य का नहीं।

(२) दातौन विधि – शौच के पश्चात् दंतशुद्धि के लिए दातौन की आवश्यकता होती है और उस उपयोग में आने वाली वस्तु दो प्रकार की हो सकती हैं : (१) सचित्त और (२) अचित्त। सचित्त वस्तु के अन्तर्गत नीम, बबूल आदि वृक्षों के डंठलों का प्रयोग होता है तथा अचित्त वस्तु में कोयला, राख तथा मंजन आदि। प्राचीन समय में जहां कोड़ियों के खर्च और थोड़े आरम्भ में यह आवश्यकता पूरी हो जाती थीं, वहां आज इसके लिए भी बड़े-बड़े कारखाने खुले हैं।

विदेशों से आने वाले टूथ पाउडर और बहुमूल्य लिक्विड में हिंसा अधिक होती है । आनन्द ने दन्त-शुद्धि के लिए केवल गीली मुलेठी की लकड़ी की छूट रखकर शेष का त्याग कर दिया ।

(३) फल विधि – आनन्द ने सिर की स्वच्छता के लिए आमले के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के उपयोग पर रोक लगादी । क्योंकि साधक को चाहिए कि वह कम से कम हिंसा वाली वस्तु का उपयोग करे । आज कई व्यक्ति कम्पनी विशेष की वस्तु नहीं मिलने से बहुत उद्विग्न हो जाते हैं, यह बड़ी पराधीनता है । आज का मनुष्य जड़ वस्तुओं के अधीन होकर दिनोंदिन परमुखापेक्षी होता जा रहा है, जो लज्जा की बात है । वास्तव में मनुष्य की श्रेष्ठता और उच्चता इसी में है कि वह किसी वस्तु के अधीन नहीं हो, बल्कि वस्तुओं को अपने अधीन बनाए रखे ।

करोड़पति आनन्द ने अपनी इच्छाओं को घटाने में आनन्द प्राप्त किया । उसे यह दृढ़ विश्वास था कि इच्छा की बेल को जितना अवसर दिया जाएगा वह बढ़कर उतना ही अधिक दुःख बढाएगी । अतएव उसने इच्छाओं का परिमाण किया और इससे उसको बड़ी शान्ति प्राप्त हुई । जिस प्रकार बिना मजबूत पाल (बंधान) के जलाशय का पानी निकल कर सर्वनाश कर बैठता है वैसे ही बिना व्रत के मानव-जीवन भी विनष्ट हो जाता है । जहां सदाचार का बल है, वहां नूर चमकाने के लिये बाह्य उपकरणों की आवश्यकता नहीं होती । बाह्य उपकरण क्षणिक हैं, वास्तविक सौन्दर्य तो सदाचार है । यदि वस्तुओं के उपयोग में नियम नहीं होगा, तो मन वस्तुओं की प्राप्ति के लिए चंचल एवं दुःखी होगा । सद्‌गृहस्थ अपरिमित वस्तुओं का उपभोग नहीं करता । वह भोगोपभोग का गुलाम नहीं बनता वरन् उनको अपने वश में रखता है । यही श्रावक धर्म का स्वरूप है ।

अब स्थूलभद्र की बात करते हैं ।

महामन्त्री शकटार के पुत्र स्थूलभद्र के दिल पर स्नेह की बेड़ी पड़ी है, अतएव वह रूपकोषा के घर से बाहर नहीं जा पाता । उसने एक-एक कर बारह वर्ष रूपकोषा के स्नेह-सूत्र में बँध कर बिता दिए । शकटार अब सोचने लगे :–

"बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछताय ।
काम बिगारे आपनो, जग में होत हंसाय ।।
जग में होत हंसाय, चित्त में चैन न पावे ।
खान पान सम्मान, राग रंग मनहु न भावे ।।"

गणिका से शिक्षा ग्रहण कर स्थूलभद्र के घर न लौटने से मन्त्रीवर के हृदयाकाश में चिन्ताओं के बादल उमड़ने लगे । वे सोचने लगे कि वेश्या के घर में

युवा पुत्र को भेजकर मैंने बड़ी गल्ती की है। वहां जाकर पुत्र राग-रंग में रंग गया, प्रेमपाश में पड़ कर जकड़ गया। वह न योग का रहा और न भोग का। यदि उसे सुसंगति में डालता तो इस प्रकार अपयश का भागी नहीं बनता और न मन ही अशान्त होता।

आजकल भी कई पिता अपने पुत्रों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने को विदेशों में भेजते हैं। उनका ख्याल होता है कि विदेश में होशियार होकर पुत्र अच्छी तरक्की करेगा और अपना तथा वंश का नाम फैलाएगा। परन्तु याद रखें यदि धार्मिक संस्कार का असर नहीं रहा, तो बच्चा विदेश जाकर ऐसी तरक्की करेगा कि आपकी बात भी न पूछेगा। सुरा-सुन्दरी के संसर्ग में पड़ कर कहीं बाप को भूल बैठा तो कौन बड़ी बात। बल्कि कुल मर्यादा को भी सदा के लिए तिलांजलि दे सकता है। अतः समझदारों को चाहिए कि वह युग प्रवाह में बहने की अपेक्षा पुत्र को सुसंस्कारों से संस्कारित बनाना न भूलें। यदि बालक को दृढ़ सुसंस्कार दिये गये तो वह विदेश जा कर भी ठगाएगा नहीं और यदि सुसंस्कार का बल नहीं रहा तो उसके भ्रष्ट हो जाने की अधिक संभावना रहती है।

महामन्त्री शकटार पुत्र के हाथ से निकल जाने की चिन्ता में व्यग्र थे। उन्हें दुःख था कि अपने ही हाथों से अपने पुत्र को गंवा दिया। संयोगवश उसी काल में पं. वररुचि राजदरबार में उपस्थित हुए। वररुचि राजनीति, अर्थशास्त्र, काव्यकला और धर्मशास्त्र के महान् ज्ञाता थे, किन्तु अर्थहीन थे। संसार का नियम है कि "न विद्वान् धनी भूपति दीर्घजीवी" अर्थात् विद्वान् धनी और राजा दीर्घजीवी नहीं होता। अतः वे अर्थोपार्जन द्रव्य लाभ के लिए राजदरबार में आए थे। सम्राट् नन्द के दरबार में विद्वानों के यथायोग्य सम्मान की परिपाटी थी। जो जिस कला में प्रवीण होता उसमें उसका पाण्डित्य देखकर पुरस्कार देने की प्रथा थी। पण्डित वररुचि को भी राजदरबार में संस्कृत श्लोक सुनाने की अनुमति मिली। उसने भी बड़े परिश्रम से दरबार योग्य नित्य नये श्लोक बनाकर सुनाये, किन्तु राजा नन्द महामन्त्री शकटार की ओर देखते एवं उसके अनुमोदन के बिना किसी को कुछ भी पुरस्कार नहीं देते। इस तरह वररुचि का भी पुरस्कार रुका रहा। महामन्त्री उत्कोच लेने, मदिरा पान करने और क्लब में रंगरेलियां करने के शौकीन नहीं थे, अतएव पण्डित जी के शुभचिन्तकों ने उन्हें सलाह दी कि आप मन्त्राणी को जाकर प्रसन्न कीजिए तो कार्य सुगमता से बन जाएगा। वररुचि मन्त्राणी के पास उपस्थित हुए और उनसे निवेदन किया कि मैं नित्य प्रति एक-सौ आठ नवीन श्लोक बना कर राजदरबार में उपस्थित करता हूँ, किन्तु महामन्त्री के अनुमोदन बिना मेरा सब परिश्रम धूल में मिल जाता है और मुझे कुछ

भी उपहार नहीं मिल पाता । जो आपकी दया हो जाय तो हमारा दुःख दूर हो सकता है ।

मन्त्राणी विप्र की दुःखद कहानी सुनकर पसीज गई । आप पहले सुन चुके हैं कि लाछलदे बड़ी विद्या प्रेमी महिला थी । उसने मन्त्री से कहा कि विप्र को अवश्य कुछ उपहार दिया जाना चाहिए । आप मन्त्री हो आपके पास कोई अर्जी करे तो उसे निराश करना अच्छा नहीं । ब्रह्मकवि ने अपनी कविता में एक स्थान पर ठीक ही कहा है कि :–

पूत-कपूत, कुलच्छन नारि, लराके परोस, लजायन सारो ।
बन्धु-कुबुद्धि, पुरोहित लंपट, चाकर-चोर अतिथि धुतारो ।
साहिब सूम, अराक तुरग, किसान कठोर, दीवान नकारो ।
ब्रह्म भषो, सुनु शाह अकबर, बारहुं बांधि समुद्र में डारो ।।

मन्त्राणी की बात सुनकर महामन्त्री ने कहा–प्रिये ! यह मिथ्या दृष्टि कई कुकर्मों में लगा है । सदा अधर्म के मार्ग पर चलता है । भला ऐसे व्यक्ति को दान देने का क्या परिणाम होगा ? कहा भी है :–

पयः पानं भुजंगानां, केवलं विष–वर्द्धनं ।
उपदेशो हि मूर्खाणां, प्रकोपाय न शान्तये ।।

किन्तु आखिर मन्त्राणी की बात माननी ही पड़ी । महामन्त्री की दया से वररुचि कैसे धन पाएगा, यह तो प्रसंग आने पर विदित होगा, किन्तु हमें यहां देखना है कि मनुष्य परेशान क्यों होता है ? वह इधर-उधर हाथ पसारे क्यों फिरता है ? उसके पास विद्या, बुद्धि और वाणी का बल होते हुए भी दुःखी रहने का कारण क्या है ? इन सबका एक मात्र उत्तर यही है कि वह इच्छा के पाश में बंधा हुआ है । इच्छा मनुष्य को चारों ओर भटकाती है । कहा भी है कि :–'जहां चाह है, वहां राह है, यह परेश की है माया ।' बड़े से बड़ा विद्वान् भी जो कहीं बैठकर ५, १० लड़कों को ज्ञान दान देकर आसानी से अपना निर्वाह कर सकता है, चाहना के चक्कर में हाथ पसारे फिरता रहता है । इसलिए अनुभवी संतों ने कहा है :–

चाह कियां कछु ना मिले, जिहां तिहां करि के देख ।
चाह छोड़ धीरज धरो, तो पग-पग मिले विसेख ।।

[२१]

विचार और आचार

प्रभु महावीर स्वामी ने जीवन को ऊपर उठाने के लिए दो प्रकार का धर्म बतलाया है । एक विचार धर्म तथा दूसरा आचार धर्म । आचार धर्म में शारीरिक आचार के अतिरिक्त ज्ञानाचार और दर्शनाचार को भी सम्मिलित कर लिया गया है ।

चर-गति भक्षणयो धातु से आ उपसर्ग लगाने पर आचार शब्द बनता है । आ का अर्थ मर्यादा है तथा चर से तात्पर्य चलना या खाना है । "आचर्यति इति आचारः" याने मर्यादापूर्वक चलना ही आचार है । दूसरे शब्दों में व्यवहार और विचार की दृष्टि से मन, वचन और काय द्वारा मर्यादापूर्वक चलने को आचार कहते हैं । ज्ञान की साधना से सत्यासत्य का बोध होता है । और विकल धर्म वाले गृहस्थ भी आचार द्वारा जीवन को शुद्ध एवं संयत कर सकते हैं ।

जीवन में शारीरिक और आध्यात्मिक दोनों साधनाओं का सामंजस्य आवश्यक है । जैसे पक्षी अपने दोनों पंखों के कुशल रहते ही ऊपर उड़ सकता एवं स्वैर विहार कर सकता है, वैसे ही मानव जीवन के लिए उपरोक्त दोनों प्रकार की साधना अपेक्षित है । फिर भी जीवन को ऊंचा उठाने के लिए आध्यात्मिक साधना को प्रधान एवं शारीरिक साधना को गौणरूप देना सुसंगत है । सद्गृहस्थ आनन्द आत्म-साधना प्रधान दृष्टि वाला था न कि तन-धन चाहने की बहिर् दृष्टि वाला । वह शरीर की ओर इसलिए ध्यान देता कि साधन रूप होने से शरीर आत्म-साधना में सहायक हो सकता है । उसने पूर्व मर्यादित विधि की तरह उदवर्तन विधि, विलेपन विधि तथा स्नान विधि के सम्बन्ध में भी मर्यादा स्वीकार की जो इस प्रकार है :–

स्नान के समय तेल की मालिश और आटे की पीठी की जाती है, जो अनेक प्रकार की होती है । आनन्द ने अपनी आवश्यकता को नियन्त्रित रखने के लिए इस बाबत मर्यादा की कि शतपाक और सहस्रपाक तेल के अतिरिक्त कोई विलेपन

नहीं करूंगा । उसने अपने उपयोग में दो तेल रखे । जिसके निर्माण में सौ का खर्च हो या सौ द्रव्य का मिश्रण हो उसे शतपाक कहते हैं । ऐसी ही सहस्र-पाक की भी विधि है । आज भी कई सरसों के तेल की मालिश करते और फिर साबुन लगा कर नहाते हैं । आनन्द ने मालिश के बाद शरीर रूखा करने को गेहूँ के आटे की पीठी के अलावा शेष उद्वर्तन का त्याग कर दिया ।

उद्वर्तन के बाद स्नान किया जाता है ऐसी परिपाटी है । श्रावक बनने के बाद आनन्द ने स्नान में होने वाले जल के दुरुपयोग और अपरिमित हिंसा को बचाना आवश्यक समझा । क्योंकि जल सांसारिक प्राणियों का जीवन है । कोशकार अमर सिंह ने जल का नाम गिनाते हुए कहा है–"पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम्" जल अमृत और जग जीवों का जीवन है । इसको औषध भी कहा गया है। प्राकृतिक चिकित्सा में जल, मिट्टी, हवा और सूर्यकिरण को ही प्रमुख औषध माना गया है । हवा के बाद जल का ही स्थान है जिसके बिना कि जागतिक जीव जीवन धारण नहीं कर सकते । एक प्रकार से जल का विनाश जीवन का विनाश होता है । संसार के पशु, पक्षी प्रकृति के शान्त वातावरण में रह कर ही आरोग्य प्राप्त करते हैं । उनके लिए प्रकृति ही डाक्टर और प्राकृतिक वस्तुएं ही दवा हैं । मनुष्य बुद्धिवाद और विज्ञान के चक्कर में पड़कर प्रकृति को भूल बैठा । अतः कृत्रिमता के जाल में फंसकर उसे नाना प्रकार के दुःख झेलने पड़ते हैं । हां तो बात यह है कि जल संसार का अत्यन्त उपयोगी पदार्थ है, अतएव उसका अनावश्यक खर्च अपराध है । मनुष्य ही नहीं प्राणी मात्र जल और वायु से ही जीवन धारण करते हैं । तपस्वी लोग दीर्घकाल तक अन्न छोड़ देते हैं पर जल और वायु के बिना तो वे भी लंबा काल नहीं बिता सकते ।

आजकल घर-घर और गली-गली में नल हो जाने से पानी का वास्तविक मूल्य नहीं समझा जाता । किन्तु जब कभी कारणवश केन्द्र से पानी का निस्सरण कम होता अथवा बिल्कुल ही नहीं होता तब देखिए नगरों में पैसे देने पर भी घड़ा भर पानी नहीं मिल पाता और जान मुसीबत में फंसी जान पड़ती है । भले ही प्रचुर जल वाले प्रदेश में कठिनाई प्रतीत नहीं होती हो, तब भी प्यास की स्थिति में जल का महत्व आसानी से समझा जा सकता है । सोना-चांदी और वस्त्राभूषण के बिना आदमी रह सकता है पर जल के बिना एक दिन भी नहीं रह सकता । अतः सद्गृहस्थ को यह ध्यान में रखना चाहिए कि पानी की एक बूंद भी व्यर्थ नहीं जाय।

पानी के अमर्यादित उपयोग से कीचड़ फैलता और उसमें मच्छर आदि अनेक जन्तु उत्पन्न होते हैं । मनुष्य यदि विवेक से काम ले तो व्यर्थ की हिंसा और

मलेरिया आदि रोगों से अनायास ही बच सकता है । मरुभूमि के लोगों को मालूम है कि पानी का क्या मूल्य है ? आनन्द सबसे पहले अनछाने पानी का त्याग करता है। क्योंकि अनछाने पानी में असंख्य स्थावर जीवों के अतिरिक्त लाखों त्रस जीवों की हिंसा हो जाती है । वैष्णव-शास्त्र में भी अनछाने जलपान का निषेध है । कहा भी है – "पानी पीना छान कर गुरु करना जानकर ।" वहां छानने का विचार निम्न प्रकार से किया है – षटत्रिशदंगुलायामं विंशत्यंगुल विस्तृतं । दृढ़ं गलनक कुर्यात्, ततो जीवान् विशोधयेत् ।।

लूताऽस्य तन्तु गलितैक, बिन्दौ सन्ति जन्तवः ।
सूक्ष्मा भ्रमरमानास्ते, नैवमान्ति त्रिविष्टपे ।।

अर्थात् ३६ अंगुल लम्बा और २० अंगुल चौड़ा मजबूत गलना बना कर उसके द्वारा पानी छानना चाहिए । क्योंकि मकड़ी के मुंह की तांत में गाले गए पानी की एक बिन्दु में इतने सूक्ष्म जीव हैं कि यदि वे भंवरे जितना शरीर बना लें तो तीन लोक में भी नहीं समा सकें ।

अनछाना पानी नहीं पीने से कितने जीवों की हिंसा टल जाती है । इसको आप भली-भाँति समझ गये होंगे । तृणभक्षी पशु भी जब ओठ से फूंक कर पानी पीते हैं, कुत्ते, बिल्ली या शेर की तरह वे जीभ से लपलप कर नहीं पीते, तब भला मनुष्य को कितनी सावधानी रखनी चाहिए जो कि प्राणियों में सर्वोपरि बुद्धिमान है । इससे आरोग्य और धर्म दोनों प्रकार से लाभ है । बिना छाने जल पीने वाले को नारू आदि कीड़े पेट में जाकर कई प्रकार की पीड़ा उत्पन्न करने और कई बार जान जाने तक का खतरा झेलना पड़ता है ।

एक राजा ने एक बार रात को खुले में रखा पानी पीया जिसमें एक विषैला सांप उसके पेट में चला गया । अतः आनन्द ने संकल्प किया कि वह बिना छाना पानी नहीं पीएगा और न जलाशय में प्रवेश कर स्नान ही करेगा । जलाशयों में प्रवेश कर स्नान करने से अनेक हानियां होती हैं । १. सर्वप्रथम तो आस-पास का जल गन्दा हो जाता है । २. सम्पूर्ण जलाशय के जन्तुओं में हलचल मच जाती है एवं आस-पास के बहुत जलजीव मर भी जाते हैं। ३. संस्पर्शी रोगों (छूत के रोग) का प्रसार होता है और ४. जल में पैर फिसलने से नहीं तैरना जानने वाले कइयों की जान भी चली जाती है । बच्चों के डूब कर मरने के समाचार तो हर वर्ष अखबारों में पढ़ने को मिलते हैं । अतः जहां तक हो, खास परिस्थिति को छोड़ कर जलाशय में कभी नहीं नहाना चाहिये ।

नहाने का उद्देश्य शरीर शुद्धि है और मर्यादित जल लेकर भी यह कार्य किया जा सकता है । जलाशय तथा खुले नल पर अमर्यादित जल से भी यही कार्य होता है । अतः अनर्थ दण्ड बचाने को आनन्द ने स्नान और वस्त्र प्रक्षालन के लिए आठ कुंभि (एक प्रकार का घड़ा) से अधिक जल काम में नहीं लेने की प्रतिज्ञा कर ली । सत्पुरुषों की शिक्षा एवं धर्म मर्यादा कितनी सुन्दर है ? शरीर की आवश्यकता भी पूरी हो गई और महारंभ का पाप भी बच गया । इस प्रकार व्रतधारण से असंख्य जीवों की हिंसा से वह बच सका और दूसरों के लिए भी विवेक-पूर्वक चलने की प्रेरणा प्रदान की ।

आनन्द की तरह हर आत्मार्थी गृहस्थ को संसार के आवश्यक कार्यों में विवेक से काम लेना चाहिए । इससे बड़ी भारी हिंसा टल सकती है और जीवन भी उज्वल बन सकता है । जो व्यक्ति विवेक से काम न ले तथा जिसकी आवश्यकताओं की सीमा न हो, चाहे वह कितना ही विद्वान क्यों न हो उसकी विद्वत्ता का कोई उपयोग नहीं । गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है –

काम-क्रोध-मद-लोभ की, जब लग मन में खान ।
"तुलसी" पण्डित मूरखो दोनों एक समान ।।

इच्छा पर संयम नहीं करने का ही परिणाम है कि वररुचि जैसे विद्वान को भी लालच के वशीभूत होकर मन्त्राणी के पास पुरस्कार की याचना के लिए निवेदन करना पड़ा । नित्य की तरह वररुचि फिर राजदरबार में श्लोक सुनाने को उपस्थित हुए । महामन्त्री ने श्लोकों की प्रशंसा की और तत्काल ही उनको १०८ मुहरें पुरस्कार के रूप में प्राप्त हो गयीं । फिर क्या था ? वे नित्य ही श्लोक बनाकर दरबार में लाते और सम्मान में मुहरें प्राप्त कर ले जाते । महामन्त्री शकटार को विप्र के लालच और मिलने वाले इस नित्य के दान से बड़ा दुःख हुआ । श्रीकृष्ण ने महाभारत में युधिष्ठिर से ठीक ही कहा है :–

दरिद्रान भर कौन्तेय ! मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं, नीरुजस्य किमौषधै : ।।

दवा रोगी को दी जानी चाहिए, नीरोग व्यक्ति को दवा देनै से क्या लाभ? पण्डित वररुचि को नित्य एक सौ आठ मुहरों का दिया जाना महामन्त्री शकटार को खटकने लगा । वे सोचने लगे कि यदि इसी तरह मुहरें रोज दी गईं तो बहुत धनराशि खजाने से निकल जाएगी और राजकोष खाली हो जाएगा । शकटार सोचने लगे कि समय पाकर सम्राट के समक्ष इस विषय को रखना चाहिये ।

महामन्त्री शकटार ने कैसे समय पाकर इस विषय को सम्राट नन्द के सामने रखा यह तो आगे पता चलेगा, किन्तु इस प्रसंग से हमें यह भली-भांति समझ लेना है कि लोभ सब पापों का मूल है ।यदि वररुचि लोभ के वशीभूत न होते तो महामन्त्री को भी इतनी चिन्ता नहीं होती । मगर वररुचि की लोभ वृत्ति एवं संग्रह वृत्ति इस तरह असीमता की ओर पैर बढ़ाती गई कि मजबूर होकर महामन्त्री को इसको रोकने के लिए कदम बढ़ाना पड़ा । हमें भी काम क्रोध लोभादि शत्रुओं को वश में रखकर अपना जीवन आनन्दित बनाना है तथा इन कुवृत्तियों से बचते जाना है, जिससे लोक और परलोक दोनों के कल्याण का मार्ग सरलता से खुल सके ।

---

[२२]

आचार : एक विश्लेषण

भगवान् महावीर स्वामी ने आचार को केवल काया के व्यवहार तक ही सीमित नहीं रखा, वरन् उन्होंने ज्ञानाचार और दर्शनाचार को भी आचार ही माना है। ज्ञानाचार और दर्शनाचार मस्तिष्क और हृदय को सुधारने वाले आचरण हैं। चारित्र, तप और वीर्य, ये तीनों भी आचार हैं। चाहे साधु का पूर्ण त्याग भरा जीवन हो या गृहस्थ का अपूर्ण त्यागी जीवन, दोनों के लिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र अनिवार्य हैं । ज्ञान और दर्शन की नींव पर चारित्र का महल खड़ा है। यदि कोई ज्ञान और दर्शन से अवकाश पाना चाहे तो काम नहीं चलेगा।

शास्त्र में कहा है कि– "ना दंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरण गुणा।" उ० २८। अर्थात् बिना श्रद्धा के ज्ञान नहीं और ज्ञान के बिना चारित्र नहीं। चारित्र का काम संचित कर्म को क्षीण करना है। इसीलिये चारित्र की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है– "चयस्य रिक्तीकरणं चारित्रम्" शास्त्रकार भी कहते हैं :

"एयं चय-चरित्त करं, चारित्रं होइ आहियं !" उ० २८/३३ ।

आत्मा में कर्म का कचरा, मिथ्यात्व, प्रमाद और मोह के द्वारा संचित होता रहता है; जिन्हें रिक्त करने के लिये प्रयास की आवश्यकता है। किसी कमरे की खिड़की खुली रखकर छोड़ दी जाय तो कमरा कचरे से भर जायेगा। बिना श्रम के ही यह कचरा कुछ दिनों में जमा हो जायेगा, जो दो-चार बार साफ करने पर भी बड़ी कठिनाई से साफ हो सकेगा। विद्यालय, धार्मिक स्थान या निवासयोग्य भवनों में यदि दो-चार दिन कचरा साफ नहीं किया जाये, तो देखते-देखते कचरे का ढेर इकट्ठा हो जाता है, जो मन को ग्लान और दुःखी बनाता है। फिर आत्मा में अनेक द्वारों से आकर कर्म का कचरा जो भरता रहता है, अगर समय पर उसको साफ नहीं किया गया तो वहां आत्मदेव कैसे विराजमान रह सकेंगे। अतः देवाधिदेव आत्मा के

निवास स्थान को कर्म रज की गन्दगी से बचाने के लिये स्वच्छता और सफाई की आवश्यकता है।

जैसे अज्ञानावस्था में शिशु मल के मर्म को बिना समझे, उसमें रमते हुए भी ग्लानि और दुःख का अनुभव नहीं करता और वही फिर होश होने पर मल से दूर भागता एवं नाक-भौं सिकोड़ता है, वैसे ही सद्ज्ञान प्राप्त नहीं होने तक आत्मा अबोध बालक की तरह मल-लिप्त बनी रहती है, किन्तु ज्योंही सद्गुरू की कृपा से सद्ज्ञान की प्राप्ति हो गयी फिर क्षण भर भी वह मल को अपने पास नहीं रहने देता। साथ ही मानसिक दुर्बलताओं को भी दूर हटाते जाता है। आनन्द श्रावक को भी प्रभु महावीर की कृपा से ज्ञान की ज्योति प्राप्त हो गई। अब उसकी सोई आत्मा जाग उठी। वह पाप का कचरा निकाल फेंकने के लिये उद्यत हो उठा और आने वाले कचरे को रोकने के लिये प्रथम ही आस्रव का दरवाजा बन्द कर दिया।

मानव जितनी ही अधिक अपनी आवश्यकता बढ़ायेगा उतना ही अधिक उसका पाप भी बढ़ेगा। अतएव आनन्द ने स्नान के पश्चात् अपने व्यवहार योग्य वस्त्र की सीमा निर्धारित करली। जैसे–वस्त्र विधि– स्नान के पश्चात् लोक वस्त्र परिवर्तन करते हैं, जो कई प्रकार के होते हैं। जैन-शास्त्र में वस्त्र की प्रमुख पांच जातियां बताई हैं :

(१) जांगिक– जंगम जीवों से निष्पन्न यथा भेड़, बकरी आदि के बाल से बना कपड़ा।

(२) भृंग के तांत से बने वस्त्र– रेशमी और कोसा का वस्त्र जो कीड़ों के तांत से बनाये जाते हैं। शहतुत आदि वृक्षों में कीड़े पाले जाते हैं। ये कीड़े तांतों का घर बनाकर भीतर घुस जाते हैं। इन कीड़ों को गरम पानी के कड़ाह में डालकर नष्ट किया जाता है। करीब चालीस हजार कीड़ों के नष्ट करने से एक गज रेशमी कपड़ा बनता है। इस प्रकार महा-हिंसा से निर्मित वस्त्र सद्गृहस्थ को धारण करना कहां तक उचित है ? आजकल नकली रेशम के वस्त्र भी बनने लगे हैं, जिनमें किसी की हिंसा नहीं करनी पड़ती ।

(३) पाट (सन) से बना वस्त्र ।

(४) मूंज घास, अम्बाड़ी, केतकी आदि से बना वस्त्र ।

(५) कपास के रेशे तथा आक के डोडे के रेशे का वस्त्र । इसके अतिरिक्त नाइलोन आदि के वस्त्र रसायन विधि के द्वारा बनाये जाते हैं। नाइलोन के वस्त्रों में आग लगने से बुझाये नहीं जा सकते हैं ।

आजकल के उद्योगपति धन प्राप्त करने के लिये नवीन-नवीन डिजाइन (ढंग) के कपड़े निकालते रहते हैं। रंगीन कपड़े आजकल अधिक पसन्द किये जाते हैं। इनमें चालबाजी भी चलती है। आज का मानव धन का इतना गुलाम बन गया है कि उसके लिये वह नैतिकता और प्रामाणिकता को भी भुला देता है । किन्तु आनन्द ने वस्त्र धारण का उद्देश्य प्रदर्शन और विलास नहीं माना उसने शीतातप से शरीर रक्षा एवं लज्जा निवारण मात्र ही वस्त्र धारण का उद्देश्य समझा। रेशमी वस्त्र में जीव हिंसा होती है जो सूती वस्त्र में नहीं होती। अतः हिंसक रेशमी वस्त्र का आनन्द ने त्याग किया। कुछ लोग जीव हिंसा वाले रेशमी वस्त्र को पवित्र तथा सूती वस्त्र को अपवित्र मानते हैं । इस विलक्षण कल्पना के मूल में सम्भवतः रेशमी वस्त्र में बिजली का असर होने से रोगाणु का असर कम होने की धारणा का असर होना सिद्ध होता है ।

आनन्द के जमाने में एक वस्त्र पहनने एवं एक के ओढ़ने का रिवाज था। बिहार एवं बंगाल में आज भी लोग खुले शिर रहते और पछेवड़ा (चादर) ओढ़ कर चलते हैं। पगड़ी तो समय विशेष पर ही धारण करते हैं। भगवान् महावीर ने अन्न-जल की तरह अल्प वस्त्र धारण करने को भी तप कहा है। मनुष्य यदि अधिक संग्रही बनेगा, तो उससे दूसरों की आवश्यकता पूर्ति में कमी आयेगी। फलस्वरूप आपस में बैर-विरोध तथा संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होगी। संग्रही पुरुष को रक्षण की उपधि और ममता का बन्धन रहेगा, जिससे वह शान्तिपूर्वक गमनागमन नहीं कर सकेगा। अतः व्रती को सादे जीवन का अभ्यास रखना चाहिये। धार्मिक स्थलों में खासकर बहुमूल्य वस्त्र और आभूषणों को दूर ही रखना चाहिये, क्योंकि धर्म स्थान में धन-वैभव का मूल्य नहीं, किन्तु साधना का महत्व है।

पुराने समय की बात है, एक बार एक राजा अपने मन्त्री के साथ बैठा विनोद कर रहा था । राजा ने मन्त्री से पांच प्रश्न पूछे। पहला प्रश्न था कि रोशनी किसकी अच्छी ? दूसरा प्रश्न-दूध में कौनसा दूध अच्छा ? तीसरा प्रश्न-पूत किसका अच्छा ? चौथा प्रश्न-बल किसका अच्छा ? और पांचवां प्रश्न-फूल कौनसा अच्छा ? मन्त्री ने खूब सोच समझ कर उत्तर दिया । १. "रोशनी सूर्य की अच्छी" ग्रह-नक्षत्र, चन्द्र और प्रदीप की रोशनी इसके सामने कुछ भी नहीं । २. दूध गौ का अच्छा, क्योंकि वह पौष्टिक भी है और नीरोग भी । ३. पूत राजा का अच्छा, जो हजारों का पालन कर सके। ४. बल भाई का अच्छा, जो समय पर सहायता दे । ५. फूल गुलाब का अच्छा, जिसमें रूप भी है और खुश्बू भी। नीचे छाया में एक गड़रिया उनकी बातें सुन रहा था। उसको मन्त्री के उत्तर अच्छे नहीं लगे। और वह सबसे पीछे चलने वाली लंगड़ी बकरी को यह कहते हुए वहां से चल पड़ा कि "चल

री टूटी, ये सब बातें झूठी"। राजा ने गड़रिये की बातें सुन लीं और तत्काल आदमी को भेजकर उसको बुलवाया एवं पूछा–"क्यों रे तूने लंगड़ी बकरी से क्या कहा था ? सच-सच बता हम तेरा अपराध माफ करते हैं ।"

यह सुनकर गड़रिया बोला कि महाराज ! आपके वजीर ने जो बातें कही हैं वे केवल आपको प्रसन्न करने के लिये कही हैं। इसलिये मैंने कहा कि ये सब बातें झूठी हैं। इस पर राजा बोला कि तुम अपनी राय बताओ। यह सुनकर गड़रिया बोला कि महाराज ! सूर्य की रोशनी उसके काम की है, जिसके आंख में रोशनी है। इसलिये आंख की रोशनी सबसे अच्छी। दूध गौ का नहीं, मां का अच्छा है, जिसने मां का दूध नहीं पिया उसके लिये गौ का दूध क्या करेगा। महाराज पुत्र राजा का नहीं, अपना अच्छा, क्योंकि अपना पुत्र नहीं होने से राजा का पुत्र हमारे किस काम का ? इसलिये पुत्र अपना अच्छा कहना चाहिये। चौथी बात मन्त्री ने भाई का बल अच्छा बतलाया, किन्तु जंगल में अकेले में कोई शत्रु मिल गया तो वहां भाई का बल क्या काम देगा। जो अपनी भुजा में बल होगा तो वही काम देगा । इसलिये बल अपनी भुजा का अच्छा। पवें में फूल गुलाब का अच्छा बतलाया किन्तु गुलाब का फूल तो श्रीमन्तों के नाज-नखरे तथा शौक के लिये ही काम आता है, परन्तु कपास का फूल तो अमीर-गरीब सबकी लाज रखता है। इसलिये कपास का फूल सबसे अच्छा है। यह सुनकर राजा प्रसन्न हुआ और गड़रिये को ईनाम देकर विदा किया। यह है भारत की प्राचीन दृष्टि। आनन्द ने भी मात्र कपास के वस्त्र की मर्यादा की।

आनन्द के समान आप लोग भी वस्त्र की मर्यादा रखें, यह आवश्यक है। पहले भारतवर्ष की जनसंख्या कम थी तथा आकर्षण के इतने साधन भी नहीं थे। जबकि आज जनसंख्या के साथ भौतिक आकर्षण भी बढ़ गये हैं। आज निम्न श्रेणी के लोगों तथा गरीबों ने भी अपनी-अपनी आवश्यकताएं बढ़ाली हैं– फलतः असन्तोष भी बढ़ गया है। आज गरीबों का मन अमीरों की ओर लगा है, पर वे भूलकर भी गरीबों की ओर दृष्टि नहीं डालते । यदि आनन्द के समान सभी अपनी-अपनी आवश्यकताएं कम करलें तो अनेक संकट टल जावेंगे तथा आनन्द एवं शान्ति की लहर सब ओर दौड़ जायेगी। साथ ही वैर-विरोध एवं संघर्ष की मात्रा भी कम पड़ जायेगी। शासन का खर्च भी कम हो जायेगा और लोग सभी दुःखों से मुक्त हो जायेंगे। वस्तुतः मर्यादित जीवन में शान्ति है तथा अमर्यादित जीवन में अशान्ति। पण्डित वररुचि के नित्य मुहर पाने से, शकटार के हृदय पर विपरीत प्रभाव पड़ा। खजाना खाली होते देखकर शकटार को दुःख हुआ। उन्होंने राजा को सावधान करने की सोची।

एक दिन अवसर देखकर महामन्त्री ने राजा से निवेदन किया कि– महाराज! नित्य मुहर दान की अपेक्षा पण्डित को जागीर देना अच्छा है। यह सुनकर राजा बोला कि तुमने ही तो पण्डित की प्रशंसा की थी । मन्त्री ने कहा– "राजन् ! मैंने मूल रचनाकार की प्रशंसा की थी । पण्डितजी तो मात्र अच्छा सुना देते हैं । ये उनकी अपनी रचनाएं नहीं हैं । आप जानना चाहें तो ये श्लोक मेरी लड़कियां भी सुना सकती हैं ।"

महामन्त्री शकटार की सात कन्याएं थीं, जो एक से बढ़कर एक प्रतिभाशालिनी थीं । उनमें यह खूबी थी कि पहली लड़की किसी बात को एक बार सुनकर स्मरण में रख लेती । दूसरी लड़की दो बार सुनकर याद कर लेती । इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पांचवीं, छठी एवं सातवीं लड़की क्रमशः तीन, चार, पांच, छः और सात बार सुनकर किसी बात को याद कर लिया करती थीं । वे रील की पट्टी पर पड़ी हुई प्रतिच्छाया के सदृश बातों की अविकल पुनरावृत्ति कर सकती थीं । इन बालिकाओं को प्रतिभाशालिनी बनाने में आदर्श माता लाछल दे का बड़ा हाथ था, जिसने इनमें भजन, स्मरण और स्वाध्याय के सुसंस्कार डाले थे । जीवन का विकास तभी संभव है जब शरीर श्रृंगार, व्यर्थ बातचीत एवं तेरी-मेरी के विवाद से ऊपर उठकर साधना समय का उपयोग किया जाये।

अगले दिन इसका निर्णय करना सोचा गया। पण्डितजी ने राजदरबार में आठ श्लोक सुनाये। उसी समय बालिकाओं से पूछा गया– उनमें क्रमशः एक, दो, तीन, चार, पांच, छः और सात बार सुनकर उन श्लोकों को याद कर लिया और सभी ने एक-एक कर के श्लोकों की पुनरावृत्ति कर दी । फिर क्या था ? राजसभा में पण्डितजी की रचना के मौलिक होने में शंका हो गयी । वररुचि अवाक् रह गये और बड़े शर्मिन्दा हुए। अतिलालच ने पण्डितजी की प्रतिभा और इज्जत को मिट्टी में मिला दिया। जैसी वररुचि की स्थिति हुई, ऐसी हमारी भी दशा नहीं हो, इसके लिये हर व्यक्ति को सजग रहना चाहिये । हम कृषक के समान हृदय रूपी खेत में पाप कर्म रूपी घास को हटाकर आत्मा का कल्याण करें, अन्यथा पाप की भारी पठरी सिर पर धारण करके अपनी जीवन-यात्रा सफलतापूर्वक तय नहीं कर सकेंगे।

[२३]

मानव के तीन रूप

मनुष्य जीवन को उच्चता की ओर उठाने तथा अधमता की ओर ले जाने का प्रमुख साधन आचार है । संसार में तीन प्रकार के प्राणी होते हैं। १. निकृष्ट (जघन्य) २. मध्यम और ३. उत्तम ।

जिन व्यक्तियों में सदाचार तथा सद्‌गुणों का सौरभ नहीं होता, वे संसार में आकर यों ही समय नष्ट कर चले जाते हैं । क्योंकि मनुष्य जीवन की प्राप्ति परम दुर्लभ है और ऐसे दुर्लभ नर-जीवन को व्यर्थ में गंवाना, अज्ञानता की परम निशानी है। ऐसे व्यक्तियों को निकृष्ट प्राणी समझना चाहिये । मध्यम श्रेणी के प्राणी अपने जीवन-निर्वाह के साधन में लगे रहते हैं तथा स्व-पर का उत्थान नहीं कर सकते तो अधिक बिगाड़ भी नहीं करते । तीसरी कोटि के प्राणी अपने जीवन की सुरभि तथा विशेषता द्वारा अमरत्व प्राप्त करते हैं तथा सांसारिक लोगों के जीवन-सुधार में सहयोग दिया करते हैं । ऐसे प्राणी उत्तम या प्रथम श्रेणी के माने जाते हैं ।

मनुष्य अपने जीवन को चाहे जितना ऊंचा उठा सकता है; क्योंकि महानता प्राप्ति के सारे साधन उसके हाथ में हैं। देवताओं के पास भोग और सुख-प्राप्ति के साधन हैं, किन्तु जीवन को उज्ज्वल बनाने का जितना अच्छा साधन उनको चाहिये उपलब्ध नहीं है।

जीवन के अनमोल समय को व्यर्थ ही नष्ट कर डालना, मानव की महान् जड़ता है। जहां साधारण मनुष्य धन, जन, सत्ता, कोठी, बंगला और वैभव की सामग्रियां प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहते हैं, वहां विचारवान और विवेकी पुरुष– उन्हें नश्वर और क्षणिक मानकर, आध्यात्मिक जीवन बनाने में तत्पर रहते हैं। संसार की समस्त नश्वर वस्तुएं बनाने पर भी विनष्ट हो जाती हैं, किन्तु उत्तम जीवन एक बार बना लिया जाये, तो वह फिर कभी बिगड़ता नहीं । शासन में उच्च से उच्च पद पाकर भी लोग बिगड़ जाते हैं, तो साधारण पद की तो बात ही क्या ? अतएव

आनन्द ने विचारवान का नहीं, आदर्श-जीवन का निर्माण किया। यही कारण है कि आज ढाई हजार वर्षों के बाद भी हम उनकी गुण-गाथा गाते नहीं अघाते हैं।

संसार में तीन प्रकार के उत्तम पुरुष होते हैं, १. कर्म उत्तम पुरुष २. भोग उत्तम पुरुष एवं ३. धर्म उत्तम पुरुष। चक्रवर्ती राजा भोग उत्तम पुरुष है । उससे बढ़कर भोग-सामग्री वाला संसार में और कोई दूसरा नहीं होता। तीर्थंकर धर्म उत्तम पुरुष हैं। उनके समान स्व पर हितकारी धर्म-साधना अन्य जन नहीं कर पाते । यह पूर्ण सत्य है कि अपने पुरुषार्थ के बल पर उन्होंने अपना जीवन पूर्ण बना लिया । साधारण साधक कितना भी ज्ञानवान क्यों न हो, तीर्थंकर के सदृश नहीं हो पाता । कर्म उत्तम पुरुष लोकनायक वासुदेव होते हैं। वे अपने बल से विजय मिलाकर संसार में अमर कीर्ति पाते हैं।

इन त्रिविध उत्तम पुरुषों में से एक कर्म उत्तम पुरुष श्री कृष्ण चन्द्र भी हैं। उन्होंने संसार में जन्म लेकर यह बतला दिया कि– सत्कर्मों द्वारा मनुष्य पुरुषोत्तम बन सकता है । श्री कृष्ण चन्द्रजी तीन खण्ड के भोक्ता लोकनायक थे । लोकनायक का प्रधान दृष्टिकोण समाजनीति, अर्थनीति और राजनीति में सुधार करने का होता है । अतः लोकनायक धर्म नायक से भी अधिक जनप्रिय हो जाता है; क्योंकि गरीब से लेकर श्रीमन्त तक का स्वार्थ पोषण होता रहता है । कृष्णाष्टमी उसी लोकनायक की जन्मतिथि है जो प्रतिवर्ष वसुन्धरा पर आकर संसार को बोध का पाठ पढ़ाती एवं कृष्ण की जीवन-महिमा तथा सद्गुणों से जन-मानस को प्रेरित कर–आदर्शोन्मुख बनाती है ।

जिस समय हिंसा और सत्ता का घमण्ड लेकर कंस और जरासंध जनता को उत्पीड़ित कर रहे थे, उस समय उनसे मुक्ति दिलाने हेतु मानो कृष्ण का जन्म हुआ । कंस ने भविष्यवाणी में सुन रखा था कि वासुदेव की सातवीं संतान से उसका वध होगा । इसलिये उसने वासुदेव की सब सन्तानों को जन्म लेते ही मार डालने की सोची । वासुदेव भी विवश हो कर उसकी बात मान गये, मगर विधि का विधान कैसा विचित्र है कि श्री कृष्ण ने जन्म ग्रहण किया और पहरेदारों की आंखों में धूल झोंक कर वासुदेव के द्वारा वे नन्द के घर सकुशल पहुंचा दिये गये और कंस के आदमियों को इसकी खबर तक नहीं लग सकी । श्री कृष्ण के जन्म पर एक कवि ने कहा है कि– "कृष्ण कन्हैया आए आज भारत भार हटाने" । वस्तुतः सत्ता के वैभव में गुणी अकिंचन पुरुषों का मान बढ़ाने का आदर्श रखने को उनका जन्म हुआ। श्री नेमनाथ के प्रति तो उनके मन में इतनी श्रद्धा एवं भक्ति थी कि जब-जब भी नेमनाथ का द्वारिका में पदार्पण हुआ तब-तब श्रद्धा के साथ उन्होंने

धर्म की प्रभावना की। पूर्ण त्यागी की कौन कहे, सर्व साधारण गुणवान व्यक्तियों का भी वे उचित सम्मान करते थे। सुदामा का उदाहरण संसार-प्रसिद्ध है जिसके लिये रहीम कवि ने ठीक ही कहा है कि–

जे गरीब पर हित करे, ते रहीम बड़ लोग ।
कहां सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग ।।

श्रीकृष्ण की सहनशीलता बड़ी प्रसिद्ध है। महामुनि भृगु ने एक बार उनकी सहनशीलता की परीक्षा लेने के लिये उनके वक्षस्थल पर लात मार दी। मगर इस घटना से वे आपे से बाहर नहीं हुए, उल्टे भृगु से पूछने लगे कि कहीं आपके मृदु चरणों में मेरे शरीर के द्वारा कुछ चोट तो नहीं आयी ? इससे भृगु शर्म के मारे पानी-पानी हो गये। उनकी क्षमाशीलता के लिये कहावत प्रसिद्ध है कि–

क्षमा बड़न को उचित है, ओछन को उत्पात ।
कहां कृष्ण को घटि गयो, जो भृगु मारी लात ।।

आज हम क्षमाशीलता को बिल्कुल भूल गये हैं। आज का साधारण मनुष्य यह सोचता है कि राख बनने के बजाय अंगारे बनो, ताकि चींटी पैरों तले नहीं कुचले तथा तेज को देख कर हाथी भी डर जाय । श्री कृष्ण ने क्षमा का उत्तम आदर्श रखा । सचमुच कृष्ण की सहनशीलता अनुकरणीय है । आज दूसरों को झगड़ते देख मनुष्य उपदेश देता है किन्तु स्वयं सहनशीलता को जीवन में नहीं अपनाता, संयम और विवेक से काम नहीं लेता ।

श्री कृष्ण का बाल्यकाल ग्राम के प्राकृतिक वातावरण में बीता। गरीबों तथा पशुओं से प्यार करना उनका प्रमुख दृष्टिकोण रहा। अमीरी पाकर वे अहंभाव से नहीं भरे, पशु-पालन, पौरुष और सेवा आदि सद्‌गुण उनके महामहिम जीवन की विशेषता थी। आपका सेवाव्रत जन-जन में प्रसिद्ध है। श्री कृष्ण चन्द्र जी त्रिखण्ड का अधिनायक पद पाकर भी– गरीबों की सेवा करना नहीं भूले। एक बूढ़े ब्राह्मण की सहायता में उनका ईंट उठाना जगत प्रसिद्ध है। आज तो सेवा प्रदर्शन की वस्तु बन गयी। कुर्सी के नीचे का कचरा नहीं टलता और लोग जन-सेवी होने का स्वांग रचते और ख्याति के लिये फोटो तक खिंचवाते हैं।

श्रीकृष्ण की गुणग्राहकता, दयालुता, अपक्षग्राहिता, लोकोपकारिता और आत्मीयता सराहने योग्य है। मनुष्य की तो बात ही क्या ? पशु-रक्षा एवं पशुपालन उनकी दयालुता के ज्वलन्त उदाहरण हैं। जिसके चलते आज तक लोग उनको गोपाल नाम से भी पुकारा करते हैं, यदि श्री कृष्णचन्द्रजी आज का पशु-संहार देखें, तो

निश्चय ही तिलमिला उठेंगे और इस देश वालों को अपना भक्त हर्गिज स्वीकार नहीं करेंगे।

उनका शैशव गौ – वत्सपालन और गौचारण में कटा और यौवन में उन्होंने नीतियुक्त पौरुष का प्रदर्शन किया। युद्ध में वे सदा धर्मनीति का विचार रखते थे। उनकी युद्ध-प्रणाली में हिंसा में भी अहिंसा का लक्ष्य था। यही कारण था कि महाभारत का संघर्ष टालने के लिये उन्होंने कौरवों से पाण्डवों के लिये सिर्फ पांच गांव मांगे और दुर्योधन के द्वारा सुई की नोंक बराबर भी जमीन नहीं देने पर भी पक्षपात का पल्ला नहीं पकड़ा। उन्होंने दुर्योधन के मांगने पर अपनी सेना उसे अर्पित की और अर्जुन की इच्छा के अनुकूल उसके सारथि बने। अन्तर में एक के प्रति गहरी प्रीति भले ही रही हो, परन्तु व्यवहार में उन्होंने अपने को उज्ज्वल बनाये रखा।

आज श्रीकृष्ण सदृश विनयशीलता लोगों में नहीं रही। शिक्षा का स्वरूप ही दूषित हो गया है, लोगों में अहं भाव बढ़ गया है तथा माता-पिता की ओर से सन्तान को मिलने वाले सुसंस्कार में भी अतिशय कमी हो गई है। इन सब कारणों ने समष्टि रूप से जनमानस को विकृत कर दिया है।

श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में जो कदाचार के आरोप लगाये जाते हैं, वे वस्तुतः नासमझी और मस्तिष्क विकार के परिणाम हैं। दुनिया की हर वस्तु को हम अपने दिल के गज से ही नापने का प्रयास करते हैं और हर व्यक्ति को अपने जैसा ही समझने लगते हैं। हमारा हृदय यह स्वीकार करने के लिये कतई तैयार नहीं कि कोई हमसे भी अच्छा हो सकता है। डेढ़ अक्ल की कहावत जगत प्रसिद्ध है। गोपी वास्तव में भक्त-जन का प्रतीक है जो श्रीकृष्ण रूपी आत्म स्वरूप की ओर आकर्षित है अथवा श्रीकृष्ण को भक्त प्यारा है– अतः वे उसकी ओर तल्लीन से दिखाई देते हैं। काव्यों में गोपी वस्त्रहरण प्रकरण आता है, जिसके साहित्यिक-सौन्दर्य और मर्म को समझने में कुछ लोगों ने भारी भूल की है। यही कारण है कि कुछ लोग श्रीकृष्ण को श्रृंगार-रस प्रिय अथवा विषयी समझ बैठे है, जो नितान्त तथ्यहीन है।

श्रीकृष्ण-आत्म स्वरूप हैं और विषय विकार-वस्त्र हैं तथा इन्द्रियां-गोपियां हैं। इन्द्रियों से विषय विकारों को हटा कर आत्म स्वरूप का दर्शन किया जाना, यह है उनका यथार्थ चित्रण, जिसे एकदम गलत रूप दे दिया गया है। वस्त्र-रूपी विषय यदि धारण करें तो आत्मा बिगड़ जायेगी। आत्मा रूपी कृष्ण, वस्त्र रूपी विषय को हटादे; यह इसका आध्यात्मिक अर्थ है।

जैन-शास्त्रों में लोक-नायक के रूप में श्रीकृष्ण का चित्रण हैं, भगवान् तथा धर्म-नायक के रूप में नहीं। श्रीकृष्ण ने साधकों की रक्षा की। यदि उनमें त्याग की

वृत्ति नहीं होती, तो ऐसे महान् एवं पवित्र कार्यों की ओर वे प्रवृत्त नहीं होते। उनका चरित्र, उनका व्यवहार एवं उनकी आदर्श वृत्तियां इसका सबूत है कि मनुष्य-जीवन मात्र आमोद-प्रमोद एवं विलास के लिये नहीं अपितु जीवन को आदर्श, उज्ज्वल और अनुकरणीय बनाने के लिये है । अपने सत्कर्मों के द्वारा मनुष्य नर से नारायण बन सकता है । यह श्रीकृष्ण के जीवन-वृत्त से भली-भाँति हृदयंगम किया जा सकता है। यदि श्री कृष्ण के गुणों को ग्रहण करें तो मानव दानव नहीं बन कर अमरत्व-देवत्व का उच्च, अभिलषित पद पा सकता है।

मानव जीवन भोग-प्रधान नहीं, साधना-प्रधान और सुकर्म-प्रधान है । यदि हम ज्ञान, साधना और त्याग, तप का जीवन बितायेंगे, तो जीवन में आनन्द मिलेगा तथा लोक परलोक दोनों में कल्याण होगा ।

---

[२४]

जीवनोत्कर्ष का मूल

साधना के मार्ग में प्रगतिशील वही बन सकता है, जिसमें संकल्प की दृढ़ता हो । जिस साधक में श्रद्धा और धैर्य हो, वह अपने सुपथ से विचलित नहीं होता । संसार की भौतिक सामग्रियां उसे आकर्षित नहीं करतीं; बल्कि वे भौतिक सामग्रियां उसकी गुलाम होकर रहती हैं । यद्यपि शरीर चलाने के लिये साधक को भी कुछ भौतिक सामग्रियों की आवश्यकता होती है; किन्तु जहां साधारण मनुष्य का जीवन, उनके हाथ बिका होता है, वहां साधक उनके ऊपर प्रभुत्व करता है। एक भूतों के अधीन है, तो दूसरा उनको अपनी अधीन रखता है। इसी विशेषता के कारण साधक जीवन की महिमा है।

आनन्द ने भी सभी भौतिक पदार्थों को लात नहीं मार दी; किन्तु उनके उपभोग, परिभोग में नियन्त्रण किया । वस्त्र धारण के पश्चात् उसने अलंकरण का परिमाण किया । प्रायः स्नान के बाद मनुष्य वस्त्र धारण कर ललाट पर चन्दन आदि का विलेपन करते हैं । आनन्द ने अनेक विध विलेपनों का त्याग करके केवल अगुरु, कुंकुम और चन्दन आदि मिश्रित एक विलेपन रखा जो मंगल सूचक था और श्रृंगार और विलास का सूचक नहीं था । यह आठवां विलेपन विधि का परिमाण है। आनन्द का लक्ष्य हर काम में हिंसा घटाने का था । इसलिये भोग-सामग्री और शोभा के लिये वह अल्पारंभी एवं आरोग्यदायी वस्तु का ही चयन करता ।

विलेपन के पश्चात् माल्य-धारण विधि की बात आती है। भोगी लोग— इन्द्रिय पोषण के लिये विविध प्रकार के फूलों का उपयोग करते हैं और उनके हार तथा गजरे बनाकर धारण करते हैं । और तो क्या ? शरीर को अत्यधिक आराम देने के लिये वे फूलों पर लेटते और उनकी खुश्बू में मस्त होकर अपने को कृतकृत्य मानते हैं । पर, आनन्द उन खिले फूलों के जीवन से बेकार खिलवाड़ कर उन्हें

कुचलना नहीं चाहता । उसने माल्य-धारण का उद्देश्य प्रतिकूल हवा के प्रवेश को रोकना भर समझकर पद्म (कमल) और मालती के फूल के अतिरिक्त सब प्रकार से माल्य-धारण का त्याग कर लिया ।

मुनष्य जाति में हिंसा बढ़ाने का बड़ा कारण अज्ञान है। अज्ञानवश मानव अमंगल को मंगल मान लेता है। स्पष्ट है कि दूसरों को रुलाने का कार्य मंगलकारी नहीं होता। शादी, ब्याह अथवा धार्मिक उत्सवों में भी किसी जीव को मारना तथा शोभा के लिये केले आदि वृक्षों की डालियां काटकर लगाना, मंगलजनक नहीं होता । इससे तो उन जनहितकारी वृक्षों का अकारण नाश होता है। प्राचीन समय में घर की शोभा बढ़ाने के लिये आंगन में कदली आदि के वृक्ष लगाये जाते थे । प्राचीन काव्यों में इसका महत्व वर्णित है । किन्तु आज की तरह केले के खंभे और आम की डालियां काटकर लगाना यह कैसी शोभा ? वृक्ष को उजाड़ा और घर में कचरा किया। विवेकीजनों के लिये सोचने की बात है कि आम के पत्तों का वन्दनवार लगाकर जो आनन्द मानते हैं, वे लोग वृक्षों के अंग भंग का दुःख भूल जाते हैं । आनन्द ने महारंभी से अल्पारंभी का जीवन स्वीकार किया और अपनी आवश्यकता को कम कर व्यर्थ की हिंसा से अपने आप को बचाया।

समाज के अधिकांश लोग अनुकरणशील होते हैं। वे अपने से बड़े लोगों की नकल करने में ही गौरव अनुभव करते हैं। इस प्रकार देखा-देखी से समाज में गलतियां फैलती रहती हैं। गीता में भी कहा है—

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तद् तदेवेतरो जनः ।
सायत् प्रमाणं कुरुते, लोकस्तदनुवर्तते ।।

आत्मा का स्वरूप जगत् के समस्त प्राणियों में विराजमान है। विश्व-परिवार के सांप, बिच्छू, चूहे आदि भी सदस्य हैं, किन्तु आज के मानव उनसे डरते और रोषवश उन्हें मार डालना चाहते हैं । मगर उन्हें समझना चाहिये कि जैसे एक परिवार में गरम, नरम स्वभाव के अनेक लोग रहते हैं और उनके स्वभाव वैभिन्य के होते हुए भी पारिवारिक परम्परा में कोई आंच नहीं आने पाती, वैसे ही प्राणी जगत् में भी विभिन्न स्वभाव के प्राणी रहते हैं और उन्हें रहने का अधिकार भी होता है । परिवार में क्रूर स्वभाव के लोगों से दूर रहा जाता है या अधिक हुआ तो उनको अलग कर दिया जाता है, पर मारा नहीं जाता । ऐसे हिंसक प्राणी को भी डराकर दूर भगाया जा सकता है ।

मनुष्य इन क्रूर स्वभाव वाले प्राणियों से मैत्रीभाव रखने लगे, तो सात्विक स्वभाव के बल पर इनकी भी क्रूर-वृत्ति बदली जा सकती है। प्राचीन समय के

ऋषि-मुनियों के चरणों में शेर-चीते शान्ति से पड़े रहते थे । खादी वाले जैन संत श्री गणेशीलाल जी म० के पास भी कहते हैं कि सांप बैठा रहता था । म० गांधीजी की कुटिया में एक बार सर्प निकल आया । सब लोग भाग गये पर गांधीजी बैठे रहे। सांप शान्तिपूर्वक उनके चरणों के पास से निकल गया । फ्रांस के एक महात्मा पशु पक्षियों के बड़े दुलारे थे । उनके नाम पर आज भी ४ ता० को प्राणी-दिवस मनाया जाता है। महात्मा गांधी ने सम्मान देने के प्रतीक फूल-माला की जगह सूत की आटी, माला के रूप में पहनाने की प्रथा चालू की थी । इससे बनस्पति जगत् की व्यर्थ हिंसा का बचाव होता तथा वस्त्र के लिये सूत भी बचने लगा ।

आज धर्म और कानून की उपेक्षा कर मनुष्य व्यर्थ की हिंसा बढ़ा रहा है। फलतः देश का पशुधन और शुद्ध भोजन नष्ट होता जा रहा है । एक ओर वन-रक्षण एवं वन्य पशु-पक्षी रक्षण के कानून बनते है और दूसरी ओर हजारों की संख्या में उनका निरपेक्ष विनाश होता है । सचमुच में यह बुद्धिमत्ता नहीं है ।

ज्ञान का सार विरति है। आनन्द श्रावक ने ज्ञानपूर्वक विरति धारण कर अपनी इच्छाओं को सीमित किया। सम्यक् दृष्टि होने के कारण उसके और एक साधारण जन के भोग में कुछ विशेष अन्तर नहीं था। भोगी मनुष्य भोग में अपने को डुबा लेता है और वह कभी भी उससे बाहर निकलना नहीं चाहता। किन्तु भौंरा एक फूल से दूसरे फूल में विचरण कर रसपान करता है। मधुमक्खी फूलों का रस लेकर उड़ जाती है। वह रस का कण-कण ग्रहण करती है, फिर भी बन्धन में नहीं रहती। दूसरी मक्खी नाक के मल में बैठकर उसमें फंस जाती है । मनुष्य को मधु-मक्खी की तरह बनना चाहिये किन्तु मल ग्रहण करने वाली मक्खी के समान नहीं। भोग-सुख को छोड़ने वाला त्यागी छोड़ते हुए सुख का अनुभव करता है, जबकि बिना मन भोग के छूटने पर अतिशय दुःख होता है । अब वररुचि की बात सुनिये—

पण्डित वररुचि को आठ श्लोक सुनाने पर नित्य दरबार में आठ मुहरें मिलती थीं । उसे लोभ ने आ घेरा और शकटार के कारण उसे इस लाभ से वंचित होना पड़ा । अतएव वररुचि का महामन्त्री शकटार के प्रति कुपित होना स्वाभाविक था । वररुचि लड़कियों की श्लोक सुनाने की प्रतिभा से अतिशय प्रभावित हुआ । यदि हिप्नोटिज्म या जादू से ऐसा कार्य होता, तो उसे दुःख नहीं होता । पर, लड़कियां स्वयं स्मृति से सब श्लोक सुना गयीं, यह उसके लिये चिन्ता और आश्चर्य का विषय था । लड़कियों में सुसंस्कार डालने वाली माता लाछल दे सचमुच प्रशंसनीय थी । काश ! भारत में आज भी ऐसी नारियां होतीं तो देश की दशा ही कुछ और होती।

पुत्र की अपेक्षा पुत्रियों में सुशिक्षा और सुसंस्कार इसलिये आवश्यक है कि उन्हें अपरिचित घरों में जाना तथा वहीं जीवनपर्यन्त रहना है । बालक किसी से नहीं 'बनाव' होने पर अपने को स्थानान्तरित कर सकता है किन्तु लड़कियां दूसरे घर में जाती हैं तो यह बल लेकर जाती हैं कि मैं घर के लोगों को अपना बना लूंगी । लड़की यदि सुशीला और संस्कारवती होगी तो परिवार को प्रेम के बल पर अविभक्त और अखण्ड रख सकेगी । लड़की में यदि संस्कार का निर्माण नहीं किया गया है तो घर को बिखेर कर वह प्रतिष्ठा को धूल में मिला देगी । अतः लड़की में ये उदार संस्कार जमाने आवश्यक हैं कि वह जहां भी रहे उसको अपना घर समझे और इस तरह पितृ एवं पति कुल दोनों को सुन्दर तथा स्वर्ग तुल्य बना दे ।

भारतीय संस्कृति के अनुसार विवाह के बाद लड़की पराई हो जाती है। उसको पिता का घर छोड़ कर एक नया घर बसाना पड़ता है। इसके लिये आवश्यक है कि वह उत्तम संस्कार वाली और मृदुभाषिणी हो। साथ ही सबके साथ मिल कर चलने वाली हो। आज की माताएं बालिका से काम तो बहुत लेती हैं, किन्तु उसे सुसंस्कार-सम्पन्न बनाने का यत्न नहीं करतीं। वह दहेज में पुत्री को बहुत सारा धन देगी मगर ऐसी वस्तु गांठ बांध कर नहीं देती जो जीवन भर काम आवे। जिस लड़की को श्रद्धा, प्रेम, सुशीलता, सदाचार, प्रभु-भक्ति और मृदु-व्यवहार की गांठ बांध दी जाती है, वह असली सम्पत्ति लेकर पराये घर जाती है ।

महामन्त्री की कन्याओं की बुद्धि के चमत्कार से सभी सभासद् प्रभावित हो गये। लोग इस रहस्य से अपरिचित थे कि ये लड़कियां क्रमशः एक, दो, तीन बार सुन लेने से किसी भी वस्तु को कण्ठस्थ कर लेती हैं। इस राजकीय अपमान से शर्मिन्दा होकर वररुचि के हृदय में प्रतिहिंसा की ज्वाला धधक उठी उसने इसका बदला लेने का निश्चय किया । कुछ दिन तक तो समय की प्रतीक्षा करता रहा कि अवसर पाकर इस अपमान का प्रतिशोध लिया जाये। रहिमन कवि ने ठीक ही कहा है—

रहिमन चुप हो बैठिये, देखी दिनन को फेर ।
जब नीके वे दिन आइहें, बनत न लगिहें देर ।।

वैर का बदला वैर से लेना कितना भयंकर है, इसके लिये निम्न उदाहरण पर्याप्त है । एक आदमी का अपने किसी गांववासी से वैर था । एक दिन सहसा ही वैरी से मुलाकात हो गयी और उसने बदला लेना चाहा । मन में कुभावनाओं के आने से जब कुभावनाएं बहुत बलवती हो जाती हैं, तो अन्य अंग, प्रत्यंग भी उसको सहकार देने लगते हैं। वैरी को सामने पाकर उसकी प्रतिहिंसा की भावना उत्तेजित हो गई और वहां उसे बदला लेने के लिये पत्थर, लकड़ी या अन्य ऐसी कोई वस्तु नहीं

मिली, जिससे वह चोट कर सकता । वह क्रोधान्ध था ही, झट सामने लुहार की दुकान से एक तपा हुआ लोहे का गोला उठा लिया । आवेग में उसने गोला उठा तो लिया मगर प्रहार नहीं कर सका क्योंकि तप्त लोह ने उसके हाथ को जला दिया और उसे प्रहार के लायक नहीं रहने दिया । इसी प्रकार विरोध से विरोध को दबाने वाला पहले स्वयं जलता है । जो विरोधाग्नि का मुकाबला शान्ति के शीतल जल से करते हैं, वे विरोधी को भी जीत लेते हैं ।

वररुचि विद्वान था, परन्तु उसके मन में प्रतिहिंसा की आग जल रही थी । अनन्त काल से मनुष्य, इसी प्रकार के विकारों से जलता आया है। दीपक पर जलने वाले पतंगों के अनन्य प्रेम की तो संसार तारीफ भी करता है किन्तु विकार-दग्धों पर आंसू बहाने वाला या उनकी प्रशंसा करने वाला आज तक एक भी उदाहरण सामने नहीं है। वस्तुतः ज्ञानवान् तो वह है जो काम क्रोधादि विकारों को अपने मन से दूर हटा दे, क्योंकि इसने हमारा बहुत अहित किया है, हमारी आत्मा इन्हीं के द्वारा कलुषित होती आई है । रावण, कौरव, कंस का उदाहरण हमें सचेष्ट करने के लिये पर्याप्त है, और यदि हमने इनसे कुछ हासिल किया तो न सिर्फ मन को अत्यन्त शान्ति मिलेगी वरन् लोक और परलोक दोनों उज्ज्वल हो सकेंगे ।

[२५]

साधना की ज्योति

संसार के सभी पदार्थ मनुष्य के लिए अनुकूल या प्रतिकूल निमित्त बनकर कार्य करते हैं । जो मनुष्य अज्ञान में सोए हों उनके लिए ये वस्तुएं, अधःपतन का कारण बन जाती हैं । पर जिनके हृदय में ज्ञान-दीप का प्रकाश फैला हुआ है, उन्हें ये पदार्थ प्रभावित नहीं कर सकते । जागृत-मनुष्य इन पतन के कारणों को प्रभावहीन कर देते हैं। द्रव्य, क्षेत्र और काल की तरह भाव भी मानव के भावों को जागृत करने के कारण बनते हैं, किन्तु 'पर' सम्बन्धी भाव में जैसा अपना अनुकूल प्रतिकूल भाव मिलेगा, उसी के अनुसार परिणति होगी ।

अजाग्रत-मानव पानी की धार में तिनके के समान भावना के प्रवाह में बह जाते हैं; जबकि जाग्रत मानव मछली के समान ऊपर की ओर तैर जाते हैं । यदि छोटी मछली हो, तो भी धारा में ऊपर की ओर चढ़ती है, उसी प्रकार छोटी साधना वाला मानव भी हमेशा ऊर्ध्वगामी होता है । तात्पर्य यह है कि पुरुषार्थ हीन तिनका बह जाता है और कर्त्तव्य शील मछली विपरीत परिस्थितियों का भी सामना कर लेती है। तृणवत् तुच्छ पुरुषार्थ हीन मनुष्य जमाने की प्रतिकूल धारा में बह चलेगा वह घूंघरू की साधारण ध्वनि और रूप सौन्दर्य के साधारण झोंके में बह जायगा; किन्तु गंभीर मन वाला, मेरु के समान निश्चल भाव से, भयंकर से भंयकर प्रतिकूल परिस्थिति में भी अडिग रहेगा ।

मछली की तरह स्वाभाविक शक्ति मनुष्य में है, परन्तु कर्मशीलता चाहिये । विवेक शक्ति पर पर्दा पड़ने से मानव तिनके की तरह बह जाता है किन्तु जो ज्ञानी होकर स्वयं जागृत है, जड़ पदार्थ उसे अपनी धारा में नहीं बहा सकते । ज्ञानी मनुष्य उनको अपने रंग में रँग लेते हैं । ये भौतिक तुच्छ वस्तुएं, साधारण मनुष्य के मन को हिलाकर अशांत कर देती है, पर ज्ञानी पर इनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। उल्टे वह इन्हीं पर अपना प्रभाव जमा लेता है ।

जड़ वस्तु पर प्रभुता जमाने या उन्हें स्ववश में करने के लिए ही साधना की जाती है। साधक आनन्द ने भोग-विलास तथा अन्य कामनाओं पर सचमुच ही नियंत्रण कर लिया। अतएव वह संसार में स्मरणीय एवं वन्दनीय बन सका। कहा भी है–

आशाया दासा; ते दासाः सकल लोकस्य।
आशा येषां दासी, तेषां दासायते सकलाःजनाः॥

अर्थात् जो आशा का दास है, वह सारे संसार का दास है। और जिसने आशा पर विजय प्राप्त कर ली, उसके लिए सारा संसार ही दास है।

इन सबके बाद आनन्द ने आभरण विधि का परिमाण किया। आभरण खासकर प्रदर्शन की वस्तु है। लोग सुन्दर आभूषणों से लोक दर्शकों का आकर्षण करते हैं। देश की सम्पन्न दशा में भले ही आभूषण धारण करना, उतना अहितकर नहीं रहा हो; पर आज की स्थिति में आभूषण, जनमन में विविध प्रकार की विकृतियां उत्पन्न करने वाला ही प्रमाणित हुआ है। सर्वप्रथम तो आभूषण-धारण से दर्शकों के मन में ईर्ष्या और लालसा जागृत होती है; दूसरे में संग्रह और लोभवृत्ति का विकास होता है। वासना जगाने का भी आभूषण एक महान कारण माना जाता है। वस्त्राभूषणों से लदकर चलने वाली नारियां अपने पीछे आंखों का जाल बिछा लेती हैं और स्थिर प्रशान्त मन को भी अस्थिर एवं अशान्त कर देती हैं। विशेषज्ञों का कथन है कि नारी का तन जितना रागोत्पादक नहीं होता, ये वस्त्राभूषण उससे अधिक राग-रंगवर्द्धक होते हैं। यही कारण है कि आदिम-समाज में, जबकि वस्त्राभूषणों का रीतिरिवाज नहीं था आज की अपेक्षा वासना का उभार अत्यन्त कम था। समाज में जब से यह प्रथा जोर पकड़ती गई है, विकार का बल बढ़ता गया है।

आभूषण धारण करने वाले यद्यपि दर्शक को कुछ नहीं कहते, तथापि उनका प्रदर्शन दर्शक की भावना को उभारने में निमित्त तो जरूर बनता है। यदि सादा वस्त्राभूषण हो तो दूसरों में सादगी का आदर्श उपस्थित करेगा और लोभजन्य ईर्ष्या की मात्रा कम रहेगी। वस्त्राभूषणों की तरह सादगी का भी असर कुछ कम महत्व वाला नहीं होता। राजमहल का विराट वैभव प्रदर्शन यदि दर्शकों को अपनी ओर आकृष्ट करता है तो एक सादी-पावन कुटिया भी चित्त को चकित किये बिना नहीं रहती।

आनन्द ने अपनी नामांकित मुद्रिका और कुण्डलों के अतिरिक्त अन्य सभी आभूषणों का त्याग कर दिया। इस तरह सादगी अपना कर उसने समाज धर्म को

पुष्ट करने का कार्य किया । जिस देश में समाज धर्म पुष्ट नहीं होता, वहां व्यक्ति धर्म भी कुशल नहीं । समाज धर्म को व्यवस्थित रूप देने वाले व्यक्ति ही होते हैं । व्यक्ति जागरण के बिना समाज-धर्म पुष्ट नहीं होता । कारण व्यक्तियों का समूह ही तो समाज है ।

आभरण विधि के बाद अब आनन्द ने धूपन विधि की सीमा निर्धारित की । घरों में कीटाणुओं तथा जन्तुओं से बचाव करने के लिए आजकल लोग फिनाइल आदि कीटनाशक दवाओं का उपयोग करते हैं, किन्तु पूर्वकाल में इसके लिए धूपन विधि का उपयोग होता था । इससे रोग फैलाने वाले कीटाणु की वृद्धि नहीं होती । इन दोनों प्रयोगों में एक में हिंसा-भाव है तो दूसरे में वायु-शुद्धि के द्वारा अशुभ वायु में पलने वाले जन्तुओं को भगाकर आवास-स्थान को शुद्ध बनाना है । जब धूप का प्रयोग किया जाता है तो वहां से डांस, मच्छर आदि जन्तु भग जाते हैं । किन्तु मरते नहीं ।

भारतीयों में आज कल नकल करने की प्रवृत्ति बहुत बढ़ी हुई है, और इसीलिए पश्चिम की पद्धति यहां भी आंख मूँद कर अपना ली गयी है । फिनाइल आदि जिन दवाओं का प्रयोग किया जाता है, उनमें विषाणु (जहर) होने से कीटाणुओं का नाश हो जाता है । और उन विषाणुओं से दूषित वायु हमारी श्वास नली में प्रविष्ट होती रहती है जो भविष्य के लिए हानिकारक है । फिर दवाओं के भरोसे लोग गफलत करने लग जाते हैं । यदि नियमित सफाई रखी जाय तो निश्चय ही कीटाणु नहीं बढ़ सकते और न उनकी हिंसा की जरूरत ही पड़ेगी ।

बहुत दिनों तक कमरों को नहीं संभालने और सफाई नहीं करने से कीटाणु बढ़ा करते हैं । यह निश्चित है कि मानव के प्रमाद, भूल और गलती के कारण ही घर में विषैले जन्तुओं की वृद्धि होती है । मनुष्य इस प्रकार अपनी भूल से उत्पन्न शूल को दवाओं से समाप्त नहीं कर सकता । आनन्द ने धूपन विधि में भी अमर्यादितपन को मिटाने के लिए परिमाण कर लिया । उसका दृष्टिकोण महारंभ से बचकर अल्पारंभ से कार्य चलाने का था ।

शुद्ध, बुद्ध और निष्कलंक पद को पाने के लिए आनन्द ने जीवन में संयम तथा असीम आवश्यकताओं को मर्यादित करना आवश्यक समझा । शारीरिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, धार्मिक और राज़नैतिक आदि अनेक विध आवश्यकताएं होती हैं जो मानव के द्वारा घटाई बढ़ाई भी जा सकती हैं । जैसे–शारीरिक आवश्यकता में तेल, साबुन, पान-सुपारी, बीड़ी आदि बाह्य आवश्यकता है । आवश्यकता पर नियंत्रण करने वाला अपने मन की आकुलता मिटा लेता है । जैसे–पृथ्वी की गोलाई पर कोई कितना ही

घूमता रहे पर उसका अन्त नहीं पाता । इसी तरह इच्छाओं का चक्र भी कभी युग युगान्तर में पूरा नहीं होगा । इसीलिए शास्त्र में कहा है कि–

"इच्छाहु आगास समा अणं तिया,"

अर्थात् इच्छाएं आकाश के समान अनन्त हैं ।

भोगों के द्वारा इच्छा की तृप्ति चाहना, यह तो ईंधनों या घृत से आग बुझाने जैसा है । गीताकार श्रीकृष्ण ने भी ठीक ही कहा है–

न जातु कामः कामाना-मुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव, भूय एवमिव व एवमिववद्धति ।।

अर्थात्–इच्छा कभी काम के उपभोग से शान्त नहीं होती । इस प्रकार तो यह घृताहुति से आग की तरह और बढ़ती है । इस बढ़ते हुए वेग को रोकने के दो उपाय हैं । एक दमन करना और दूसरा, शमन करना । साम्प्रदायिक उपद्रवों के समय पुलिस के शक्ति बल से उपद्रव रोक दिए जाते हैं । इससे तात्कालिक का दमन तो हो जाता है पर रोग की स्थायी दवा नहीं होती और समय पाकर वह दबा हुआ जोश फिर अचानक भड़क उठता है । इसके लिए शमन की अपेक्षा है । कारण, दमन का काम बलात् रोकना है और शमन का मूल से निकाल देना है भीतर की आग को अच्छी तरह बुझा देना है ।

राजनीति दमन प्रधान है, वहां शमन की ओर लक्ष्य नहीं रहता यही कारण है कि वर्षों तक कारावास का कठोर दण्ड भोग कर भी अपराधी अपराध कर्मों से अलग नहीं हो पाते । सजा काट कर निकलते ही वे फिर वैसे ही उत्पात चालू कर देते हैं । सरकार की ओर से कड़ी कारवाई होने पर भी, आंखों में धूल झोंक कर अपराधी निकल जाते हैं । नगरों में गली-गली पर पुलिस चौकियों का प्रबन्ध होते हुए भी छुरे भोंक दिए जाते हैं और बड़े-बड़े नगरों में कारों तक की चोरी हो जाती है । यह शमन की कमी का ही फल है । गांवों में संस्कारवश दुर्वृत्तियों का शमन होता है, अतः वहां चोरी एवं गुण्डागर्दी के केस कम होते हैं ।

शमन में वृत्तियां जड़से सुधारी जाती हैं–रोग के बजाय उसके कारणों पर ध्यान दिया जाता है । इसलिए उसका असर स्थायी होता है । सूई आदि से रोग को दबा दिया जाय पर रोग का कारण मिटाकर शमन नहीं किया जाय, तब तक रोगी को स्थायी शान्ति नहीं मिलती । धर्म नीति शमन पर अधिक विश्वास करती है। फिर भी तत्काल की आवश्यकता से कहीं दमन भी अपेक्षित रहता है । प्रबल विकारों को रोकने के लिए कुछ उपवास कराए जाते हैं, कलह करने वाले को प्रायश्चित्त देकर

कुछ समय के लिए अलग कर दिया जाता है । यह दमन है, किन्तु वहां सत् शिक्षा से उसकी वृत्तियों को सुधारना ही उद्देश्य है । इस प्रकार दमन पूर्वक भी शमन से मन निर्विकार बनाया जाता है ।

आनन्द ने अपनी भोग सामग्री को ज्ञानपूर्वक मर्यादित किया जो कि शमन है। क्योंकि यहां बलपूर्वक किसी के द्वारा दमन नहीं है । अज्ञान दशा में दमन का उपयोग होता है किन्तु ज्ञानी के लिए इसकी जरूरत नहीं रहती । अबोध बालक को चोरी या बीड़ी आदि की कुटेव पड़ जाय और माता-पिता उससे पैसे छीनकर उसे वैसा नहीं करने दे, कुसंगति में नहीं बैठने दे, यह दमन का रूप है परन्तु जब वस्तु के हानि लाभ समझा कर, सन्मार्ग का भान कराकर, उसकी रुचि बदल दे तो यह शमन होगा, और इसका प्रभाव भी स्थायी होगा ।

दमन में बाह्य बल की अपेक्षा है, तो शमन आन्तरिक बल से किया जाता है। उससे आत्मा को स्थिर शान्ति का अनुभव होता है । दमन से शान्ति प्राप्त नहीं होती, जैसा कि वररुचि के उदाहरण से स्पष्ट है । सम्राट नन्द के दरबार से आठ मुहरों का मिलना बंद हो गया यह वररुचि की तृष्णा का दमन हुआ । इसके बदले समझाकर मुहरें देनी बन्द की जातीं तो वह शमन होता । स्वेच्छा से उपवास करना शमन है किन्तु व्यक्ति के आगे से परोसी हुई थाली खींच लेना दमन है । पंडितजी ने गंगा तट पर यह स्वांग बना रक्खा था कि गंगा माई मुझे मुहरें देती हैं । इस बात की भी कलई खुल गई । वररुचि कहीं का न रहा । फिर भी उसने भाग जाने में अपना अपमान समझा । उसको अहं हुआ कि मुझ जैसे पंडित को एक साधारण मंत्री ने अपमानित कर दिया । इसलिए वह प्रतिशोध के लिए चिन्तित रहने लगा । शास्त्र और शस्त्र इनमें शास्त्र विद्या अधिक महत्वपुर्ण है । शस्त्र विद्या का उद्‌गम भी शास्त्र से ही है । अतः शस्त्र विद्या से शास्त्र विद्या बड़ी है । पंडित ने सोचा कि शास्त्र को लज्जित नहीं होने दूंगा, वरन् प्रतीकार कर शास्त्र को विजयी बना दूंगा ।

वररुचि अपमानित होकर प्रतिहिंसा के लिए वैसे ही तड़पने लगा जैसे कोई घायल सांप अपने विरोधी से बदला लेने के लिए तड़पता हो । कुछ मानव भी सांप की प्रकृति के होते हैं, वररुचि भी इसी प्रकृति का था । उसने सोचा मंत्री बड़े हैं मगर इससे क्या ? इसकी बुद्धि को ठिकाने तो लगाना ही है । इस प्रकार सोचते-सोचते वह पागल-सा हो गया । मानव में अर्थनाश और मान भंग आदि से भी कभी-कभी उन्माद आ जाता है और कभी प्रिय वियोग एवं अप्रिय संयोग से

भी। पंडित उन्मत्त की तरह मंत्री के महल की ओर घूमता रहता ताकि कुछ भेद मिल सके ।

अर्थ, काम, सत्ता और मान भंग का उन्माद अनन्त काल से मानव को सताता आ रहा है । इस प्रकार से बेसुध मनुष्य यदि प्रभु भक्ति में लग जाय तो बेड़ा पार हो सकता है । मीरा का मन भोग, विलास, दास-दासी एवं ऐश्वर्य में नहीं लगा । वह प्रभु भक्ति में ही उन्मत्त-सी हो गई । जैसे किसी वस्तु के गुम होने पर मनुष्य दुःखानुभव करता है, वैसे ही यदि व्रत भंग होने पर पीड़ा मानने लगे तो परलोक सुधर जाय । मीरा कहती है–

एरी मैय्या ! मैं तो राम दीवानी, मेरा दर्द न जाने कोय ।
घायल की गति घायल जानै, और न जाने कोय ।।

मीरा राणाजी से कहती है–तुम लोगों को मेरी बीमारी का पता नहीं है । तुम लोग डॉक्टर-वैद्य बुलाते हो, पर मेरी बीमारी को नहीं समझ रहे हो । काम और अर्थ के दीवानों के अनेक उदाहरण देखे गए हैं, अब तो मनुष्य को भगवद् भक्ति का दीवाना बनना चाहिए ।

मानव जीवन में पर्व का महत्वपूर्ण स्थान है । ये केवल खाने-पीने और मनोरंजन के लिए ही नहीं, वरन् साधना के लिए भी हैं । पर्व या त्यौहार अतीत काल से ही हमें जीवन-निर्माण का पाठ पढ़ाते आए हैं और पढ़ा रहे हैं तथा भविष्य में भी पढ़ाते रहेंगे । अच्छा निमित्त पाकर भी यदि मनुष्य प्रमादी बन जाय, तो पर्व उसका साथ कहां तक दे सकेगा । अपने साथ सदा अहिंसा, सत्य, संयम की सुवास लेकर चलना चाहिए, ताकि वातावरण सुरभित रह सके।

आज तो देश में अपना राज्य है । आप चाहें जैसा विधान बनाएं, नक्शे बनाएं और देश को सजाएं या संवारे । राष्ट्रपिता बापू ने सत्य और अहिंसा के चमत्कार के द्वारा देश को आजाद करके दिखा दिया और आप लोगों के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया कि आप चाहें वैसा देश को बनावें । परतंत्रता के दिनों में भी अहिंसा सत्य के विपरीत कार्य होने पर लोग शासकों का आसन हिला देते थे । किन्तु आज हिंसा उग्ररूप धारण कर रही है और आपका मुंह बन्द है । इससे तो मालूम पड़ता है कि अब अहिंसा में लोगों का विश्वास नहीं रहा जो पहले था । नहीं तो अपनी सरकार के द्वारा जिसकी नींव सत्य और अहिंसा पर आधारित है, बड़े-बड़े कत्लखाने खोले जांय ! और जनमत उसको बन्द नहीं करा सके । अंग्रेजों

की पाशविक शक्ति के आगे भी जो जनमत झुक नहीं सका, वह अपने भाइयों के सामने मौन रहे, इससे बढ़कर दुःख की बात और क्या हो सकती है ?

आज लोगों में सबसे बड़ा रोग आस्थाहीनता का घर कर गया है और जन-मानस आध्यात्मिक भाव से शून्य हो उठा है। वह सत्य अहिंसा का चमत्कार देखकर भी विश्वास नहीं कर पा रहा है कि इससे न सिर्फ इस लोक का वरन् परलोक का पथ भी प्रशस्त होता है। लोगों के हृदय में घर की गई इस शून्यता को भगाना है और उन्हें फिर से विश्वास दिलाना है कि सत्य अहिंसा के द्वारा सिद्धि में देर भले ही हो किन्तु उसका असर स्थायी और अमिट होगा। मनुष्य आध्यात्मिकता की ओर प्रवृत्त होकर ही अपना तथा समाज का कल्याण कर सकता है।

[२६]

जैन संस्कृति का पावन पर्व : पर्यूषण

पर्यूषण त्याग, तप और साधना का आध्यात्मिक पर्व है । यह पर्व मानव-मन को सांसारिक प्रपंचों से अलग होने तथा उज्ज्वल भावों की ओर बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करता है । द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, साधना के प्रमुख चार साधन हैं । अनुकूल शरीर-द्रव्य और भूमि जैसे क्षेत्र को पाकर सभी व्यक्ति साधना के मार्ग में बढ़ सकते हैं। खासकर साधक को यदि विशेष साधन मिले, तो वह जीवन-निर्माण में और भी द्रुतगति से प्रगति कर सकता है । पर्वाधिराज एक ऐसा ही विशेष साधन है, जो आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण कर सत्कर्मों की ओर प्रवृत्त-व्यक्ति को साधना के पथपर प्रोत्साहित करता तथा उसमें दृढ़ता, साहस, लगन और बल का अधिकाधिक संचार करता है ।

पर्व के द्वारा सामूहिक साधना का पथ प्रशस्त होता है एवं इससे समुदाय को साधना करने की प्रेरणा मिलती है, जिससे राष्ट्रीय-जीवन का संतुलन बना रहता है। मनुष्य यदि अपनी वृत्ति, विवेक पूर्ण नहीं रक्खे तो वह दूसरों के लिए घातक भी बन सकता है । असंयत मानवता, पशुता और दानवता से भी बढ़कर बर्बर मानी जाती तथा 'स्व-पर' के लिए कषाय का कारण हो जाती है । अतएव वाणी, व्यवहार और क्रियाकलाप सभी को संयत रखना हर एक मनुष्य का परम कर्त्तव्य है । यह पुनीत पर्व जन-जन के लिए कल्याणकारी बने, यह लक्ष्य हमारी दृष्टि से ओझल नहीं होना चाहिए ।

पर्यूषण शब्द के पीछे गंभीर रहस्य और मर्म की बातें छिपी हुई हैं । अपने अन्य कार्य बिना हेतु के भी हो सकते हैं, किन्तु सच्छास्त्र की कोई भी बात अहेतुक नहीं होती । आज के माता-पिता अपने पुत्र का नाम राजेन्द्र और जिनेन्द्र आदि रख देते हैं किन्तु वे उसे उस नाम के अनुरूप बनाने का प्रयास नहीं करते ।

वीतराग की वाणी में गंभीर रहस्य और मर्म भरा रहता है । यहां बिना किसी अर्थ के शब्द का प्रयोग नहीं होता । पर्यूषण शब्द के विधान का स्रोत साधु साध्वी की मण्डली से है, जिनका जीवन अहिंसा एवं संयम प्रधान होता है । वे आठ माह भ्रमण में व्यतीत करते हैं और वर्ष के शेष चार मास में एक जगह स्थिर रहते हैं । इस एकत्र स्थिर वास का नाम चातुर्मास प्रख्यात है ।

आज की तरह पूर्वकाल में चातुर्मास वास की सुविधा सुलभ नहीं थी । भ्रमण करते-करते साधुगण वर्षाकाल आने पर किसी स्थान पर रुक जाते और वहीं चातुर्मास व्यतीत करते थे । चाहे वहां के निवासी जैन हों या अजैन वे ५-५ दिन की अनुमति बढ़ाते हुए चातुर्मास का काल पूर्ण कर लेते थे ।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से पर्यूषण शब्द परि और उषण इन दो शब्दों के मेल से बना है । जिसमें परि=अच्छी तरह और उषण का अर्थ रहना होता है । अच्छी तरह से रहना पर्यूषण का तात्पर्य है । "परि समन्तात् वसति आत्म सकांश इति पर्युषण" याने आत्मभाव में अच्छी तरह रहना, इसको पर्यूषण कह सकते हैं ।

यह दुष्कर्मों की होली जलाने का पर्व है । अनन्तकाल के पूर्व संचित दूषित कर्मों के कचरे को जला देने का यह विशिष्ट काल है । इस पर्व में पाप कर्मों की विशाल ढेरी को साधना तथा प्रभुभक्ति से जलाने का लक्ष्य सन्निहित है । यदि साधना का सच्चा रूप पकड़ लिया जाय और मनोयोग लगादें तो पापों की विशाल ढेरी भी अल्पकाल में जलाई जा सकती है । प्रभु के नाम की तेज अग्नि पाप पुंज को जलाने के लिए पर्याप्त मानी गई है वह चिनगारी का काम करती है, कविवर भक्त विनयचन्दजी ने कहा है–

पाप पराल को पुंज बन्यो अति,
मानो मेरु आकारो ।
ते तुझ नाम हुताशन सेती,
सहजां प्रज्वलत सारो-रे-
पदम प्रभु पावन नाम तिहारो ।

पदम प्रभु सचमुच प्रभु का नाम पाप-पराल के लिए अग्नि के समान है। संयम और तप में पापों को विनिष्ट कर देने की अजब शक्ति है । साधक का एक काम पाप न बढ़ने देना और दूसरा संचित पापों को मिटाना है । जब तक पापों की वृद्धि नहीं रुकती तबतक संचित का सफाया दुष्कर है । अतः जीवन को पाप रहित एवं निर्मल बनाने के लिए साधक को उपरोक्त बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है ।

यों तो पाप कर्म की निर्जरा और आत्म शुद्धि के लिए कोई समय निर्धारित नहीं किया जा सकता, किन्तु भूले-भटके लोगों को मार्ग प्रदर्शन करने हेतु आचार्यों ने पर्व की स्थापना की है, जो हर वर्ष जागरण का संदेश दे जाता है । संसारी आत्मा को आठ कर्म के बन्धन होते हैं, उसके अनुरूप साधनाएं भी आठ रख दी हैं। गुणों की साधना से ये कर्म के बन्धन कटते हैं । यह पर्वाधिराज आत्मा के आठ गुणों-दर्शन, ज्ञान, सामायिक, तप, दान, संयम, शुद्धि और अहिंसा की साधना का एवं आठ कर्मों के खपाने का पर्व है । अतएव इन आठ दिनों को अष्टाह्निक या लोकवाणी में अट्ठाई भी कहते हैं, जो प्रथम दिन में रूढ़ है ।

जीवन को ऊपर उठाने के लिए ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है । ज्ञान हीन नर संयम, साधना, व्रत और नियम के महत्व को समझ नहीं पाता किन्तु ज्ञान तब तक ज्ञान नहीं जब तक सम्यक् श्रद्धा-विश्वास नहीं हो । केवल जानना ज्ञान नहीं है। जानना तो प्राणी मात्र का स्वभाव है । जानने का गुण न हो, तो वह जीव ही नहीं है । मगर ज्ञान का मतलब है, सही विश्वास के साथ यथार्थ जानना । जिनका जानना गलत विश्वास के पाये पर है, या उल्टी दृष्टि पर है, उनका वह सब जानना अज्ञान है और व्यर्थ है । अतः ज्ञान का दर्शन या सम्यक्त्व से युक्त होना अत्यन्त आवश्यक है ।

ज़ैसे बांस में पर्व-पोर या गांठ का होना उसकी मजबूती का लक्षण है, वैसे ही जीवन रूपी बांस में भी यदि पर्व न होगा, तो जीवन पुष्ट नहीं होगा । जीवन-यष्टि की संधि में पर्व लाना, उसे गतिशील बनाना है । इससे साधना का वर्ष भी पर्व से दृढ़ होता है । अन्य पर्वों से विशिष्ट होने के कारण इसे पर्वाधिराज माना गया है । यह महापर्व वर्ष में एक बार आता है । अवस्थानुसार हर मनुष्य के अनेक पर्व बीत गए होंगे, किन्तु आज हमें यह सोचना है कि क्या हमें इसे आमोद-प्रमोद में ही बिता देना है, या इसमें सच्चा प्राण भी फूंकना है । यदि इसे सप्राण बनाना है या पर्वाराधन सही ढंग से करना है और सामाजिक एवं आध्यात्मिक बल बढ़ाना है, तो बच्चे और बूढ़े सभी में साधना की जान डालनी होगी । विषय कषाय को घटाकर मन के दूषित भावों को दूर भगाना, इस पर्व का पुनीत संदेश है। कवि लोग कहा करते हैं–"यह पर्व पजूसण आया सब जग में आनन्द छायाजी" इस तरह इस पर्व की महिमा का यह गान सहस्रमुख से भी होना संभव नहीं है ।

इस पर्वारम्भ के पूर्व आदिकाल में सूर्य की प्रखर किरणों के कारण भूमि पर जो जलन थी तथा भीषण गर्मी से जनता त्राहि-त्राहि कर रही थी, वहां वर्षा से अब सब शीतलता कर अनुभव कर रहे हैं । चारों ओर से भूमि की ऊसरता दूर हो

गई और चारों ओर हरियाली छा गई । प्राणी मात्र में शांत स्थिति दिखाई देने लगी। ऐसे अवसर में यह पर्व मन की आकुलता को दूर कर शांति लाता है ।

हिंसा बचाने का उत्तम काल यही है । विकारों के चक्र से जब मनुष्य मुक्त होता है, तो मन में शांति आती है । ऐसी स्थिति में ज्ञान-साधना के द्वारा विषय-कषाय घटाया जा सकता है । समय का चक्र चलता ही रहता है । प्रमादी ऐसे सुअवसर को भी गंवा देता और जीती बाजी हार जाता है । अतः निश्चय बल को दृढ़ करना चाहिए । साधना के मार्ग में लगकर यदि–साधक प्रमाद में पड़ जाय, तो कुछ भी हाथ नहीं लगेगा । उपासना में तन्मयता अपेक्षित है, अन्यथा "माया मिली न राम" की स्थिति होगी ।

पर्व के मंगलमय समय में सभी प्रकार के गृह जंजाल को छोड़ने का तात्पर्य उपासना में लगना और अधिक समय आध्यात्मिक लाभ के लिए देना ही है । इस आयोजन का मूल उद्देश्य-दूसरों के निमित्त से स्वयं लाभ लेना, संतों को सुनाने का और श्रोता को सुनने का लाभ मिलना तथा दूसरे के निमित्त से साधना के मार्ग में वृद्धि करना है ।

सम्यग्दर्शन को पुष्ट करना है तो यह ध्यान रखना होगा कि सतत उसकी आराधना की जाय । ज्ञान बिना दर्शन पुष्ट नहीं होगा । दर्शन का वास्तविक अर्थ विश्वास है । यदि देव गुरु और धर्म पर विश्वास न हो, तो कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं होगा । अतः दर्शन ही सभी साधनाओं की जड़ है । गुरु के वचनों पर विश्वास कर बड़े-बड़े राजाओं ने त्याग के मार्ग पर पैर रक्खा । जैसे त्याग वीर साधक श्रद्धा के बल पर अपनी प्यारी से प्यारी वस्तु को छोड़ देता है, उसी तरह, सबके हृदय में श्रद्धा आ जाना और टिक जाना सहज सौभाग्य की बात नहीं है ।

पैसे, कीमती वस्त्र और आभूषणादि पर लोगों को प्रेम रहता है, परन्तु ये सब सांसारिक शोभा के उपकरण, उपासना के बाधक तत्व हैं, अतः इस महापर्व में बन पड़े जहां तक इनसे दूर रहना चाहिए । धर्म स्थान भी कभी इन मोहकी वस्तुओं से अपवादित हो जाता है और कोई हाथ फेरू आकर धार्मिक स्थलों को बदनाम कर देता है । अतएव इन वस्तुओं को विश्वस्त स्थानों में रखकर शान्त मन से उपासना करनी चाहिए ।

एक समय की बात है कि जयपुर के एक जौहरी उपासना करने के लिए धर्म स्थान में आये और सोने का कंठा उतार कर कपड़े में रखा एवं उपासना करने लगे। संयोगवश पास बैठे एक भाई की दृष्टि उस पर पड़ गई । वह बहुत दिनों से

गरीबी के कारण तंग था, अतः अवसर का लाभ लेने की सोचने लगा। उसने रात्रि के समय कंठे पर हाथ फेरा और वहां से चल पड़ा। सेठजी ने जान लिया कि कंठा हाथ से जा रहा है फिर भी कुछ नहीं कहा। उनके मन में आया कि मैं लखपति और यह भूखपति है।

इधर उस चुराने वाले व्यक्ति ने कंठे को गिरवी रखकर व्यापार करना शुरु किया। धंधे में उसे अच्छा लाभ हुआ और कुछ ही दिनों में दश-बीस हजार रुपये कमा लिए। तो उसके मनमें विचार आया कि अब सेठजी की रकम लौटा देनी चाहिए। वह कंठा लेकर सेठजी के पास आया और बोला–"सेठ साहब ! उस दिन मेरी मति ठिकाने नहीं थी, इसलिए मैंने आपका कंठा उठा लिया था। अब आप अपना कंठा संभालिए और मुझे क्षमा कीजिए।" इस पर सेठजी ने कहा कि यह कंठा मेरा नहीं है, तूही ले जा। मैं गलती से तेरे जैसे भाई की ओर ध्यान नहीं दे सका, जिससे तुझे ऐसा करना पड़ा। वह बड़ा गद्गद हुआ और नम्र शब्दों में बोला–"मुझे अधिक पाप में न डालिए।" उसे श्रद्धा थी कि पाप बुरा है, इसलिए चुराया हुआ गुप्त माल भी उसने वापिस कर दिया।

श्रद्धा की दृढ़ता न होने से ही मनुष्य अनेक देवी देव, जादू टोना और अंधविश्वास में भटकते रहते हैं। अगर सम्यग्दर्शन हो तो इधर-उधर चक्कर खाने की जरूरत नहीं होगी।

एक बार किसी सेठजी के यहां एक ठग आया और उसने सेठानी से कहा कि हांडी में जितना भी सोना और जेवर हो,रख दीजिए, मैं रातभर में मंत्र द्वारा दूना कर दूंगा। सेठानी ने लालचवश सब सम्पत्ति बटोर कर हंडी में रख दी। ठग ने भी कुछ तांबा मंगवाया और हंडी को चूल्हे पर रख कर कमरा बन्द कर दिया और अवसर देखकर रात में धन लेकर भाग गया। सेठानी ने सुबह ताला खुलवाया और हंडी को उघाड़कर देखा तो तांबा भरा था और मंत्रवादी का कहीं पता नहीं था। वह तो रात में ही नौ दो ग्यारह हो गया था। अंध श्रद्धा में पड़कर हजारों लोग इस प्रकार ठगाते हैं। यह सत् श्रद्धा के अभाव में सेठजी की स्थिति हुई। उन्होंने ठग की बात पर विश्वास कर लिया। इस प्रकार की बातों पर विश्वास के बदले यदि धर्म और गुरु पर श्रद्धा करें तो लौकिक और पारलौकिक दोनों जीवन सुधर जायेंगे।

पर्वाधिराज हमको आठ गुण प्राप्त करने की प्रेरणा देता है। इसके लिए प्रमाद छोड़ना होगा। क्योंकि प्रमाद साधना को नष्ट कर देता है। सैकड़ों साधक प्रमाद के कारण साधना के उच्चतम शिखर से नीचे गिर गए। निद्रा, विहार, वाणी

के प्रयोग में प्रमाद करने से साधक गिर जाता है । क्षमा, सहिष्णुता, सत्य, शील, संतोष और विनय आदि सद्‌गुणों की आराधना करना, पर्व का प्रमुख कर्त्तव्य है ।

ज्ञान गंगा में डुबकी लगाने, धर्म की मल हरणी में हाथ धोने, ज्ञान की ज्योति में जीवन का धागा पिरोने, संतों की वाणी श्रवण करने, सत्संग और सदाचार के द्वारा गुणों के आदान-प्रदान करने, मन में सुभावना उत्पन्न करने, अहंकार को मन से हटाने और क्रोध, माया, मोह, लोभादि को घटाकर अन्तरंग साधना करने का यह सुअवसर है । इस अवसर पर आत्म-साधना, समाज-साधना एवं संघ साधना अनायास ही हो जाती है ।

---

[२७]

ज्ञान का प्रकाश

प्रभु ने ज्ञान की खुराक देते हुए साधकों की स्थिति पर बड़ी गंभीर दृष्टि रक्खी है, जिससे कि सामान्य स्थिति वाला साधक भी उससे अच्छी तरह लाभ उठा सके । बहुत से लोग सोचा करते हैं कि धर्म स्थान में साधना करना, वृद्धों का काम है, किन्तु ऐसा सोचना गलत है और इसी भ्रम के कारण, सर्वसाधारण का मन, इस ओर नहीं बढ़ पाता । इतिहास साक्षी है कि राज घराने के लोगों ने भरी जवानी में राजवैभव, सुख-विलास, आमोद-प्रमोद आदि को छोड़कर, साधनाएं प्रारम्भ कीं । लोग इसे भूल जाते हैं ।

मनुष्य मोहनी-माया की प्रबलता से, संसार के रमणीय-भावों में लुभा कर, क्षण-भंगुर भोगों में इतना मस्त हो जाता है कि उसे निज-गुण की कोई सुध ही नहीं रह जाती, आप देखते हैं कि वर्षाकाल में बच्चे, मिट्टी का घर बनाने में, इतने तल्लीन हो जाते हैं कि खाना-पीना भी भूल जाते हैं और मां-बाप के पुकारने पर भी ध्यान नहीं देते । यदि कोई राहगीर उसके घर को तोड़ दे तो वह झगड़ बैठता है। वह मिट्टी के घरोंदे में राजमहल जैसा आनन्द का अनुभव करता है ।

यद्यपि मिट्टी वाला घर कोई उपादेय नहीं है और सयाने लोग बच्चे के इस प्रयास पर हंसते हैं, फिर भी वह किसी की पर्वाह किए बिना कीचड़ में शरीर और वस्त्र खराब करते नहीं झिझकता। ठीक यही स्थिति मंद-मति संसारी जीव की है। वह बच्चे के घरोंदे की तरह नाशवान कोठी, बंगला और भवन बनाने में जीवन को मन-मलिन करता रहता है । घरोंदे के समान ये बड़े-बड़े बंगले भी तो बिखर जाने वाले हैं । क्या आज के ये खंडहर, कल के महलों के साक्षी नहीं हैं ? जिनके निर्माण में मनुष्य ने अकथ श्रम और अर्थ का विनियोग किया था ।

पक्षी के घोंसले के समान, सरलता से नष्ट होने वाले घर के पीछे मनुष्य रीति, प्रीति और नीति को भूलकर, काम-क्रोध लोभ के वशीभूत होकर पाप करता, कई

की हानि करता और परिग्रह की लपेट में अपने को लाता है । इस तरह द्रोपदी के चीर की तरह मनुष्य की आकांक्षा बढ़ती जाती है । अपने विवाह की मस्ती का नशा उतरने पर वह पुत्र-पुत्रियों के विवाह के चक्कर में पड़ जाता है । वह संसार की नश्वरता एवं जीवन की क्षणभंगुरता को अहर्निश देखते हुए भी विश्वास नहीं कर पाता कि एक दिन उसे भी चिता के रथ पर चढ़कर कहीं और दूर देश के लिए प्रस्थान करना है ।

राजकुमार नमि जब संन्यास लेने को उद्यत हुए तब ब्राह्मण रूप धारी इन्द्र ने उनसे कहा कि—

पासाए कारइत्ताणं, वड्ढमाण गिहाणि य ।
वालग्गपोइयाओ य, तओ गच्छसि खत्तिया ।।

राजन् ! पहले भव्य भवन और प्रासाद बनवालो, फिर इसके बाद साधु बन कर त्याग का मार्ग अपनाना । यदि प्रासाद नहीं बनवाओगे, तो पुत्र, कलत्र और परिवार के लोग, जो तुम्हारे आश्रित हैं, दुःख पाएंगे और तेरी कटु आलोचना करेंगे। इस तरह जिनके बीच आजतक तुम बड़े समझे जाते रहे हो, अब छोटे समझे जाओगे । गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि—"येषां चत्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्" राजर्षि नमि ने प्रत्युत्तर देते हुए इन्द्र को कहा कि—

संसयं खलु सो कुणइ, जो मग्गे कुणइ घरं ।
जत्थेव गंतुमिच्छेज्जा, तत्थ कुव्विज्ज सासयं ।।

मुझे स्थायी प्रासाद बनाना है जो आंधी, वर्षा और बवण्डरों के बीच में भी सुदृढ़ तथा ठोस बना रहे । जिसपर काल और परिस्थिति का प्रभाव नहीं पड़ सके और जो हर दृष्टि से अनुपम तथा अद्वितीय हो । मंजिल की जगह पर ही घर बनाना बुद्धिमानी है । रास्ते में वही घर बनाएगा, जिसको यात्रा की पूर्णता में संशय है अथवा ज्ञान का साथ सदा नहीं मिलता । जिसको लक्ष्य पर पहुँचने की शंका न हो, वह बीच में डेरा क्यों डालेगा । मेरा घर तो मोक्ष धाम है, फिर नश्वर घर बनाने की आवश्यकता क्या है । इन्द्र समझ गया कि यह दृढ़ विचारों वाला महापुरुष है जिस पर सांसारिक-प्रलोभन का कोई असर नहीं पड़ सकता ।

जीवन-निर्माण में ज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान है । ज्ञान के बिना दर्शन स्थिर नहीं होता और वृद्धि भी नहीं पाता । दर्शन को व्यवहार दशा में लाने तथा पुष्ट करने का साधन, ज्ञान ही है । महावीर स्वामी ने साधु-साध्वियों तथा अन्य साधकों को ज्ञानपूर्वक क्रिया-साधना का उपदेश दिया है । शास्त्र में कहा है—

जो जीवे वि न याणेइ, अजीवे वि न याणेइ ।
जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहिइ संजमं ।।

जो जीव अजीव, बन्ध मोक्ष एवं पाप पुण्य को नहीं जानता, वह संयम को कैसे जान सकेगा ? यहां भक्ति मार्ग और ज्ञान मार्ग में विवाद छिड़ जाता है । यदि भक्ति मार्गी ज्ञान मार्ग को और ज्ञान मार्गी भक्ति मार्ग को ठुकरा दे, तो साधना में प्रगति नहीं हो सकेगी । भक्ति मार्ग और ज्ञान मार्ग दोनों मिलकर चलें, तभी सब कार्य ठीक चल सकता है । भगवान् महावीर स्वामी ने विवेक की आंखों से काम लेने का आह्वान किया है ।

संसार के अनन्त पदार्थों और चतुर्विध पुरुषार्थ में यदि सार है, तो मोक्ष । संसार के सभी धर्मों ने एक स्वर से जीवन का लक्ष्य मोक्ष्य को स्वीकार किया है । कविवर विनयचन्दजी ने ठीक ही कहा है--

जीवादिक नवतत्व हिये धर, हेय ज्ञेय समझी जे ।
तीजी उपादेय ओलख ने, समकित निर्मल कीजे रे ।।

यहां संसार के तत्व पदार्थों को ९ प्रकार का बतलाया है । वैज्ञानिक ९२ तत्व बतलाते हैं । आजकल इसकी संख्या कुछ और बढ़ गयी है । जो मौलिक हो, जो दूसरों द्वारा न बनाया जा सके, उसे तत्व कहते हैं । जिसमें चेतना, जान तथा सुख-दुख को अनुभव करने की शक्ति हो । जो घटता, बढ़ता और ज्ञान दर्शन की चेतना से युक्त हो, वह जीव तत्व है । इससे विपरीत जड़ तत्व है ।

बाहर के कोई तत्व हमारा बिगाड़ नहीं करते, वरन् भीतर रहे हुए अपने ही विकारों से हमारा बिगाड़ होता है । काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि आत्मा के विकार ही वस्तुतः आत्मघाती हैं । इनमें से एक का भी जब हृदय में प्राबल्य होता है तो मनुष्य बेभान बनकर क्या से क्या कर बैठता है । संसार के समस्त अनर्थों की जड़ ये ही हैं । जहां ये सबके सब जोर पकड़ ले तो फिर ज्वालामुखी के मुख पर बैठे रहने की स्थिति हो जाती है । उस भयंकर स्थिति से बचना असंभव है । काल के मुख में पड़कर आदमी जी सकता है किन्तु काम, क्रोधादि के पूरे चपेट में पड़कर बचना सरल नहीं है ।

संसार में देखा जाता है, कांच को काटने के लिए हीरे की कणी काम आती है, अन्य कोई औजार उसको काट नहीं सकता । इसी प्रकार आत्मा की विभाव परिणति ही आत्मा को काटती है । हमारे आत्मगुणों को हीरा, स्वर्ण और भूमि आदि नहीं ढंकते, वास्तव में हमारा मोह और आसक्ति ही आत्म-गुणों को ढंकती

है । अज्ञान और मोह के दूर होने पर भीतर में आत्मबल का तेज जगमगाने लगता है । जैसे श्यामघन के दूर हो जाने से सूर्य का बिम्ब दैदीप्यमान हुआ दिखाई देने लगता है ।

आज वास्तविक ज्ञान-प्राप्ति का लक्ष्य लोगों के सामने नहीं है । अधिकांश लोग आज अर्थोपार्जन के ज्ञान में ही पक्के होते जा रहे हैं । इसके लिए वे किसी भी प्रयास को अनायास सर आंखों चढ़ा लेते हैं । दुर्गम खानों की अतल गहराइयों में से स्वर्ण, समुद्र के गर्भ से मोती और सर्प-मस्तक से मणी तथा गज के माथे से मुक्ता निकालने में वे जरा भी नहीं हिचकते । ऐसे द्रव्योपार्जन के हजारों असंभव कार्यों में अपने जीवन को तिल-तिल कर जलाते हुए भी प्राणी कष्ट का अनुभव नहीं करते । और तो क्या ? जर्जर वृद्धावस्था में भी नये बाट और दशम प्रणाली का ज्ञान मनुष्य सीख लेता है, जिससे व्यापार में किसी प्रकार की रुकावट नहीं आने पावे, पर आत्म-कल्याण के लिए काम आने वाले ज्ञान की ओर ध्यान ही नहीं जा पाता । इस तरह "मुहर लुटाकर कोयले पर छाप" वाली कहावत को हम अक्षरशः सत्य करने पर तुले हुए हैं । भला ! इससे भी बढ़कर आश्चर्य की कोई और बात हो सकती है ।

आज धर्म के लिए ज्ञान सीखना भारी माना जाता है । लोगों की धारणा बन गई है कि नवकार मंत्र से ही बेड़ा पार हो जायगा । प्राचीन समय की कथा है कि एक चोर फांसी पर लटक रहा था उस समय उसे जोरों से तृषा सता रही थी । उसके प्राण छटपटा रहे थे । संयोग से एक सेठजी उस रास्ते से निकले । उसने सेठजी से पानी के लिए प्रार्थना की, तो सेठजी दयालु होने से उसको आश्वस्त करते हुए बोले, "मैं जल्दी पानी लाता हूँ तब तक तूं "नमो अरिहंताणं-नमो अरिहंताणं"- का पाठ करता रह ।" सेठजी पानी लाने को गए और इधर चोर विश्वासपूर्वक "नमो अरिहंताणं" के बदले "नमो हन्ताणं सेठ वचन प्रमाणं" कहने लगा । सेठजी पानी लेकर आए, तबतक उसका प्राण पंखेरु काया का पिंजरा छोड़ कर उड़ चला था । शुभ विचारों के कारण वह मरकर देवगति का अधिकारी बन गया ।

यह कथानक अपवाद रूप है । चोर की तरह हर आदमी ऐसा सोचे कि चलो जीवन भर कौन खट-खट करे, अन्त समय सब ठीक कर लेंगे तो ऐसा होना संभव नहीं है । चोर को पुण्योदय से सत्-वाक्य में श्रद्धा हो गई किन्तु संसार के सर्वसाधारण मानव जो आकण्ठ मोह-माया में निमग्न है, उनके लिए ऐसा नहीं होता। अतः पहले से कुछ ज्ञान मिलाकर अभ्यास करना आवश्यक है । अवसर पाकर जो आत्म-साधना में प्रमाद करते हैं वे स्वर्ग में देव होकर भी पश्चात्ताप करते हैं । जैसे कि कहा है–

धनं प्राप्य दत्तं मया नो सुपात्रे, अधीतं न शास्त्रं मया भूरि बुद्धौ ।
तपः सद् बले नो कृतश्चोपवासो, गतं हा ! गतं हा ! गतं हा ! गतं हा !

अर्थात् धन पाकर मैंने सुपात्र को तथा शुभ कार्य के लिए दान नहीं दिया, बुद्धि पाकर शास्त्र का अध्ययन नहीं किया, और बल पाकर तप साधन नहीं किया, इस प्रकार हाय ! मैंने सब गंवा दिया ।

संसार में ऐसे व्यक्ति को लोग चतुर नहीं कहते । किसी ने ठीक ही कहा–

"ऊगे जहं बोवे नहीं, बोवे जहं जल जाय ।
ऐसे पापी जीव का, माल मिसखरा खाय ।।"

आजकल आध्यात्मिक-शिक्षा की ओर लोगों की प्रवृत्ति छूटती सी-जा रही है। जीविकोपार्जन के लिए मां, बाप अपने बच्चों को, लॉ, कॉमर्स, इंजीनियरिंग आदि की ऊँची-ऊँची उपाधियाँ प्राप्त कराने के लिए शिक्षा दिलाते हैं, किन्तु धर्म शिक्षा की ओर ध्यान नहीं देते । वे सोचते हैं कि धर्म शिक्षा लोक-जीवन में काम नहीं आती। इसके द्वारा जीवन की आवश्यकता पूरी नहीं की जा सकती, किन्तु यह भूल है । यदि ज्ञान का धन अच्छी तरह मिलाया जाय तो आवश्यकता की कोई पीड़ा नहीं सतायगी। फिर उसकी पूर्ति के लिए छटपटाने की तो आवश्यकता ही क्या ? सोना-चांदी आदि के धन से धनी रहने वाले को सदा खतरा बना रहता है किन्तु ज्ञान धनी अजात-शत्रु एवं सबका प्रेम पात्र होने के कारण निर्भय और निश्चिंत रहता है ।

आध्यात्मिक शिक्षा देने से ज्ञान दर्शन आदि के प्रति नई पीढ़ी की प्रवृत्ति रहेगी और इससे वे धर्म-विमुख होने से बचेंगे । यदि सुशिक्षा नहीं मिली, तो ये बच्चे गृहस्थों का कौन कहे साधु तक का माथा कुतर्क द्वारा मूंड लेंगे तथा आत्मा परमात्मा तक को भूल बैठेंगे । इस प्रकार उनका उभयलोक बिगड़ जायेगा ।

इसीलिए संतों ने जीवन में सफलता की कुंजी यह बतलाई है कि अज्ञान का पर्दा दूर हटाओ तथा आत्मा का दर्शन करने के लिए श्रुत वाणी का पाठ करो एवं नित्य ज्ञान-गंगा में डुबकी लगाओ । ज्ञान द्वारा तप साधना और स्वाध्याय की ओर प्रवृत्ति होगी और इससे लोक तथा परलोक में कल्याण के भागी बन सकोगे, जो मानव जीवन का परम लक्ष्य है ।

---

[२८]

पर्व की आराधना

आज नये आध्यात्मिक-वर्ष का प्रवेश दिन है । यह नव-वर्ष हमारे लिए एक नूतन सन्देश लेकर आया है कि हम प्रमाद को छोड़कर, आत्म-कल्याण के पथ पर दृढ़तापूर्वक बढ़ते चलें तो असंभव नहीं कि मंजिल पर न पहुँच जायें । इतिहास साक्षी है कि जिन्होंने, पूर्ण उत्साह और लगन के साथ जीवन निर्माण के शुभलक्ष्य की ओर कदम बढ़ाया, वे उसे हासिल करने में सफल हुए।

अनेक विध विशेषताओं के होते हुए भी मानव में भूल का बड़ा स्वभाव है। वह सोचते-सोचते भी वस्तुस्थिति को भूल जाता है । और यही कारण है कि मानव जैसा श्रेष्ठतम जीवन पाकर भी वह इधर-उधर भटकता रहता है । माया का प्रभाव उसको मदिरा की तरह प्रमत्त बना देता है । इसी से पर कल्याण की क्षमता होते हुए भी, वह आत्मकल्याण के योग्य भी नहीं रह जाता ।

यदि मनुष्य अंतःकरण में वीतरागों के विचारों का चिन्तन करे, उनमें गहरी डुबकी लगावे, आत्म-कल्याण के लक्ष्य पर ध्यान बनाए रहे और सदाचार में किसी प्रकार की आंच नहीं आने दे तो निश्चय ही उसका अन्तःकरण दिव्यभावों भरा चमत्कृत हो सकता है, किन्तु इसके लिए सच्ची साधना की अपेक्षा है, जो वैर, विरोध, ईर्ष्या और द्वेषादि दुर्गुणों को मन से दूर कर उसे दिव्य बना सके । साधक संकल्प बल से सरलतापूर्वक ऐसा कर सकता है । बाधा और विघ्नों से नहीं डरनेवाला यात्री लड़खडाते हुए भी मंजिल तक पहुँच सकता है । संकल्प की दृढ़ता, अदम्य पौरुष, उत्कट उत्साह, अटल निश्चय एवं अटूट लगन वाले लक्ष्य तक स्वयं ही नहीं पहुँचते, वरन् अपने पीछेवालों के लिए भी चरण छोड़ जाते हैं जिससे कि वे भी सरलता-पूर्वक अपना लक्ष्य प्राप्त करलें ।

पशु एकाकी प्राणी है, मनुष्य सामाजिक। पशु किसी से लेन-देन नहीं करता और मात्र अपने बल का भरोसा रखता है। वह अज्ञानता के कारण राह चलतों से भी टकराता और टकराने की जगह भय-कातर होकर कतरा जाता है। उसे जीवन-निर्माण की न तो कोई कला मालूम है और न मालूम करने की कोई इच्छा ही। तन-पोषण ही उसकी साधना एवं जीवन का महान लक्ष्य है। मगर मानव एक निराले प्रकार का प्राणी है। उसके सामने सिर्फ अपनापन का ही प्रश्न नहीं, बल्कि कौटुम्बिक सम्बन्ध और सामाजिक जीवन का भी सवाल रहता है। वह शांति के संकल्प के संग चलते हुए भी परिस्थितिवश मन में अशान्ति बसा लेता है। उसके जीवन में परीक्षा और चुनौती के अनेक प्रसंग आते हैं, जो एक से बढ़कर एक लुभावने, मनोरम, कटु तथा उद्वेगवर्द्धक होते हैं। ऐसे प्रसंगों में साधक को पूर्ण सावधानी की जरूरत रहती है। यदि साधक भ्रमवश उच्च भावों की आनन्दानुभूति भुलाकर साधना मार्ग से विचलित हो जाय, तो वह साधक पथभ्रष्ट कहा जाएगा।

वस्तुतः लड़खड़ाने या डगमगाने का कारण संकल्प-बल की कमी है। यदि साधक के मन में बाधाओं से पराजित नहीं होने का निश्चय है, तो वह कभी विचलित नहीं होगा। विपदाओं और बाधाओं से जूझनेवाला ही शूर या साहसी कहा जाता है और संसार में उसकी पूजा होती है तथा इतिहास उसी का सुयशगान करता है।

आवश्यकताओं के अनवरत चक्र में पड़कर मोहवश और अज्ञानतावश मानव प्रतिकूल परिस्थितियों के साथ टकराता है किन्तु विविध विघ्नों की परिस्थिति में भी साधक को आगे बढ़कर चलना है और दीपक की बाती की तरह जल-जलकर जग को जग-मग करना है। पशुओं में स्वार्थवश टक्कर होती रहती है। किन्तु मनुष्यों में आवश्यकता की पराधीनता व अज्ञान नहीं है तो वह नहीं टकरायेगा और अपने को पशुता से बचाए रक्खेगा।

ज्ञानवान मनुष्य अशान्ति के कारणों को नियन्त्रित कर लेता है। आवश्यकता तो प्राणी मात्र को रहती है। अन्तर इतना ही है कि एक आवश्यकता को बांध लेता है और दूसरा आवश्यकताओं से बंधा रहता है। परिणामतः पहला उतना दुःखी नहीं होता और दूसरा अशांत तथा दुःखी हो जाता है। मूल को नहीं समझने पर संघर्ष होना स्वाभाविक है। मनुष्य आवश्यकता में इतना बेभान बन जाता है कि उसे थोड़े में सन्तोष ही नहीं हो पाता। जरूरत की चीजें अधिक मात्रा में होते हुए भी उसे और की जरूरत बनी रहती है। इस प्रकार जरूरत की पूर्ति नित नयी जरूरत का आरम्भ करती रहती है।

संसार-सागर के पार जाने वाले यात्री को वाहनापेक्षी न होकर पैदल चलने को भी तैयार रहना चाहिए । कौन जानता है कि किस घड़ी में महाप्रयाण का नगाड़ा बज उठे और एकाकी सुविधाओं से मुख मोड़कर चलना पड़े । संसार की अन्य सारी बातें अनिश्चित और संदिग्ध भी हो सकती हैं किन्तु मृत्यु तो निश्चित है। आए हैं तो जाना पड़ेगा ही, यह अटल सिद्धांत है । अतः आनन्द ने आवश्यक वस्तुओं का परिमाण कर लिया ।

भोगोपभोग परिमाण में उसने पेय विधि का परिमाण किया जैसे वह लघु भोजन की सामग्रियों में घी आटा से बने हुए पटोलिया के अतिरिक्त कोई पेय वस्तु ग्रहण नहीं करेगा, उसके घर में दूध की कमी नहीं थी साथ ही अर्थ व्यय के डर से भी ऐसा नहीं करता था, क्योंकि वह उस समय का एक जानामाना समृद्धिवान पुरुष था । फिर भी उसके परिमाण का लक्ष्य था कि आत्म-गुणों का व्यय न हो, लालसा की डोर लम्बी न हो तथा आवश्यक वस्तुओं की गुलामी न बढ़े ।

आज मानव ने अपने जीवन में कृत्रिमता बढ़ाली है और जानबूझकर अपने गले में आवश्यकता की डोरी डाल ली है फलतः इस फंदे से चाहकर भी वह गला छुड़ाने में समर्थ नहीं हो पाता । जाले की मकड़ी की तरह वह अपनी इच्छा के जाल में उलझा रहता है । किन्तु जो व्रत का अंकुश स्वीकार कर लेता है, वह भरपूर साधन होने पर भी सीमित भोजन से स्वस्थ तथा सन्तुष्ट बना रहता है । त्यागमय जीवन वाला स्वादिष्ट तथा रुचिवर्धक वस्तु के मिलने पर भी, उसे ग्रहण नहीं करता । क्योंकि शुभ संकल्प के द्वारा उसने वासना की तरंग को नियंत्रित कर लिया है । इस प्रकार का संयत जीवन, मधुर एवं आनन्ददायक होगा । वहां यह प्रतीत होगा कि आत्मा में अमृत-बिन्दु नहीं किन्तु सिन्धु समाया हुआ है ।

संयमशील जीवन में विषय-कषाय का विष कहां से आए, वहां तो शील-संतोष का अमृत छलकता है, जो आत्मा का निज गुण या स्वभाव है । काम-क्रोधादि विकार तो परगुण हैं, जो आत्मा की शोभा व निर्मलता को मलिन बनाते हैं। मानव निज गुणों को भूलकर ही अशांति पाता है, इस तत्व को भलीभांति समझना ही ज्ञान की प्राप्ति है । पुस्तक पढ़ने मात्र से मनुष्य ज्ञानी नहीं होता । बहुत अधिक वक्तृत्व शक्ति होने या लेखन आदि से चारित्रहीन व्यक्ति ज्ञानवान् नहीं माना जाता । इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति अनपढ़ है, किन्तु उसे आत्मानुभूति है, समिति और गुप्ति का ज्ञान है तो वह ज्ञानी है और पढ़ा-लिखा भी आत्मानुभूति हीन अज्ञानी है ।

पठित अज्ञानी का एक नमूना देखिये–

पं. वररुचि लालच के वशीभूत होकर निज पतन के लिए तत्पर हो गए। महामंत्री शकटार के प्रति उनका क्रोध भाव था। अतः उनके मन में व्यग्रता की स्थिति बढ़ने लगी। वह महामंत्री से प्रतिशोध लेने की सोचने लगा। और नगर के चौराहों में विक्षिप्त-सा घूमने लगा।

इधर शकटार का बड़ा पुत्र स्थूलभद्र रूपकोषा के यहां बस गया था, अतः छोटे पुत्र श्रीयक को महामंत्री विवाह संबंध में बांधकर रखना चाहते थे ताकि वह बड़े का अनुगमन नहीं कर पाये और न कुमार्गगामी ही बन सके। वयस्क पुत्र को उपालंभ देना या अनुचित-उचित कहना नीति के विरुद्ध है और जवानी अन्धी होती है, वह भले-बुरे को अच्छी तरह नहीं देख पाती। अतः जवान पुत्र कुल में कलंक तथा अपने उभरते व्यक्तित्व पर धब्बा न लगा ले, एतदर्थ पुत्र को विवाह-सूत्र में बांधना ही महामंत्री को उचित जंचा।

अशिक्षित और मध्यम परिवारों को छोड़कर आजकल बाल विवाह की प्रथा कम हो गयी है। जैसे बाल-विवाह करने से बल, वीर्य और जीवन-क्षय की संभावना रहती हैं, वैसे ही पूर्ण आयु होने पर विवाह नहीं करने में भी भय रहता है। शकटार का पूरा परिवार शिक्षित था अतः वह इस तत्व को अच्छी तरह जानता था। उसने श्रीयक का विवाह खूब धूमधाम से करने की सोची। विशिष्ट निमंत्रित व्यक्तियों और निजी अतिथियों के अतिरिक्त उसने राजा नन्द को भी निमंत्रित करने का विचार किया। आगत अतिथियों के भव्य स्वागत के अतिरिक्त उन्हे भेंट या उपहार देने की भावना भी महामंत्री के मन में पैदा हुई। ज्येष्ठ पुत्र के वियोगजन्य दुःख को इस उत्सव से दूर करने की इच्छा भी रखते थे। राजा को सवारी, अस्त्र, शस्त्र आदि प्रिय होते हैं, इसलिए उन्होंने कर्मचारियों को आदेश दिया कि भेंट देने योग्य, उत्कृष्ट सवारियां तथा अस्त्र-शस्त्र बनवाए जावें।

मनुष्य सुख-दुःख के अवसरों में ही ठगा जाता है। कारण सुख दुःख के आवेग मनःस्थिति को असामान्य बना देते हैं, जिससे विवेक का सन्तुलन बिगड़ जाता है। वररुचि ने जान लिया कि महामंत्री के द्वारा अस्त्र, शस्त्र बनाने की तैयारी चल रही है। उसने तत्काल निर्णय लिया कि अब इस अवसर का लाभ न उठाना, उसके पाण्डित्य में बट्टा लगाना होगा। क्योंकि प्रतिहिंसा की आग उसके दिल में धू धू कर जल रही थी, इस भेद को जानकर उसे संतोष हुआ। उसने राजा के द्वारा शकटार को दण्ड दिलाने का अच्छा अवसर देखा। वह इस प्रयत्न में पूर्णरूप से लग गया।

[२९]

भोगोपभोग नियन्त्रण

बाह्य विकारों से मन को दोलायमान नहीं होने देना साधक का परम कर्तव्य है । अशुद्धाचरणों का परित्याग कर जीवन को शुद्ध बनाना एवं बाह्याकर्षणों और राग-रंगों से दूर रहना साधक जीवन के लिए आवश्यक माना गया है । भोगोपभोग की वस्तुओं का परिमाण करना, देखने में तो बाह्य नियंत्रण है, किन्तु इसका मन पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है । द्रव्य त्याग, अन्तरंग त्याग को पुष्ट करता और सद्भावना का कारण बनता है ।

अब पेय के पश्चात् भक्ष्य का प्रसंग आता है । भक्ष्य विधि में-आनन्द ने भगवान् के चरणों में संकल्प किया कि आस्वादन या रसना तृप्ति के लिए मैं भोजन नहीं करूंगा । इस प्रकार भक्ष्य के अन्तर्गत सभी खाने की वस्तुएं आ जाती हैं । आज तो मनुष्य इस बात का विचार ही नहीं करता कि खाद्य-वस्तु में कौन सन्मतिकारक और कौन बुद्धि-विनाशक एवं विकारी है । आज का मानव सुपाच्य एवं सुस्वाद को ग्राह्य मानता है । सदोष आहार के कारण आज का तन-मन दोषपूर्ण बना हुआ है । नित्य नये-नये रोग, दवा और दवाखाने बनते जा रहे हैं । समाज एवं राष्ट्र की औसत आयु नीचे गिरती जा रही है । आनन्द लघु आहार में मीठा पदार्थ ग्रहण करता जो शर्करा और घृत संयुक्त होता । प्रचलित भाषा में घृतपूर्ण खाजे के अतिरिक्त शेष सभी मिष्ठान्नों का उसने परित्याग कर दिया ।

इस प्रकार परिमाण कर लेने से रसना की मांग कम हो जाती और मन की आकुलता मिट जाती है । ग्रामीण क्षेत्र में अतिशय श्रीमन्त होते हुए भी उसने आहार, विहार और निवास में अन्य लोगों के समान ही अपनी स्थिति बना रखी थी । इससे लोगों में विषमताजन्य ईर्ष्या के बदले श्रद्धा और सम्मान के भाव जागृत हो गए । इच्छा को सीमित करना और वासना की आग को बढ़ाने में अपने को निमित्त

न बनाना; बल्कि घटाने में निमित्त बनाना, यही आनन्द का आदर्श था । इसे लोक-नीति और आध्यात्मनीति का समन्वय कह सकते हैं ।

सुधरा व्यक्ति अपने जीवन को ऊपर उठाने के साथ ही साथ सामाजिक जीवन को ऊंचे उठाने का भी कारण बनता है । मनुष्य यदि ममता और वासना को न घटावे, तो महारंभ के बड़े-बड़े कारणों से नहीं बच सकता । प्रत्येक गृहस्थ आनन्द के समान यदि व्रत धारण कर अपनी आवश्यकताओं को घटाले तो समाज का विषाक्त वातावरण आसानी से बदल सकता है । आनन्द का जीवन सीधा, सादा, सरल एवं सामान्य नहीं था । उसका मनोबल मजबूत तथा प्रवाह में बहने वाला नहीं था । प्रवाह में बहने वाला नीति-धर्म का निर्वाह कर पाप नहीं घटा सकता तथा नीति और धर्म को सुरक्षित रखने में भी समर्थ नहीं होता ।

संसार में तीन प्रकार के पुरुष होते हें – (१) नदी की धारा में बहने वाले (२) दृढ़ मूल वृक्ष की तरह अडिग रहने वाले और (३) धारा के अभिमुख चढ़ने वाले । खंभे की तरह अड़े रहने वाले स्थिति स्थापक होते हैं । सत्वहीन या बलहीन प्राणी, तिनके के समान बहने वाले होते हैं, किन्तु जो प्रवाह का सामना करते वे पराक्रमशील, साहसी, बलवान, सामर्थ्यवान व कुशल कहलाते हैं । वे मछली के समान प्रवाह का सामना करने वाले होते हैं । भले, नदी के वेग में हाथी बह जाय, परन्तु मछली सामने बढ़ती चलती है। कारण उसको अपने आपको संतुलन का अभ्यास है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है–

जो जाके शरणे बसे, ताकी ताको लाज ।
उल्टे जल मछली चढ़े, बह्यो जात गजराज ।।

इसी तरह मनुष्य ऐसा प्राणी है, जो अभ्यास के बल पर ज्ञान और विवेक की ज्योति पा ले, तो अज्ञान, मोह एवं रूढ़ि प्रवाह के मुकाबले आगे बढ़ सकता है, लक्ष्य तक पहुँच सकता है । नया या पुराना कैसा ही प्रवाह हो, जिस व्यवहार से अज्ञान की पुष्टि हो, धार्मिकनीति नष्ट हो, ज्ञानवान उसमें आंख मूंद कर नहीं बहेगा, बल्कि विवेक से काम लेगा । नयी हो या पुरानी, जिसमें स्वपर का हित हो, उसी परम्परागत व्यवहार का विवेक पूर्वक अनुशीलन करेगा । अहितकर को छोड़ देगा । जैसे कहा है–

पुराणमित्येव न साधु सर्वं, नचापि सर्वं नवमित्यवद्यं ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरत् भजन्ते, तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति ।।

नये और पुराने व्यवहार में कौन हानिकारक तथा कौन लाभदायक है यह विवेक तथा परीक्षण से ही समझा जायेगा ।

लौकिक और लोकोत्तर दो प्रकार की हानियां होती हैं । लौकिक हानियों के अन्तर्गत द्रव्य, बल, बुद्धि, मान आदि की हानियां आती हैं और ज्ञान, दर्शन, चरित्र, नीति एवं भावनाओं की हानि लोकोत्तर हानियां हैं । बुद्धिमान मनुष्य सोच-समझकर निर्णय लेता है कि किस कार्य में हानि है या लाभ । समाज में जन्म, मरण एवं मृत्यु पर अनेकों गलत रूढ़ियां चल रही हैं, चाहे वे हानिकारक ही हों, किन्तु साधारण मनुष्य इस पर विचार नहीं करते । महिलाएं तो गलत रीति-रिवाजों में और भी अधिक डूबी रहती हैं । जलवा पूजना, चाक-पूजन, जात देना, ताबीज बांधना, देव और पितर की पूजा करना, मरे हुए के पीछे महीनों बैठक रखना और रोना ये सब कुरीतियां हैं, जो समाज में दृढ़ता से घर बनाए हुई हैं ।

मनुष्य देवाधिदेव भगवान् को तो भूल जाते और तमोगुणी देवों की महिमा करने लगते हें । जन्म से मरण तक शुभकर्मों में लग सकना मुश्किल होता, परन्तु हवन, अनुष्ठान आदि चक्कर में लोग धन खर्च कर देते और जरूरत की जगहों में मुंह देखते रहते हैं । विवेक से इतना तो सुधार सकते हैं । गांवों में सद्गुणों एवं नीति-धर्म की शिक्षा के लिए प्रबन्ध करते लोग हिचकिचाते हैं, परन्तु भोज में अधिक लोगों को खिलाना शासन के विरुद्ध होते हुए भी अधिकारियों से सांठ-गांठ कर जीमणवार करने में गौरव का अनुभव करते हैं । जो रकम अधिकारियों को नियम विरुद्ध काम करने के लिए दी जाती है, उसकी किसी को कानों-कान खबर तक नहीं हो पाती, किन्तु किसी असमर्थ छात्र की पढ़ाई में, कभी थोड़ी भी सहायता की गई, तो उसे सहस्र मुख से कहते फिरेंगे । अधिकारियों को गुप्तदान बड़ी चतुराई से दिया जाता है । उसमें राज नियम की चोरी और समाज का अहित होता है, इसकी भी परवाह नहीं की जाती । यह कार्य उस कृषक के कार्य के समान है, जिसके कुंए का पानी तो नाली में बहे और क्यारियां सूखी रहें ।

गरीब छात्र, वृद्ध, अपंग और विधवाओं की, जो असहाय एवं परमुखापेक्षी हैं, सहायता नहीं की जाती । ऐसे साधनहीन जन तो सरकार का मुंह ताके और समाज की सम्पदा रिश्वतों के प्रवाह में लाखों की संख्या में खर्च हो जाय । यह कैसी बुद्धिमत्ता और कैसा धन का उपयोग है ? आत्मा से पाप छिपाया नहीं जाता । समाज में एक तरफ तो लड्डू-कलाकंद का भोग उड़ाया जाता और दूसरी ओर लोग भूख से तड़प कर दम तोड़ते हैं । विवेकशील धनियों को इस तथ्य से आंख मुंद कर नहीं चलना चाहिए ।

मनुष्य के ऊपर माता, पिता, देश, जाति, संघ और धर्म-गुरुओं का भी ऋण है, जिससे उसे उऋण होना है । समाज में एक आदमी दुःखी है, तो समाज के

धनी व्यक्तियों पर यह दायित्व है कि वे उसकी योग्य सहायता करें । दान यदि दान के रूप में, सहायता के रूप में दिया जाता हो तो ठीक है, किन्तु देने में दृष्टिकोण दूसरा होता है । अज्ञान या मिथ्या भावना से दिया गया दान, पाप बढ़ने का कारण हो सकता है । माता-पिता की मृत्यु के बाद लोग मृत्यु-भोज करते और समझते हैं कि इससे बुड्ढे की गति हो जायेगी, यह समझना ठीक नहीं । ब्राह्मण-भोज में धर्म समझना भी मिथ्या है । काम-क्रोध या ईर्ष्यावश होकर देना, तामस दान है, व्यवहार में जिसमें सहयोग प्राप्त होता हो, उन्हें देना राजस दान है । ये दोनों दान, दान के फल पाने में सहायक नहीं होते यह निश्चित है ।

आडम्बर और वाहवाही में हजारों फूंकने की अपेक्षा समाज़ में सत्‌शिक्षा का प्रसार, दीन-दुःखियों की अपेक्षित सहायता तथा समाज-हित के अन्यान्य कार्य, जिनसे समाज सबल और पुष्ट बनता हो, धन लगाना श्रेयस्कर है । नैतिक धार्मिक शिक्षा की वृद्धि से पितृ-ऋण और समाज-ऋण दोनों से मुक्त हो सकते हैं । बुद्धिशील समाज के वृद्धों को ऐसी कुरीतियों और परम्पराओं को यथाशीघ्र समाप्त करना चाहिए, जिनसे समाज के धन और समय का अपव्यय होता तथा निष्कारण पाप माथे चढ़ता है । कीचड़ लगा कर धोने की अपेक्षा तो कीचड़ न लगाना ही अच्छा है । ऐसे ही पाप-कर्म करने के बाद धर्मादा देना उसकी अपेक्षा पहले ही पापों से दूर रहना अधिक अच्छा है ।

कई लोग यह तर्क उपस्थित करते हैं कि प्याऊ, सदावर्त, धर्मशाला और अन्न-क्षेत्र आदि कैसे चलेंगे, यदि अर्थोपार्जन न किया जाय? इस प्रकार तर्क उपस्थित करने वालों को मन में भले ही संतोष हो, पर आत्मा को संतोष नहीं होगा ।

जैसे कोई नहाने जा रहा था । रास्ते में ठंडा कीचड़ देखकर वह उसका लेप लगाने लगा । दूसरे लोगों को यह देखकर हंसी आयी, तो उसने हंसने वालों से कहा—भाई ! हंसते क्यों हो ? नहाना तो है ही, उस समय इस कीचड़ को भी धो लूंगा । इस पर लोगों ने कहा—लगाकर धोओगे तो पहले लगाते ही क्यों हो ? उसी प्रकार पाप का कीचड़ लगाकर उसे बाद में दान या तप से धोना, सराहनीय बुद्धि का नमूना नहीं कहा जा सकता । एक कवि ने ठीक ही कहा है—

"माता-पिता के जीते जी, सेवा भी कुछ ना बन पड़ी ।
जब मर गए तो श्राद्ध या तर्पण, किया तो क्या हुआ ।।

जगदीश गुण गाया नहीं, गायक हुआ तो क्या हुआ ।
पितु-मातु मन भाया नहीं, लायक हुआ तो क्या हुआ ।।

वस्तुतः जीवित पिता का आदर न कर बाद में लोगों को खिलाना यह स्वयं और समाज को धोखा देना है । हो सकता है कि किसी समय में इन परम्पराओं का भी उपयोग रहा हो, किन्तु आज उनका उपयोग नहीं है । आज मरण के बाद खाने और खिलाने की अपेक्षा अच्छे कार्य में पैसे खर्च करना अच्छा माना जाता है।

भारतीय परम्परा यह है कि मनुष्य का व्यवहार ऐसा हो कि दूसरे को नहीं अखरे । पैदल, साईकिल, गाड़ी और मोटर सभी सड़क पर चलते हैं, किन्तु वे जब अपनी लाइन छोड़कर दूसरे की जगह में अनधिकार प्रवेश करते हैं, तब दुर्घटनाएं होती हैं । वैसे संसार में रोगी, त्यागी, व्रती और अव्रती सभी चलते हैं, किन्तु अधिकतर वे टकराते नहीं । वेग से टकराने वाला या बुराइयों से न बचने वाला बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता । विकार की टक्कर मन को विक्षुब्ध बना देती है । देखिये उदाहरण – वररुचि लोभ के कारण शकटार से टकरा गए थे और वे प्रतिशोध की ताक में घात लगाए बैठे थे । शकटार के प्रदर्शन से उन्हें कुछ लाभ की आशा थी, अतः वे खुलकर इस अवसर का लाभ उठाने की धुन में थे ।

ज्ञानी का मन पानी की सतह के समान होता है । बड़े जलाशय के पानी में–भैंसे डूबीं, बच्चों ने पत्थर फेंके, धोबी ने कपड़े धोए, पानी में तत्काल जरा हलचल हुई और फिर वैसा का वैसा, पानी की सतह ज्यों की त्यों हो गई । ज्ञानी भी उसी प्रकार हलचल के पश्चात् पूर्ववत् शान्त और गम्भीर बने रहते हैं । पत्थर या लोहे पर रेखा खींची जाय, तो निशान हो जाता है, परन्तु पानी में निशान नहीं पड़ता । पं. वररुचि भी अपने को पानी की तरह रखता, तो शकटार उसे दोलायमान नहीं कर सकते थे । ज्ञानी सज्जन की सदा अन्तरंग नीति होती है कि–

कोई बुरा कहे या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे ।
लाखों वर्षों तक जीऊं या, मृत्यु आज ही आ जावे ।।

अथवा कोई कैसा ही, भय या लालच देने आवे ।
तो भी न्यायमार्ग से मेरा, कभी न पग डिगने पावे ।।

नीति की बातों को जीवन-व्यवहार में लाना और उनको शब्द में दुहराना, दोनों में अन्तर है । हम लोग इसी आशा से लम्बे-लम्बे वक्तव्य देते हैं कि कोई न कोई भाई-बहिन इनमें से तत्व ग्रहण कर अपना जीवन उन्नत बनावें ।

पं. वररुचि को शकटार से सकारण या अकारण पीड़ित होने से रोष है, किन्तु विरोध का विरोध से और गाली का गाली से प्रतिकार करने पर संघर्ष बढ़ता है।

यह याद रखना चाहिए कि आग पानी से शान्त होती है, किन्तु आग से आग नहीं बुझती। गधा लात मारता है पर ज्ञानी उससे बचकर निकल जाता है। वह लात का जवाब लात से नहीं देता। इसी प्रकार ज्ञानी वैर-विरोध से बचकर चलता है। वह अज्ञानी के साथ अज्ञानी बनकर प्रसन्न नहीं होता। गधे की दुलत्ती का मुकाबला करने वाला मनुष्य भी गधा कहलाता है। जैसे समझदार आदमी गधे से दूर रहता है, वैसे ही ज्ञानवान् काम, क्रोध लोभ, मोह आदि अन्तरंग गधों से दूर रहता है और विवेकपूर्वक स्वपर का कल्याण करता है। ज्ञानी को सदा ध्यान रखना चाहिए कि–

जा पै जैसी वस्तु है, वैसी दे दिखलाय।
वांका बुरा न मानिये, वो लेन कहां पे जाय ॥

इस प्रकार जो विषय-कषाय से बचेंगे, उनका कल्याण होगा।

---

[३०]

दो धाराएं

अनन्त काल से मान ह्रदय में दो धाराएं प्रवाहित होती दीख रही हैं–एक शुभ विचारधारा और दूसरी अशुभ विचारधारा । इनमें से शुभ धारा जो ज्ञान विरागमय है, वह स्वभावाभिमुख होने से निजधारा तथा विषय-कषाय की परिणति विभावाधिमुख होने से यह आत्मा के लिये पर धारा है । एक ही भूमि में आस-पास दो तरह के कुए मिलते हैं जिनमें एक का पानी मीठा और दूसरे का खारा होता है । मीठे पानी के स्रोत को नहीं पहिचानने के कारण ही मनुष्य उसे नहीं ले पाता और अनायास खारा पानी निकल आता है । ऐसे ही हृदय की भूमिका में भी दुर्भाव और सद्भाव रूप दोनों तत्व मौजूद हैं । सद्भाव मधुर पानी का स्रोत तथा दुर्भाव खारे पानी का स्रोत है ।

सद्भाव रूपी मधुर पानी के लिए प्रयास करना पड़ता है, किन्तु खारे पानी के लिए श्रम नहीं करना पड़ता । ऊंची भूमि से जैसे नीची भूमि में पानी बहता है, तो नल लगाने की आवश्यकता नहीं होती, वैसे दुर्भाव के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता, सुमेरु पर्वत का पानी भी नीचे भूतल पर आ जाता है, पर भूतल से सुमेरु पर जल चढ़ाना हो, तो बड़ी कठिनाई होगी, बड़े साधन और शक्ति की आवश्यकता होगी । सद्गुरु सत्संग, सद्-अध्यवसाय और योग्य आहार-विहार के द्वारा विचार नीचे से मुड़कर ऊंचे चढ़ते हैं । यदि सहारा न मिले तो वे स्वतः नीचे गिर जाएगे ।

संसार को आध्यात्मिक सन्देश देने वाले महापुरुषों का कथन है कि दुःख का कारण आवश्यकताओं को वश में नहीं करना ही है । एक महात्मा ने एक राजा को थोड़े में ठीक ही कहा है–

"आपदां कथितः पन्था, इन्द्रियाणामसंयम : ।
तज्जयः सम्पदां मार्गो; येनेष्टं तेन गम्यताम् ।।"

सचमुच में शास्त्र सिन्धु को आचार्य ने बिन्दु में भर दिया है, यही बिन्दु विस्तार पाकर सिन्धु हो जाता है । इस श्लोक से बिन्दु में सिन्धु भरने का चमत्कार दिखाया गया है कि इन्द्रियों को वश में नहीं रखना आपत्ति का मार्ग और उनको वश में रखना सम्पदा का मार्ग है । इन दोनों में से जो इष्ट हो उस पर चलो ।

वासनाओं के कारण मनुष्य पाप करता है और परिणामतः संताप पाता है । अतः संताप घटाने के लिए मनुष्य को अपनी आवश्यकताएं घटानी चाहिए । शरीर की आवश्यकताएं तो कुछ सीमित हैं, पर मानस की आवश्यकताएं बहुत विस्तृत हैं । उस अनन्त आकाश से भी अधिक विस्तृत कहें, तो कुछ अत्युक्ति नहीं होगी । प्रतिक्षण आवश्यकता की तरंगों से मानस–सिन्धु–क्षुब्ध और आन्दोलित होता रहता है । एक के बाद दूसरी लहरें उठ-उठकर मानस-सागर को हलचल में डालती रहती हैं । इस तरह मानव-जीवन अशान्त और दुःखित हो उठता है ।

श्रद्धा का निवास दिल में होता है, दिमाग में नहीं, मन हमेशा कुछ न कुछ घड़ा घड़ी करता है । यदि मनुष्य विवेकशील हो, तो वह मस्तिष्क का गलत उपयोग नहीं होने देगा । वस्तुतः दिल और दिमाग दोनों का साहचर्य एवं समन्वय होना चाहिए, किसी का दिमाग बड़ा हो, किन्तु दिल यदि छोटा है तो वह शान्ति से कुल, जाति देश और संसार में सहिष्णुता एवं सम-रसता नहीं ला सकेगा । विस्तृत दिमागवाला बड़ा विज्ञानी, इतिहासविज्ञ, वक्ता, राजनीतिज्ञ एवं लेखक हो सकता है, किन्तु दयालु अथवा सहिष्णु नहीं हो सकता । बड़ा दिमाग मनुष्य की शान्ति में सहायक नहीं होता । दिल यदि बड़ा बनता है तो दिमाग के सदुपयोग का कारण हो सकता है । इसलिए भारतीय संस्कृति ने हृदय को विशाल रखने का सदा लक्ष्य रखा है । यदि मनुष्य का दिल विकसित हो, तो वह विचारों या मस्तिष्क में इतना नहीं बंधता कि दूसरों का अहित कर डाले ।

आज का मानव यदि पहचान ले कि दुःख का कारण क्या है और तदनुकूल कार्य करे, तो भौतिक और आध्यात्मिक स्थिति ठीक बन सकती है । चित्त वृत्तियों पर विजय प्राप्त कर लेने से शान्ति मिलती है । तभी तो कहा है–

यही है महावीर सन्देश ।
सादा रहन सहन भोजन हो, सादी भूषा वेश-यही है०
विश्व प्रेम जागृत कर उर में, करो कर्म निःशेष-यही है०

जीवन को यदि आनन्द के उपभोग योग्य बनाना है, तो मनुष्य को जीवन से निरंकुशता हटा लेनी होगी । मनुष्य और पशु में यही अन्तर है कि एक का जीवन जहां संयमित वहां दूसरे का निरंकुश । राज समाज और धर्म के नियम मानव

पर लागू हैं, मगर वन्य जातियां समाज नियम तथा धर्म-नियम से करीब-करीब शून्य हैं। अतः उनका जीवन हल्का माना जाता है। ग्रामवासी से नगरवासी कुछ सुधरे व सभ्य माने जाते हैं। नगरवासियों का नैतिक, भौतिक और आध्यात्मिक जीवन विकसित है। उनके जीवन में समाज नीति के अतिरिक्त राजनीति का सम्बन्ध है। अतः प्रमाणित होता है कि मनुष्य जीवन में नियमों के पालन का महत्व है। पशुखाद्य-अखाद्य, पेय-अपेय, गम्य-अगम्य और जीव-अजीव का भेद नहीं जानता। धर्माचरण की तो पशु-जीवन में चर्चा ही व्यर्थ है। वह तो आकाश-कुसुम की तरह असंभव है।

कई मनुष्य तरंगित होकर सोचते हैं कि नियमों से परतन्त्रता आती है। जीवन की स्वच्छन्द सरिता-सी प्रवृत्ति में रुकावट या बाधा उपस्थित होती है। जीवन की निसर्गता में कृत्रिमता का समावेश हो जाता है और वह बोझिल बन जाता है मगर ऐसा सोचना भूल है। नियम बन्धन नहीं बन्धन वे हैं जो दूसरों के द्वारा लादे जाते हैं किन्तु नियम मनुष्य स्वयं बनाता है जो पशुता और मानवता का अन्तर प्रगट करते हैं। परकृत बन्धन छोड़ने लायक हैं, परन्तु स्वयं के लिए बनाया गया नियम हितकर और अत्याज्य होता है। घर में चारों तरफ घेरा होने पर भी हम बन्दी जीवन का अनुभव नहीं करते। यदि घर के सभी दरवाजे खुले रखें, तो चोर-पशु और जीव-जन्तु भीतर घुसेंगे, अतः घर के सभी दरवाजे अपनी भलाई के लिए बन्द रखे जाते हैं। फिर भी यह स्वेच्छा से होने के कारण उसे बन्धन नहीं माना जाता। जेल के दरवाजे बन्द करने से हम बन्दीपन का अनुभव करते हैं, किन्तु घर का दरवाजा बन्द होने पर सुरक्षा का।

ऐसे ही उन्मत्त दिमाग वाला नीति-नियम और अध्यात्म-नियम को बन्धन समझेगा, परन्तु विचारवान् उन्हें मुक्त-जीवन की निशानी मानेगा। यदि आध्यात्मिकता न रहे, तो मानवता दानवता का रूप धारण कर लेगी। दानवता से मानवता की ओर जाने का मार्गनियमन का ही है, अतः बुद्धिमान मानव धर्मनीति और राजनीति का पालन व प्रसारण करता है, क्योंकि उससे व्यक्तिगत तथा सामाजिक सुरक्षा है। अंतरंग जीवन को बदलने का काम धर्म का है। राजनीति या शासन केवल तन को नियन्त्रित कर वृत्ति बदलना चाहता है परन्तु अपराधियों को यातना देते-देते युग बीत गए, उनकी वृत्ति नहीं बदली। दण्ड के द्वारा तन को मोड़ा गया, मन को नहीं। मन को बदलने से ही वृत्तियां सुधरती और मानव कुकर्म करने से बचता है। अतः धर्मनीति का महत्व और उसका जन-जन में उपयोग है।

अपराधियों को जेल में बन्द कर कहां तक उन्हें अपराध करने से रोका जा सकेगा तथा मनुष्य कब तक यों पशु की भांति बांध कर रखा जायेगा । सुरक्षा का सुदृढ प्रबन्ध होने पर भी दिल्ली, बम्बई सरीखे नगरों में कारें चुरा ली जाती हैं और दिन-दहाड़े सड़कों पर छुरे भोंके जाते हैं । न्यायाधीशों के समक्ष गोलियां चला दी जाती हैं और पहरे में से सरकारी द्रव्य लूट लिए जाते हैं ।

दण्डनीति मानव को भयभीत करती है, किन्तु भय से रुकने वाला पशु है । दण्ड का उपयोग तो पशु-प्रकृति वाले मनुष्य के लिए ही हो सकता है । सच्चे इन्सान के लिए हृदय परिवर्तन आवश्यक है, जो ज्ञान से संभव है । जो दण्ड से माने, वह आदमी नहीं, पशु है । दण्ड के द्वारा भयभीत करके मनुष्य को अल्पकाल के लिए अपराध से बचाया जा सकता है, किन्तु हृदय परिवर्तन के अभाव में वह पुनः छिपे-छिपे या प्रगट अपराध करना प्रारम्भ कर देता है । यदि दण्डनीति के साथ धर्म-नीति का समन्वय कर दिया जाय, तो सुपरिणाम निकल सकता है । दण्डनीति वाले भी यदि धर्मनीति का सहारा लिया करें, तो वांछित सफलता मिल सकती है ।

पूर्वकाल में भारतीय संस्कृति ने एक को दूसरे का पूरक माना था । दण्डनीति अज्ञानी को भयभीत करती और धर्मनीति मानव में विवेक को जागृत कर उसे ठीक रास्ते पर लगा देती है । दण्डनीति केवल पशु-प्रकृति के मानव के लिए आवश्यक है, परन्तु स्थायी सुधार के लिए उसे भी मानवीय प्रकृति का ज्ञान देना आवश्यक होगा । एक माता मारपीट कर बालक को सुधारती है, और दूसरी मां समझा-बुझाकर प्रेम-पूर्वक सुधारती है, दूसरी मां का असर स्थायी होगा । समझाकर तथा कारण बताकर बालक से काम लेने वाली मां बच्चे का जीवन सुधार सकती है । पर, मारने वाली नहीं । मारने-पीटने से सुधारने का उद्देश्य सफल नहीं होगा, क्योंकि वह जीवन में गहरी उतारने वाली बात नहीं है ।

मारने से बच्चे में ढिठाई बढ़ती है । अधिकांश मार के आदी बच्चे चोरी तथा अन्य कुचाल की प्रवृत्तियों में निर्भय हो जाते हैं । बाल-मन्दिरों में एक महिला अनेक बच्चों को एकसाथ संभालती है, संकेत के द्वारा ही उनसे काम लेती और उनमें अच्छी आदतें डालती है । वहां छुट्टी होने पर भी बच्चे शोर नहीं करते । उनमें अनुशासनप्रियता उत्पन्न कर देती है । खेद की बात है कि जन्म देने वाली मां अपने बच्चों को सुसंस्कृत एवं अनुशासित नहीं कर पाती । जबकि बाल निकेतन में झुण्ड के झुण्ड बच्चों को एक अपरिचित महिला अनुशासित रखती है । उसके पास केवल भय नहीं है, किन्तु जीवन बनाने की कला है । जीवन वही महत्वशाली होता है, जहां विवेकपूर्ण नियन्त्रण है । नियमन के अभाव में जीवन पतित हो जाता है

यह भारतीय संस्कृति की धरोहर है और हमें विरासत के रूप में प्राप्त है। यह श्री ऋषभदेव, राम, कृष्ण और महावीर की धर्मभूमि है। यहां जीवन में न्याय, नियम, सदाचार एवं ज्ञान क्रियापूर्वक आदर्श के पालन की परम्परा है।

यदि कोई रक्षक-दल का पुरुष ही मोहवश भक्षण करने लगे, तो जीवन महान् पतितावस्था को पहुँच जाएगा। मनुष्य अपने को मुक्ति-मार्ग का पथिक या देव नहीं बना सके, तो कम से कम दानव तो नहीं बने।

चार बातें मनुष्य को पशु की कोटि में उतार देती हैं। (१) झूठ (२) कपट (३) कूट माप तोल एवं (४) आर्त्तभाव। पशुता से बचने के लिए इन कारणों का परित्याग आवश्यक है। ऐसी ही चार बातें नरक योनि में ले जाने वाली हैं–जैसे–१. महा हिंसा, २. महा परिग्रह, ३. मनुष्य एवं पशु हत्या और ४. मांस भक्षण। ज्ञान मनुष्यों को अत्याचार, मायाचार, आदि से बचाकर सन्मार्ग के अभिमुख करता है, क्योंकि धर्मनीति से प्रेरित मानव अनायास ही स्व-पर के लिए सुखदायी हो सकता है।

राजनीति में दण्ड के द्वारा जीवन सुधार की बात भ्रामक है, क्योंकि कुप्रवृत्तियों के स्थान में सद्वृत्तियों को जागृत करने का वहां कोई व्यावहारिक प्रयास नहीं होता। गलत और झूठी आवश्यकताओं को लेकर आदमी अनीति करता है। नियमों से यदि जीवन संयमित होगा, तो वह स्वतः कुमार्ग से बच सकेगा।

अपने वैभव प्रदर्शन हेतु, प्रीतिभाजन बनने के लिए अथवा अपने ओछे स्वार्थ हेतु व्यक्ति को कर्त्तव्यच्युत करने के लिये भी अनेक लोग, राजकर्मचारियों, मन्त्रीगणों या अन्य लोगों के सम्मान में प्रीतिभोज एवं स्वल्पाहार आदि का आयोजन करते हैं। जीवन में यदि नियमन को स्थान दे दिया जाय, तो अधिकारी और सामान्य व्यक्ति दोनों गड़बड़ाने से बच सकेंगे। आज भली बातों का मनुष्य पालन नहीं कर रहा है इसका कारण इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं होना और दिखावे में तथा स्वार्थान्धता में पड़ जाना ही है।

आनन्द महावीर स्वामी की अमृतवाणी से प्रभावित होकर सादे जीवन और आध्यात्मिक विचार का अनुयायी बन गया। उसने अपनी आवश्यकता सीमित कर लौकिक एवं परलौकिक दोनों जीवन को सुधार लिया।

आज का समाज यदि अपनी बढ़ती हुई आवश्यकताओं को कम नहीं करके, धन-संग्रह की प्रवृत्ति पर जोर लगाता रहा, तो वह दिन अधिक दूर नहीं, जब मनुष्य नीति मार्ग से च्युत होकर पतन के गहरे गर्त में गिर जायेगा। भारत की प्राचीन

संस्कृति के अनुसार यदि मानव अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण रख कर चले, तो बचे हुए धन से दान तथा अन्य पारमार्थिक कार्य शान्तिपूर्वक कर सकता है । इस प्रकार अपनी आवश्यकताओं के बढ़ते वेग को रोक कर मनुष्य अपना तथा दूसरों का भी आसानी से भला कर सकता है । मानव यदि इस आदर्श को ग्रहण कर ले तो दण्ड-नीति का विस्तार अथवा उसका दुरुपयोग कम हो सकता है । इसके विपरीत जब तक मानव-जीवन में सुनियमों का पालन नहीं हो, तो दण्डनीति का हम कितना ही विस्तार क्यों न कर लें, समाज में शान्ति एवं सुव्यवस्था नहीं आ सकती ।

प्राचीन काल में वाहन वाले बिना वाहन वालों को हेय दृष्टि से नहीं देखते थे, वरन् उनकी पद-यात्रा के साहस को सराहनीय और प्रशंसनीय समझते थे, किन्तु आज धारणा बदल गई है और वाहन वाला पद-यात्री को निम्न स्तर का समझता है। आज के भौतिकवादी युग में यान्त्रिक वाहनों का बहिष्कार तो संभव नहीं फिर भी सद्भावना से मनुष्य साधनहीनों को अपना साथी बना सकता है । पूजनीय के प्रति सम्मान और नम्रता पहले के समान अब नहीं रही, क्योकि शिक्षणालयों में धर्म-शिक्षा के लिए कोई स्थान नहीं है ।

आज मानव सादा कपड़ा, सात्विक भोजन एवं रहने को सुरक्षित मकान की जगह कीमती वस्त्र, तामसी भोजन और बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं को आवश्यक मानता है तथा उनकी अप्राप्ति में दुःखानुभव करता है । जैसे मकड़ी स्वयं अपने ही मुंह की तांत से उलझ कर अपना प्राण दे देती है, वैसे मानव अपनी वासनाओं की तांत में उलझ कर अपना अहित करने में भी नहीं हिचकिचाता और पशु-पक्षी तो क्या मानव तक की भी हत्या करने को तत्पर हो जाता है ।

प्राचीन समय की बात है—चन्द्रगुप्त का प्रपौत्र तथा बिन्दुसार का पुत्र कुणाल उज्जयिनी में राज का उत्तराधिकारी मानकर रखा गया । जब उसकी उम्र आठ वर्ष की हुई तो सम्राट को खबर दी गई, ताकि राजकुमार की शिक्षा-दीक्षा के संबंध में उचित आदेश मिल सकें । सम्राट ने प्रत्युत्तर में लिखा—'अधीयतां कुमारः' । पत्र लिखकर राजा शारीरिक चिन्ता निवारण हेतु बाहर चले गये । इस बीच वह पत्र कुणाल की विमाता के हाथ लगा । उसने सोचा कुणाल बड़ा है अतः वही बडा होने पर राज्य का अधिकारी होगा तो मेरे पुत्र को राज्य नहीं मिलेगा । कोई उपाय करना चाहिये । बस क्या था, उसके मन में स्वार्थ ने आसन जमाया और पुत्र-सुख के लिए 'अधीयता' पद के 'अ' पर बिन्दी लगा दी और "अधीयता" का "अंधीयता" कर दिया। केवल एक बिन्दी लगाने से पत्र की भावना में आमूल परिवर्तन हो गया । पत्र उज्जयिनी भेज दिया गया ।

उज्जयिनी के राजदरबार में पत्र पढ़ा गया । पता की आज्ञा शिरोधार्य है, कह कर कुणाल ने आदेश दिया कि राजाज्ञा का पालन तत्काल किया जावे । गरम शलाका मंगवाकर कुणाल ने स्वयं ही उससे अपनी आंखें फोड़ लीं । अंधा हो जाने से कुणाल अब राज्य का उत्तराधिकारी नहीं रहा । रानी को पत्र में बिन्दी लगाकर कुणाल को अंधा बनाने की क्या आवश्यकता थी ? अपने पुत्र की राज्य प्राप्ति तो राजा के आदेश से यों भी हो सकती थी, फिर भी ऐसा कलुषित कृत्य करने से वह नहीं चूकी । यह स्वार्थ की महिमा है ।

आज मानव के मन में इसी प्रकार कुवृत्तियों का भूत नाच रहा है । दूसरे का धन छीन लेना, अपने अधीनस्थ व्यक्ति को नौकरी से अलग करवा देना और दूसरों को सताना आदि न जाने कितने कुकर्म, मानव अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए करता है । दूसरों के धन, जन और भवन आदि छीन कर ले लेने की अनेकों घटनाएं नित्य सुनी जाती हैं । इन अनावश्यक मानसिक दुर्वृत्तियों को दबाकर अपनी आवश्यकताओं को यदि सीमित कर दिया जाय, तो मनुष्य की अशान्ति और आकुलता मिट जायेगी । प्रदेश-प्रदेश में, देश-देश में एवं सम्प्रदाय-सम्प्रदाय में झगड़े चलते हैं, नेतृत्व के लोभ में पड़कर सत्य पर पर्दा डालकर उसे असत्य में बदल दिया जाता है। इन सबका मूल कारण स्वार्थ-वासना और मन की विकृत लालसा ही तो है ।

सत्संग, भगवत्भजन आदि शांत दशा में होते हैं और शान्ति सन्तोष के बिना अर्थात् अपनी आवश्यकताओं को सीमित किए बिना प्राप्त नहीं होती । अतः नियमन द्वारा जीवन में संयम लाइए । चक्की में हजारों दाने पिस जाते हैं, किन्तु कील से चिपका हुआ दाना बिना पिसे रह जाता है, सर्वथा बच जाता है । सीमा रहित अनन्त आवश्यकता वाले मनुष्यों को तो चक्की में पिसे जाने वाले दाने के सदृश्य समझना चाहिए और कील के पास सुरक्षित दानों के समान उन साधकों को समझना चाहिए जो अनन्त ज्ञानी वीतराग प्रभु की शरण में लीन हो जाते हैं तथा अपनी वृत्तियों पर अंकुश रखते हैं । सारांश यह है कि यदि आकुलता और अशांत स्थिति से बचना है तथा लोक और परलोक दोनों सुधारना है, तो अपनी आवश्यकताओं और रागात्मक वृत्तियों का संयम कीजिए जिससे सहज निर्दोष आनन्द की प्राप्ति हो सके ।

---

[३१]

चिन्तन की चिनगारियाँ

साधना के मार्ग पर चलने वाला साधक, जब तक अज्ञान का पर्दा दूर नहीं कर लेता, तब तक कर्तव्य और अकर्तव्य का वह भेद नहीं कर पाता। उसे टकराने तथा कुमार्ग में गिरने से बचाने के लिए, शास्त्रों के माध्यम से प्रेरणा दी जाती है ताकि वह सुमार्ग पर चलता रहे और लक्ष्य से गिरने नहीं पावे।

शास्त्रों में साधना-पथ पर चलने वालों के लिए चार साधक तथा चार ही बाधक बातें बताई गई हैं। बाधक बातें इस प्रकार हैं—१. बार-बार चार प्रकार की विकथा करते रहना २. विवेक से आत्मा भावित नहीं करना ३. पिछली रात में धर्म-जागरण नहीं करना और ४. निर्दोष आहार की सम्यक् प्रकार से गवेषणा नहीं करना।

जो साधक आहार-शुद्धि की गवेषणा नहीं करेगा। वह स्वाद तथा पेट भरने के चक्कर में पड़कर आत्म-कल्याण से विमुख हो जाएगा। आहार में भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार नहीं करने वाला अशान्ति प्राप्त करता है। उसे सच्चा ज्ञान नहीं मिल सकता।

आत्म-हित के विपरीत कथा को विकथा कहते हैं अथवा अध्यात्म से भौतिकता की ओर तथा त्याग से राग की ओर बढ़ाने वाली कथा विकथा कहलाती है। विकथा साधना के मार्ग में रोड़े अटकाने वाली और पतन की ओर ले जाने वाली है, अतः साधक को उसमें संभल कर पांव रखना चाहिए।

कितना भी महान् से महान् पढ़ा लिखा क्यों न हो, यदि वह शान्त समय में चिन्तन नहीं करे, तो आत्म-स्वरूप को पहिचान नहीं पाएगा। आकाश और पाताल की दूर-दूर की बातों की ओर मानव का ध्यान जा रहा है, पर अपने स्वरूप की

तरफ वह नहीं देख पाता । सूक्ष्म दृष्टि से मनुष्य को भी अपनी आंख से रज-कण निकालने के लिए दूसरे का सहारा लेना पड़ता है । पास में रहने वाल रजकण, वह नहीं देख पाता । चर्म-चक्षु की दर्शनशक्ति इतनी सीमित है कि वह अपने आपको भी नहीं देख पाती, यद्यपि वह दूर की वस्तु देख लेती है । इसी कमी को दूर करने के लिए महापुरुषों ने प्रेरणा दी है कि अपने आपको जानो । पापों में डूबा हुआ मानव यदि धर्म-जागरण करे, रात को आत्म-स्वरूप का चिन्तन करे, तो अपने आपको ऊपर उठा सकेगा और जीवन धन्य बना सकेगा ।

सद्गृहस्थ आनन्द ने चिन्तन का आधार लिया और वह ऊपर उठ गया । वीतराग की अमृतवाणी श्रवणकर वह अमृतमय बन गया । श्रवणेन्द्रिय का स्वभाव ध्वनि को पकड़ना है, किन्तु उसे ग्रहण करना बुद्धि का काम है, जो बुद्धि पूर्वक सद्गुरु से पूछकर अपनी शंका का समाधान प्राप्त करता और धर्म मार्ग पर चलता है, वह आगे बढ़ता है ।

जीवन-निर्माण के लिए आनन्द ने अपने नित्य की आवश्यकता में कमी करली। उसने घृत, ओदन, दाल एवं साग आदि का परिमाण किया । घृत के सम्बन्ध में उसने शरत् कालीन गोघृत के अतिरिक्त सब का त्याग किया । साग में पालक, चंदलीया और मंडूक याने मंडवा को छोडकर शेष गोभी, मूली चना, और अफीम आदि सभी भाजी का उसने परित्याग किया ।

पत्तीदार सब्जियों तथा भिंडी, भट्टा आदि बन्द सब्जियों में कीट रहते हैं, इस पर लोगों का ध्यान नहीं जाता । आज के मानव का यह स्वभाव हो गया है कि विटामिन युक्त वस्तु कहने पर, वे उसे ग्रहण करने के लिए उतारू हो जाते हैं । लाल टमाटर विदेशी वस्तु है, किन्तु डाक्टरों की छाप लगी होने से, आप उसे व्यवहार में लेने लग गए हैं और देश की अनेक अच्छी वस्तुओं को भूल गए । आंवला, मेथी और पालक में भी यदि डाक्टरों की छाप लग जाय, तो क्या ये लाभकारी सिद्ध नहीं होंगे ।

सम्यक् दृष्टि आनन्द स्वाद के लिए भोजन नहीं करता, वरन् शरीर-संरक्षण के लिए करता था । वीतराग होने पर भी मानव को शरीर-रक्षा के लिए भोजन ग्रहण तो करना ही पड़ता है । हां, ज्ञानी के खाने का दृष्टिकोण दूसरा होता हैं और अज्ञानी का दूसरा । भाजी में क्षार पदार्थ होते हैं और क्षार पदार्थ की कमी होने से शरीर में अनेक विध रोग न हो जायं, अतः आनन्द प्रकृति तथा अपने जीवन के अनुभवों द्वारा निर्णय लेना चाहता था, ताकि शरीर का समुचित संरक्षण हो सके और आरंभ का दोष भी कम लगे ।

आज मनुष्य की वृत्तियों में कमी नहीं, बल्कि विस्तार ही विस्तार है । लोग आक के पत्ते का भी अचार बनाते हैं और पशु की खुराक पर भी हाथ फेरना आरंभ कर रहे हैं । घास तो पशुओं का भक्ष्य है, मगर मानव उसे भी नहीं छोड़ता। फल, फूल, पत्ती तो मानव खाता ही था, अब वह रस मिलने पर घास भी आत्मसात् करना चाहता है । आनन्द ने सोचा कि जीवन में हिंसा घटने के साथ यदि वृत्ति में सीमा आ जाएगी, तो अन्य प्राणियों के प्रति ईर्ष्या, दुर्भावना, संघर्ष और घृणा आदि नहीं होगी । दुर्भावनाएं प्रायः तभी होती हैं, जब दूसरे की रोटी पर कोई हाथ फेरता है । वस्तुतः ऐसी वृत्ति जीवन को अशान्त तथा दुःखद बनाती है ।

मानव-जीवन में कृत्रिमता बहुत बढ़ गई है, इससे जीवन भार भूत बनता जा रहा है । समाज के सीधे-सादे किसान भाई भी आज बनावटीपन के चक्कर में फंसते नजर आते हैं । सादे जीवन की जगह आज उन्हें भी भड़कीलेपन से प्यार होता दिखाई देता है । शहर की कृत्रिमता धीरे-धीरे गांव की ओर फैलती जा रही है। साधारणतया नमक-मिर्च से ही सब्जी बन जाती है । किन्तु जीरा-मेथी आदि की बघार डालकर आज उसे अधिक सुस्वादु बनाने की चेष्टा की जाती है । इस तरह मनुष्य महारंभी बनकर अखाद्य वस्तुओं को भी ग्रहण करने में आज संकोच नहीं करता । इससे प्रतीत होता है कि मनुष्य अपना जीवन मात्र खाने के लिए समझने लगा है ।

तालाब के पानी को बाहर जाने से पाल रोकती है, उसी प्रकार वृत्तियों के जल को रोकने वाला नियम है । यदि जीवन में नियम नहीं होगा तो मनुष्य अपनी वृत्तियों को इतना बढ़ा लेगा कि वह प्रलयंकारी रूप ग्रहण कर लेगा ।

मनुष्य जिन कारणों को सुख के साधन मान रहा है, वे ही उसके दुःख के कारण बन जाएंगे । जिन बांधों ने बाढ़ों का रूप धारण कर लिया, उनमें कहीं कमजोरी अवश्य रह गई होगी । इसी प्रकार नियम की कमजोरी से जीवन का पाल भी टूट जाएगा । सदाचार, सद्गुण और सुभावना के लिए नियम की दृढ़ पाल चाहिए अन्यथा जीवन गड़बड़ा जाएगा और संचित आध्यात्मिक धन नष्ट हो जाएगा ।

नियम का महत्व हर काल में अक्षुण्ण रहता है । देश काल का कोई भी प्रभाव उस पर नहीं पड़ता । चाहे अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व का आनन्द वाला काल हो या आज का, नियम पालने की जरूरत तब भी वैसी ही थी और आज भी वैसी ही है । शारीरिक दृष्टि से भी यदि खान-पान में संयम नही होगा तो शरीर में विकार उत्पन्न होंगे ही । फल, सब्जी एवं वनस्पति में भी अनेक बीमारियां होती हैं । ऋतु कृत या अन्य कारणों से ककड़ी के मुंह पर तथा तरोई में कड़वापन आ जाता है

जो खाने से रोग उत्पन्न करता है । साथ ही कुआहार से मन में अनीति के विचार उठते हैं और मनुष्य अन्य प्राणियों के साथ मैत्री-भाव नहीं रख पाता । गाय-भैंस से दूध लेने वाले इतना अधिक दूध दूह लेते हैं कि उनके बच्चे को भी दूध नहीं बच पाता । कुआहार वाले व्यक्ति में संग्रह वृत्ति बढ़ जाती तथा कुभावना जागृत होती है। फलाहार अन्नाहार तथा पत्ती के आहार में भी मनुष्य निर्दोषिता का लक्ष्य रखे, तो अपना जीवन सौम्य बना सकता है ।

आनन्द ने नियम बनाया कि वह आंवले के अतिरिक्त अन्य फलों को रुग्णावस्था छोड़कर ग्रहण नहीं करेगा । इस तरह उसने संसार के अन्य सभी फलों को जो रस एवं माधुर्य युक्त होकर मन को ललचाने वाले होते हैं, त्याग कर दिया । फल त्याग से मन में यह तर्क उठता है कि आखिर इन फलों को कौन खाएगा ? और इनसे मिलने वाले बल एवं पौष्टिकता से मानव-समाज वंचित रह जाएगा । परन्तु मनुष्य को यह सोचना चाहिए कि संसार कुछ छोटा तो नहीं है और सब के सब कोई एक ही फल तो नहीं छोडेंगे । फिर वस्तु के लिए उठने वाला संघर्ष त्याग से ही तो कम होगा । आहार-विहार ठीक रखने वाला विषम परिस्थितियों में भी दिमाग संतुलित रख पाता है । हानि-लाभ और संयोग-वियोग में वह आतुर, अधीर नहीं होता और मन तथा मस्तिष्क को संतुलित रखता है ।

अब वररुचि की जो बात चल रही है । उसे देखिये–

पं. वररुचि के प्रयत्न से महामन्त्री शकटार सम्राट नन्द के कोप-भाजन हो गए और उनके आमोद-प्रमोदमय जीवन में अकस्मात् विपदा की काली घटा घिर आयी । हाथी पर सवारी करने वाला पैदल चलने की स्थिति में आ गया । महाराज उसकी ओर कड़ी दृष्टि से देखने लगे क्योंकि वररुचि ने महाराज को जंचा दिया कि महामन्त्री राज्य का तख्ता उलटने के लिए अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करवा रहा है । राजा तो चर चक्षु होता है और चरों ने इसे सही पाया कि महामन्त्री की ओर से अस्त्र-शस्त्र बनवाए जा रहे हैं । फिर तो महामंत्री की एक भी बात नहीं सुनी गयी और उन्हें राज्य मन्त्री पद से च्युत कर कड़ी सजा का पात्र माना गया । वररुचि को अपमान का बदला चुकाने का स्वर्ण अवसर हाथ लग गया ।

महामन्त्री शकटार राजा के सामने से हटकर गंभीर चिन्तन करने लगा, ताकि परिवार की रक्षा का उपाय कर सके । उसने पुत्र श्रीयक को बुलाकर कहा कि आज तुमको एक मुद्दे की बात कहनी है । आज तक नन्द की कृपा से हमारा घर फूला-फला है । अब मेरा तन तो राख की ढेरी बनकर उनके चरणों में पड़ जावेगा, तुम अपनी चिन्ता करो । मेरे चलते पारिवारिक जीवन सुखमय हो, यही कामना है ।

मुझे ऐसा लगता है कि "रूठा काल नाश करता है।" राजा के रूठने पर बचाव का उपाय है, किन्तु काल से बचना कठिन है। हजारों वारन्ट वाले भी राजा की कोप दृष्टि से बच जाते हैं पर काल से कोई नहीं बच सकता। यह सुनकर श्रीयक ने कहा कि महाराज प्रमाण देखकर न्याय करेंगे या न्याय छोड़ देंगे। आपके जीवन पर संकट आया देखकर मैं अपना प्राणोत्सर्ग कर दूंगा। यदि चूक न हो तो महाराज से न्याय की मांग करूंगा। इस तरह श्रीयक इस बात पर अटल रहा कि वह अपने जीते-जी पिता के जीवन पर किसी तरह की आंच नहीं आने देगा।

शकटार बुद्धिमान था और आज तक राजा तथा प्रजा दोनों का प्रेम भाजन बना हुआ था जो कि एक असंभव-सी बात है। प्रजा का प्रिय राजा का शत्रु और राजा का प्रिय प्रजा का शत्रु समझा जाता है। शकटार ने श्रीयक से कहा कि तुझ में अभी जवानी का जोश है। जब स्वामी और सेवक के बीच में लड़ाई हो, तो उसका परिणाम क्या निकलेगा ? जो कुछ भी थोड़ी मधुरता है, वह भी मिट जाएगी। यदि लड़ाई में आपसी समझौता हो जाय तो मधुरता रहेगी, परन्तु लड़कर बलात् अधिक भी प्राप्त किया जाय, तो वह लाभदायक नहीं होगा। समझदार व्यक्ति पैसे को महत्व नहीं देकर मानव को महत्व देता है। आज समाज में फैले अनेक झगड़ों का मूल कारण मानव से अधिक धन को महत्व देना ही है।

शकटार ने कहा कि राजा से बराबरी दिखाने पर तीन हानियां होंगी— (१) स्वामी सेवक सम्बन्ध नहीं रहेगा (२) घृणा बढ़ेगी और मधुरता मिटेगी तथा (३) लोक निन्दा होगी और जीत में भी हार होगी। श्रीयक भी समझदार था। उसने राजा के कोप से बचने का पिताजी से रास्ता पूछा। महामन्त्री ने कहा कि सत्ता बल वाले से अपराध नहीं पूछा जाता। सत्ता से उलझने से कोई लाभ नहीं होता। तन, धन और इज्जत मिट्टी में मिल जाती तथा व्यवहारिक हानियां भी होती हैं। मेरा आयु बल समाप्त हो रहा है—अतः इसके लिए घबराना उचित नहीं, यह निश्चय है कि कोई भी प्राणी आयु बल क्षीण हुए बिना नहीं मर सकता।

शकटार में सत्संगति से सुसंस्कार थे। अतः वह भयंकर विपत्ति की घड़ी में भी शान्त तथा अडोल बना रहा। उसने धैर्य नहीं खोया और आत्मबल बनाए रखा। उसका जीवन सांसारिकजनों के लिए प्रेरणादायक है।

[३२]

आहार शुद्धि

आत्म-पतन से भयभीत मानव अपने स्वरूप के सम्बन्ध में निरन्तर चिन्तन करता रहता है । मैं कौन हूँ कहां से आया हूँ और कहां जाऊंगा आदि बातें साधनशील के मन में उठती रहती हैं और वह जीवन-निर्माण के लिए सतत् सचेष्ट बना रहता है । किन्तु जिसके मन में भविष्य का भय नहीं, वह जीवन के सुधार-बिगाड़ को कुछ नहीं समझता । साधक को चाहिए कि वह आत्म-सुधार के लिए प्रथम जीवन-सुधार और फिर मरण-सुधार करे ।

यह मानी हुई बात है कि पूर्वभव का पुरुषार्थ संचित-कर्म के रूप से काम करता है और यही कारण है कि आज कोई अल्प-श्रम में भी सुखी और कोई महान् श्रम करते हुए भी दुःखी बना रहता है । यदि पूर्व भव का पौरुष काम नहीं करता, तो कर्म फल में यह अन्तर दिखाई नहीं देता । जीवन कभी-कभी बदल जाता है एक तपातपाया साधक बिगड़ जाता तथा संस्कारवश कोई बिगड़ा हुआ व्यक्ति भी साधक बन जाता है । कभी-कभी तो जीवनभर बिगड़ा रहकर अन्तिम समय कोई-कोई सुधर जाता ऐसे नमूने भी देखे गए हैं । परमार्थ दृष्टि से देखने पर पूर्व संचित कर्म ही इसका बीज है । जहाँ जीवन सुधर रहा है, वहाँ पूर्व के सुकर्म का फल है । पूर्व जीवन में अच्छी करणी होने से बिगड़ा मानव सुधर जाता और जहाँ पूर्व के अशुभ कर्म का जोर है, वहाँ शुभ निमित्त मिलने एवं सुधार का प्रयत्न करने पर भी जीवन सुधर नहीं पाता । फिर भी वातावरण और पुरुषार्थ का असर अवश्य होता है। इस तरह मरण सुधार के लिए जीवन सुधार और जीवन सुधार के लिए वृत्तियों पर संयम करना आवश्यक है ।

श्रुत धर्म जीवन में ज्ञान और श्रद्धा उत्पन्न करता है और जब श्रुत धर्म से साधक में विश्वास उत्पन्न हो जाता है, तब चारित्र व्रत नियम के द्वारा साधक अपना

जीवन सुधार का कार्य करता है । वस्तुतः जीवन को बनाने या बिगाड़ने का सारा दायित्व चारित्र पर ही निर्भर है । शास्त्रों का ज्ञान, वक्तृत्व कला निपुणता और प्रगाढ़ पाण्डित्य आदि व्यर्थ हैं, यदि मानव में सच्चरित्रता का बल नहीं हो ।

जीवन धारण में भोजन का महत्वपूर्ण स्थान है अतः संसार का समस्त उद्योग भूख मिटाने के लिए ही चल रहा है । शरीर रचना के साथ यदि भूख का सम्बन्ध नहीं होता, तो आज आप संसार का जो स्वरूप देख रहे हैं वह हर्गिज इस रूप में नहीं देख पाते । लड़ाई, कलह, द्वेष या ईर्ष्या की विभीषिका, जन-मन को व्यथित नहीं कर पाती । इस प्रकार जीवन में भोजन का महत्व होते हुए भी मानव जगत में, खासकर भारतवर्ष में खाने का समय निश्चित है । पशु की तरह मनुष्य हर समय खाते नहीं रहता। बार-बार खाने से दांत में भोजन के कण रह कर सड़ जाते, जिससे दर्द होने लगता और अंत में दांत निकालने की नौबत आ जाती है । किन्तु समय पर सात्विक भोजन करने से मन स्वस्थ और प्रसन्न रहता है । कहा भी है–

"जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन ।
जैसा पीवे पानी, वैसी निकसे वाणी"

आनन्द ने आगार धर्म का पालन करते हुए भोजन विधि में दही-बड़े के अतिरिक्त अन्य अम्ल पदार्थों का परित्याग कर दिया । भोजन से भी बढ़कर जीवन में जल का स्थान होता है । अतः आनन्द जल का परिमाण करता है । नदी, तालाब, कुआं, बावड़ी और नल-कूप आदि जल प्राप्ति के अनेक साधन हैं । कुएं के पानी की अपेक्षा तालाब के जल में अधिक जीव जन्तु होते हैं । पानी यदि छानकर नहीं पीया जाय, तो जीव-जन्तु पेट में चले जाएगे, जिससे शरीर की भी हानि होगी तथा अकारण अधिक हिंसा का पाप सर पर चढ़ेगा । चाणक्य ने भी अपने नीति-शास्त्र में कहा है–

दृष्टि पूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिवेत् ।
सत्यं पूतं वदेत् वाक्यं, मनः पूतं समाचरेत् ।।

अर्थात्–देखकर पैर रखना उत्तम है । वस्त्र से छना पवित्र जल पीवें । सत्य से पवित्र वाणी बोलें और पवित्र मन धारण करें यह नीति है । वस्त्र से छाने जाने पर जल पवित्र हो जाता है । उसकी पवित्रता के अन्य विचार तो देश कालानुसार लोगों के कल्पित हैं । उसमें अपनी सुविधा का ही मुख्य लक्ष्य है । घड़े में थूक दिया जाय तो पानी अपवित्र मानकर फेंक दिया जाता है । ग्रहण में घर का जल फेंक दिया जाता है पर मरुप्रदेश में या जलाभाव में कुश डालकर पवित्र मान लिया जाता है । जलाशयों को स्वयं अपवित्र करने, उसमें नहाने, धोने और दंत

प्रक्षालनादि करने में लोग संकोच नहीं करते, बल्कि पुण्य मानते हैं । अधिक जल होने से वहाँ मन का समाधान कर लेते हैं कि जल राशि विशाल है । अतः वह राशि अपवित्र नहीं होती ।

आनन्द ने पीने के पानी के लिए संकल्प किया कि वह बड़ी टंकी में संगृहीत आकाश का पानी ही पियेगा । चातक की तरह उसने भी जमीन के समस्त जल को अपने लिए अपेय मान लिया । इस प्रकार उसने अपनी आवश्यकता को सीमित किया ।

आहार शुद्धि की आवश्यकता पर महावीर स्वामी ने बहुत अधिक बल दिया है । हित, नियमित, परिमित शुद्ध आहार से जीवन चलाने वाले व्यक्ति का शरीर हल्का रहता है, पराधीनता से मुक्त होता तथा रोग रहित रहता है। यदि भोजन में नियमन न हो तो गृह लक्ष्मी को हमेशा चूल्हा जलाए रखना पड़ता है । ऐसे घरों में पति-पत्नि में टकराने तथा मनोमालिन्य का भी अवसर उपस्थित हो जाता है । दिन-रात चूल्हा जलने वाले घर में जीव-जन्तुओं की हिंसा अनिवार्य होगी और गृह लक्ष्मी के उसमें उलझे रहने से बच्चों को माँ के प्यार एवं सुसंस्कार से भी वंचित रहना पड़ेगा।

जब माताओं का समय भोजन, श्रृंगार आदि में चला जाय और पतियों का बाजार, ऑफिस, सिनेमा और क्लब आदि में तो ऐसे घरों के बच्चों का भगवान् ही मालिक है । वे सुधरें या बिगड़ें दूसरा कौन देखे ? जिन बच्चों को बचपन में धर्म शिक्षा की घूंटी नहीं मिलती, बड़े होने पर उनमें धर्म रुचि कहां से आएगी ? श्रीकृष्ण गिरि उठाकर गिरिधर बन गए, पर आज मानवों को ज्ञानाराधना भी भार स्वरूप लग रही है । सुसंस्कार के तीक्ष्ण धार से मंजा हुआ मनुष्य संकट के पहाड़ को भी तिनका समझकर पार कर जाता है । राम, कृष्ण और महावीर स्वामी सरीखे महापुरुषों की बात छोड़ भी दें, तो साधारण मानवों ने भी, बचपन के सुसंस्कार वश भयंकर से भयंकर विपत्तियां पार कर ली हैं ।

कथा भाग में महामन्त्री शकटार की बात चल रही है । उसमें बताया गया कि बुद्धिमान व्यक्ति जोश में भी कैसे होश से काम लेता है । महामन्त्री के पुत्र श्रीयक ने जोश में राजा से कानूनी लड़ाई लड़ने की बात कही, परन्तु महामन्त्री शकटार अनुभवी तथा विचारवान् व्यक्ति थे । अतः क्षणिक जोश में आकर होश गंवाने वाली पुत्र की बात से प्रभावित नहीं हुए और अपनी नीति उसके सामने रखते हुए बोले कि–

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे सकलं त्यजेत् ।।

अर्थात् कुल की रक्षा के लिए एक का त्याग कर दो, ग्राम के लिये कुल का, देश के लिए ग्राम का और आत्मा के लिए सबका त्याग कर दो, पर आत्मा का अहित न होने दो । श्रीयक की चिन्ता यह थी कि किसी तरह राजा के कोप से पिता बच जायं । पुत्र के जीतेजी किसी दूसरे के द्वारा पिता पर आने वाली आंच उसके लिए खुली चुनौती है । जिसका सामना प्राण देकर भी पुत्र को करना ही चाहिए । अतः महामंत्री की नीतिपूर्ण उक्ति से पुत्र का जलता-भुनता मन सन्तुष्ट नहीं हुआ, पर कुछ शान्त जरूर हो गया ।

शकटार ने कहाः- "पुत्र ! मेरे कारण कुल का नाश न हो । इसका उपाय यह है कि दरबार में जब राजा मुझे उपस्थित देखकर अपना मुख मोड़ले, उस समय तुम अपना खड्गमेरी गर्दन पर चला देना । जब राजा पूछे तो यह उत्तर देना कि आप राष्ट्र के पिता हैं और ये मेरे पिता हैं, अतएव राष्ट्र के पिता की आज्ञा सर्वोपरि है । आपके कोप भाजन की सजा मृत्यु से कम क्या हो सकती है—इसलिए मैंने इन पर खड्ग का प्रहार किया है । इस तरह नीति तथा कुटुम्ब दोनों का रक्षण होगा और न्याय की मांग किए बिना ही कार्य सिद्ध हो जायेगा । मेरे मान को बचाने की चेष्टा से कुटुम्ब की हानि होगी । जो परिवार नीति का रक्षण करेगा, वह सत्य और सदाचार की प्रीति के कारण कुल का वातावरण शुद्ध रख सकेगा ।"

यदि कोई व्यक्ति यह सोचे कि भले ही पुत्र वेश्यागामी या शराबी क्यों न हो, आखिर वह मेरा लड़का है । कैसे उसका तिरस्कार या अपमान कर उसे घर से बाहर जाने दूं ? तो उस एक के चलते सारा घर गड़बड़ा जाएगा, अतः घर के सुधार का यही एक प्रशस्त मार्ग है कि या तो उस लड़के को सुधारो या उससे किनारा करो । यदि कुमार्गगामी पुत्र को सुधारा न जाय और किनारा भी नहीं किया जाय तो घर भर का अहित हुए बिना नहीं रहेगा ।

राजनीति और धर्मनीति दोनों में त्याग का महत्व है । एक में यह त्याग केवल अपने स्वार्थ साधन मान, मर्यादा, पद और नामवरी आदि के लिए है, पार्टी या राजनीति को सबल बनाने के लिए भी त्याग किया जाता है किन्तु धर्मनीति में त्याग परमार्थ के लिए किया जाता है । बड़े-बड़े राजे महाराजे जिनके वैभव का कोई पारावार नहीं था, धर्माचरण हेतु भोग-विलास से पराङ्मुख ही नहीं हुए वरन् अनेकों कष्ट भी सहे हैं । पर धर्माचरण पर डटे रहे जिसका अन्तिम परिणाम अत्यन्त सुखद रहा ।

मनुष्य अर्थनीति में जितना समय लगाता है, यदि उसका आधा समय भी धर्मनीति में लगावे, तो उसका उद्धार हो सकता है । आज का मानव व्रत नियम की

बात सुनकर घबरा जाता है किन्तु अपने सांसारिक जीवन की कठिनाइयों को लक्ष्य में नहीं रखता । वह अर्थ लाभ के लिए सर्दी, गर्मी, वर्षा, भूख, प्यास आदि सभी सहन करता है किन्तु धर्म पालन के नाम पर थोडा भी कष्ट पाकर चंचल-चित्त हो जाता है । भगवान महावीर स्वामी कहते हैं कि हे संसार-रत-मानव ! वसुधा को चीरकर छोटे-छोटे बीज बोकर अधिक की आशा क्या करता है ? तू अपने ह्दय की खेती कर, जहां चाहे तो कल्प वृक्ष उगा सकता है और मनवांछित फल पा सकता है । इसमें आक्-धतूरे जैसे जहरीले पौधे तथा कंटीले झाड़-बबूल आदि उगाकर अपने श्रम को व्यर्थ क्यों बनाता है ?

खेत के झाड़-झंखाड कभी भी उखाडे जा सकते हैं किन्तु ह्दय में उगे कंटीले झाड़ आसानी से नहीं उखड़ पाते । जीवन में तम्बाखू, शराब, जुआ एवं वेश्यागमन आदि की कुटेव पड़ गई तो जहरीला झाड़ लग गया समझो । उन्हें उखाड़ फेंकना कोई आसान काम नहीं होगा । व्यसन की पराधीनता इतनी बलवती है कि रिक्शे वाले रिक्शा खड़ाकर भी शराब पीने लगते तथा जुआ खेलने लगते हैं । यद्यपि यह गैर कानूनी काम है पर एक बार आदत पड़ जाने के बाद फिर धर्म और कानून की याद नहीं रहती । ह्दय रूपी क्षेत्र में सत्य, अहिंसा और प्रभु भक्ति का वृक्ष लगाइए जिससे ह्दय लहलहाएगा, मन निःशंक, निश्चिन्त एवं शान्त रहेगा । देखिये कविवर चिमनेश क्या कहते हैं–

मजबूतिपनो रखना मन में, दुःख़ दीनपनो दरसावनो ना ।
कुल रीत सुमारग में बहनो, रहनो उर आन अभावनो ना ।।
चिमनेश हंसी खुश बोलिये में, यहां काहु से वैर बसावनो ना ।
पर उपकार करो ही करो, मर जावनो है फिर आवनो ना ।।

कितनी अच्छी बात है यदि यह नीति अपनाई जाय तो जीवन सुन्दर बनेगा तथा लोक और परलोक दोनों का हित साधन हो सकेगा ।

[३३]

ज्ञान का सम्बल

अनन्त आनन्द, ज्ञान और शक्ति के रूप में आत्मा सबमें विराजमान है, जिसमें जीवन है जो गतकाल में जीया वर्तमान में जीता है और भविष्य में जीता रहेगा। किन्तु मोहजन्य जीवन के कारण आत्मा पर अज्ञान रूपी पर्दा पड़ जाने से वह शुद्ध रूप में दिखाई नहीं देता। महापुरुषों की वाणी का उद्देश्य अज्ञान के पर्दे को दूर कर, आत्मा के शुद्ध रूप को प्रगट करना है। जब पर्दा दूर हो जाय तो मनुष्य को अशान्ति और आकुलता नहीं रहती और आत्म-स्वरूप की प्राप्ति होती है। शुद्ध जीवन तब तक संभव नहीं, जब तक आत्मा अज्ञान से आवृत्त है। सद्गुरु या सत्संग का निमित्त पाकर साधक जीवन सुधार लेता और उनके अनुभव का लाभ लेकर प्रकाश पाता है। अतः प्रकाश पाने के लिए सत्संग आवश्यक है।

शास्त्र में ज्ञान प्राप्ति के मुख्य दो मार्ग बतलाए हैं–एक निसर्ग और दूसरा अधिगम। सत्संगति या बिना गुरु के सहज ज्ञान पाना निसर्गज है, इसके पीछे, पूर्व जन्म की करनी छिपी होती है। ऐसे व्यक्ति प्राक्तन-बल से छोटा निमित्त पाकर भी अज्ञान का पर्दा हटा लेते हैं। अपने आप में अनुभव मिलाने का जिसको सौभाग्य प्राप्त नहीं है, वह भी सत्संग के द्वारा ज्ञान की किरण जगा लेता है। ज्ञानी मनुष्य सभी दृश्य जगत्, परिजन, भोग्य वस्तु और सोना-चांदी आदि को पराई वस्तु समझता है। उसके मन में यही नाद गूंजता है कि–"मेरे अन्तर भया प्रकाश, ना अब मुझे किसी की आस।" अन्तर में ज्ञान का प्रकाश होने से वह सोचा करता है कि तन, धन, दौलत, में मेरा रूप नहीं है, अतः उस पर से उसका अनुराग हट जाता है। परायी वस्तु पर वह प्रीति नहीं होती, जो अपने पर होती है। जैसे अपना छोटा बच्चा या मित्र या परिजन आ जाय तो उससे मिलने की आकांक्षा होती है और दूसरे सैकड़ों के प्रति नहीं होती। यह अपनेपन के कारण है। उसे 'पर' समझ लेने पर वैसा आकर्षण नहीं रहता। भौतिक पदार्थों के प्रति भी इसी प्रकार उन्हें 'पर'

समझने से निवृत्ति हो जाती है, यद्यपि आवश्यकतावश उनका उपयोग किया जाता है । फिर भी उन्हें 'पर' समझने पर बड़े-बड़े बंगले सोने-चांदी के बर्तन या हीरे जवाहरात के आभूषण मन को आकृष्ट नहीं कर सकते ।

श्रावक आनन्द विशाल सम्पदा पाकर भी त्याग की ओर बढ़ गया, इसका कारण उसका 'स्व पर' का ज्ञान ही था । उसने भोग का लक्ष्य जीवन-निर्वाह मात्र माना । खाना, पीना और वस्त्र आदि निर्वाह के साधन हैं, आत्म-पोषण के साधन नहीं हैं । शरीर भी तो पराया और क्षण भंगुर है । शरीर के घटने-बढ़ने से जो अपना घटना-बढ़ना समझता है, वास्तव में उसे अपने सही रूप का पता नहीं है । सही रूप समझने पर मनोवृत्ति एकदम बदल जायेगी । आनन्द ने आत्म-साधना के लिए तन रूपी गाड़ी को संभाले रखना आवश्यक समझा । जैसे साइकिल या गाड़ी के गड़बड़ाने पर हवा, मरम्मत या तैल की खुराक दी जाती है । सवार गाडी में गंतव्य स्थान पर पहुँच कर, हवा पानी आदि तेल नहीं देखता किन्तु यात्रा के प्रारम्भ में ही देखा करता है । हवा एवं तेल की खुराक शौक के लिए नहीं दी जाती, किन्तु इसलिए दी जाती है कि वह सवारी-यात्रा का साधन है । इसी प्रकार शरीर आत्म साधना की यात्रा में साधन है, अतः इसकी रक्षा भी आवश्यक है, ताकि—पूर्ण शुद्ध आत्म-स्वरूप की प्राप्ति में वह सहायक बन सके । यदि शरीर रूपी गाडी गड़बडा गई, तो आत्म स्वरूप प्राप्ति की यात्रा में बाधा आयेगी और लक्ष्य पर पहुँचना कठिन होगा ।

एक बार गौतम स्वामी और केशीमुनि का समागम हुआ तो केशी ने पूछा—गौतम ! विशाल भवसागर में तुम्हारी नाव बेछूट दौड़ रही है, इससे तुम कैसे पार होते हो ? यह सुनकर गौतम ने कहा—महाराज ! नाव दो प्रकार की होती है, एक अछिद्र और दूसरी सछिद्र वाली । इनमें जो छिद्र रहित नाव है वह पार हो जाती है । मेरी नौका छिद्र रहित है, अतः मैं विशाल सागर से निर्विघ्न पार हो रहा हूँ । फिर पूछा—नाव किसको कहते हो तो उत्तर में गौतम ने कहा कि शरीर नाव है, जीव नाविक है और संसार एक समुद्र है। सछिद्र नौका से छोटा नाला भी पार नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार शरीर में यदि इच्छा कामना और वासना के छेद होंगे तो शरीर रूपी नाव डुबो देगी, अतएव शरीर के छेद काम, क्रोधादि को बिना बन्द किए संसार सागर पार नहीं किया जा सकता । यदि नाव को संभालकर नहीं रखा गया, तो यह निश्चित रुप से डुबा देगी । इच्छा-वासना एवं कामनाओं के छिद्र से नाव में जो कर्म का पानी भर गया है, उसे बाहर निकालना होगा—अन्यथा यात्रा पूरी नहीं होगी । रावण, ब्रह्मदत्त आदि अपनी यात्रा पूरी नहीं कर सके, क्योंकि उन्होंने अपनी नाव में पाप का जल भर लिया था । कीमती नाव होने पर भी यदि उसमें जल

भरता गया, तो वह डूबे बिना नहीं रहेगी । कांतिवान् एवं बलवान शरीर भी काम, क्रोधादि के छिद्र होने से तिर नहीं सकता । छिद्र हो जाना उतना चिन्तनीय नहीं है जितना कि उन छिद्रों को नहीं रोकना और यात्रा चालू रखना ।

इच्छा को परिमित रखने के लिये आनन्द मुखवास का परिमाण करता है । इस त्याग में स्वाद नियन्त्रण की भावना है । स्वाद की सीमा यदि खुली छोड दी जाय तो उसका कभी अन्त नहीं होगा । इस प्रकार उल्लनिया विधि से परिमाण करते-करते मुखवास तक की आनन्द ने मर्यादा करली । यदि मानव आनन्द के समान अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं एवं आवश्यकताओं का परिस्थिति के अनुकूल संयम द्वारा नियन्त्रण कर ले, तो जीवन का भारी बोझ हल्का होगा और मन की चंचलता कम हो जायेगी तथा दूसरों से मांगने की आवश्यकता नहीं रहेगी । मन में सन्तोष होगा, तो भीतर से आत्मिक सुख लहलहाने लगेगा ।

पशु जीवनभर दो-चार ही वस्तुएं ग्रहण कर लम्बी जिन्दगी काट लेते हैं, तो क्या कारण है कि कोई मनुष्य १०-२० वस्तुओं से जीवन-निर्वाह करना सोचले, तो उसका शरीर साथ न दे ? वन में रहने वाले ऋषि मुनि दो-चार वस्तुओं से भी गुजारा कर दीर्घायु रहते थे । नागरिक जीवन की परिस्थिति भिन्न है फिर भी वहां सीमा की जा सकती है । गृहस्थ जीवन में रहने वाले लोग भी सीमित वस्तुओं से अच्छी तरह काम चला सकते हैं । जैसी संगति और अध्ययन होगा, वैसा ही मनुष्य अपना जीवन भी अच्छा बुरा बना सकेगा । भारत के लोग तामसी भोजन को क्यों अग्राह्य समझते हैं क्योंकि उनमें सुसंस्कार हैं और वे वस्तु की हेयोपादेयता को समझ कर इनका उपयोग करने का ज्ञान रखते हैं । भगवद् भक्ति तथा चिन्तन को कई लोग ढकोसला समझते हैं क्योंकि उन्हें जो संग मिला तथा जो अध्ययन की सामग्री मिली, उसी के अनुसार उनके विचारों का पोषण हुआ । यदि हम चाहते हैं कि हममें तथा हमारी भावी-पीढी के लोगों में सुसंस्कार आवे, तो संगति और पठन-पाठन की सामग्री सुधारनी होगी । सन्तजनों की वाणी कुछ समय काम देगी, परन्तु उसमें स्थायित्व के लिए स्वाध्याय की आवश्यकता है ।

अशुद्धि से शुद्धि की ओर जीवन को मोड़ लाने का काम कोई जादू से नहीं हो सकता । यह हृदय की चीज़ है । हो सकता है कभी स्थिति परिपक्व हो गई हो तो कुछ प्रेरक वाक्य निमित्त रूप में काम कर जांय, पर इसके पीछे पूर्व जन्म का संस्कार होना आवश्यक है । परिपक्व स्थिति में छोटे कारण भी जादू-सा प्रभाव कर जाते हैं, परन्तु आम तौर पर ऐसा नहीं होता । ज्ञान का सम्बल ही एक ऐसा साधन है जिससे मानव अपनी जीवन-यात्रा सुचारु रूप से पार कर सकता है ।

आनन्द ने सत्संग, शास्त्र श्रवण, स्वाध्याय और मनन के बल पर अपना जीवन सुधार लिया । इस प्रकार गृहस्थ जीवन की आदर्श दशा का नमूना हमें आनन्द के जीवन से मिलता है । संसार के पदार्थों में रति अनुभव नहीं करने की वृत्ति यदि मन में जग जाय और चिन्तन का बल मिलता रहे तो साधक अपने जीवन का रूप बदल सकता है ।

अब कथा भाग की बात देखिये–

महामन्त्री शकटार महाराज नन्द के रोष का पात्र बन गया, इसलिए उसके हृदय में आघात लगा । फिर भी वह उतना आकुल नहीं हुआ जितना कि इस परिस्थिति में दूसरे हो सकते थे । वह आज तक महाराज नन्द के मन्त्रित्व के पद को अपनी पैतृक सम्पत्ति समझता था और सारे राज्य एवं उसकी प्रभुता को अपनी मानता था किन्तु उसे अब मालूम हुआ कि यह उसका भ्रम था । यदि वह स्थायी होता तो, राजा का विश्वास क्यों खोता और विश्वास खोकर भी इतना दयनीय क्यों बनता जितना कि उसे बनना पड़ा । उसने वास्तव में निज को निज नहीं समझा, पर को निज समझता रहा, यह समय आने पर उसे भान हुआ । यदि यह बात उसको पहले ही समझ में आ जाती तो उसका जीवन ही दूसरा होता ।

अज्ञानता और मूर्खता के कारण मनुष्य दूसरे मनुष्य से संघर्ष कर जाता है । संघर्ष की घड़ी में उसे यह भान नहीं रहता कि जीवन क्षण भंगुर और नाशवान है । हम जिस वस्तु के लिए संघर्ष रत होते हैं न तो उसका स्थायित्व है और न अपना ही । यहां सब कुछ चंचल और चलायमान है । जिस नन्द के राज को शकटार अपना मानता था आज वही उसके लिए दुःखदायी बन गया । जैसे साधारण मनुष्य अपने छोटे परिवार के लिए झूठ बोलता, मामले, मुकदमे, चोरी-ठगी आदि करता है, वैसे ही शकटार ने भी राज्य के लिए ऐसे काम किए जो आज उसके हृदय में शूल की तरह सिहरन पैदा करते हैं । आज मनुष्य कितनी भूल में पड़ा है जो छोटे से परिवार के लिए अहर्निश अनेक-अनेक पाप कर्म करता है । विवेक रूपी पुत्र तथा सुमति रूपी सखी से जो मनुष्य प्यार नहीं करेगा, वह भटक जायेगा । यदि यह समझ में आ जाय तो मानव स्वयं का और समाज का भी हित कर सकता है । राजा के क्रोध ने शकटार के मन में सुमति पैदा कर दी । उसने श्रीयक को कहा – "बेटा ! जैसा कि मैंने तुम्हें पहले बताया है, कल मेरे दरबार में उपस्थित होने पर तुम वैसा ही करना । इसी से अपना सब काम बन जाएगा ।"

जीवन में जब तक स्वार्थ नहीं छूटता, तब तक मानव जीवन को शुद्ध बनाने में समर्थ नहीं होता । साधारणतः भौतिक वस्तुओं में रति-राग का नाम स्वार्थ

समझा जाता है । स्वार्थ अपने शुद्ध रूप में अच्छा है, पर आज उसका प्रयोग गलत अर्थ में हो रहा है । मनुष्य अल्प धन-लाभ को स्वार्थ समझ कर इसके लिए झूठ, धोखा आदि का सहारा ले रहा है क्या यह वास्तविक स्वार्थ है ? वास्तव में तो इससे स्वार्थ बिगड़ रहा है, प्रामाणिकता उठती जा रही है तथा लोक और परलोक दोनों बिगड़ रहे हैं । यह अशुद्ध स्वार्थ है । अशुद्ध स्वार्थ या भौतिकता का प्रेम आत्मोन्नति को बिगाडने वाला है । शुद्ध स्वार्थ जिसको आत्मा का कार्य अर्थात् आत्महित कहना चाहिए, ही अपनी उन्नति करने वाला है। इस प्रकार सुमार्ग में चलने वाले अपनी आत्मा को शुद्ध करते तथा परलोक में भी कल्याण के भागी बनते हैं ।

---

[३४]

अनर्थ दण्ड और ज्ञान साधना

संक्षेप में कहा जाय तो संसार के मनुष्यों के दो ही प्रकार होंगे । एक भूतवादी या नास्तिक और दूसरे आत्मवादी आस्तिक । इनमें से जो आस्तिक हैं वे ही साधना मार्ग में लग सकते हैं । जो स्वर्ग, नर्क, बंध, मोक्ष और आत्मा परमात्मा आदि को नहीं मानता, उसके पांव साधना-पथ पर कैसे बढ़ेंगे ? साधना के मार्ग में चलने के पूर्व यह निर्णय कर लेना होगा कि मैं कौन हूँ भूतवादी (भौतिक वादी) या आत्मवादी । विश्वास और श्रद्धा नहीं होगी तो मानव न तो सही मार्ग पर चल सकेगा और न जिज्ञासु ही बन सकेगा । अज्ञान का पर्दा दूर करने से ही आत्म-स्वरूप का भान होता है और साधक जीवन सुधार के मार्ग पर लगता है । जिसके पास आत्मवाद या अध्यात्मवाद की कुंजी है वह चिन्तन करेगा, विचारेगा और आगे बढ़ने के लिए प्रवृत्त होगा । साधक चाहे देश विरति वाला हो या सर्व विरति वाला, श्रावकधर्मवाला हो या श्रमण धर्म वाला, वह आत्म-स्वरूप को प्राप्त करने की चेष्टा अवश्य करेगा । उसके मन में तरंग उठेगी कि पाप हमारे जीवन को बिगाड़ने वाला है, अतः उसका त्याग करूं । वह पूर्ण त्यागी नहीं तो देश त्यागी याने श्रमणोपासक बनने की चेष्टा अवश्य करेगा ।

आख्यान के पीछे 'प्रति' लगाने से प्रत्याख्यान बनता है । प्रत्याख्यान का अर्थ निषेध होता है । ज्ञानी मनुष्य दुष्प्रवृत्तियों का सर्वथा प्रत्याख्यान करता है, मगर जब कारणवश वह उनका सर्वथा त्याग नहीं कर पाता, तब देश-विरति मार्ग अपनाता है । यह मार्ग पूर्ण प्रत्याख्यान की तरह सर्वथा शुद्ध नहीं है फिर भी एक दम कुछ नहीं करने के बजाय कुछ करना अच्छा है और "शनैः पन्थाः शनैः पन्थाः, शनैः पर्वत लंघनम्" की उक्ति को चरितार्थ करने वाला है । आवश्यकता घटाकर पाप को कम करना उसका लक्ष्य है ।

अणुव्रत और भोग वस्तुओं के परिमाण के नियम तभी सार्थक होंगे, जब अनर्थ दण्ड का परित्याग किया जाय । अनर्थ दण्ड छोडने वाला, अर्थ दण्ड की भी कुछ सीमा करता है । द्रव्य, क्षेत्र और काल से वह त्याग कर सकता है । बिना मतलब के हिंसादि पाप का सेवन अनर्थ दण्ड है । अनर्थ दण्ड से अणुव्रतों की मर्यादा सुरक्षित नहीं रहती । अतः आनन्द ने भी अनर्थ दण्ड़ का त्याग किया ।

अनर्थ दण्ड के प्रमुख कारण १. मोह २. अज्ञान तथा ३. प्रमाद हैं । भगवान महावीर ने अनर्थ दण्ड के चार प्रकार किए हैं जैसे (१) अपध्यान–दूसरे का नाश या बिगाड़ सोचना, ईर्ष्या करना, रोना, पीटना आदि ये अपध्यान हैं । सेनापति देश की रक्षा के लिए युद्ध की योजना बनावे, तो यह कार्य अर्थ दण्ड है, क्योंकि उसके लिए वह आवश्यक है । लेकिन हमले की नीति से किसी पर बिना कारण आक्रमण करना अनर्थ दण्ड है । नौकरी छूटने या व्यवसाय में हानि होने से आर्त्तभाव होना स्वाभाविक है । इस प्रकार अपध्यान के भी दो प्रकार हो जाते हैं–एक रौद्र रूप अपध्यान और दूसरा आर्त्तरूप अपध्यान । द्वेष या लोभवश किसी दूसरे पर आक्रमण करना, यह रौद्र रूप है । इष्ट वियोग से आर्त्त करना किसी गृहस्थ के यहाँ जाकर उसके दुःख को पुनः जागृत करना यह आर्त रूप अपध्यान है, यह अनर्थ दण्ड है । जहाँ मतलब हल नहीं होने वाला हो, वहाँ व्यर्थ विषाद करने से क्या लाभ ?

भगवान महावीर स्वामी ने मन को निराकुल स्थिति में बनाने का उपदेश दिया है । हिंसा, चोरी आदि पाप का बाह्य रूप है । तो अपध्यान भीतरी रूप है। अपध्यान करने वाले का पाप नहीं दीख पड़ता; परन्तु इससे उसके आत्म गुण का हनन अवश्य होता है । वह मन को निर्मल नहीं रख सकता । धन, जन पर यदि तीव्र आसक्ति नहीं रहेगी, तो आर्त्त नहीं होगा । जहाँ अपध्यान रहेगा, वहाँ शुभध्यान नहीं रहेगा और शुभ भाव नहीं आएंगे तो बुरे भाव बढ़ेंगे । जब अपध्यान तीव्र होगा; तो आवेश में मनुष्य बडे-बडे कुकर्म भी कर डालेगा । वह उत्तेजित होकर विष-पान कर डाले या दूसरों की हत्या भी कर डाले तो कोई आश्चर्य नहीं । परीक्षा में अनुत्तीर्ण या नौकरी से निकाले गए नवयुवक अपध्यान तथा महा आर्त्त अवस्था में, रेल की पटरी पर गिरके या जल में डूब कर आत्म हत्या कर लेते हैं । वियोग वाला आर्त्त के चक्कर में तथा सताया हुआ रौद्र भाव में रह कर, अपना नाश पहले कर लेता है ।

अतएव प्रत्येक कल्याण-कामी मनुष्य का यह कर्तव्य होता है कि वह अपध्यान से होने वाला अनर्थ दण्ड छोड़ दे । अर्थ से होने वाले अपध्यान का

परित्याग अगर संभव न हो, तो अनावश्यक अपध्यान का त्याग तो उसे करना ही चाहिए । अनर्थ में मनुष्य अपध्यान का तांता लगाए रहता है । चोट खाया हुआ सांप जैसे बदला लेने को आतुर रहता है उसी प्रकार मानव प्रति हिंसा की भावना में चक्कर काटते रहता है, यह अज्ञानता है । अज्ञानी भूल जाता है कि प्रति हिंसा से हिंसा घटती नहीं, पर बढ़ती है ।

जैसे साधक को अपध्यान से बचना नितान्त आवश्यक है उसी प्रकार प्रमाद से बचना भी जरूरी है । अपध्यान से प्रमाद की सीमा विस्तृत है । बड़े मच्छ के मुख में अनेक छोटी मछलियां प्रवेश पाती रहती हैं और उसकी आँख पर बैठा तंदुल यह सब तमाशा देखता है । वह अपध्यान के वश में होकर सोचता है कि इसके मुख में अनेक मछलियां आती और लौट जाती हैं । यह मच्छ बड़ा मूर्ख है । मेरा मुख इतना बडा हो तो एक को भी नहीं लौटने दूं । इसी प्रकार मानव भी सोचता है और वाणी तथा मन से दुर्भाव करते रहता है । इस प्रकार के हवाई किलों से बेमतलब मन काला होता है। इन हवाई कल्पनाओं से मनुष्य तीव्र अशुभ भावनाओं में बह जाता है, फिर उसकी सीमा नहीं रह पाती । अतः यह अनर्थ दण्ड है । आनन्द ने भगवान् महावीर के चरणों में रह कर साधना की पण्डिताई सीख ली, यद्यपि उसमें अध्ययन की बड़ी पण्डिताई नहीं थी । फिर भी पाप पर नियन्त्रण करने से वह पण्डित कहलाया, कहा भी है–"यस्तु क्रियावान्, पुरुषः स विद्वान् ।"

वररुचि में अध्ययन की पण्डिताई थी किन्तु साधना की पण्डिताई नहीं होने से वह महामन्त्री शकटार के प्रति प्रतिहिंसा की बात सोचने लगा । दूसरों की आँख से काम करने वाले सम्राट नन्द ने शकटार को दण्ड देने का सोच लिया । शकटार ने भी कुटुम्ब को सर्वनाश से बचा लेना उचित समझा । क्यों कि एक जीवन-नाश से अनेकों का जीवन रक्षण श्रेयस्कर है । नित्य कर्म से निवृत्त होकर शकटार अपने पुत्र श्रीयक के साथ प्रातःकाल राजदरबार में पहुँचे । उन्होंने दिल से गम को भुला दिया, क्योंकि गम करने से मनुष्य अपने को गंवा देता है, अतः शकटार प्रसन्न मुख दिखाई पड़ता था । शकटार को देखते ही सम्राट नन्द ने उसकी ओर से अपना मुख फेर लिया । श्रीयक अपने प्राण-प्रिय पिता पर खड्ग चलाने को कड़ा हृदय नहीं कर पा रहा था, किन्तु शकटार ने वंश की भलाई के लिए श्रीयक को अपने कर्तव्य पालन का अवसर नहीं चूकने को कहा, अतएव विवश होकर उसने भी दुःखित हृदय से महामन्त्री पर खड्ग चला दिया । इस रोमांचकारी दृश्य से सभा में हाहाकार मच गया और सभा मंडप में रक्त की धारा बह चली । राज सभा की स्थिति स्वप्नवत् हो गई । सारी सभा में सन्नाटा छा गया ।

लोगों ने शकटार को महामन्त्री के रूप में भी देखा और आज उनकी यह दशा भी देखी । पुत्र भी ऐसा काम कर सकता है, इस घटना से लोग आश्चर्य-चकित थे । यों तो राजा का हृदय कठोर होता है । वह हजारों की लाशों पर चलकर भी कड़ा दण्ड देने में दुखानुभव नहीं करता, परन्तु इस समय शकटार की हत्या से नन्द की स्थिति बदल गई । वे चकित हो गए और सोचने लगे कि बात क्या है? राज सभा के लोग चिन्तित हो गए । राजा ने श्रीयक से महामन्त्री के वध का कारण पूछा । श्रीयक ने रुद्ध कण्ठ से कहा—"स्वामिन् ! यह सेवक का धर्म है कि मालिक जिसे पसन्द नहीं करे, सेवक के लिए वह प्यारी से प्यारी वस्तु भी छोड़ने योग्य होती है । आप के मन से जो उतर गया वह बाप होते हुए भी मेरा दुश्मन है । महामन्त्री को देखकर आपने मुँह मोड़ लिया, इसलिए मैंने उचित समझा कि ऐसे व्यक्ति का जीना व्यर्थ है और यही सोच कर स्वामिभक्ति के नाते मैंने ऐसे व्यक्ति का वध कर दिया ।" श्रीयक की बातों से राजा कें मन में पूर्ण विश्वास की स्थिति बन गई ।

यह लौकिक स्वामिभक्ति का हमारे सामने उदाहरण है । यदि इसी प्रकार भगवान् के प्रति लोगों की स्वामिभक्ति हो जाय, तो क्यों न मनुष्य प्यारी से प्यारी भौतिक वस्तु को छोड़ सकेगा । महावीर स्वामी ने आरम्भ परिग्रह और विषय कषाय से मुँह मोड़ लेने का उपदेश दिया । नजर मोड़कर राजा नन्द ने शकटार के लिए कुछ नहीं कहा था, मगर मुँह मोड़ लेने भर से शकटार ने जीवन का मोह छोड़ दिया। यद्यपि शकटार के जीवन त्याग के पीछे परिवार एवं वंश की भलाई की भावना थी फिर भी उसमें मोह का भाव है । यह मात्र लोक दृष्टि से प्रशंसनीय है ।

किन्तु जो मानव त्रिशलानन्दन वीर को प्रसन्न करने के लिए जगबन्धन से मुक्ति पाना चाहते हैं, उन्हें विषय-कषाय से मुख मोड़ना पड़ेगा । विषय त्याग के संग यदि साधना की रफ्तार धीमी भी रही तो जीवन निर्मल हो सकता है तथा आत्मा का रूप शुद्ध हो सकता है ।

देश की भौतिक रक्षा के लिए जैसे सैनिकों को भरती करना पड़ता है उसी प्रकार देश की नैतिकता व आध्यात्मिक संरक्षण के लिए साधुओं और स्वाध्यायियों की भी आवश्यकता है । देशवासियों के मन में जब तक धर्म के प्रति प्रेम नहीं जागेगा तब तक किसी प्रकार का सुधार स्थायी नहीं हो सकता । इसके लिए त्यागियों, विद्वानों और गुणवानों को अपेक्षित सहयोग देना पड़ेगा और इनकी संख्या तभी बढ़ सकती है,

जब गृहस्थ जन बच्चों में अच्छे संस्कार डालें । ज्ञान के रक्षण की समस्या आज बढ़ी हुई है अतः गाँव-गाँव में स्वाध्यायी, त्यागी और परोपकारी जनों के निर्माण की जरूरत है । लोगों को सुमार्ग में चलाने, सुचरित्रवान बनाने, साधना मार्ग पर चलने तथा सुदृष्टि देने के लिए ज्ञानवान् त्यागवीर संतों की आवश्यकता है । इस समस्या के सम्यग् समाधान के लिए धर्म प्रेमी गृहस्थों को आगे आना होगा। अगर स्वाध्याय के साथ धर्म का प्रचार हुआ तो लोक और परलोक दोनों का निर्माण हो सकता है।

[३५]

समय का मूल्य समझो

मनुष्य यदि अपने पुरुषार्थ को बढ़ाकर साधना के मार्ग में अग्रसर हो जाय तो संसार सागर को सरलता से पार कर सकता है। भगवान् महावीर स्वामी की वाणी, सूर्य की किरणों के समान असंख्य प्राणियों के लिए लाभदायक है। वाणी का काम प्रकाश देना है और आदमी का काम उसको ग्रहण करना है। जो उस दिव्य-ज्योति को ग्रहण करेगा, वह ज्योतिर्मय बन जायगा और जो उस प्रकाश का लाभ नहीं लेगा वह भ्रान्ति में भटकता रहेगा। जैसे–सूर्य प्रकाश ग्रहण नहीं करने वाले पर नाराज नहीं होता फिर भी वह प्राणी अंधकार से दिग् मूढ रहता है, वैसे ही भगवान् भी वाणी रूप प्रकाश नहीं लेने वाले पर रोष नहीं करते, केवल अज्ञान के कुप्रभाव से वह स्वयं ही अपना अहित कर लेता है। अज्ञान यदि जनक है, तो कुमति या कुदृष्टि जननी है। जब तक कुमति और अज्ञान का संग रहेगा, उसकी संतति बढ़ती रहेगी।

अज्ञान को दूर करना मानव का प्रथम कर्तव्य है। इसके दूर नहीं होने तक मानव पाप-पुण्य को नहीं पहचान पायगा। वह अर्थ और अनर्थ से उत्पन्न पाप को भी नहीं समझ पायगा। शिकारी भी यदि अपने काम को अनर्थ समझे, तो बड़ी विडम्बना होगी, महाजन का बच्चा यदि बात-बात में झूठ और धोखा का अर्थ समझले, तो दुर्भाग्य होगा। अज्ञानी अपनी अज्ञानता के कारण अनर्थ दण्ड को भी अर्थ दण्ड मान लेगा। फिर तो प्रयोजन से युक्त काम जो अर्थ दण्ड है और बिना प्रयोजन का अनर्थ दण्ड, इन दोनों में कुछ भेद ही नहीं रहेगा।

प्रमाद से आचरित सभी कर्म अनर्थ दण्ड हैं। अपध्यान से भी अनर्थ दण्ड होता है। आवश्यक निद्रा अर्थ दण्ड है और अनावश्यक अनर्थ दण्ड। यह प्रमाद कृत अनर्थ है। नहाने, धोने और खाने-पीने आदि की आवश्यकता अर्थ दण्ड है, किन्तु यही सीमातीत अनावश्यक रूप में अनर्थ दण्ड हो जाता है। यदि प्रमाद पर अंकुश नहीं होगा, तो ज्ञान कैसे मिलेगा तथा साधना की वृद्धि कैसे होगी ?

आवश्यक प्रयोजन से की गई विकथा, प्रमाद होकर भी अर्थ दण्ड है । पर बिना विवेक से की गई असम्बद्ध कथा अनर्थ का कारण बन जाती है । अनावश्यक बातों में निन्दा तथा चुगली भी होगी । आवेगपूर्ण बातों से कई बार मारपीट और समाज में विष तक प्रसारित हो जाता है । अतः व्रती को व्यर्थ की पटेलगिरी या गप्पबाजी में नहीं पड़ना चाहिए । क्योंकि प्रमाद में मनुष्य का मूल्यवान् समय व्यर्थ चला जाता है । बुद्धि की तुला पर यदि जीवन का तोल करें, तो मालूम पड़ेगा कि एक युवक के लिए सात घण्टे की निद्रा पर्याप्त है । आवश्यक निद्रा नहीं लेने से बदन में सुस्ती और सिर में भारीपन रहेगा, परन्तु खाली समय में यों ही निद्रा में पड़े रहना, यह अनावश्यक प्रमाद और मूर्खता की निशानी है । स्नान के समय कंघी करना, कपड़े की तह लगाना और न जाने क्या-क्या सजाने में मनुष्य बहुत-सा समय नष्ट कर डालता है । ताश, चौपड़, शतरंज आदि खेल में समय नष्ट करना प्रमाद है । खेल की हार-जीत में लड़ाई और बिना देखे घूमने में हिंसा-वृद्धि प्रत्यक्ष है । इसमें मन बहलाने की अपेक्षा यदि कुछ आदमी एकत्र होकर धर्म-चर्चा में जुट जाएँ, तो कितना अच्छा रहे । विनोद के साथ वहां समय काटने का भी उत्तम जरिया होगा और राड़-तकरार से बचकर कुछ ज्ञान-वृद्धि की जा सकेगी । अतः अज्ञान घटाकर स्वाध्याय में समय लगाना है, तो प्रमाद को हटाना ही होगा ।

समाज में ऐसे कुटुम्ब भी मिलते हैं, जिनके सदस्य नित्य स्वाध्याय करते हैं, क्योंकि उन्होंने उसे जीवन का आवश्यक काम समझ लिया है । जैसे—खाना, पीना, शौच आदि नित्य कर्म के लिए हर एक को समय मिल जाता है, अतिथि सत्कार तथा ऐसे ही अन्य कार्यों के लिए भी समय मिलता है, तो क्या स्वाध्याय के लिए समय नहीं मिलेगा ? यदि स्वाध्याय को नित्य का आवश्यक कर्म मान लिया जाय, तो सहज ही प्रमाद घट सकेगा । आवश्यकता है स्वाध्याय को दैनिक आवश्यक सूचि में नियमित स्थान देने की । फिर तो प्रमाद को अवसर ही नहीं मिलेगा । पूर्व काल के लोग अपमे जीवन को नियमित रखते थे । हर एक कार्य के लिए उनका समय नियत होता था, जिससे प्रमाद को वहां अवसर ही नहीं मिल पाता था ।

बहुत से लोग दुर्व्यसन और नशेबाजी में प्रमाद को बढ़ा लेते हैं, जो अनर्थ दण्ड है । नदी, तालाब आदि में अकारण पत्थर फेंकना, वृक्ष के पत्ते बेमतलब नोच लेना, एवं खाने-पीने की वस्तु को खुले रखना, बीड़ी, सिगरेट या चिलम आदि की आग को इधर-उधर डाल देना, ये सब अनर्थ दण्ड हैं । मनुष्य को इससे बचना चाहिए, जैसाकि पहले भी कहा जा चुका है ।

कला, विज्ञान, कानून, राजनीति, अर्थ-शास्त्र और समाज शास्त्र आदि के पण्डित बन जाने पर भी अध्यात्म ज्ञान और जीवन निर्माण के लिए मनुष्य को सत्संग

एवं गुरु की आवश्यकता होती है । समूह में एक व्यक्ति दूसरे का निमित्त बनता है, अतएव साधना के लिए संघ में रहना आवश्यक माना गया है । जो कौटुम्बिक जीवन के कार्यों से निवृत्त है, आर्थिक निश्चिन्तता और शारीरिक स्वस्थता वाला है, वह स्वाध्याय और साधना की ओर सहज बढ़ सकता है । अशान्त मन में स्वाध्याय द्वारा ज्ञान नहीं बढ़ाया जा सकता । उसके लिये शान्तमन आवश्यक है ।

विलासी और लोभी मनुष्य प्रमाद तथा व्यावसायिक उधेड़ बुन में लगकर पैसे से पैसा बढ़ाने की चिन्ता में व्यस्त रहते हैं । बढ़े हुए अर्थ की स्थिति में मनुष्य चैन से नींद भी नहीं निकाल सकता । कभी ऐसा सम्पन्न व्यक्ति लालसा से मन मोड़कर 'स्व-पर' के कल्याण साधन में लग जाय, तो सबका लाभ हो सकता है । करने योग्य समय में यदि सुकर्म नहीं किया गया, तो कब किया जावेगा ? दयालु सत्पुरुषों ने ठीक ही कहा है कि–

"एक सांस खाली मत खोयरे! खलक बीच,
कीचक कलंक अंग धोयले तो धोयले ।

वीतराग का स्मरण और ध्यान तो मानव का प्रारम्भिक कार्य है । पाप का संचय नहीं हो और पवित्र संस्कार बने रहें, इसके लिए जितना भी समय मिले, मनुष्य को सत्स्मरण करते रहना चाहिए ।

स्थूल रूप से पाप की गणना १८ प्रकार से की गई है, जैसे– १. हिंसा, २. असत्य, ३. चोरी, ४. कुशील, ५. परिग्रह, ६. क्रोध, ७. मान, ८. माया, ९. लोभ, १०. राग, ११. द्वेष, १२. कलह, १३. मिथ्या आरोप, १४. चुगली, १५. निन्दा, १६. रति-अरति, १७. माया मृषा और १८. मिथ्या विश्वास । हर एक पाप को करने के भी ९ प्रकार हैं जैसे–हिंसा एक पाप है, मन, वचन, और काया से हिंसा करना, करवाना और हिंसा होने पर खुशी मनाना-इस तरह हिंसा के नौ प्रकार हो गये । हम देखते हैं कि मांस खाने वाले अधिक हैं तथा प्राणियों को मार कर बेचने वाले कम, परन्तु मांस खाना और प्राणि वध करना दोनों में हिंसा एवं महान् पाप है । मांस खाने वाला स्वयं हत्या नहीं करता, पर हिंसा कराने और हिंसाका अनुमोदन करने का पाप उसे भी लगता है ।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पांच बड़े पाप हैं । पाप कराने से भी कर्म का बंध ऐसे ही होता है जैसे स्वयं करने से। जानकारी प्राप्त होने तथा तदनुकूल आचरण करने से मानव पाप से बचता है । साधक साधु-संतो के पास कुछ अर्थ (धन) लेने नहीं जाता, वरन् जीवन सुधारने जाता है, ताकि उसका ज्ञान बढ़े, दर्शन बढ़े और चारित्रिक योग्यता बढ़े तथा जीवन-निर्माण की ओर उसकी प्रवृत्ति हो।

ज्ञान द्वारा मनुष्य अपना जीवन मंगलमय बना लेता है । ज्ञान ग्रहण करने वाला ऊंचा उठता है । महाराज श्रेणिक व्रत ग्रहण नहीं कर सका, फिर भी सत्संग से उसको सुदृष्टि प्राप्त हो गई । महावीर स्वामी सरीखे, ज्ञान-विभूति को पाकर भी वह व्रत की दृष्टि से कोरा रहा और आनन्द ने व्रत ग्रहण कर जीवन सार्थक बना लिया। तो सत्पुरुषों के पास पहुँच कर जो गुण ग्रहण करता है वही ऊँचा उठता है। इस प्रकार ज्ञानादि ग्रहण करने से लौकिक भला होता है, फिर लोकोत्तर का क्या कहना ? लौकिक ज्ञान जीवन के व्यवहार की शिक्षा देता है, उसके साथ जो लोकोत्तर ज्ञान भी प्राप्त कर लिया जाय, तो जीवन की पूर्णतः साधना हो सकती है।

शकटार की कथा इस प्रकार है–

श्रीयक ने महाराज नन्द से कहा कि मैंने महामन्त्री की गर्दन पर खड्ग चला कर, वह कार्य किया है, जो एक सेवक को करना चाहिए । श्रीयक की ओर नन्द विश्वास की दृष्टि से देखने लगे । राजा ने विवाह की तैयारी का हाल पूछा । तो श्रीयक ने प्रत्युत्तर में कहा कि हम और हमारे पिताजी ने आपके सम्मान में हथियार भेंट करने की बात सोची थी, किन्तु आपकी दृष्टि बदल जाने से वह विचार सर्वथा स्थगित कर दिया है और अब तो पिताजी भी इस संसार में नहीं रहे । यह सुन कर राजा सन्न रह गया । उसने सोचा कि दूतों के मुँह से सुनकर मैंने भ्रान्त विचार ग्रहण कर लिया और बड़ी भूल की जिसका भयंकर परिणाम आज यह देखने को मिल रहा है । इससे यह शिक्षा मिलती है कि सुनी-सुनायी बातों पर सहसा विश्वास कर अमली रूप नहीं देना चाहिए । अन्यथा भ्रान्ति के कारण बड़े से बड़ा अनर्थ हो सकता है ।

इस अप्रत्याशित घटना से सम्राट नन्द को महान् दुःख हुआ, मगर उससे अब क्या हो सकता था । अन्त में सम्राट नन्द ने मन्त्रीपद के लिए श्रीयक को आमन्त्रित किया । श्रीयक सम्राट की सेवा में उपस्थित होकर बोला कि राजन ! मेरे बड़े भाई अभी घर में हैं। वे ही इस श्रेय और सम्मान के वास्तविक अधिकारी हैं । मन्त्रीपद लेने की बातचीत वे ही जानें । श्रीयक की इस विनयशीलता तथा भ्रातृ-प्रेम का राज-सभा में अद्भुत प्रभाव पड़ा । राजा के मन में विश्वास हो गया कि यह सब अच्छे संस्कार के प्रभाव हैं । राजा ने सोचा कि इस कुलीन वंश का बड़ा भाई भी अवश्य विशिष्ट प्रतिभाशाली व्यक्ति होगा । स्थूलभद्र को राज-सभा में बुलाने का राजा ने आदेश दिया । राज-सभा के सभी सहधर्मी लोगों में उल्लास का वातावरण छा गया । उनकी मनोभूमिका में आदर का भाव आया । उनका साधर्मी वात्सल्य-प्रेम जागृत हो गया ।

धार्मिक वात्सल्य में बदले की भावना नहीं रहती, किन्तु कौटुम्बिक वात्सल्य में लेन-देन एवं आदान-प्रदान का भाव रहता है। धार्मिक वत्सलता में जो राग का अणु रहता है, वह शुभ है, अतएव आत्मा को दुःख सागर में डुबोने वाला नहीं होकर, यह धर्म के अभिमुख कराने वाला होता है। धार्मिक वात्सल्य की मनोभूमिका में आत्म-सुधार की भावना रहती है। सीहा अनगार महावीर स्वामी के देहोत्सर्ग की आशंका से सिसक-सिसक कर रोने लगा। उस समय उसका वह आर्त्तध्यान शुभ था। उसमें गुरु पर धर्म, राग और जिन-शासन की लघुता न हो, यह शुभ भावना थी। धार्मिक वात्सल्य-वृद्धि शुभ है, इसको सम्यग्दर्शन का आचार माना गया है, क्योंकि वात्सल्य में सद्गुणों का आदर होने से नये साधकों को प्रेरणा मिलती है।

समुद्र में विशाल सम्पदा है, वह रत्न-राशि को पेट में दाबे रहता है और सीपी घोंघों आदि को बाहर फेंकता है। इस पर किसी कवि ने उसको अविवेकी बतलाया है। वास्तव में यह ललकार समाज को है, जो गुणियों को भीतर दबाकर रखे और वाचालों को बाहर लावे। जो समाज गुणियों का आदर और वात्सल्य करना नहीं जानता, वह प्रशंसनीय नहीं कहलाता। ऐसी बेकद्री के लिए कवि कहता है–

"गुण ओगुण जिण गांव, सुणे न कोई सांभले।
उण नगरी बिच रहणो नहीं भलो रे राजिया ।।"

वास्तव में कवियों ने समुद्र को इसीलिए अविवेकी कहा है कि वह रत्न और सीप को बराबर नहीं देखता है। रत्नों को नीचे दाबे रखकर सीपियों को ऊपर लाता है। इसी तरह, जहां विद्वानों को दबाकर रखा जाय और वाचालों को ऊपर लाया जाय, यह अविवेक है।

आज अनन्त चतुर्दशी का मंगलमय पर्व है। सहस्रों वर्षों से यह पर्व सन्देश देता आ रहा हे कि हे मानव! तू अनन्त आनन्द का संचय कर सकता है, धर्म का धागा बांध कर अपना कल्याण कर सकता है। आज से नव ऋतु का प्रारम्भ हो रहा है, अतः जीवन का दौर भी नवीन होना चाहिए। समय जड़ है। परिवर्तनशील होने से वह शीघ्र बदलता रहता है। उसमें एक-दूसरे के निमित्त से जो भी लेना चाहे, ले सकता है। ज्ञान-दर्शन और चारित्र की वृद्धि भी तभी हो सकती है, जब मनुष्य समय और पर्व समागम का मूल्य करे। समय के चले जाने पर कुछ नहीं होता। कहा भी है–"समय गए पुनि का पछताए।"

द्रव्य निद्रा तो छुड़ाई जा सकती है, परन्तु भाव निद्रा सहज में नहीं छूटती। द्रव्य निद्रा अचेत अवस्था में रहती है, पर भाव निद्रा में प्राणी हलचल में होता है।

एवं दिमाग से काम लेता है । भाव निद्रा में प्रमाद या अज्ञानता का जोर होता है। युवक, वृद्ध सभी विविध प्रकार की भौतिक योजनाएं बनाते हैं, किन्तु आत्म-साधना का समय आने पर उसे भविष्य के लिए छोड़ना चाहते हैं । यह भाव निद्रा का ही रूप है । ज्ञानी कहते हैं युवावस्था में शारीरिक शक्ति जैसी बलवान् होती है वैसी आगे नहीं रहेगी, अतएव शुभ कर्म तत्काल कर लेना चाहिए । किसी कवि ने ठीक ही कहा है–

जो काल करे सो आज हि कर, जो आज करे सो अब करले ।
जब चिड़ियां खेती चुग डारी, फिर पछताये क्या होवत है ।

"गई वस्तु सोचे नहीं, आगम वांछा नाहिं ।
वर्तमान वर्ते सदा, सो ज्ञानी जग मां हि ।।

एक वृद्ध मुसलमान सज्जन की बात है । उसका ४५० रुपये मासिक कमाने वाला पुत्र रोगग्रस्त होकर चल बसा, जो एकमात्र बुड्ढे का सहारा था । मियांजी का गांव से भी अच्छा व्यवहार था । अतः उनको सान्त्वना देने को बहुत से लोग आए। एक जैन भाई भी आए । मियांजी ने कहा कि–"मैं आप लोगों का आभार मानता हूँ कि आप लोग मुझे पुत्र-वियोग में सान्त्वना देने आए हैं, परन्तु वह तो वास्तव में भगवान् की धरोहर थी । आपके पास किसी की धरोहर हो, तो उसे राजी-खुशी या दुःख से भी लौटाना होता है । जमा रखने वाले ने अपनी वस्तु उठाली, तो उसमें बुरा क्यों मानना ?" यह कितनी सुन्दर समझ की बात है । प्रिय-वियोग में लोग जमीन-आसमान एक कर देते हैं, पर उससे क्या फल मिलता है । आखिर शान्त तो होना ही पड़ता है । जब मोह में मनुष्य धैर्य नहीं खोवे, तभी वह आनन्द पा सकता है । जो मोह और अज्ञानता से दूर रहेगा, वह लोक और परलोक दोनों में कल्याण प्राप्त करेगा, यह ध्रुव सिद्धान्त है ।

[३६]

प्रमाद जीवन का शत्रु है

जीवन में साधना के लिए मिलने वाले अमूल्य अवसर को व्यर्थ में खोना बुद्धिमानी नहीं है । शास्त्र और सत्संग, साधना के लिए प्रेरणा देते हैं, मगर प्रमाद साधक को पीछे घसीट लेता है, जिसे शास्त्रों ने प्रमुख लुटेरा कहा है । सर्व विरति मार्ग के साधक साधु को भी प्रमाद नीचे गिरा देता है और जब इसका रूप उग्र हो जाता है, तब मानव आराधक के बदले विराधक बन जाता है । बंध के पांच कारणों में प्रमाद भी प्रमुख है । इसके अनेक भेद किए जाते हैं, परन्तु दो मुख्य हैं—एक द्रव्य-प्रमाद और दूसरा भाव प्रमाद । खाने-पीने, नहाने-धोने, भोग-उपभोग और खेल-कूद-नाटक आदि देखने में जो समय पूरा किया जाता है वह द्रव्य प्रमाद है । मद्य, निद्रा, विकथा, नशा, मज्जन आदि द्रव्य प्रमाद के कारण हैं ।

नशे के सेवन से मति में जड़ता आती है, सोचने-समझने की शक्ति मंद पड़ जाती है, इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं और मनुष्य पराधीन हो जाता है । नशा, लेने के पहिले तथा बाद में दोनों समय वह मन को शिथिल बना देता है । आजकल की अतिशय लोकप्रिय चाय भी एक नशा है और इसकी टेव पड़ जाने से भी व्रत में बाधा आती है ।

विषय-कषाय भाव प्रमाद के अन्तर्गत आते हैं । बीमारी की स्थिति में या आर्त्त दशा में क्रोध आने पर मनुष्य किसी को मार देता है या नहीं बोलने योग्य वचन बोलता है तथा अकर्तव्य का आचरण करता है । उस समय बाहर का जोश तो बढ़ जाता है परन्तु भीतर का जोश ठण्डा पड़ जाता है। पूर्वाचार्यों ने कहा है—

"मज्जं विसय-कसाया, निद्दा विकहा य पंचमी भणिया ।
एए पंच पमाया, जीवा पाडंति संसारे ।।

जिसमें या जिसके कारण जीव भान भूले, वह प्रमाद है । शब्द-शास्त्र में कहा है कि—"प्रकर्षेण माद्यति जीवो येन स प्रमादः" प्रमाद में मनुष्य करणीय या अकरणीय का विवेक भूल जाता है, उन्मत्त हो जाता है । विषय में भी प्राणी मत्त हो जाता है तब साधना नहीं कर पाता । क्रोध, मान, माया और लोभ ये कषाय रूप प्रमाद हैं । ये जीवन-निर्माण के बाधक तत्व हैं, जो विरति भाव को जागृत नहीं होने देते । सच्चरित्र का पालन नहीं करने देते । ये आत्मा के भान को भुला देते हैं और जीवन को लक्ष्यहीन बना देते हैं ।

रूप, गंध, रस, स्पर्श और शब्द इन पांचों में रतिमान होकर मानव हित अनहित को भूल जाता है । इन्द्रियों से रूपादि ग्रहण करना और उनमें आसक्त होना, ये दो भिन्न बातें हैं । सावधानी या विवेकपूर्वक इनका उपयोग प्रमाद नहीं है, क्योंकि जीवन यात्रा में पद-पद पर इनकी जरूरत रहती है और इन्द्रिय ज्ञान के लिये इनका उपयोग भी है । किसी वस्तु को देखना प्रमाद नहीं है परन्तु मनोहर रूप को घूर-घूर कर देखना, उसमें भान भूल जाना, यह प्रमाद है । सुगन्ध अच्छी वस्तु है, किन्तु उसमें दृढ़ प्रीति होना या तन्मय होना, प्रमाद का रूप है । पेट भरने के लिए पदार्थों की कमी नहीं है, परन्तु विशिष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए मनुष्य लालायित रहता है । वह विलासिता में फंसकर पशु-धन की बर्बादी पर ध्यान नहीं देता, भले दूध-घी की कमी को दीर्घकाल तक सहन करना पड़े । स्वाद और लोभ मनुष्य को स्वार्थान्ध बना देता है । यह कषायरूप आंतरिक प्रमाद का ही परिणाम है ।

जो कथनीय नहीं हो तथा जो कथा-श्रोता को स्वभाव से विपरीत ले जाती हो वह विकथा है । विकथा के चार एवं सात भेद किए गए हैं ।

१—स्त्री कथा (पुरुष के लिए) और पुरुष कथा (स्त्री के लिए)
२—भत्त कथा (खान-पान की कथा) ३—राज कथा ४—देश कथा ।

आत्मा को स्वभाव से हटाकर पर-भाव में ले जाने वाली विकथा शांत रस में रौद्र और श्रृंगार का वीभत्स-रस उत्पन्न कर देती है । कथा में करुण रस या शान्त रस की बातें हों, तो अच्छी है । वाचक को कथा कहने में इतनी सतर्कता अवश्य रखनी चाहिए कि उसके द्वारा राग का शमन हो और मन में शान्ति का अनुभव हो।

उपरोक्त चार विकथाओं से मोह जगता है, किन्तु वैराग्य या ज्ञान का जागरण नहीं होता । धर्म-साधना और व्रत के समय राज्य आदि की कथा करना, प्रमाद को प्रश्रय देना है । जैसे मिठास के पीछे मनुष्य घास भी चूस लेता है और मिठास के लालच में सड़ी-गली चीज भी खा जाता है । खली के साथ पशु पुराने चारे को भी आसानी से खाता है । विकथा भी वैसा ही मीठा कचरा है ।

मीठी-मीठी बातें चल रही हों, उस समय मनुष्य दो मिनट के बदले आधा घंटा रुक जाता है । प्रमाद के मीठे कचरे में मनुष्य ज्ञानादि गुण की हानि नहीं समझ पाता । ज्ञानी यदि प्रमादी बन जायेगा, तो नवीन ज्ञान का रास्ता बन्द हो जायेगा और पुराना ज्ञान भूल बैठेगा । इस प्रकार प्रमादी बनकर मनुष्य अपने दर्शन और चारित्र को भी मलिन कर देता है । गृहस्थ का जीवन विविध प्रकार के प्रमादों में उलझा होता है, अतः विवेकी पुरुष को उससे जितना बच सके, बचने का प्रयत्न करना चाहिए ।

प्रमाद के मुख्य दो रूप हैं–एक मंद प्रमाद और दूसरा तीव्र प्रमाद । तीव्र प्रमाद सुध-बुध भुला देता है उसमें मानव कर्तव्या-कर्तव्य भूल जाता है, किन्तु मन्द प्रमादी प्रमाद को तत्काल छोड़कर जागृत हो सकता है । मंदप्रमादी प्रेरणापूर्वक साधना में लगाया जा सकता है । महा प्रमादी उठाकर बैठाने से भी स्थिर नहीं हो पाएगा और गिर-गिर जाएगा । स्वाध्याय एवं भजन में उसका मन नहीं लग पाता, वह घर के लोगों के लिए भी भारभूत होता है । वैसे प्रमादी के लिए एक कवि गृहिणी की भाषा में कहता है कि–

"पालो पाड़ो मति भगवान्, ऐसा कर्म हीण लोगां सुं ।
पोर दिन आयां सूतो ऊठे, आलस ने नहिं छोड़े ।
ले बीड़ी मूंडा में वो तो, ट्टी सामो दौड़े । पा. ।१।

प्रभुजी ! ऐसे लोगों के मुझे पल्ले मत डालना जो देरी से सोकर पहर दिन चढ़े उठते हैं और उठते ही मुंह में बीड़ी सिगरेट लेकर टट्टी घर संभालते हैं । ऐसे अनावश्यक समय नष्ट करने वाले व्यक्तियों से क्या उम्मीद की जाय ? ऐसे शोचनीय दशा वाले, उग्र प्रमादी जन अपना जीवन सार्थक नहीं बना सकेंगे । अत्यन्त प्रमादी हिम-अजगर भी समय पाकर जागृत हो जाते हैं तो अनन्त शक्तिवाला नर सत्कार्य में क्यों प्रमाद करता है । प्रमाद तो बुरे कर्म में करना चाहिए जो लाभकारी सिद्ध होगा ।

आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर ने सतों से कहा कि "आज्ञा पालन में प्रमाद न करो और आज्ञा के बाहर उद्यम न करो" क्योंकि ये दोनों अवांछनीय हैं । आज्ञा के भीतर पुरुषार्थ और आज्ञा के बाहर आलस हितकर है । इससे जीवन का धन बचेगा । अनुभवी कवि ने ठीक ही कहा है–

"क्रोध न छोड़ा, लोभ न छोड़ा,
सत्य वचन क्यों छोड़ दिया ?
'खालस' इक भगवान् भरोसे,
यह तन, मन, धन क्यों न छोड़ दिया ?
प्रभु-नाम जपन क्यों छोड़ दिया ?"

मानव मन का उलट चक्र सब गड़बड़ा देता है । वह लड़ाई करने, अपशब्द बोलने एवं क्रोध करने में प्रमाद नहीं करता और उपदेश सुनकर त्याग, विराग का रंग आ जाय, तो प्रमाद में समय टालता है । यही उलटापन है, जिससे मनुष्य को बचना चाहिए । धार्मिक राजकीय व सामाजिक कार्यों में उग्रता के समय यदि कुछ समय टालकर जवाब दिया जाय और बीच में भगवान् का भजन कर लिया जाय, तो अच्छा होगा । उत्तेजना के समय किये जाने वाले काम में प्रमाद करना अच्छा है, किन्तु जीवन को उन्नत बनाने वाल कामों में प्रमाद से दूर रहना अत्यन्त आवश्यक है । ऐसे प्रमाद में पड़ने वाला स्वयं अपने को तथा दूसरों को भटका देता है । मनुष्य प्रमत्त बनकर मार्ग भूल जाता है और धोखा खाता है, किन्तु संयम वाला धोखा नहीं खाता । ज्ञान पाकर बड़े-बड़े चक्रवर्तियों ने राज्य सिंहासन और वैभव छोड़ दिए, क्योंकि उन्हें हिताहित का बोध हो गया था ।

शकटार प्रमाद के कारण ही विनाश के मुख में चला गया । फिर भी अन्त समय में प्रमाद छोड़कर उसने परिवार को बचा लिया, अन्यथा प्रमाद से सपरिवार नष्ट हो जाता । महाराज नन्द अपना पाप धोने के लिए या कृतज्ञतावश श्रीयक को मन्त्री बनाना चाहते थे पर श्रीयक ने अपने बड़े भाई को आमन्त्रित करने को कहा, जैसा कि कहा जा चुका है ।

उधर स्थुलभद्र रूपकोषा के घर उन्मत्त रूप से जीवन बिता रहा था । वह शिक्षा लेते-लेते विलास में डूब गया था । स्थूलभद्र और रूपकोषा का जीवन ऐसा बन गया था, जैसे काया और छाया । दोनों एक-दूसरे को छोड़ नहीं सकते थे । राजा नन्द ने स्थूलभद्र के लिए मंत्री पद देना स्वीकार किया । जब राज कर्मचारी रूपकोषा के घर स्थूलभद्र को बुलाने गये, तब रूप कोषा ने भी एक प्रजा के नाते, राजा के बुलाने पर स्थूलभद्र को जाने का परामर्श दिया और शीघ्र लौट आने को निवेदन किया । रूपकोषा ने चलते समय मधुर शब्दों में कहा कि बारह वर्ष का स्नेह न भूल जाइएगा ।

स्थूलभद्र भी स्वेच्छा से जाना नहीं चाहता था, किन्तु वह राजाज्ञा एवं रूपकोषा के परामर्श को नहीं टाल सका, अतः राज दरबार में उपस्थित हुआ । स्थूलभद्र को देखते ही सभासद प्रसन्न हो गए । राजा नन्द ने भी कहा कि महामन्त्री के असामयिक अवसान के दुःख को दूर करो और मन्त्री का पद ग्रहण कर उसे खूबी के साथ निभाओ ।

कभी-कभी साधारण बात मन को जागृत कर देती है । स्थूलभद्र सोचने लगा कि जिस कुर्सी ने पिता के प्राण लिए, उस अनर्थ मूलक कुर्सी को मैं ग्रहण करूं

तो मेरा भी वही हाल होगा । उसने राजा से सोचने के लिए कुछ समय मांगा और चिन्तन किया । चिन्तन के पश्चात् वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि कुर्सी के ही फेर ने मनुष्य को आज तक भुलाया है और धोखा दिया है । यदि मुझे मन्त्री बनना है तो भगवान् का ही क्यों न बनूं ?

स्थूलभद्र ने राजा नन्द को प्रत्युत्तर दिया कि राजन् ! मेरा विचार आत्म साधना का है । अब मैं भोग को रोग और धन-दारा को कारा मानता हूँ । अतएव मैं मन्त्रीपद के बन्धन में बंधना नहीं चाहता । कृपया आप किसी अन्य को इस पद पर नियुक्त कर देवें । लोगों ने स्थूलभद्र को मूर्ख समझा और उसे समझाया कि उत्तराधिकार के रूप में मन्त्रीपद मिल रहा है, अतः उसे ठुकराना योग्य नहीं है । किन्तु स्थूलभद्र ने सत्य को समझ लिया था तथा विरतिमार्ग का पथिक बनने का संकल्प भी कर लिया था । उसके दृढ़ निश्चय को देखकर लोग अधिक दबाव नहीं डाल सके । इससे प्रमाणित होता है कि महान् कार्य करने के लिए प्रमाद-त्याग आवश्यक है । जो विषय-कषाय का त्याग करेगा वह अपना उभयलोक सुधार लेगा, यह सुनिश्चित है ।

---

[३७]

बंध का कारण और मनोजय

संसार में बंध के प्रमुख दो कारण हैं—एक अज्ञान और दूसरा मोह । अन्य विभिन्न कारण इसमें अन्तर्निहित हो जाते हैं । अज्ञान से मिथ्यात्व आता है और विषय-कषाय एवं प्रमाद मोह में गर्भित हो जाते हैं । अज्ञान तथा मोह से संसार के दुःख सागर में डूबा हुआ मानव जब ज्ञान का प्रकाश पा लेता है, तो प्रमाद छूट जाता है और आत्मा ऊर्ध्वमुखी हो जाती है । अज्ञान और प्रमाद पुरुषार्थ से दूर हो सकते हैं । ये मानव की निष्क्रियता के दुष्परिणाम हैं । यदि योग्य पुरुषार्थ से काम नहीं लिया गया, तो कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो आपके प्रमाद को दूर कर सके । जैसे काई, शैवाल आदि जलाशय के जल की सतह को ढंक लेते हैं, किन्तु वायु के झोंके से जब शैवाल हट जाते हैं, तब जल का खुला भाग प्रगट हो जाता है । इसी प्रकार यदि मनुष्य ज्ञान की आंधी चलावे और पुरुषार्थ करे, तो अज्ञान एवं मोह की काई दूर हो सकती है ।

आनन्द श्रावक ने जीवन शुद्धि का संकल्प लेकर प्रभु महावीर के चरणों में नियम लिया कि मैं प्रमाद द्वारा होने वाले अनर्थ दण्ड से अलग रहूंगा तथा विषय कषाय के वेग में कोई काम नहीं करूंगा । साथ ही मन और आत्मा को उलझाने वाली विकथा से यथा शक्य दूर रहूंगा । इस तरह नियमों के घेरे में मन को डालकर उसने अपने को संयत बनाया ।

वह जानता है कि मनुष्य के जीवन में यदि प्रमाद ने प्रश्रय पा लिया तो वह त्याज्य को ग्राह्य और ग्राह्य को छोड़ने योग्य समझ लेगा । प्रमाद से आचरित अनेक अनर्थ उसके द्वारा हो सकते हैं तथा असत्य वचन बोलने में भी वह नहीं हिचकिचाएगा । किसी को चोर, बेईमान आदि कह देगा तथा अकारण सबसे द्वेष और वैर बढ़ा लेगा । इस परिस्थिति में आदमी नहीं बदला, मगर बात बिलकुल बदल गई ।

आवेग में कोई भले आदमी को नालायक आदि कटु वचन कह देता है, यह वाणी का प्रमाद है । कषाय के प्रमाद को मस्तक में धारण कर मानव वाणी तथा व्यवहार दोनों को असंयत बना लेता है । क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय तथा शब्द स्पर्शादि विषय रूप प्रमाद के कीटाणु साधक के मन में घुसकर उसे भटका देते हैं और धीरे-धीरे लक्ष्य से गिरा देते हैं । अतः साधक को चाहिये कि वह सावधानीपूर्वक दैनिक व्यवहार करे और आवेश में कोई काम नहीं करे । आवेश में आकर किया हुआ कोई भी काम स्व पर का हितकारक नहीं होता । पागल की बातों को जैसे हम बुरी नहीं मानते, वैसे क्रोधादि से पराधीन व्यक्ति की बातों को भी बुरी नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वह परवश एवं दया का पात्र है । शान्त चित्त वाला कभी ऐसे असंयत या मदमत्त की बातों को बुरी नहीं मानता । विषय कषाय के वेग से स्वयं बचते हुए दूसरे के ऊपर भी दया दिखाने में संकोच नहीं करना चाहिए, जो कि उसका शिकार बन गया है । इस प्रकार प्रमाद से उत्पन्न अनर्थ से बचाव हो सकता है ।

जब द्रव्य प्रमाद होता है, तो वह हिंसा का कारण होता है । रात को या अन्धेरे में खाना, हिंसात्मक है, क्योंकि उस समय खाद्य वस्तु स्पष्ट देखने में नहीं आती । पानी छानते समय कपड़े का ध्यान नहीं रखना प्रमाद है और बिना छाने पानी पी लेना अनर्थ दण्ड है । प्रमाद के कारण मनुष्य वस्तु बिगाड़ने के साथ ही साथ शारीरिक हानि भी करते हैं । दीवाली के लिए रात को घर झाड़ना, सफाई करना आदि अनर्थ दण्ड हैं । बिना ढके पानी आदि रखना भी अनर्थ दण्ड है ।

विवेकी साधक को गृहस्थ-जीवन में पद-पद पर सावधानी की आवश्यकता है। आटे, दाल, मिर्च आदि में कीटाणु लग जाते हैं । दूध में शक्कर डालकर एक खुली कटोरी में उसे रख दिया जाय तो जंतु पड़ सकते हैं । कण्डे तथा लकड़ी हर एक घर में जलाने पड़ते हैं परन्तु बिना देखे यदि इनका उपयोग किया जाय तो अनेक जीव जन्तुओं की हिंसा हो सकती है जो कि अनर्थ दण्ड है । धर्म सभा में जहां कहीं प्रमाद वश थूंक देना एवं विषय कषाय रूप अपध्यान करना भी अनर्थ दण्ड है। गृहस्थ जीवन में हर वस्तु का विवेक से उपयोग किया जाय तो जीव हिंसा से बचना कोई कठिन नहीं है ।

मनुष्य का प्रमाद आज इतना बढ़ गया है कि तन का भरण पोषण भी शायद कुछ दिनों के बाद भूलने जैसा हो जाय, तो कुछ आश्चर्य नहीं । लोग प्रमाद वश घर के आस पास मल डालते तथा गन्दी वस्तुएं इकठ्ठी करते हैं । इससे कीटाणु बनकर विविध रोगों का प्रसार होता है तथा पड़ोसियों से आपसी सम्बन्ध

बिगड़ते हैं । इसी तरह जलाशय और सार्वजनिक स्थानों में भी प्रमाद से ही गन्दगी बढ़ती है । लोग मलेरिया उन्मूलन आन्दोलन चलाते जाते हैं पर रोग वृद्धि के कारण–भूत प्रमाद को नहीं घटाते । घर और गली में नाली सड़ती रहे वैसी स्थिति में दवा छिड़कने मात्र से क्या हो सकता है ? अतः बुराइयों तथा प्रमाद को हटाकर उसके स्थान में अच्छाई और पौरुष को बढ़ाना होगा, अन्यथा खाली जगह देखकर प्रमाद डेरा डाल देगा । अगर किसी को हटाना है तो निश्चय ही दूसरे को वहां बैठाना होगा । कहा भी है–"खाली मन शैतान का घर ।"

सूने मन में विकार घर कर लेते हैं । मन के सूनेपन को हटाने के लिए इन्द्रियों को सत्कार्य में, मन को प्रभु स्मरण, धर्म ध्यान और शुभ चिन्तन में तथा वाणी को स्वाध्याय में लगाया जाय, तो प्रमाद को स्थान नहीं मिलेगा । इन्द्रियों को अच्छे कामों में, इधर-उधर भटकने वाले मन को सद् अध्यवसायों में तथा वाणी को स्वाध्याय में लगाने से उसकी बेकारी का कोई प्रश्न ही नहीं उठेगा । धर्म साधना करने से साधक का बेकार मन काम में लग जाता और शारीरिक सुस्ती भाग जाती है । प्रवचन धर्म कथा आदि सुनने से श्रोता की सुस्ती भाग जाती है । चित्त वृत्ति की एकाग्रता से कभी-कभी भयंकर व्याधियां भी मिट जाती हैं, क्योंकि मन के शुभ अध्यवसायों में लग जाने के कारण रोग की कल्पना मन में नहीं आएगी । प्रमाद को दूर करने के लिए शारीरिक और वाचिक संयम कर लेने से मन आसानी से ध्यान में लग सकता है । भगवान के भजन में मन को लगाने के लिए शारीरिक और वाचिक संयम चाहिए । पवित्र साधना एवं पुरुषार्थ के बिना यह संभव नहीं है । बीज का अंकुरित होने का स्वभाव है, पर किसी कोठी या पात्र में बंद रखने से अंकुर नहीं निकलता । इसके लिये किसी छोटे मिट्टी के पात्र में बीज डालकर खाद पानी व धूप उसे दिया जाय तो अंकुर निकल आएगा । जैसे वस्तु में मूल रूप से अंकुरित होने का गुण होते हुए भी निमित्त के बिना वह बाहर प्रकट नहीं होता, उसी प्रकार आत्मिक शक्तियों को प्रगट करने के लिए भी योग्य निमित्त चाहिए । निमित्त पुरुषार्थ को गतिशील करता है । कभी-कभी परिपक्व क्षण में साधारण सा निमित्त पाकर भी वह गुण विकसित हो जाता है, जो बड़े-बड़े उपदेश से भी संभव नहीं होता ।

उदाहरण स्थूलभद्र का हमारे सामने है । स्थूलभद्र को यदि शिक्षा देकर कोई रूपकोषा का संग छुड़ाना चाहता, तो संभव है छूटता या नहीं परन्तु यह भान होते ही कि जिस मन्त्री पद ने पिता की जान ले ली वह सुख का मूल नहीं, दुःख का कारण है, स्थूलभद्र ने राजा के अधीन रहना स्वीकार नहीं किया । लोकोक्ति भी प्रचलित है–"जहां रहणो वहां हांजी हांजी कहणो ।" उसने निश्चय किया कि उसे

त्याग का मार्ग लेना है, राग का नहीं, क्योंकि राग की आदि अच्छी है परिणाम अच्छा नहीं; जबकि त्याग के मार्ग की आदि कठोर है किन्तु उसका परिणाम अच्छा है। बुढापे के लिए धन संचय करना सभी गृहस्थ ठीक मानते हैं। मकान किराए पर देना, पेन्शन हेतु दो वर्ष अधिक सेवा करना, ब्याज पर रुपया लगाना आदि से व्यवस्था जमाते हैं। इसी प्रकार आध्यात्मिक मार्ग में भविष्य की शान्ति के लिए मनुष्य सत्कर्म रूपी धन संचित करने की व्यवस्था की बात क्यों नहीं सोचता।

श्रीयक को मन्त्री पद के लिए योग्य बताकर स्थूलभद्र त्याग मार्ग ग्रहण करता है। राजा, प्रजा सभी उसे मन्त्री पद ग्रहण करने के लिए आग्रह करते हैं परन्तु बदले हुए मन को कौन मोड़ सकता है। स्थूलभद्र ने वैराग्य मार्ग ग्रहण कर लिया। दृढ़ निश्चयी मूल वस्तुतत्व को समझ लेने वाले अपने निश्चय पर अडिग रहते हैं। रूपकोषा को जब पता चला कि उसका प्रेमी मन्त्रीपद को छोड़कर त्याग का मार्ग ग्रहण कर रहा है तब उसका उमंग और उत्साह गल गया, जैसे हिमपात से कमल गल जाता है। मगर क्या करती, कोई चारा नहीं था, क्योंकि शूरवीर एवं संकल्प बली व्यक्ति की वाणी हाथी के दांत के समान परिपक्व होने पर ही बाहर निकलती है। वे फिर उसे भीतर नहीं मोड़ सकते। वे कछुए की गर्दन के समान अपनी वाणी को बार-बार बाहर भीतर नहीं करते। कहा भी है—"दंति दन्त समानं हि, महतां निर्गतं वचः।" परिपक्व वाणी की तुलना परिपक्वावस्था के हाथी दांत सें की गई है।

बैताल कवि ने मर्द के लक्षण बताते हुए बड़े ही सुन्दर ढंग से अपनी बात कही है—

मर्द करे उपकार , मर्द जग में यश लावे।
मर्द देत अरु लेत, मर्द खावे औ खिलावे ।।

परें मर्द में भीड़, मर्द को मर्द छुड़ावे।
मर्द नवावे सीस, मर्द तलवार बजावे ।।

सुजान नर जाणों तुम्हें, सुख दुख साथी दर्द के।
'बैताल' कहे विक्रम सुनो, ये लच्छन हैं मर्द के ।।

इसके विपरीत चलने वाले का पुरुषों के लिए भी बैताल ने चुभती बात कही है—

पहर ऊजला झाबा, पाग ऊंची सिर बांधे।

घर में तेल न नून, प्रीत राजा सों साधे ।।
पनघट घाट बैठ, त्रियामुख रोटियां लेखे ।
बात में गढ लेय जुद्ध–नयणा नहिं दीठे ।।

सुजाण नर जाणों तुम्हें, सुख दुख साखी दर्द के ।
'बेताल' कहे विक्रम सुनो, ए लच्छन का–पुरुष के ।।

जहां पौरुष और साहस नहीं हो, केवल वाणी की शूरता हो, वह सम्माननीय मर्द नहीं होता । घर में बैठे रहने से कोई शूरवीर नहीं बनता । युद्ध भूमि में या अवसर की जगह साहस दिखाने वाला ही खरा वीर कहलाता है ।

स्थूलभद्र संकल्प बली थे । साथ ही उनमें काम करने की दृढ़ता थी । जब जिधर मुड़े, पूरे तन मन की एकता के साथ मुड़े । अन्त में उन्हें त्याग मार्ग के लिए त्रिवेणी की तरह तीन निमित्त मिल गये, रूपकोषा का संग, शकटार की मृत्यु और महामुनि सम्भूति विजय का आगमन व उनका सत्संग । परिग्रह में एक का नाश देखकर फिर उसे दूसरा ग्रहण करना चाहे, तो यह अज्ञानता और अविवेक का ही कार्य कहा जायेगा । जैसे एक पतिंगा दीपक में जलकर राख हो गया और फिर दूसरा उसमें उड़कर जाना चाहे तो यह अज्ञानता की ही निशानी है । जो प्राणी अपने विवेक को जगाकर अज्ञानता को दूर भगाएगा, वह उभय लोक में कल्याण का भागी होगा ।

[३८]

धर्म साधना और स्वाध्याय

अनन्त काल से पाप जल में गोते खाने वाले संसारी-जीवों को भगवान् महावीर ने पार पाने का मार्ग दर्शाया। उन्होंने कहा–इस विशाल भवसागर में जो साधक सावधानी नहीं रखता, उसका जीवन खतरे से गुजरता है। नाव की मजबूती और नाविक की तत्परता के बाद भी पार जाने के लिए बीच में विश्राम-स्थल द्वीप अपेक्षित रहता है, जहां नाविक अपनी और नाव की देखभाल कर आगे का मार्ग निश्चित करता है। शास्त्र में विचार आता है कि–संसार सागर में ऐसा द्वीप कौन है, जिस पर स्थिर होकर टिका जा सके ? केशी श्रमण के पूछने पर गौतम ने कहा– वह धर्म द्वीप है, जो निराला, अविनाशी और पर उपकारी है। सागर का द्वीप कभी जल में डूब भी सकता है किन्तु यह कभी डूबने वाला नहीं है। यह साधक को दोनों ओर से सुरक्षित रखता है। मैं भी उसी के सहारे निर्भय टिका हूं। जैसा कि शास्त्र में कहा है–

जरा मरण वेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ।।

जरा और मरण के वेग से बहने वाले प्राणियों के लिये धर्म द्वीप है। धर्म की चार विशेषताएं हैं–१. प्रतिष्ठा, २. गति, ३. शरण, ४. द्वीप। धर्म का सहारा लेने से प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। अतः इसे प्रतिष्ठा कहा गया है। "स्वरूपे गमनं गतिः" अर्थात् स्वरूप की ओर गमन के कारण इसे गति कहा है। शरण से तात्पर्य रक्षक है और राग-द्वेष के रूप दोनों बंधों से बचाने के कारण इसको द्वीप भी कहते हैं। द्वीप समुद्र से ऊंचा मस्तक किए खड़ा रहता है। वह मूक भाषा में मानों कहता है कि मेरी सेवा ग्रहण करो। बचना हो तो मेरी शरण में आ जाओ। जिस प्रकार आकाश अपनी विशालता से चिड़िया, गरुड़, पतंगा और अंतरिक्ष यात्री सबको गति

देता है, उसी प्रकार धर्म भी सब की रक्षा करता है । कोई भिखारी, साधारण गृहस्थ, राजा, साधु, श्रीमंत और वीतराग हो धर्म सभी को गति देता है किन्तु धर्म गगन में स्वैर विहार करने वाले तो वीतराग अनगार ही हैं । जो क्षण पल में सारे विश्व की ज्ञान-यात्रा कर लेते हैं ।

जब तक आत्मशक्ति का विकास नहीं हो जाय, तब तक यह आश्चर्य लगने वाली वस्तु प्रतीत होगी । मनोबल एवं अनुभव की कमी से ऐसा होना कुछ असंभव नहीं, मगर यह सर्वथा सत्य है । आज का मानव भौतिक साधनों की वृद्धि और जोड़े हुए के रक्षण की चिन्ता कर रहा है किन्तु अनन्तकाल के संचित ज्ञान कोष को बेहोश होकर लुटा रहा है । भला ! इससे बढ़कर आश्चर्य की बात और क्या होगी कि हम भौतिक वस्तुओं को अपना समझ कर उसके लिए तो चिन्ता करते हैं पर आत्म-धन की चिन्ता नहीं करते । भूमिगत खजाने की खोज के पीछे हम मनःकोष को भूल से गए हैं । वस्तुतः मानव इस आन्तरिक धन, ज्ञान प्रकाश की चिन्ता न कर अपनी मूर्खता का इजहार कर रहा है ।

जैसे दरिया में कंकर या पत्थर पटका जाय तो एक लहर उठती है जो किनारे जाकर टकराती है, वैसे ही हमारी वाणी जब प्रसारित होती है, तो परमाणुओं में लहर उठती और वह सारे लोक में फैल जाती है । शास्त्र के इस सिद्धान्त पर वैज्ञानिकों ने खोज की और रेडियो का आविष्कार किया । आज घर-घर में रेडियो का कार्यक्रम सुनकर आप फूले नहीं समाते हैं और विज्ञान की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं । जीवन में आरंभ और परिग्रह को सीमित करें, तथा ज्ञान का संचय करें, तो आत्मिक प्रकाश से जीवन झंकृत हो उठेगा और बिना रेडियो, टेलीविजन के ही सारा विश्व हस्तामलक की तरह दिखाई देगा ।

आवश्यकतावश होने वाली हिंसा से यदि आप अपने को बचा नहीं सकते, तो अकारण होने वाले पाप कर्मों से तो अपने को जरूर बचाइए । जो अनावश्यक पाप नहीं छोड़ सकता, वह अर्थ दण्ड से उत्पन्न पाप कैसे घटा सकेगा ? आनन्द ने नियम के द्वारा अपने को इन सबसे बचा लिया, उसे भगवान् की संगति का लाभ मिला, फिर भला वह कैसे अपने को निर्मल नहीं कर लेता ? जैसे निर्मल जल से वस्त्र की शुद्धि होती है, उसी प्रकार सत्संग से जीवन पवित्र होता है । निर्मलता, शीतलता और तृषा निवारण जल का काम है । सत्पुरुषों का सत्संग भी ऐसे ही त्रितापहारी है । वह ज्ञान के द्वारा मन के मल को दूर करता, सन्तोष से तृष्णा की प्यास मिटाता और समता व शान्ति से क्रोध की ताप दूर करता है । काम एवं लोभ की आग कभी शान्त होने वाली नहीं । जैसा कि श्रीकृष्ण ने भी कहा है–

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्ण वर्त्मेव, भूय एवाभिव वर्धते ।।

आग में घी और पुआल डालने से वह बढ़ती है, शान्त नहीं होती । ऐसे ही काम लोभ की अग्नि भी भोग एवं कामना से शान्त नहीं होती बल्कि अधिक प्रज्वलित होती है। मनुष्य यदि शान्ति चाहता है तो उसे कामना की आग को सीमा से अधिक नहीं बढ़ने देना चाहिए । धर्म-रूपी प्रसाद के दो विशाल स्तम्भ हैं—१. संघ और दूसरा श्रुत। यदि इन दो का सहारा नहीं रहेगा, तो धर्म नहीं टिकेगा और धर्म अगर नहीं टिका, तो निश्चय ही यह धरा भी नहीं टिकेगी। किसी ने ठीक ही कहा है—

"हैं उसे कहते धरम, जिस पर टिकी है यह धरा ।"

साधु-साध्वी एवं श्रुत का सहारा भोजन और हवा की तरह समाज के लिए उपादेय है । भोजन से भी अधिक महत्व हवा का है, जिसके बिना जीवन धारण असंभव है । भोजन और हवा इन दोनों में प्राण रक्षण की शक्ति है । यह तो शरीर धारण सम्बन्धी द्रव्य जीवन की बात हुई । वैसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र का रक्षण यह भाव जीवन की बात है । सत्संग भोजन की खुराक के समान है । इसके बाद श्रुत ज्ञान का महत्व है । श्रुताराधन वायु सेवन की तरह है । दूषित वायु के सेवन से काम नहीं चलेगा । ऑक्सीजन वायु से मनुष्य दीर्घायु बनता है । और दूषित गैस के सेवन से आयु क्षीण होती है । कल-कारखानों में काम करने वाले मजदूर इसी दूषित वायु सेवन के कारण क्षीण काय और अल्प आयु वाले होते हैं ।

आध्यात्मिक जगत में जड़वाद नास्तिकवाद और भौतिकवाद की दूषित हवा है । वहां यदि श्रुत ज्ञान द्वारा शुद्ध हवा नहीं मिली, तो आध्यात्मिक जीवन आगे नहीं बढ़ सकेगा । अतएव श्रुत ज्ञान को मजबूत बनाना चाहिए । मन का उत्साह और श्रद्धा, श्रुत के अभाव में पानी के बुदबुदे के समान विलीन हो जायेंगे । यदि कुछ भाई इस दशा में प्रेरक बनें, तो आध्यात्मिक जीवन सुधर सकता है । जीवन बनाने के लिए मन में आई हुई शुभ लहरों-उमंगों को स्थायी रूप देने का प्रयत्न किया जाय, तो विशेष लाभ हो सकता है । इसके लिए धर्म के द्वीप को सुरक्षित रखने के लिए इस प्रकार की प्रेरणा सतत होती रहे, यह आवश्यक है । प्रार्थना तथा स्वाध्याय का रूप चलता रहे, तो उत्तम है । हर एक संघ को दीपक बनकर दूसरों को ज्ञान की ज्योति देने का काम करना चाहिए । यदि दीपक में तेल और बत्ती है किन्तु लौ बुझ गई है तो जलता हुआ दूसरा दीपक उसे जला सकता है । जीवन में विचार एवं प्रेम का तेल और बुद्धि की बात है परन्तु ज्ञान की रोशनी जल नहीं रही है ।

इसलिए दीपक दीपक की महिमा नहीं पाता । वहां सद्गुरू रूप दीप के संग की आवश्यकता है ।

धर्म संरक्षण के लिए श्रुत धर्म की आराधना निरन्तर की जानी चाहिए । श्रुत धर्म वह ताकत है, जो वासना तथा भौतिकवाद की गति को मोड़ कर शान्तता और स्थिरता लाने का काम करता है । इससे हमारे पूर्वजों का भूतकाल में जीवन बना और हमारा भविष्य भी बनेगा । शास्त्रों का लेख वांचन करके हमारे पूर्वजों ने अपने मन को स्थिर कर शान्त बनाया । उनके मन में ज्ञान की ज्योति जली । समाज के भ्रान्त विचार रूप कचरे को उन ने दूर करने की चेष्टा की जो मानव जीवन को असंस्कृत बनाए हुए था । ज्ञान की ज्योति जगमगाने से जीवन में मोड़ आता है और व्यक्तित्व दमकता है । यह भ्रम ठीक नहीं कि गृहस्थ ज्ञानियों के वर्ग के बढ़ने से साधुओं की कद्र कम हो जायेगी । विद्वान ही विद्वत्ता की कद्र करेंगे । सामान्य श्रोता कथा, कहानी या गायन में अधिक प्रसन्नता मानता है किन्तु वक्ता मुनि की विद्वता तथा योग्यता की खरी इज्जत विद्वान श्रावक ही भली-भांति कर सकते हैं । श्रुत ज्ञान जीवन का प्रमुख सहारा है । इतिहास साक्षी है कि श्रुतबल, स्वाध्याय तथा ज्ञान ने लाखों मनुष्यों के जीवन को सुधार दिया है । वास्तव में जिन्दगी उसी की सफल है जिसने अपना जीवन ऊंचा उठाया । किसी कवि ने ठीक ही कहा

"हंस के दुनिया में, मरा कोई, कोई रोके मरा
जिन्दगी पायी मगर, उसने जो कुछ होके मरा ।"

युवकों का नारा होना चाहिए कि–

"हम करके नित स्वाध्याय, ज्ञान की ज्योति जगाएं गे ।
अज्ञान हृदय का धोकर के, उज्ज्वल हो जाएं गे ।।

युवक संघ की सामूहिक आवाज होनी चाहिए कि हम धर्म ध्वज को कभी भी नीचा नहीं होने देंगे तथा नित स्वाध्याय करके ज्ञान की ज्योति जगाएंगे, ऐसे संकल्प लेने वाले अनेक साधक हो गए हैं । श्रुत ज्ञान के बल से शासन को बल मिला । धन की दृष्टि से अनेकों बने हुए बिगड़े और बिगड़े हुए बन गए, इसके उदाहरण भरे पड़े हैं । धन को ताले में बन्द करो या जमीन में गाड़ दो, फिर भी वह नष्ट होगा, अनेक बड़े-बड़े बैंक फेल हो गए । जमीन में भी कभी-कभी फसल नहीं आती । ब्याज में लगा धन भी नष्ट हो जाता है । अतएव उसकी चिन्ता व्यर्थ हैं क्योंकि वह नाशवान् है और लक्ष्मी चपला है । अतः श्रुत ज्ञान की चिन्ता करो, जो जीवन के लिए परम धन है ।

कहावत है कि—आप अपना धन गंवाते हैं तो कुछ नहीं गंवाते, कारण धन आता और जाता है । स्वास्थ्य गंवाते हैं तो कुछ गंवाते हैं क्योंकि सब कुछ स्वास्थ्य पर ही निर्भर है और यदि ज्ञान या चरित्र गंवाते हैं, तो सब कुछ गया समझिये । जैसे किसी वृक्ष को काट दें तो वह नष्ट हो जाता है । फल, फूल और डालियां गईं तो कोई खास हानि नहीं, क्योंकि पत्ते, एवं फल फिर लग जाएंगे । किन्तु मूल काट देने से सब बेकार है । ऐसे धर्म या चारित्र मूल हैं जिसे बचाना आवश्यक है ।

जितना श्रुत बल घटेगा, उतना ही चारित्र बल कमजोर होगा । आज श्रद्धा बल को तो विज्ञान ने छीन लिया है, उस पर आक्रमण कर दिया है । अतः फिर से उसे जागृत कीजिए । जीवन श्रुत बल से ही पुष्ट हो सकता है । श्रुत बल से या ज्ञान बल से साधारण मानव ही नहीं अच्छे-अच्छे संत को भी प्रेरणा मिलेगी । उपाश्रय या मन्दिर को सि र्फ इने गिने वृद्ध और कार्य निवृत्त पुरुषों के लिए ही सुरक्षित न रखिये, किन्तु सर्वसाधारण उपासकों के लिए उनको ज्ञान एवं साधना का केन्द्र बनाया जाना चाहिए । अन्यथा वहां धूल जमेगी । उपाश्रय और मन्दिरों में सामूहिक श्रुत चिन्तन और आत्म-साधन होना चाहिए । यदि श्रुतबल का आधार लेकर चारित्रबल मजबूत बनाया गया तो, साधक अपना लोक एवं परलोक दोनों को कल्याणकारी बना सकेगा ।

[३९]

निश्चय और व्यवहार

भगवान् महावीर स्वामी ने केवल लोगों को ही कल्याण का सन्देश नहीं दिया किन्तु अपने जीवन में भी आत्म-शुद्धि का पाठ अपनाया । उनकी कथनी और करनी में एकरूपता थी । यही कारण है कि संसार ने उन्हें शिक्षा देने का अधिकारी माना । वस्तुतः जो शिक्षा को जीवन में उतार ले, वही दूसरों को शिक्षा देने का पूर्ण अधिकारी होता है । वे गतस्पृह और वीतराग थे । विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति उनके हृदय में असीम वात्सल्य और करुणा थी । उनने जीवन का साक्षात्कार किया और जग जीवों को दुःख से छुटकारा दिलाने का मार्ग बतलाया । तथा कहा कि दुःख कृत्रिम हैं, अपने बनाए हैं अतः इनका अन्त कुछ कठिन नहीं है । जैसे स्फटिक मणि में विभिन्न रंगों की झलक दीख पड़ती है । सफेद, लाल और काली वस्तु के अनुसार उसमें रंग दीखते हैं, ऐसे ही आत्मा भी स्फटिकमणिवत् निश्चय में शुद्ध है, परन्तु कर्मजन्य उपाधि से वह अशुद्ध एवं मलिन बना हुआ है ।

भगवान् ने निश्चय दृष्टि और व्यवहार दृष्टि दोनों का तल-स्पर्शी बोध कराया । शिक्षा में उन्होंने व्यवहारिक मार्ग बतलाया कि मनुष्य कैसे दुःख मुक्त हो सकता है । गृहस्थ जीवन में रहते हुए, पूर्ण विरति का पालन नहीं करते हुए, सर्वथा पापों से मुक्त नहीं हो सकने पर भी, साधक संयमित जीवन व्यतीत कर सकता है । सभी मनुष्य स्त्री, पुरुष, किसान, व्यापारी और अधिकारी विवेकपूर्वक पाप से बच सकते हैं तथा सरलता से अपने जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं ।

भगवान का कथन है कि सर्वप्रथम स्वरूप पर श्रद्धा करे, फिर निर्णय करो कि हम अपने संग लगे दोषों में कितने को आसानी से छोड़ सकते हैं और कितना नहीं, ये दो विकल्प हैं । जो अनर्थ पाप हैं, उन्हें त्याग करो फिर धीरे-धीरे अनिवार्य पापों के कारणों को घटाओ । कारणों को घटाने से पाप स्वयं घट जाएगा ।

पाप कुछ कारणों को लेकर होते हैं। हिंसा के कारणों को घटाने से हिंसा स्वयं घट जाएगी, बिलकुल कम हो जाएगी। मनुष्य प्रायः दो पैसे मिलाने के लिए झूठ बोलता है और जीवन को अप्रामाणिक बनाता है। दण्ड से बचने के लिए, मजाक के लिए लोभ या क्रोध के वश में होकर भी मनुष्य आत्म रूप सफेद चादर में असत्य का काला धब्बा लगता है। यदि कारणों को पूर्ण रूप से घटा दें, तो कोई कारण नहीं कि झूठजन्य पापों से न बचा जा सके।

महावीर स्वामी ने आनन्द से कहा कि जो अनर्थ दण्ड है उन पर पहले प्रहार कर। आनन्द ने भगवद्वाणी पर श्रद्धा रख कर भोगोपभोग प्रमाण के बाद अनर्थ दण्ड छोड़ा। अपध्यान, प्रमाद, हिंसाकारी पदार्थ दूसरे को देना और पाप कर्म का उपदेश ये अनर्थ दण्ड हैं। तलवार, छुरी, रिवाल्वर आदि घातक अस्त्र घर में रहते हैं, पर बिना विचारे किसी के मांगने पर दे देना यह अनर्थ दण्ड है। क्योंकि इनके द्वारा दूसरों की हिंसा हो सकती है। ऐसे हिंसाकारी वस्तुओं को किसी और को दे देने के पहले मांगने वाले की विश्वस्तता तथा उसका प्रयोजन मालूम कर लेना चाहिए, यह दृढ़ निश्चय हो जाने पर कि उनका अशुभ कार्यों में उपयोग नहीं होगा, फिर देने का विचार करना चाहिए। ऐसे ही विष या नशीले पदार्थ भी बिना खास स्थिति के समझे किसी को देना श्रेयस्कर नहीं है। औषधि के रूप में रखी विषैली वस्तु, यदि सावधानी से न रखी जाय, तो उनसे महान् अनर्थ हो सकता है।

खान-पान की उत्तेजकता को देखते हुए आज उत्तेजना की संभावना अधिक बढ़ गई है। उत्तेजना में आकर आज लोग विष पान करने पर उतारू हो जाते हैं क्योंकि दिमागी उष्णता दिन व दिन सीमातीत होती जा रही है। आए दिन समाचारपत्रों में इस सम्बन्ध की दुर्घटनाएं प्रकाशित होती रहती हैं। आज समाज में ज्ञान बल क्षीण हो गया है। यही कारण है कि मानसिक उत्तेजना का क्षेत्र व्यापक हो गया है। ज्ञान को तो कतई हटा दिया गया है और विज्ञान ही विज्ञान का सर्वत्र चमत्कार दिखाया जा रहा है। पाक, श्रृंगार वस्तु सजावट और आमोद-प्रमोद का विज्ञान बढ़ रहा है परन्तु जीवन-निर्माण का ज्ञान नहीं दिया जाता। नीति कहती है–दे माता-पिता अपराधी हैं जो बालक को सच्चे ज्ञान से वंचित रखते और उसे आरम्भ से ही उन्नत जीवन का पाठ नहीं पढ़ाते। क्योंकि बालक का दायित्व पालक पर है, बच्चे तो अबोध और अज्ञानी होते हैं।

आनन्द ने किसी को भी हिंसाकारी पदार्थों को नहीं देने का संकल्प कर लिया। आज तो बहुत व्यक्ति औजार, दारू, पटाके आदि रखकर अनर्थ करते हैं। दीवाली, दशहरे में अपने सम्बन्धियों और मित्रों को फल एवं मिठाई के साथ पटाखे

और बारूद भी भेजते हैं । यह निश्चय में अनर्थ दण्ड है जो सर्वथा त्याज्य है । इससे पैसे की बर्बादी, हिंसा को प्रोत्साहन और तन की हानि सुनिश्चित होती है । अतः हर सद्गृहस्थ को अपने घर में इसका उपयोग वर्जित करना चाहिए । विवेकी को चाहिए कि वह कोई भी हानिकारक वस्तु किसी को देते समय उस पर पूर्ण विचार करके ही दे । अन्यथा उस दी हुई वस्तु से होने वाले पाप का भागी दाता को भी बनना पड़ता है ।

आज अनर्थ दण्ड का प्रसार जोरों पर है । जीव हिंसा के साधन नित नए-नए बनते जा रहे हैं । खटमल और मच्छरों को मारने की दवा, मछली पकड़ने के कांटे, चूहे बिल्ली को मारने की गोली और न जाने क्या-क्या हिंसा वर्द्धिनी वस्तुओं को बनाने में मानव मस्तिष्क उलझा हुआ है । ये सारे अनर्थ दण्ड हैं, जिनसे भर सक बचने में ही जीव का कल्याण है । पूर्वकाल में शादी की मनुहार में दूध, दही, फूल, फल, पान सुपारी आदि उपहार रूप में लाए जाते थे परन्तु आज बीड़ी, सिगरेट के डिब्बे भेजे जाने लगे हैं । आज का मानव धूम्रपान को गौरव का रूप मानता है। यह सचमुच दुःखद और शोचनीय स्थिति है । शादी करने वाले श्रीमंत सिगरेट, बीड़ी आदि नशीली वस्तुएं बाराती के डेरे पर भेजें इसकी अपेक्षा धर्मोपकरण की वस्तु भेजी जाय तो कैसा अच्छा रहेगा ? तम्बाखू जैसे जहरीले पदार्थो का पीना-पिलाना या देना यह सामाजिक बुराई है कोई भी भला आदमी किसी को जहर देकर प्रसन्न होवे, इससे बढ़कर और आश्चर्य हो ही क्या सकता है। पाप कर्म का उपदेश देना यह भी अनर्थ दंड है। यदि कोई आदमी बुरी लत में पड़ा है और दूसरों को पापाचार की शिक्षा या प्रेरणा देता है तो यह भी अनर्थ दंड है।

आनन्द ने कहा कि मैं पाप कर्म का उपदेश नहीं दूंगा, अच्छे कर्म में लगने की प्रेरणा देना न्याय एवं धर्म संगत है । स्वजन-परिजन एवं समाज कोई भी क्यों न हो, को इससे लाभान्वित कराना अपना परम कर्तव्य है किन्तु किसी को बुराई के पंक में फंसाना या उसकी प्रेरणा देना मानवता का महान् अभिशाप है । रसोई के पूर्व चूल्हा साफ करना, भोजन बन जाने के बाद भी आग को निरर्थक जलते नहीं रखना आदि अल्पारंभ की शिक्षा बालिकाओं को देना बुरा नहीं है, किन्तु बलात् बिना पूछे किसी को पाप रत होने का परामर्श देना, अनर्थ दण्ड है ।

भगवान् आदिनाथ ने उस समय के युगल मानवों को बर्तनादि बनाने, भोजन पकाने एवं कृषि आदि करने का ज्ञान दिया, जिससे आहार-विहार की सामग्री के अभाव से मानव संघर्ष और महा हिंसा का मार्ग अपनाने से बचे । उनका दृष्टिकोण स्पष्ट था । उन्होंने लोकोपकार के हेतु कृषि, मसि, लेखन, गणित और

शस्त्र कला–ये सब विद्याएं दायित्व के कारण बतलाईं । यदि कोई अनधिकारी इस प्रकार उपदेश देता तो गड़बडा जाता किन्तु वे अधिकारी थे, अतः संसार को सीख देकर भी अपने सिद्धान्त पर सदा अटल रहे ।

आनन्द ने पाप कर्म के उपदेश का त्याग कर दिया, इस प्रकार उसने पांच मूलव्रत और तीन गुणव्रत ऐसे आठ व्रत धारण किए । इन व्रतों के धारण करने से उसका जीवन सुरक्षित ही नहीं हुआ वरन् निर्मल एवं प्रकाश पूर्ण हो गया । यदि सिंचन बराबर है तथा बाढ़ नहीं आती तो खेत की फसल सुरक्षित रहती है । अन्यथा उसे नष्ट होने से कोई बचा नहीं सकता । व्रत नियम की साधना स्वीकार करने पर काम-क्रोध आदि आत्म गुणापहारी प्रथम तो मनमन्दिर में घुस नहीं पाएंगे पर कदाचित् भ्रमवश घुस भी जायें तो टिक हर्गिज नहीं पाएंगे ।

संसार में पापी तो हजारों हैं पर धर्मियों की संख्या कुछ अधिक नहीं है । ऊंचाई की ओर चढ़ने में सबको स्वभावतः कठिनाई होती है किन्तु फिसलना बड़ा आसान होता है और यही कारण है कि अच्छे से बुरों की संख्या अधिक है । धार्मिक-जन का जीवन सफेद चादर के समान है । यदि रंगीन काली चादर हो तो कोई दाग नहीं दिखेगा, किन्तु उजली चादर पर छोटी-सी स्याही की बूंद भी खटकती है । किन्तु कीचड़ सने में छोटा-मोटा धब्बा क्या दिखेगा ? कोयले की तरह जिसका जीवन काला है वहां दाग की क्या बात ? साधु सन्त और भक्त गृहस्थ सफेद चादर की तरह हैं, उनमें छोटा-मोटा दोष भी खटकता है । जीवन के मार्ग में कदम बढ़ाते हुए उन्हें अधिक सतर्क रहना चाहिए । अधर्मीजन काले कम्बल के समान हैं, उस पर भला दागों का क्या असर होगा ? चावल में से कंकर और मिट्टी के कण निकाले जाते हैं परन्तु उड़द की भरी थाली में से काली वस्तु क्या निकाली जाय ? अतएव व्रती जीवन शुद्ध रखने की आवश्यकता है । जो अधर्म या पापाचारों से अपने को सुरक्षित रख लेगा वह संसार की माया के असर से बच पाएगा ।

महामुनि स्थूलभद्र का जीवन भी इसी प्रकार का बन गया है । यद्यपि उसने पूर्ण व्रती जीवन अंगीकार नहीं किया है, परन्तु राग से विराग की ओर मुंह मोड़ लिया है, भोग की जगह योग से उसका सम्बन्ध दृढ़ होता जा रहा है । इसी कारण उसने महामन्त्री के पद को ठुकरा दिया । अब वह भौतिकता से दूर रहकर आध्यात्मिकता की शरण पकड़ना चाहता है। विराग की ओर प्रवृत्ति वाले के लिए महामन्त्री का रागी पद आकर्षक नहीं रहा। रूपकोषा का उपासक स्थूलभद्र मोक्ष का उपासक बन गया । स्थूलभद्र ने राजा नन्द से कहा कि मैं अब अलख को लिखूंगा । जिसे चर्म चक्षु से नहीं देखा जा सकता उसें ज्ञान दृष्टि से देखने का प्रयास करूंगा। अब मुझे

करूंगा। अब मुझे भोग नहीं चाहिए, विरति से रति को जोड़ना है । मैंने सोने-चांदी तथा अन्य सुन्दर कहे जाने वाले पदार्थों को भरपूर देखा, पाया और जी भर कर उनका उपभोग भी किया किन्तु अन्ततः अतृप्त ही बना रहा । मेरी कामना अधूरी की अधूरी ही रही । अतः अब ऐसे को अपनाना चाहता हूँ जिसे पाकर पाने की कुछ कामना मन में शेष नहीं रह जाय । अलख, निरंजन, निराकार का साक्षात्कार ही अब इस जीवन का एक मात्र आधार व लक्ष्य होगा ।

लोगों ने तरह-तरह से स्थूलभद्र को समझाया कि संसार को परित्याग कर केवल अपना हित कर पाओगे, परन्तु मन्त्री पद ग्रहण करने से पूरे देश का हित करने में समर्थ रहोगे । यह सुनकर स्थूलभद्र ने कहा कि राजनीति और धर्मनीति में महान् अन्तर है । राजनीति में कहो कुछ और करो कुछ की नीति अपनायी जाती है । योजना कुछ बनायी जाती है एवं क्रियान्विति कुछ की जाती है । इस प्रकार राजनीति का स्वरूप अस्थिर, दोलायमान और चंचलतामूलक है किन्तु धर्मनीति स्थिर और सुदृढ़ है। अतएव मैं धर्मनीति का पल्ला पकड़ना चाहता हूँ ।

राजनीति और धर्मनीति का समन्वय हो तभी वह लाभकारी हो सकती है । यदि राजनीति में धर्म का प्रवेश न हो, तो मनुष्य अपने जनों को भी पराया मानने पर उतारू हो जाता है । अर्थनीति और राजनीति में महान दुर्गुण है कि वह अपने उत्कर्ष के लिए अन्य सबका सफाया करने पर उतारू हो जाती है । अतएव अर्थनीति और राजनीति कुटिल कही गई है । राजनीति में दया, पाखंड की तरह प्रदर्शन भर की वस्तु मानी जाती है । वास्तव में निष्ठुरता और कुटिलता ही राजनीति की सहचरी है । धर्मनीति सीधी चाल वाली है – उसमें छल-कपट का कोई स्थान नहीं है । यही कारण है कि राजनीति वाले धर्मनीति वालों को अपना शिकार बनाने में नहीं चूकते । उसके लिए तर्क दिया जाता है कि जंगल के सीधे झाड़ काटे जाते हैं और टेढ़े-मेढ़े वृक्ष कम कटते हैं लोक में भी राजनीति द्वारा सीधों की दुर्गति होती है । यही कारण है कि आजकल कुटिल को होशियार माना जाता है । आज तो संविधान का भी गलत अर्थ लगाया जाता है और लोग धर्मनिरपेक्षता की वकालत करते हुए कहते हैं कि धर्म से धर्मान्धता और साम्प्रदायिकता बढ़ेगी । अतः धर्म अफीम की तरह त्याज्य है। किन्तु स्थूलभद्र कहता है कि राजन् ! मुझे राज्य और अर्थ से कोई प्रयोजन नहीं, मैं तो महामुनि संभूति विजय के चरणों में जाकर धर्मनीति की शरण ग्रहण करूंगा । राजनीति और अर्थनीति के मोहक पाश में आज तक उलझ कर मैंने अपना जीवन और यौवन व्यर्थ गंवाया । इस प्रकार यदि हम धर्मनीति अपनाएंगे, तो लोक एवं परलोक में अपना भला करेंगे ।

[४०]

हेयोपादेय का विवेक

प्रभु महावीर स्वामी ने बतलाया कि यदि पाप से बचना है तो बन्ध के कारणों का परित्याग करो। हेय, उपादेय का परिज्ञान कर, ग्रहण योग्य का ग्रहण तथा छोड़ने योग्य का परित्याग करने से ही मानव अपना कल्याण कर सकता है। परिज्ञान नहीं है तो मोह का झोंका आने पर उसका पतन तथा स्खलन हो जायेगा, वह ऊपर नहीं उठ सकेगा। परिज्ञान का माध्यम स्वाध्याय तथा सत्संग है।

समझ में नहीं आने से मनुष्य ग्रहणीय का ग्रहण नहीं कर सकेगा और विद्या द्वारा वस्तु तत्व का निश्चय नहीं हुआ, तो परिज्ञान की सम्यक् परिणति भी नहीं होगी। आनन्द आज सम्माननीय है, क्योंकि उसने हेयोपादेय का परिज्ञान कर छोड़ने योग्य का परित्याग कर दिया है। अनर्थ दण्ड का त्याग करने से आनन्द को हल्कापन मिला और उसकी आत्मा सर्वथा सबल एवं स्वस्थ हो गई। इस आत्मिक हल्केपन को कायम रखने के लिए व्रत ग्रहण आवश्यक है जिसके लिए आनन्द ने आठ व्रत धारण कर लिए जैसा कि कह चुके हैं। अब शिक्षा व्रत की बात आती है। शिक्षाव्रत समय पर आराधन किया जाता है। जब जिसका समय आवे उस समय साधक उसको धारण करे।

शिक्षा व्रत चार हैं-(१) सामायिक (२) देसावगासिक (३) पौषध और (४) अतिथि संविभाग। भोजन के समय किसी साधु सन्त या व्रती का योग पाकर विधि से दान देना यह अतिथि संविभाग है। सामायिक में पाप को हेय समझ कर उसका परित्याग करना पड़ता है। जानना यह ज्ञ-परिज्ञा है। और प्रत्याख्यान से तात्पर्य निषिद्ध कथन है। नहीं चाहिए कहकर पाप का निषेध करना प्रत्याख्यान है। यह अल्पकालिक और आजीवन ऐसे दो प्रकार का होता है।

भगवान महावीर ने व्रत की निर्मलता के लिए श्रमणोपासक आनन्द को बताया कि जो जीव अजीव, बन्ध, मोक्ष तथा पाप-पुण्य का जानकार है तथा श्रमणों की उपासना करता है, वह श्रमणोपासक है। उपासक का दृढ़ विश्वास होता है कि सुख-दुःख अपने कर्मानुसार प्राप्त होते हैं। बिना पुण्य के न तो कोई सुख दे सकता है और न बिना अशुभ कर्म के कोई दुःख लाद सकता है। देवों से घिरा हुआ भी ब्रह्मदत्त जीवनान्त होने पर सातवें नरक में गया। पाप का उदय होने पर कोई भी देव उसको नरक से नहीं बचा सका। क्योंकि मनुष्य को अपने पुण्य पाप का फल स्वयं भोगना पड़ता है। राम-लक्ष्मण और सीता के साथ पुण्योदय थे अतएव वनवास के कष्ट भोगकर भी वे सुख के भागी बन गए किन्त रावण का पाप का उदय था अतः सहस्रों रक्षक और राजभण्डार के होते हुए भी उसे दुःख सागर में गोता खाना पड़ा। गम्भीर प्रकृति का मानव सुख में अतिहर्षित और दुःख में गमगीन नहीं होता। कठिन समय में दुःख की स्थिति में, मन को अविचल रखने वाला ही गम्भीर कहलाता है।

ज्ञानवान मनुष्य आर्त्त स्थिति में अपनी मनःस्थिति को भगवच्चरणों की ओर मोड़ लेता है। वह मन में सोचता है कि आर्त्तभाव बढ़ाकर मन को भारी क्यों बनाया जाय ? भगवान् ने जो कुछ नियत भाव देखे हैं, उसमें कोई कमी आने वाली नहीं। ज्ञानियों ने कहा है—'राई घटे न तिल बढ़े, रह-रे जीव निशंक।" वर्षों तक भी यदि रोते रहे तो गए हुए बन्धु, बांधव, पति, पिता, पुत्र और खोया हुआ धन कोई नहीं पा सकता और न इस प्रकार रोने से उस मृत आत्मा को किसी प्रकार की शान्ति ही मिल सकती है। यदि उस मृत आत्मा की प्रिय साधना में उसके परिजन बैठे हों तो मृतात्मा को शान्ति मिलेगी एवं स्वयं का भी कल्याण होगा।

बहुत से अज्ञानी लोग शोक प्रसंग पर नहीं रोने वाले की निन्दा करते हैं ऐसा करना अज्ञानता मूलक एवं पापवर्द्धक है, समझदार व्यक्ति को रूदनकर नये पाप का बोझ नहीं बांधना चाहिए। शास्त्र कहता है कि रूलाने वाला पाप बन्ध का भागी बनता है और समझाकर रूदन छुड़ाने वाला धर्म का निमित्त बनता है।

चक्रवर्तियों में आठवां स्वयंभू चक्रवर्ती हुआ है। भरत क्षेत्र का सम्पूर्ण राज्य पाकर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। उसने अपना बड़प्पन दिखाने को सातवां खंड लेने का निश्चय किया। छः खण्डमय भरत खंड के सम्पूर्ण राज्य से अधिक एक चक्रवर्ती का क्षेत्र नहीं होता। "कोई भी चक्री सात खण्ड का स्वामी नहीं बना, अतः यह असंभव काम है," राज पुरुषों द्वारा इस प्रकार निवेदन करने पर भी उसने किसी की बात नहीं मानी और कहा—

लीक लीक गाड़ी चले, लीकहि चले कपूत ।
लीक छोड़ तीनों चले, शायर, सिंह, सपूत ।।

पुरानी लीक पर चलना कायर एवं कपूत का काम है । रेलगाड़ी, बैलगाड़ी आदि बंधी-बंधाई लीक पर चलती हैं और कपूत भी लीक पर चलता है । कवि, सिंह, सपूत तीनों लीक छोड़कर चलते हैं । तर्क-दलील करने वाला उसका भला और बुरा दोनों उपयोग ले सकता है । तर्कवान अपनी भावना के अनुसार तर्क करता है । गाड़ी के नीचे कुत्ता पूंछ उठाकर चलता है–वह सोचता है कि गाड़ी मेरे बल पर चल रही है । वह अज्ञानी यह नहीं जानता कि यह गाड़ी बैल के सहारे चल रही है। इसी प्रकार चक्रवर्ती ने देवों को कहा–जहाज तुम्हारे सहारे नहीं चलता, तुमको अपनी शक्ति का गर्व हो तो चले जाओ । ऐसा कहने पर देवों ने उसका जलयान समुद्र पर छोड़ दिया । नवकार मन्त्र के प्रभाव से जहाज चलता रहा । चक्रवर्ती ने अहंकार से उसे भी मिटा दिया । फिर क्या था, समुद्र में भयंकर तूफान आया और जलयान के साथ चक्रवर्ती भी समुद्र में डूब कर मर गया । देव उसकी सेवा में थे फिर भी वे उसे बचा नहीं सके । उसके पुण्य बल समाप्त हुए और पाप बल बढ़ गए, अतएव उसकी मृत्यु हो गई ।

श्रद्धालु श्रावक दुःख आने पर भी श्रद्धा से दोलायमान नहीं होता । श्रद्धा को शिथिल करने वाले पांच बाधक तत्व हैं । साधना मार्ग में चलने वालों को इनसे सदा सावधान रहना चाहिए । ज्ञान और आत्म गुण की साधना में जिसने मन को निश्शंक बना लिया, वह दुःख में भी विचलित नहीं होता । जो भौतिक और रमणीक पदार्थों से मन नहीं मोड़ सकता, वही दुःख आने पर विचलित होता है ।

स्थूलभद्र के चरणों पर पाटलिपुत्र का महामन्त्रित्व का पद लोट रहा है परन्तु वह उसे ठोकर मारता है । वह कहता है, मुझे अब समझ आ गई और मेरा भ्रम दूर हो गया, अतएव मैं सांसारिकता में लिप्त नहीं होऊंगा । बाल्यावस्था में बालक मिट्टी का घरौंदा बनाता है, किन्तु बड़ा होने पर वह ऐसा नहीं करता । बचपन में मां-बाप तो अपने बालक को कपड़े खराब करने के कारण डांटते हैं । यह समझ का परिणाम है । इस प्रकार संसारी मनुष्य भी नादान बालक की तरह कोठी बंगले आदि के बड़े-बड़े घरौंदे बनाते रहता है । ज्ञानीजन के लिए संसार के समस्त आरम्भ घरौंदे तुल्य हैं, परन्तु धन संचय करने वाले भोगी जीव बालक के समान इसे नहीं जानते बल्कि इनको ही अपना वास्तविक घर मानते हैं ।

स्थूलभद्र को सभी परिजनों, हितैषियों एवं लाछलदे मां ने भी बहुत कुछ समझाया परन्तु वह अपनी बातों में दृढ़ रहा । फ़लतः श्रीयक को महामन्त्री पद का

दुपट्टा दे दिया गया । महाराज नन्द को बड़ा आश्चर्य हुआ । ठीक उसी समय महामुनि सम्भूति विजय का शुभागमन हुआ और स्थूलभद्र को उनके आगमन का सद्यः लाभ मिला । वह उनके चरणों में दीक्षित हो गया । गोस्वामी तुलसीदासजी ने ठीक ही कहा है–

"जाके जेहि पर सत्य सनेहू,
सो ते हि मिलत न कछु सन्देहू ।"

दीक्षा के उपरान्त स्थूलभद्र ने महामुनि सम्भूति विजय के चरणों में रहकर शिक्षा ग्रहण की और इस तरह कल का भोगी लोगों के देखते-देखते आज का परम योगी बन गया । चरण करण की शिक्षा प्राप्त करने के बाद स्थूलभद्र ने तपःसाधना की इच्छा गुरु के समक्ष प्रकट की । मन में पालन करने वाले व्रतादि को चरण और करने वाले को करण कहते हैं ।

काम करने का समय तरुण और युवावय ही है । इस उम्र में उत्साह और साहस मन में हिलोरें लेते रहता है । जवानी की उपमा साहित्यिकों ने उस गिरि नदी से दी है जो एक बार पर्वत छोड़ने पर तब तक रुकने का नाम नहीं लेती जब तक सागर में न मिल जाय । कोई भी काम क्यों न हो जवानी उसमें जूझने को सतत् तैयार रहती है। विघ्न बाधाओं से जवानी कतराती नहीं वरन् सतत् टकराती रहती है । कवि दिनकर ने ठीक ही कहा है–

डरने लगे आग से तो फिर चढ़ती हुई जवानी क्या ?

जवानी बीतने पर मनुष्य में नये काम की क्षमता उतनी नहीं रहती। फिर तो आवश्यक जानकर करना पड़ता है चाहे काम पारमार्थिक हो या व्यावहारिक । अर्थ का उपार्जन, विद्या का अर्जन, धर्म, योग, तप और संयम की साधना–ये सब युवावस्था में ही अधिक संभव हैं। इस अवस्था में इन्द्रियाँ स्वस्थ और दुरुस्त रहती है। अतः कोई भी काम मन में ग्लानि उत्पन्न नहीं करता उल्टे काम करने की खुशी से तन-मन पुलकित होता रहता है । वस्तुतः जवानी ही जीवन का मूल्यवान् क्षण और अनमोल धन है। इसके जाने के बाद जीना स्वासों का ढोना मात्र रह जाता है।

स्थूलभद्र भी अपनी युवावस्था की शक्ति को योग, तप की साधना में लगाना चाहता है । वह सोचता है कि जो साधना करे वही साधक और उसी को सिद्धि प्राप्त होती है–अतः समय पर ही साधना करने से वह फलवती हो सकती है । साधु जीवन का एकमात्र उद्देश्य यह है कि वह साधना के द्वारा स्व और पर का जीवन समुन्नत बनावे । इसी प्रकार यदि हम सब भी साधना के क्षेत्र में अपना तन मन लगायें, तो अपना कल्याण कर सकते हैं ।

[४१]

श्रद्धा और साधना

जो शासन करे या सूचना दे, उसको शास्त्र या सूत्र कहते हैं । धर्म शास्त्र का काम कल्याण मार्ग की सूचना देना और अकल्याण मार्ग से बचाना है । हिताहित का सन्देश पाकर आगे जीवन में गति करना, स्पन्दनशील और हलचल वाला बनना, यह साधक के अधीन की बात है । ज्ञान पाकर साधक हेय-त्याज्य कर्मों से विरत तथा ग्रहण योग्य में प्रवृत्त होगा । केवल प्रवृत्ति या निवृत्ति ही जीवन के लिए उपादेय नहीं है, वरन् दोनों का उचित सामंजस्य ही जीवन में निखार लाता और उसे चमकाकर लोकोपयोगी बनाता है । इसके लिए अनुभवी, ज्ञानियों की संगति विशेष लाभदायक होती है । बिना सत्संग के स्वयं सत्य की खोज करना सर्वसाधारण के लिए न तो संभव है और न लाभदायक ही । कारण जीवन छोटा है और ज्ञान अथाह, अतः लघुतरनी से जैसे अथाह समुद्र के पार पाने में कठिनाई होती है वैसी ही कठिनाई मार्ग दर्शक के बिना ज्ञान प्राप्ति में भी समझनी चाहिए ।

व्रत, दर्शन और चारित्र के मार्ग में श्रद्धा सहायक है । श्रद्धा ही सम्यक्त्व है । मिथ्या और सम्यग्दर्शन दो श्रद्धा के रूप हैं । सम्यग्दर्शन टकराने से बचाने वाला, भवसागर से पार करने वाला तथा उलझनों को सुलझाने वाला है और मिथ्यादर्शन सन्मार्ग गामी को भी भटकाने तथा कुपथ पर ले जाने वाला है । भगवान् महावीर आनन्द के समक्ष यह विचार रखते हैं कि व्रत और दर्शन को ठेस पहुँचाने वाले मिथ्यात्व से साधक को बचे रहना चाहिए ।

जिससे व्रत की सीमा का उल्लंघन हो उसे अतिचार कहते हैं ।वनवास काल में श्रीराम की सहायता के लिए श्रीलक्ष्मणजी सेवा में चल रहे थे । एक समय पंचवटी में उसने कुटी के आस-पास चारों ओर रेखा खींच दी और सीताजी को लकीर के अन्दर रहने को कहा । उसी समय रावण संन्यासी बनकर वहां आया तो

अतिथि धर्म पालन के हेतु सीताजी भिक्षा लेकर आयीं और रेखा के भीतर से ही उसे भीख लेने को बोली इस पर रावण ने कहा कि–लकीर के बाहर से दो तो ही भिक्षा ले सकता हूँ, यह मेरी मर्यादा है । विवश होकर सीताजी रेखा से बाहर आयीं और उनका हरण हो गया । भगवान महावीर ने भी ज्ञानादि को सुरक्षित रखने के लिए व्रत की लकीर खींच रखी है । यदि श्रद्धा रूपी लकीर के बाहर साधक पैर रखेगा तो खतरे का सामना करना होगा और निश्चय ही उसकी मुक्ति रूपी सीता उससे हर ली जाएगी । श्रद्धा द्वारा काम क्रोधादि विकारों से साधक अपने आप को बचा लेता है। उनका उल्लंघन करना यह अतिचार है। श्रद्धा गुण को बाधा पहुँचाने वाले पांच अतिचार हैं जैसे–१. शंका २. कांक्षा ३. विचिकित्सा ४. पर पाषंड प्रशंसा ५. पर पाषंड संस्तव ।

श्रद्धा ह्रदय की वस्तु है और वह वाणी द्वारा प्रकट होती है तथा काया के व्यवहार से फैलती या लोक जगत में दृष्टि गोचर होती है । इस प्रकार इसके तीन रूप हैं–१. श्रद्धा २. प्ररूपणा और ३. स्पर्शना ।

जब अज्ञान, मोह और चाहना मन को घेर लेती है तो श्रद्धा विचलित हो जाती है तथा मानसिक निर्बलता जोर पकड़ लेती है । श्रद्धा में आत्म-विश्वास, ज्ञानी तथा ज्ञानी के वचनों पर विश्वास करने वाला ही भली-भांति टिक सकता है । वक्ता यदि विश्वसनीय न हो तो उसकी वाणी पर हर्गिज विश्वास नहीं होगा और वचन पर अविश्वास से श्रद्धा विचलित हो जाएगी, वास्तव में वक्ता पूर्ण विश्वसनीय वह है जिसमें अज्ञान, मोह एवं असत्य नहीं है, साथ ही वह भी विश्वसनीय हो सकता है जिसमें अज्ञान मोह और स्वार्थ का पूर्ण नाश न हो, पर वे उपशान्त स्थिति में हों एवं जो स्वार्थ और लोभ से परे हो, गलत मार्ग और असत्य भाषण से समाज को गलत मार्ग में ले जाने में भय खाता हो, तो उस पर भी विश्वास किया जा सकता है ।

मोह के कारण मनुष्य अपने को पीछे खींचता या संशय उत्पन्न करके अनेक प्रकार का तर्क करता है, शंका करके, आत्मा-परमात्मा के विषय में शंकाशील रहना, पाप-पुण्य और बन्ध-मोक्ष पर अविश्वास करना आदि तत्व विचारणा में अनुचित माने गये हैं । शास्त्र में इस स्थिति को शंका रूप दर्शन का प्रथम अतिचार कहा है । विश्वास को लेकर जो शंकाशील रहेगा वह आत्म-साधना में आगे नहीं बढ़ेगा । दवा यदि बेशकीमती हो किन्तु उस पर यदि रोगी का विश्वास नहीं हो तो उससे लाभ नहीं हो सकता । शिक्षक के पास छात्र पढ़ने जाता है पर यदि वहां वह शंकाशील बना रहता है तो सफलता प्राप्त नहीं करता । शिक्षक पर बिना विश्वास रखे उसकी वाणी

का लाभ नहीं उठाया जा सकता है । हम देखते हैं, बालक अध्यापक की बात पर विश्वास करता है और उसके मुकाबले में मां-बाप या अन्य स्वजनों पर विश्वास नहीं करता, चाहे उनकी बात सही हो । अध्यापक की बात से ही वह अपने अभिभावक की बातों पर विश्वास करता है और गुरु वचन में श्रद्धा रखने वाला छात्र निश्चय ही सफल होता है । ऐसे ही विज्ञान, नीति, अर्थशास्त्र या धर्म आदि कोई भी विषय हो, सब में गुरु की बातों पर विश्वास लेकर चलने में ही कल्याण है ।

भगवान महावीर के वचनों पर विश्वास हो, तो कोई कितना भी बहकावे वह श्रद्धा में विचलित नहीं होगा । निश्शंकता गुण को दर्शन का पहला आचार बतलाया गया है । व्यवहार मार्ग में भी जटिलता रहती है फिर तत्व मार्ग तो और अधिक जटिल है । इस मार्ग में कई बातें इन्द्रियगम्य नहीं हैं । यदि श्रद्धा न हो, तो साधक इस मार्ग में आगे नहीं बढ़ सकेगा ।

हीरे-जवाहरात को तौलने और गुड़-शक्कर को तौलने के बाट अलग-अलग रखे जाते हैं । हीरे-जवाहरात में बारीक तौल रहता है । यहां तक कि रत्ती के १/१०० वें भाग का भी तोल होता है । परन्तु गुड़ शक्कर में इतनी बारीकी नहीं होती । सूक्ष्म वस्तुओं को देखने के लिए सूक्ष्म दृष्टि चाहिए किन्तु स्थूल वस्तुओं के लिए उसकी आवश्यकता नहीं होती । एक्सरे की आंख से शरीर के भीतरी भागों को देख लिया जाता है । ऐसे ही अध्यात्म क्षेत्र का निर्णय प्राप्त करने के लिये चर्म चक्षु से नहीं वरन् मानस चक्षु से देखना पड़ता है ।

'शंका' के बाद 'कांक्षा' रूपी अतिचार का त्याग करना होगा । भौतिक वस्तुओं से श्रद्धा का माप करने वाला विश्वास पर नहीं टिकेगा । क्योंकि कभी-कभी सत्य मार्ग पर चलने वाला दुःखी प्रतीत होता है और असत्य मार्ग पर चलने वाल पूर्णतः सुखी दिखाई देता है । व्यवहार में ऐसा दिखाई पड़ने से साधारण मनः स्थिति वाला भले ही अपने को सत्य मार्ग से मोड़ ले, पर उच्च हृदय वाला सत्य पर दृढ़ रहेगा। बदली में चांद के छिप जाने भर से चांद विषयक उसकी प्रतीति और प्रीति कुछ कम नहीं पड़ती ।

व्यवहार जगत में दूसरे का माथा मूंड लेने वाला भले ही चालाक कहलावे, परन्तु यह कला, कला नहीं, वरन् भीतर-बाहर दोनों ओर से काला ही है। इसके आश्रय से जीवन कभी ऊपर नहीं उठ सकता और न लोक मानस में विश्वास ही प्राप्त हो सकता है । पुण्य पाप को समझने वाला व्यक्ति जालसाज लोगों को सुखी देखकर भी दोलायमान या चंचल चित्त नहीं होगा, क्योंकि मनुष्य सुख-दुःख कई जन्मों के कर्म के कारण पाता है । एक श्रीमन्त या जमींदार का लड़का शराबी, जुआरी

और वेश्यागामी होकर भी सुखी है और एक सज्जन और दयालु पुरुष का पुत्र सदाचरण रखते हुए भी दुःखी, दीन और संत्रस्त है । यह अन्तर शुभ कर्म की स्थिति तक ही कायम रहेगा फिर तो "अंधेरी रात" वाली बात होकर रहेगी, सत्पुरुषों ने कहा है–

जब लग तेरे पुण्य का, पहुँचे नहीं करार ।
तब लग तुझको माफ है, अवगुण करो हजार ।।

किसी व्यक्ति का संचित शुभ कर्म नहीं है और वह यदि शुभ कर्म कर रहा है तो अपने जीवन का निर्माण कर रहा है । यदि कोई अनुसूचित–निम्न कहे जाने वाले वर्ग का भी व्यक्ति है पर वह यदि सुमार्गी है, तो वह समाज में इज्जत पाएगा, लौकिक दृष्टि से मान पाएगा और जीवन सुधार सकेगा । आम का झाड़ लगाने से, तुरन्त ही नहीं फलता, उसे वर्षों की प्रतीक्षा करनी पड़ती है किन्तु अफीम धतूरा उससे जल्दी फल जाता है । ज्ञानी यह समझ कर विचलित नहीं होता । कुमार्गी यदि सुख पा रहा है तो वह सदा सुख पाता ही नहीं रहेगा । कौआ और हंस दोनों एक साथ रहे और भले ही कौआ उड़कर थोड़ी देर के लिए गिरि शिखर पर बैठ जाय तब भी सम्मान हंस को ही मिलेगा ।

स्थूलभद्र ने राजमन्त्री का पद छोड़कर गुरु सेवा में जीवन अर्पित कर दिया। शिष्य और सेवक का कर्तव्य है कि वह स्वामी के मन के अनुकूल रहे । तदनुकूल स्थूलभद्र ने भी गुरु सम्भूति विजय के चरणों में रहकर सेवक के समान जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया । वह रागी के बदले विरागी और परिग्रही के बदले अपरिग्रही बन गया । सेनापति के संकेत पर चलने वाला सैनिक–दल दुर्दान्त सेना से भी विजय प्राप्त कर लेता है । स्थूलभद्र ने गुरु चरणों में रहकर ज्ञान ध्यान में मन लगाया । जीवन का रूप बदल कर उसने रूपकोषा को भुला दिया, जिसके लिए कभी अपना जीवन अर्पण किए हुए था । उसने ज्ञान ध्यान में पूर्ण तन्मयता लगा दी । सम्भूति विजय मुनि के चरणों में लगकर उसने साधना के कठिन मार्ग में दृढ़ता से पैर बढ़ाया। सम्भूति विजय के विविध शिष्यों में साधना की स्पर्द्धा थी । पवित्र भावना के साथ ज्ञान ध्यान की वृद्धि हो, तो मुनि जीवन की गुरुता का क्या कहना है ।

एक बार सम्भूति विजय के चार शिष्य चातुर्मास की आज्ञा लेने गुरु के पास आए । एक शिष्य ने शेर की गुफा के पास चार माह तपस्या करने की अनुमति मांगी । जब शिष्य इस प्रकार कठिन साधना करने की अनुमति मांगे तो गुरु का यह काम है कि वह शिष्य की क्षमता जाने, अन्यथा शिष्य के साथ गुरु की भी बदनामी होगी । योग्य समझकर उस शिष्य को गुरु ने तपस्या की अनुमति दे दी ।

दूसरे शिष्य ने कुएं की पाल पर चार माह तपस्या करने की अनुमति मांगी। धर्म महाजनी सौदा नहीं है । साधक शूरवीर होता है । वह जिस साधना के मार्ग पर पैर डालता है वहां अडिग रहता है । कई दिनों का भूखा सर्प भी जैसे पुंगी की आवाज पर नाचने लगता है वैसे ही भक्त भी भगवान की वाणी पर नाच उठता है। कुएं पर ध्यान लगाने वाले को अप्रमादी होना चाहिए । इन्हें भी गुरु ने योग्य समझा और साधना की अनुमति दे दी ।

तीसरे शिष्य ने कहा कि मैं सांप की बांबी पर तपस्या करना चाहता हूं । इसको भी गुरुजी ने अनुमति दे दी । अब तक स्थूलभद्र यह सब रंग देखते रहे । तीन शिष्यों को स्वीकृति मिल गई तब स्थूलभद्र आए और बोले, "गुरुदेव ! आपकी आज्ञा हो तो मैं चार माह रूपकोषा के यहां रहकर तपस्या करना चाहता हूँ ।" स्थूलभद्र की गंभीरता तथा धैर्य को देखकर संभूति विजय ने कहा–"साधु का मूलधन साधना एवं संयम प्रधान है, इसको लक्ष्य में रखते हुए, जाओ साधना को सफल कर आओ ।"

इस प्रकार महामुनि सम्भूति ने चारों शिष्यों को कठिन साधना की अनुमति दे दी । इस प्रकार यदि हर एक मनुष्य जीवन में पवित्र साधना को अपनावेगा, तो वह अपना जीवन ऊंचा उठा सकेगा ।

[४२]

साधना के बाधक कारण

साधक को अपने आचरण के द्वारा भीतर और बाहर दोनों रूपों से साधना को संभालना पड़ता है । भीतरी साधना काम-क्रोधादि से सम्बन्धित है तथा वचन और काया का साधन यह बाह्य रूप है । मानसिक आचार यह भीतर का साधन है । मन में कौन कैसा विचार रख रहा है, यह किसी और को पता नहीं चलता किन्तु कोई वाणी से गलत बोले तो पता चल जाता है । मन का आचार सूक्ष्म है । अतः आचार्यों ने सोचा कि पहले दीखने वाले चोर को पकड़ा जाय तो भीतर के सूक्ष्म को पकड़ने में सुविधा होगी । मुखिया जब पकड़ में आ जाता है तब उसका गिरोह पकड़ाये बिना नहीं रहता ।

वाणी और शरीर के दोषों को काबू कर लेने पर मानसिक दोष धीरे-धीरे नियंत्रण में आ सकते हैं । मन आखिर वाणी और शरीर के माध्यम से ही तो दौड़ लगाता है । यदि काया को वश में कर लेंगे तो मानसिक पाप स्वयं कम हो जावेंगे। कभी किसी के मन में गलत इरादा आया, किन्तु व्यवहार में वाणी से झूठ नहीं बोलने का संकल्प होने के कारण उच्चारण नहीं किया, व्रत में पक्का रहा तो वह मानसिक तरंग धीरे-धीरे विलीन हो जाएगी । इसीलिए बाहर के आंचारों का नियंत्रण पहले करने की आवश्यकता बतलाई है ।

आनन्द को अपना जीवन सुधारना है, अतएव वह पहले बाह्य सुधार करता है और फिर धीरे-धीरे मानसिक संयम बढ़ाता है । विश्वास और श्रद्धा को स्थिर रखने के लिए दो बातें कही गई हैं (१) शंका से बचना (२) कांक्षा-मिथ्या दर्शन या भौतिक इच्छा से दूर रहना, क्योंकि इन दोनों के होते हुए साधक श्रद्धा-विश्वास पर दृढ़ नहीं हो सकेगा । (३) तीसरा दोष विचिकित्सा–विद्वत् जुगुप्सा है । साधना के मार्ग में लगकर यदि दृढ़ विश्वास नहीं तो सफलता नहीं मिलती श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है–

"कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।"

अर्थात् कर्म करने में ही तुम्हारा अधिकार है, फलों में कभी नहीं।

साधना करते हुए क्रियाफल में संदेह नहीं करना चाहिए, धर्म के फल मधुर होते हैं, पर मिलेगा या नहीं ? सत्य का फल भी अच्छा है पर मिलेगा कि नहीं ? इस प्रकार संशय करना दूषण है शास्त्र में बात आती है–किसी खेत की बाड़ के पास एक मयूरी अंडे दे रही थी। दो मित्रों ने मयूर के पालने की इच्छा से उनके दोनों अण्डे रख लिए। दोनों ने मुर्गी के बच्चों के साथ अंडे पोषण को रख दिए, ताकि सेवन विधि में कोई कमी नहीं रहे। एक व्यक्ति अंडे पर दृष्टि रखता, पर दूर से ही देख लेता। किन्तु दूसरा विकलता वश उस अण्डे को नारियल के समान हिलाता रहता। प्रथम मित्र के अण्डे से बच्चा निकला, उसने उस बच्चे का उचित पोषण किया और बड़ा होने पर उसके नाच से मनोविनोद करने लगा। पर दूसरे मित्र के अण्डे से बच्चा नहीं निकला। बार-बार हिलाने से उसका अण्डा गल गया, यद्यपि मुर्गी से बराबर सेवा करायी गई। फिर भी शंका से हिलाने के कारण उसका अण्डा नष्ट हो गया।

व्रत या करणी अण्डा है और मिलने वाला फल बच्चा है। इसी प्रकार धर्म, व्रत या करणी द्वारा यदि बच्चा रूपी आनन्द का गुण प्राप्त करना है तो उसे संशय द्वारा हिलाना-डुलाना ठीक नहीं, व्रत को ले लेने मात्र से पाप कर्म नहीं कटेंगे, वरन् उसको पूर्ण निभाने से ही फल मिलेगा। तो आनन्द ने महावीर स्वामी के समक्ष इस 'शंका' दोष को भी त्याग दिया।

जो किसान भूमि की तैयारी में बीज, खाद, सिंचन आदि समुचित प्रकार से करता है, वह फसल के बारे में विश्वस्त रहता है। यद्यपि वह उसकी सुरक्षा के लिए सजग रहता है फिर भी उसे फसल के बारे में कोई शंका नहीं रहती। द्रव्य लाभ में जैसे परिश्रम द्वारा किसान सफल होता है, उसी प्रकार भाव लाभ के लिए साधक को भी कर्मठ होने की आवश्यकता है। सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि सभी जैसे द्रव्यलाभ के लिए मनुष्य सहता है, वैसे भाव लाभ के लिए यदि हर्षित मन से कठिन श्रम सहन करें तो कल्याण हो सकता है।

भौतिक साधना में भी कठोर श्रम के परिणाम स्वरूप थोड़ा लाभ मिलता है, तब आध्यात्मिक साधना में जो हम बड़ा लाभ अक्षय-आनन्द चाहते हैं, वह बिना परिश्रम के कैसे प्राप्त होगा ? जरा-सा कष्ट पहुँचने पर दूर भागना चाहेंगे तो सिद्धि कैसे मिलेगी ? छोटी-मोटी जमीन्दारी या गढी पाने वालों को उसके पीछे बहुत मूल्य चुकाना पड़ा, कई गर्दनें देनी पड़ीं और बड़े-बड़े घाव सहने पड़े थे तभी उनके

पूर्वजों को जागीर मिली थी । जमीन का लाभ भी जब कठिन त्याग और बलिदान चाहता है तो आत्मानन्द के लाभ के लिए कठोर त्याग करना पड़े तो इसमें आश्चर्य किस बात का ?

जो लोग धर्म को धर्मस्थान में छोड़कर जाते हैं, उसे ग्रहण नहीं करते, वे दुःख और विपदाएं भोगते हैं । दुःख हमारे पापों का फल है, यह सभी संस्कृतियों ने समवेत स्वर में स्वीकार किया है । आधि दैविक, आधि भौतिक और आध्यात्मिक त्रयताप सभी भूतकाल के कुकर्मों का फल है । दैविक-ताप तो सामूहिक पापों का फल है । जैसे अपने बाल-बच्चों को क्रीड़ा करते देख माँ-बाप को आनन्द आता है, उसी प्रकार अन्य छोटे-छोटे प्राणियों तथा उनके बच्चों के खेलकूद के प्रति सहनशीलता और आनन्द का व्यवहार न रखा जाय तो यह कैसा मानवीय व्यवहार है? नरभक्षी जानवर जब मानव पर आक्रमण करते हैं तो मानव शोर करता है । तब यदि पशु-पक्षियों के परिवार में से किसी प्राणी को कोई मानव ले जाय, तो क्या उनमें खलबली नहीं मचेगी ?

मोर नाच कर क्या आनन्द की सृष्टि करता है, तथा कोयल की मीठी तान और तोते की बोली कितनी सुहावनी लगती है ? यदि ऐसे सुन्दर पक्षियों को नष्ट कर दिया जाय, तो उनके नृत्यादि का आनन्द मानव को कैसे प्राप्त हो सकेगा ? सुरक्षित वनों के पशु-पक्षियों के मारने पर प्रतिबन्ध रहता है । किसी जाति विशेष का पशु-पक्षी हो तो उसे ध्यानपूर्वक पाला जाता है । जो जानवर दूसरे देशों में नहीं पाए जाते, वह देश उन पशु-पक्षियों के लिए गौरव मानता है । वे पशु-पक्षी और मछली आदि मनुष्य से न तो स्थान और न दाना ही मांगते हैं - वे कोई क्षति भी नहीं पहुँचाते, फिर भी मानव उनसे मैत्री-भाव न रख कर दुश्मनी क्यों निकालता है ?

कोई दूसरों की जान लेकर सुखी रहना चाहेगा, तो वह कैसे सुखी रह सकेगा ? कहा भी है कि–

करे बुराई सुख चहे, कैसे पावे कोय ।
रोपे पेड़ बबूल का, आम कहां से होय ।।

हिन्दू धर्म में तो चौबीस अवतारों में मत्स्यावतार, कश्यपावतार आदि रूप से मत्स्य आदि को भी आदर दिया है । श्रीकृष्ण ने गौओं के बीच रहकर गोपालन किया, वे पशुओं के दुलारे थे । आज के कृष्ण भक्तों को इस पर सोचना चाहिए।

आज मनुष्यों में स्वार्थपरता आई हुई है । खाने वालों में रसना लोलुपता, बेचनेवालों में लोभ और नहीं खाने वालों में दब्बुपन आ गया है । जैसे कोई

अपनी पत्नी के गले में हाथ डालकर बाजार में चले, तो यह असामाजिक कार्य है, उसी प्रकार सामूहिक रूप से मांस भक्षण भी असामाजिक कार्य है । मांस खाने वाले यदि चुपचाप घर में खालें, तो वह बुराई अपने तक ही रहेगी, पर खुले रास्ते में लाना, बेचना और प्रचार करना समाज में बुराई फैलाना है, यह नीति विरुद्ध है । इस प्रकार अहिंसक जनता और सात्विक लोगों के मन पर चोट पहुँचाई जाती है । यह न्याय संगत नहीं कहा जा सकता ।

अगर किसी का पड़ोसी धर्मशून्य और अत्याचारी है, तो उसके पास से आया हुआ धन भी धर्म शून्य ही रहेगा । उससे चाहिये जितना आनन्द आना तो दूर, बल्कि कष्ट ही बढ़ेगा और मन उलझनों में फंसेगा । यदि माता-पिता अपने बच्चों के माध्यम से चोरी करवावें या हिंसात्मक कार्य करवावें, तो यह भी महान् पाप है । नगर की खराबियों के साथ आँख-मिचौनी नहीं की जानी चाहिए । भाई, बच्चों को समझाने में जैसे हितभावना रहती है, वैसे ही पड़ोसी को समझाने में भी हित भावना होनी चाहिए । हिंसा घटने से समस्त संसार की भलाई होगी । लोगों का परस्पर प्रेम बढ़ेगा और आपस में शांति तथा सौमनस्य का प्रादुर्भाव होगा । ईर्ष्या, कलह, द्वेष और विरोध का दमन होगा तथा पराये-वत् प्रतीत होने वाले लोग आत्मीयवत् दिखाई देंगे ।

देखा जाता है कि अधिक उपजाऊ भूमि के स्वामी दुःख पाते हैं और रेगिस्तान के थली के किसान सुखी रहते हैं । इसका कारण यह है कि जीवन को मांजने वाला हमेशा सुखी रहेगा, चाहे वह रेगिस्तान में ही क्यों न रहता हो ? उनमें अहिंसा वृत्ति है ।

मोटी चीज पकड़ने में आसानी रहती है और सूक्ष्म चीज पकड़ने में कठिनाई होती है । ऐसे ही आवश्यकता पर नियन्त्रण होने से अन्य गुणों की धारणा में सुगमता होगी । अतएव जीवन सुधार के लिए प्रथम आवश्यकताओं को कम किया जाना चाहिए ।

स्थूलभद्र ने राजमंत्री के विभव विलास को ठोकर मार दी और परम-आनन्द का अनुभव किया । साधना के मार्ग में चलने से मनुष्य में निर्भयता आती है और यही कारण है कि स्थूल भद्र ने रूपकोषा के घर चातुर्मास करने की हिम्मत की । उनका यह काम साधारण नहीं था । आग के पास यदि घी जाय, तो बिना पिघले नहीं रह सकता । किन्तु गुरु ने अच्छी तरह जान लिया था कि यह धीर, वीर और गंभीर है । इसमें इतना आत्मबल है कि यह संभल कर कदम रखेगा और स्वयं अमल धवल रह कर गुरु के नाम को भी प्रशस्त बनाएगा । गुरु की आज्ञा पाकर

स्थूलभद्र का मन-मयूर आनन्द से नाच उठा । स्थूलभद्र की साधना दिखने में कोमल होते हुए भी निराले प्रकार की कठोरता लिए हुए थी । गुरु से मिले ज्ञानवल, आत्मबल और तपोबल को ग्रहण कर साधक ने उसे भली-भांति चमकाया है । इसी प्रकार यदि हर एक व्यक्ति साधना के मार्ग में अग्रसर होगा, तो अपना उभय लोक में कल्याण कर सकेगा ।

---

[४३]

आन्तरिक परिवर्तन

शास्त्रकारों ने कहा है कि द्रव्य की तरह साधक जीवन भी परिवर्तनशील है सदा एकसी स्थिति नहीं रहती। उसमें आन्तरिक और बाह्य परिवर्तन होते रहते हैं। आहार, विहार एवं भाषा से बाह्य परिवर्तन होता है जो देखा जा सकता है, क्योंकि उसमें बाह्य साधनों का संयोग रहता है। किन्तु आन्तरिक परिवर्तन में बाह्य साधनों का हाथ नहीं रहता। सोकर उठने तथा बाहर निकलने में तेल, कंघा और साज-सज्जा आदि ने सहायता दी, इसलिये परिवर्तन आया। इसी प्रकार क्रोध, मान, स्नेह, लोभ, हर्ष, शोक आदि का रूप सहेतुक और अहेतुक तीव्र मन्द होता रहता है। भावना में परिवर्तन होने से बाह्य आचार में भी परिवर्तन हो जाता है। इसी से प्राणी उच्च से नीच और नीच से उच्च बनता है।

जीवन परिवर्तन में प्रमुख कारण काल, कर्म संयोग, परिस्थिति और अध्यवसाय माने गये हैं। संसार में जीवन परिवर्तन का चक्र हर क्षण चलता ही रहता है। जब तक शरीर है, शरीरधारी के इस चक्र का भी अन्त नहीं होता। भगवान महावीर ने कहा है–

"एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं, आहाकम्मेहिं गच्छइ" ।।

अर्थात्-जीव कभी स्वर्ग में कभी नरक में तो कभी कर्मानुसार असुर योनि में जाता है।

मनुष्य कर्म के कारण ऊपर चढ़ता है, जैसे वायु के संग से धूल का कण ऊपर चढ़ता है और अशुभ कर्म से नीचे आता है मगर स्वर्ण कण ऊपर नहीं जाता। धूलि कण ऊपर चढ़कर आकाश में सूर्य को ढक देता है और वर्षा से नीचे आ गिरता है। इसी तरह शुभ कर्म रूपी हवा से जीवन भी चढ़ता है। जिन निमित्तों से वह गिरता है, उनको हटाने से वह ऊपर चढ़ता है, यह एक मानी हुई बात है।

पानी के समान खराब कर्म के भार से मानव का भी पतन होता है और हवा रूपी सुकर्म को पाकर ऊपर उठता है।

स्थावर जन्तुओं में कुछ शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के जीव हैं। एक हीरे के रूप में मुकुट में जड़ा जाता है तथा दूसरा फर्श में या उससे भी गयी गुजरी जगह में लगाया जाता है। हीरे को पैर तले देखकर लोग सहर्ष उठा लेते हैं और सुरक्षित रूप में रखते हैं परन्तु पत्थर को पैर तले आने पर, बगल में फेंक देते हैं । नागरिक लोगों की संगति में आया हुआ किसान भी हीरे को परख लेता है। एक ही पार्थिव जाति के होकर एक सम्मान पाता है और दूसरा तिरस्कार। इसका कारण स्थावर जन्तुओं में भी पाप-पुण्य है।

मनुष्य गति पुण्य प्रकृति का फल है, परन्तु इसमें भी पाप प्रकृति वाले लाखों नर हैं। मनुष्य गति की दृष्टि से देखा जाये तो पुण्य प्रकृतियों की अपेक्षा जब पाप प्रकृतियां प्रबल हो जाती हैं, तो काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, असाता आदि ताण्डव नाच करने लगते हैं।

धन एवं बाल-बच्चे पाने मात्र से ही पूर्ण पुण्योदय नहीं होता। ये तो पुण्य प्रकृति के बाह्य फल हैं। जब तक ज्ञान, विवेक, सद्भाव एवं शुभ रुचि प्राप्त नहीं होती, मानव बाह्य पुण्य का फल पाकर भी नीचे गिर जाता है। हजारों ऐसे उदाहरण हैं जिनमें मानव धन जन सम्पन्न होकर भी ऐसे गिरते हैं कि कोई उनका नाम लेने वाला नहीं रहता। लाखों करोड़ों की सम्पत्ति तथा भरे-पूरे परिवार को जाते क्या देर लगती है। आंधी में तिनके की तरह वे देखते-देखते उड़ जाते हैं। कल तक जिसके घर में हर तरह की खुशियाली छायी हुई थी आज वहाँ गम ही गम नजर आता है। ये सब क्या हैं ? पुण्य की कमी और पाप का उदय, नहीं तो इन्हें क्या कहें।

किसी मनुष्य में क्रोध, मान, अल्प मात्रा में है तो वह रोग ग्रस्त होने पर भी खीजेगा नहीं और धनी व्यक्ति रोग ग्रस्त की दशा में सेवा, शुश्रूषा और उपचार की थोड़ी भी कमी देखता है तो क्रोध से लाल बन जाता है और जो नहीं बोलना चाहिये ऐसी बेतुकि बातें बोल देता है । उसके व्यवहार से साफ पता चलता है कि उसकी आत्मा नीचे गिरी हुई है। ब्रह्मदत्त जैसा बड़ा राजा भी पाप कर्म करने लगा; तो पतित हो गया, इतनी विशाल सम्पदा, अखण्ड प्रभुता, और इच्छा भोग पाकर भी वह पाप कर्म के कारण गिर गया।

धन, वैभव, मनुष्य योनि, सुन्दर वर्ण, शुभवाणी और प्रभुता पुण्य कर्म के कारण प्राप्त है परन्तु अज्ञान और मोह ने उसे घेर रक्खा है। यह पाप प्रकृति प्राणी

को देखते-देखते अदेखा कर देती है, मोह से प्राणी देखते-देखते अदेखा और जानते भी अनजाना बन जाता है।

ब्रह्मदत्त को चित्त मुनि ने समझा कर कहा :—'हे राजन् ! अधिक नहीं कर सको, तो कम से कम अनार्य कर्म (चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि) को राज्य में न होने दो, चोरी को रोककर जनता को निर्भय बनाओ तथा व्यभिचार से सदाचार की ओर उन्हें अग्रसर करो ।" परन्तु ब्रह्मदत्त को ऐसी सीधी बात भी समझ में नहीं आयी और वह सुमार्ग पर नहीं चल सका। उसने मुनि से कहा :-"हे महामुनि ! मैं सारी बातें जानता हूँ परन्तु काम, भोग और मोह में फंसा होने से, मेरी स्थिति तो ऐसी हो गयी है जैसे किसी कम जल वाले, कीचड़ प्रधान जलाशय में पानी की लालसा से गया हुआ हाथी, कीचड़ में फंसकर, आगे-पीछे नहीं जा पाता। वह बीच में ही फंसा किनारे के पदार्थों को देखता तथा उसके सुख को समझकर भी बाहर नहीं आ सकता। इसलिये महाराज ! मैं आपके उपदेश पर चलने में असमर्थ हूँ ।" कहा भी है कि–

नागो जहा पंक जलावसन्नो, दठ्ठुं थलं नाभिसमेइ तीरं ।
एवं वयं काम गुणेसु गिद्धा, न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो ।।

अनजान को समझाना आसान है, जानकार ज्ञानी उसे अज्ञानता से निकाल सकते हैं, परन्तु जो जानते हुए मोह वश अनजान हैं, उनको समझाना महामुश्किल है। वे अज्ञान के कारण पाप में फंसे नहीं होते, उनके फंसने का कारण मोह होता है। उनमें मोह के कारण ही त्याग की बुद्धि उत्पन्न नहीं होती। यदि पाप की प्रकृतियों को झकझोर दिया जाये तो पुण्य की प्रकृतियां सहज चमक उठे। शुभमति के उदय से यह जानना चाहिये कि मनुष्य को पुण्य का उदय है। सदाचार और देव-गुरु-धर्म के प्रति प्रीति पूर्व जन्म के पुण्योदय से ही प्राप्त होती है। यह एक प्रकार से मापक यन्त्र है।

बाहर की रमणीक वस्तु को देखकर यदि लालसा की जाये और उसके लिये मिथ्यामार्ग को आदरणीय समझा जाये तथा गुणीजनों की शारीरिक कुरूपता देख कर उनसे घृणा की जाय, तो यह सम्यग्दर्शन का दोष है । पापों से बचने की दृष्टि वाला साधक किसी व्यक्ति में गुणों को देखकर आदर करता है तो यह सम्यक् दृष्टि है।

मिथिलेश महाराज जनक बड़े आत्म-ज्ञानी थे। गृहस्थ होते हुए भी उनमें आत्म-ज्ञान की विशिष्टता थी। ज्ञानियों के लिये वास्तव में गृहस्थ का वैभव आकर्षण

का कारण नहीं; वरन् उसमें ज्ञान-दर्शन, चारित्र के यदि साधना-बल है, तो साधु संत भी उसकी ओर आकर्षित हो जाते हैं।

ज्ञान वृद्धि के लिये प्रवचन सुनने वाले श्रोताओं को लिखने की आदत रखनी चाहिये। इससे मनन का अवसर मिलेगा और कई बातें आसानी से याद रखी जा सकेंगी। आपको अनेकों सत्पुरुषों के उपदेश श्रवण का अवसर मिलता है, और उसमें कई बातें तो इतनी असरकारक होती हैं कि जिनके स्मरण से जीवन की दिशा बदली जा सकती है, और आत्मा को ऊंचा उठाया जा सकता है, किन्तु लिपिबद्ध नहीं होने से वह थोड़े समय में ही मस्तिष्क से निकल जाता है । विदेशियों में नोट कर लेने की आदत है, अतएव वे देशाटन और विद्वानों के संग से भी बहुत-सी उपादेय बातें ग्रहण कर लेते हैं । तत्व श्रुतिं के विचारों को यदि नोट करने की पद्धति रखी जाये तो इससे आगे लाभ होगा।

कहने का अभिप्राय यह है कि गृहस्थी भी यदि ज्ञान का धनी है, तो वह साधु संत के लिये आकर्षण का केन्द्र बन जाता है । महाराज जनक गहन आत्म-चिन्तक तथा अध्यात्म-प्रेमी थे। अतः बड़े-बड़े ऋषि मुनि उनके यहाँ आया करते थे और वहाँ से कुछ न कुछ आध्यात्मिक ज्ञान लेकर लौटते थे ।

एक बार की बात है, राजा जनक की सभा में बड़े-बड़े ऋषि मुनि आये हुए थे। वहाँ पर एक कुरूप ब्राह्मण भी आया और पास में पड़े हुए एक खाली आसन पर बैठ गया। आस-पास के विद्वान् सोचने लगे कि हंसों की सभा में यह कौआ किधर से आ बैठा है ? कतिपय लोगों ने समझा कि प्रबन्ध व्यवस्था ठीक नहीं होने से ही यह प्रवेश पा गया है। आने वाला जन्म से ब्राह्मण तन होकर भी शरीर से बहुत बांका टेढ़ा था। अतः सब उसको तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगे। जब महाराज जनक आत्म-ज्ञान की चर्चा के लिये सभा में उपस्थित हुए, तब सहसा उस कुरूप ब्राह्मण ने उठकर पूछा—"महाराज ! मैंने बहुत दिनों से सुन रखा था कि जनक की सभा में बड़े-बड़े आत्मज्ञानी पुरुष आते हैं, परन्तु आज साक्षात् देखने पर वह शंका हुई कि यह आत्मज्ञानी विद्वानों की सभा है या चर्मकारों की संसद है? क्योंकि चमड़े का रंग, रूप और उसका मोटापन, पतलापन देखना चमारों का काम है।" यह सुनकर सबके सब एक-दूसरे की अगल-बगल झांकते और कहते कि यह कौन है ? जो बड़ी मर्म की बात कह रहा है कि यदि शरीर को देखकर आसन दिया जाये तो आत्म-ज्ञानियों की सभा कैसी ? ब्राह्मण के सवाल और तर्क को सुनकर सब पण्डित चौकन्ने और लज्जित हो गये। परिचय पूछने पर ब्राह्मण कुमार ने कहा कि—"मेरा नाम क्या बताऊं ? मेरा नाम तो साफ है, शरीर ही अपना नाम बता

रहा है। आठ स्थान से बांका होने से लोग मुझे अष्टावक्र कहते हैं ।" सबने अष्टावक्रजी को आत्मज्ञान सुनाने के लिये कहा । आत्म-ज्ञानी का काम भीतर देखना है। गुणियों के शरीर को देखकर घृणा करने से पाप लगता है। संस्कृति की दृष्टि से इसका समाज पर भी बुरा असर पड़ता है। फिर गुणों का महत्व भूल कर यदि गुणी का तिरस्कार किया गया तो उसके हृदय को भी चोट लगती है। विदेशी लोग अनाथों तथा कोढ़ियों की व्यवस्था करते हैं। कभी कोई अनाथ यदि उनके हाथ में आ जाये, तो वे उनका बड़ा आदर करते हैं। फलस्वरूप लाखों राम, कृष्ण, महावीर के मानने वाले आज अनार्य संस्कृति के उपासक बन गये और बनते जा रहे हैं।

हर एक भारतीय और जैन में धर्म वत्सलता भी होनी चाहिये। साधु-संतों की उन्नति देखकर प्रसन्न होना यह समूहगत वत्सलता है। संघ में इसी प्रकार स्वधर्मी के प्रति भी वत्सलता बढ़नी चाहिये। प्रेम से साधक कठोर साधना भी कर सकता है। साधक में साधना की ओर लगन हो, और साथ ही समाज की उनके प्रति सद्भावना हो तो मानव सहज ही अपना उत्थान कर सकता है ।

यह कहा जा चुका है कि रूपकोषा के यहां काम विजय की भावना से जाने वाले स्थूलभद्र को गुरु ने चातुर्मास की अनुमति दे दी। गुरु में वत्सलता थी और शुभ प्रेम के कारण वत्सलता जीवन को आगे बढ़ाती है एवं मोह जीवन को गिराता-फंसाता है। गुरु ने स्थूलभद्र से कहा कि काम विजय करके शीघ्र आ जाना। गुरुवाणी से उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। और साहस द्विगुणित हो गया ।

स्थूलभद्र अपनी साधना के लिये रुपकोषा के घर पहुँचे। रूपकोषा ने जब स्थूलभद्र को देखा तो उसके मन में तर्क-वितर्क होने लगा। उसने आसन छोड़कर स्थूलभद्र का हार्दिक स्वागत किया और कहा :-"प्रियतम ! आइये, आइये, जीवन को सरसाइये पर यह वैरागी का सा अटपटा वेष कैसा ?"

धर्म स्थान में विलास श्रृंगार करके आना दूषण है, परन्तु रिवाज का रूप होने से आज यह साधारण बात हो गई है। धर्म स्थान में घृणा व्यंजक, अस्वच्छ और अशुद्ध मलादि से लिप्त 'वस्त्र' नहीं हो, वस्त्र तड़कीले-भड़कीले भी नहीं होने चाहिये। वहाँ के लिये सादा वेष ही भूषण है। परन्तु वेश्या तो रागी ठहरी । अतः उसे वैरागी का वेष खटक गया। लोकनीति के अनुसार राग की जगह में राग का रूप हो, और वैराग्य की जगह में वैराग्य का तो अच्छा लगता है। वेश्या ने कहा-"आपका आना मुझे अच्छा लगा, परन्तु यह विरागी वेष अरुचिकर जंचा ।"

रूपकोषा स्थूलभद्र को सम्मानित कर रंगशाला में ले जाती है और सुन्दर वस्त्र धारण करने का आग्रह करती है। आज स्थूलभद्र का परीक्षा काल है। कुशल

परीक्षार्थी परीक्षा काल में आने-जाने वालों की ओर दृष्टिपात नहीं करता और न भयभीत ही होता है । उसका लक्ष्य होता है कि कहीं मेरा प्रमाद में वर्ष खराब नहीं हो जाये। स्थूलभद्र यदि थोड़ा भी चूक जाता तो उसका जीवन बिगड़ जाता। अतएव बड़ी सावधानी से वह परीक्षा में लगा रहा ।

साधारण साधक का तो वेश्या के मुहल्ले में भी जाना शंका की दृष्टि से देखा जाता है और बात भी ठीक ही है कि गणिका की मर्म-वेधिनी दृष्टि के सामने अपने को बचाए रखने की शक्ति भी सर्व साधारण जनों में नहीं पायी जाती। मगर स्थूलभद्र को तो गुरु की आज्ञा थी। गुरु ने उन्हें योग्य समझकर ही गुरुतम भार उनके कंधो पर डाला था। आज यदि कोई साधु एकाकी स्त्री के पास बैठा रहे तो उसकी संयम शुद्धि में शंका उत्पन्न हो जाती है फिर स्थूलभद्र को कैसे आज्ञा दी गयी । साधारण मनुष्य का मन इससे चकरा सकता है, परन्तु संभूति विजय ने उनको योग्य समझा था। भगवान और गुरु की दृष्टि उनके सामने है, अतः उन्हें किसी का भय नहीं। इसी प्रकार गुरु और भगवान पर जो लोग श्रद्धा रखेंगे, तो उन्हें किसी का भय नहीं रहेगा और वे अपना कल्याण कर सकेंगे।

---

[४४]

साधना की भूमिका

भगवान महावीर ने सबसे पहले अपने जीवन को शुद्ध, बुद्ध एवं निष्पाप बनाया और फिर संसार को अनुभव का मार्ग बताया। उन्होंने कहा कि हे मानव ! तू अपने ही बल से सफलता प्राप्त कर सकेगा। जब तक तू अपनी सामग्री का उपयोग नहीं करता , तब तक शहंशाह होकर भी भिखारी-सा मारा-मारा फिरता रहेगा। जिस दिन तू प्राप्त सुसामग्री का उपयोग करेगा, तेरा तेज संसार में चमक उठेगा। तू नक्षत्र मण्डल का अपूर्व ज्योतिर्धर रूप है, क्योंकि अंन्य ज्योति-धारियों का तो अस्त होने का भी अवसर आता है, किन्तु विवेकपूर्वक काम लेने से तेरा आत्म तेज कभी अस्त होने वाला नहीं है।

अज्ञानान्धकार के दूर होने पर जो मनुष्य प्रभु के वचन को समझ पाते हैं, वे अनन्त काल के पाप कर्मों को काटकर मुक्त हो जाते हैं। प्रभु का ज्ञान स्वयं अनुभूत एवं दूसरों पर प्रयोग किया हुआ है । उन्होंने अनुभव से निश्चित किया कि विचार शुद्धि के बिना आचार शुद्धि सम्भव नहीं है। विचार शुद्धि के लिये अज्ञान एवं मिथ्यात्व से किनारा करना होगा । मिथ्यात्व और अज्ञान को दूर करने के निम्न उपाय बताए गए हैं।

"परमत्थ संथवो वा, सुदिट्ठ परमत्थ सेवणं वावि ।"

सर्व प्रथम तत्व-ज्ञान, आत्मा-परमात्मा का ज्ञान अर्थात् जीव-अजीव, पुण्य, पाप एवं धर्म-अधर्म की जानकारी आवश्यक है। जिसने परमार्थ की जानकारी नहीं की वह उलझ जायेगा तथा उसे शान्ति प्राप्त नहीं होगी। परमार्थ का परिचय करने के लिये १. सच्छास्त्र एवं २. सत्संग दो साधन हैं । हर एक शास्त्र से परमार्थ प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि काम-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, नाट्य-शास्त्र और

राजनीति-शास्त्र आदि अनेक शास्त्र हैं, परन्तु वे जीवन की दुर्वृत्तियों पर शासन करने के शास्त्र नहीं हैं । इनसे लोक जीवन का काम चल सकता है, आध्यात्म जीवन का नहीं ।

अर्थ-शास्त्र मानव के मन में आर्थिक कामना पैदा करेगा और मानव में आकुलता ला देगा, बाधक तत्वों के आने पर विरोध होगा तथा आय के साधकों से मित्रता होगी। इस प्रकार अर्थ-शास्त्र आर्थिक दौड़-धूप में और काम शास्त्र कामना बढ़ाने में उपयोगी हो सकते हैं। किन्तु धर्म-शास्त्र कामना और प्रपंच त्याग करने का उपदेश देता है। अर्थादि शास्त्रों से इसका सिद्धान्त पूर्णतः भिन्न और पृथक है, अर्थ के रंग में हम अपना-पराया भूल जाते हैं और हानि में मित्र से भी संबंध तोड़ लेते हैं। इस सम्बन्ध में तो कई बातें सुनी गयी हैं जैसे दहेज में इच्छानुसार अर्थ लाभ नहीं होने पर लड़की ससुराल से कभी पिता के घर नहीं आ पाती। परस्पर के सम्बन्ध खट्टे हो जाते हैं और अनपेक्षित वैर- विरोध बढ़ जाता है।

धर्म शास्त्र तो किसी को भी चोट पहुँचाने का निषेध करता है। धर्म शास्त्र का अनुगामी या सेवक स्वयं हानि उठा लेगा; परन्तु दूसरे को धोखा नहीं देगा और आघात नहीं पहुंचायेगा। कुमार्ग में जाते समय उसका पैर लड़खड़ायेगा, हाथ कम्पित होगा और मन घबरा उठेगा। एक अर्थवान् मनुष्य दूसरे का धन छीनना चाहेगा, परन्तु धर्म शासन वाला व्यक्ति स्वप्न में भी दूसरे के धन पर आँख नहीं उठायेगा। धर्म-शास्त्र में अज्ञान और मिथ्यात्व को मिटाने की शक्ति रहती है। यदि अपने आप में परमार्थ मिलाना है, तो परमार्थ के ज्ञाता लोगों की संगति करनी चाहिये और व्यर्थ की बात करने वाले प्रमादियों से सदा दूर रहना चाहिये।

भक्त सूरदास ने बहुत ही सुन्दर शब्दों में कहा है–

"तजो रे मन, हरि-विमुखन को संग ।
जाके संग कुबुधि उपजत है, पड़त भजन में भंग ।।१।।
कागहि कहा कपूर चुगाये, श्वान नहाये गंग ।
खर को कहा अरगजा लेपन, मर्कट भूषण अंग ।।२।।

कुसंगति में बैठकर मनुष्य को अपना जीवन काला नहीं करना चाहिये। कुसंगति की पहचान के लिये भक्त कवि ने ठीक ही कहा है कि जिसकी संगति से कुबुद्धि उपजती हो, मन में पाप-वासना जागृत हो एवं भजन में बाधा आती हो तो निश्चय ही वह कुसंगति है। जिसकी संगति से सुबुद्धि उत्पन्न हो, दुर्व्यसनों का परित्याग हो, और अहिंसा, सत्य तथा प्रभु भजन में मानव की प्रवृत्ति हो, वह सुसंगति है। कहा भी है–

दूरी करोति कुमति, विमली करोति, चेतश्चिरंतनमघं चुलकी करोति ।
भूतेषु किंच करुणां बहुली करोति, संगः सतां किमु न मंगलमातनोति ।।

आनन्द श्रावक ने तत्व को पहचान लिया। उसने जीवन की स्थिति अडोल बनाली और संसार में रहते हुए भी वह संसार से सर्वथा अलग हो गया। ज्ञान प्राप्ति के लिये ज्ञानवान की संगति आवश्यक है– इसी प्रकार अज्ञानी और मिथ्यादर्शनी का संग जो दूषण रूप है त्याज्य है। इसके लिये शास्त्रीय शब्द 'पर-पाखण्ड' आता है। शंका होती है कि 'पाखंड' तो अपना हो या पराया, है तो बुरा ही फिर पर-पाखंड-प्रशंसा से पर-पाखंड प्रशंसा की निन्दा और निषेध क्यों ? क्या अपने पाखण्ड की निन्दा नहीं करनी है? नहीं, वस्तुतः 'पाखण्ड' का सही अर्थ व्रत-नियम है। आत्म-भाव की ओर ले जाने वाला व्रत-नियम स्व पाखण्ड है, इसके विपरीत परभाव–धनदारादि वैभव या मिथ्यात्व की ओर ले जाने वाला पर-पाखंड होने से वर्जनीय है। अथवा सम्यक् दृष्टि 'स्व' है और सम्यक् दृष्टि विहीनता 'पर' है। पर-पाखंड प्रशंसा अर्थात् अज्ञान से परिपूर्ण साधना की प्रशंसा करना अनुचित है।

पर-पाखंड प्रशंसा का फल है संसार और उस संसार का त्याग ही मुक्ति है। राग-भाव तथा अज्ञान भाव से युक्त व्रत साधना जीवन को गड़बड़ा देती है। पर पाषंड प्रशंसा का जन साधारण में अनुकरण होता है और इसी पर पाखंड की प्रशंसा के कारण साधना के शुद्ध मार्ग में विकृति आने लगती है । महापुरुष तात्कालिक विकृति को अपने सामर्थ्य से दूर करते हैं। भगवान पार्श्वनाथ ने भी अज्ञान करणी का निकंदन किया। पार्श्वनाथ का सिद्धान्त था कि अज्ञानमय को भी प्रेम से सन्मार्ग बताया जाये। धर्म का प्रचार अपशब्द या डंडे के जोर पर करने से सही रूप में प्रचार नहीं होता। भय का रास्ता गलत है । धर्म प्रसार प्रेम द्वारा किया गया ही स्थायी व हितकर हो सकता है। भगवान पार्श्वनाथ ने साधना से राग-द्वेष दोनों को दूर कर लिया था। उनको तप करते हुए ध्यानस्थ देखकर कमठ ने रोष किया और प्रलय की सी स्थिति निर्मित कर दी । पार्श्वनाथ की गर्दन तक जल ही जल हो गया, फिर भी उनके मन में रोष नहीं आया। वे अडोल रहे और अपने ध्यान की धुन में मग्न रहे। वे वीतराग हो चुके थे। आत्म स्वरूप को पहचानने वाले के मन से मलिन विचार वैसे ही दूर हो जाते हैं, जैसे सूर्योदय से अन्धकार ।

विचार की भूमिका पर ही आचार के सुन्दर महल का निर्माण होता है। विचार की नींव कच्ची होने पर आचार के भव्य प्रासाद को धराशायी होते देर नहीं लगती। धर्मवीर, दानवीर और त्यागवीर का परीक्षा के समय पर ही सही पता चलता है। कहा भी है–

विकार हेतौ सति विक्रयन्ते येषां न चेतां सि ते एव धीरा ।

अर्थात् विकार के कारण मिलने पर भी जिनके चित्त में विकार उत्पन्न नहीं हों वे ही धीर हैं।

गृहस्थ वर्ग में हजारों ऐसे नमूने हो गये हैं जिन्होंने जीवन को निष्पाप बनाये रखा तथा निकाचित कर्मबन्ध नहीं किया। पुरोहित सोमदत्त का लड़का काशी से पढ़कर जब घर आया तो उसके आगमन के उपलक्ष्य में सारे नगर में खुशी मनाई जाने लगी। नगर के प्रमुख जनों ने सम्मान पूर्वक उसका नगर प्रवेश कराया। सबके मुँह से एक ही बात थी कि बाप से बेटा सवाया निकला। पुरोहित पुत्र भी यथा योग्य सबका सत्कार करके घर आया और माता के चरणों में सिर झुका कर उसने प्रणाम किया, पर सामायिक में होने से माँ वैसे ही उपेक्षित बैठी रही। माँ के इस उपेक्षित स्वागत से पुत्र को सन्तोष नहीं हुआ और बोला– माताजी बारह वर्ष से मैं विद्या पढ़ कर घर आया हूँ जिसकी सारे नगर में प्रसन्नता है पर आपके मुख पर प्रसन्नता दिखाई नहीं देती। क्या कारण है ? क्या मेरी इस सफलता से आपको सन्तोष नहीं है ? यह सुनकर माता बोली बेटा ! सन्तोष क्या बताऊं ? अभी तो तूने १२ वर्षों में केवल पेट भरने की विद्या सीखी है, आत्मोन्नति के ज्ञान-अध्यात्म विद्या का तो उपार्जन किया ही नहीं। फिर भला मैं सन्तुष्ट कैसे होऊँ ? अपना एवं अपने परिवार का भरण-पोषण तो जंगल के पशु-पक्षी भी कर लेते हैं और इसके लिये अपेक्षित श्रम से कभी जी नहीं चुराते। एम. ए., बी. ए., वकील, बैरिस्टर और आचार्य शास्त्री भी भरण-पोषण मात्र ही करते हैं। इस प्रकार जीवन निभाने की कला सीख लेने से मनुष्य को सन्तोष नहीं मान लेना चाहिये।

माता के स्पष्ट और सुधरे वचन ने पुत्र के हृदय को उद्वेलित कर दिया। मातृ भक्त होने के कारण उसने ऐसी शिक्षा लेने का संकल्प लिया, जिससे माता को सन्तोष हो। उसने माता से पूछा तो आदेश मिला कि अमुक आचार्य के पास आगमों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये जाओ । आगम का एवं 'पूर्वों' के ज्ञान का अभ्यास करने के लिये वह उन जैनाचार्य के पास गया और ज्ञान प्राप्ति के लिए उनका शिष्य हो गया। आज की देवियां यदि इस प्रकार अपने पुत्र को आदर्शोन्मुख बनायें, तो देश की काया पलट हो सकती है।

विचार बल की छाप आचार पर पड़ती है। जिसका विचार बल सूना रहेगा, उसमें आचार बल की शून्यता स्वयंसिद्ध है। स्थूलभद्र रूपकोषा के यहाँ काम जीतने के लिये पहुँचे हैं ।

"काजर की कोठरी में, लाख हु सयानो जाय, काजर की एक दाग, लागे पुनि लागे है", की प्रसिद्ध उक्ति को स्थूलभद्र ने गलत सिद्ध करने की चेष्टा की। विकार के सघन मोहक वातावरण में स्वयं निर्मल रहकर, दूसरे को भी निर्मल करना, स्थूलभद्र के सामने ये दो आदर्श थे।

रूपकोषा ने स्थूलभद्र से कहा देव ! भोगभवन में विरागी का स्वांग भद्दा और बेढंगा प्रतीत होता है। आपके जैसे तरुणवय भोगी के लिये योगी का रूप पकड़ना नितान्त हास्यास्पद है। आप अपने पुराने रूप में ही हमारे मनो-मन्दिर में आसन जमावें और भुक्ति रूपा मुक्ति को हस्तगत करें। यह सुनकर स्थूलभद्र ने कहा, "कोषा ! ये रूप और भोग नाशवान् हैं। जिस रूप और भोग की लौ पर मनुष्य पतंगे की तरह टूटता और खाक होता है वह रूप और भोग तो स्वयं समय पाकर निस्सार हो जाता है। क्षण भर पहले जिससे आँखें हटाते अच्छा नहीं लगता था, क्षण भर बाद उधर आँखें उठाकर देखने को भी जी नहीं चाहता। फूलों की रंग-बिरंगी चिकनी कोमल पंखुड़ियां, काल पाकर झुलस कर धूल बन जाती हैं। संसार का रूप परिवर्तनशील है। यहाँ कोई वस्तु एक स्थिति में रहने वाली नहीं है, मैं इसी सत्य का इस बार तुम्हें दर्शन दिलाने यहाँ आया हूँ ।"

यह सुनकर रूपकोषा बोली, "महाराज ! यहाँ धर्म लाभ या ज्ञान-चर्चा की आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो अर्थ लाभ की आवश्यकता है। अर्थ वर्षाओ या कोई ऐसा मार्ग बतादो जिससें अर्थ से भण्डार भर जाये। मैं आपका अभिनन्दन करती हूँ, आशीर्वाद के लिये नहीं किन्तु अर्थ के लिये । कृपया रंगभूमि के अनुकूल रूप बनाकर हमारे मन को सरसाओ।

जो जैसा होगा वह दूसरों को भी वैसा ही बनाना चाहेगा, यह संसार का नियम है। अपशब्द का बदला यदि अपशब्द से नहीं देना है, तो अपशब्द के प्रत्युत्तर में निरुत्तर रहना, यह अपशब्द बोलने वाले को हराने की सर्वोत्तम कला होगी। कांटे का जवाब फूल से देना सज्जनाचार है। अपशब्द कहने वाले को अपशब्द से प्रत्युत्तर नहीं दिया जाये, तो देखने वाला तृतीय व्यक्ति अपशब्द कहने वाले को ही बुरा कहेगा। स्थूलभद्र ने आत्मबल प्राप्त किया था। उसने रूपकोषा से ठहरने का स्थान मांगा और रूपकोषा से कहा कि मुझसे एक हाथ दूर रहकर अपने सभी साधनों का प्रयोग करती रहो। उसने रूपकोषा की आशाओं पर तुषारापात कर दिया। रूपकोषा अपने भौतिक बल पर विश्वास करती थी और पुरुष की दुर्बलता पर विजय

पाना उसने आसान समझ रखा था, पर आज उसका सारा विश्वास गलत सिद्ध हुआ।

जिस धन और साधन से जीवन सुधरे, वास्तव में वही धन और साधन उत्तम है। जो अपने धन और साधन का सदुपयोग करेगा, वह लोक और परलोक दोनों में सुख-शान्ति का अधिकारी होगा ।

---

[४५]

श्रद्धा के दोष

भगवान महावीर ने श्रद्धा-मूलक धर्म की शिक्षा दी है। जहाँ सम्यग्दर्शन और सुश्रद्धा है, वहाँ चारित्र धर्म को चाहे जितना ऊंचा उठाया जा सकता है। चाहे साधु-धर्म हो या गृहस्थ-धर्म, सम्यग्दर्शन की दृढ़ भूमिका, दोनों के लिये अत्यावश्यक है। भगवान महावीर ने आनन्द को सम्बोधित करके सम्यग्दर्शन के पांच दूषण बतलाए। उनमें 'परपाषंड-संस्तव' वह पाँचवा दूषण है।

दूषणों का त्याग सबके लिये आवश्यक है। आनन्द ही क्या संसार के समस्त साधक और श्रावक इस सीख से लाभ उठा सकते हैं। जो गृहस्थ के लिये त्याज्य है, वह श्रमण के लिये तो त्याज्य होगा ही। क्योंकि गृहस्थ देश विरति है, अतएव उसके सामने पाप त्याग की सीमा है, किन्तु श्रमण सर्वविरति है, अतः वह सभी पापों एवं दूषणों का त्यागी है।

शंका, कांक्षा और विचिकित्सा ये तीनों दोष त्याज्य हैं। इसका कारण यह है कि जिस परम्परा या दृष्टि से साधना की जाये, यदि उसमें विश्वास नहीं हो तो कभी न कभी उसके साधक उस साधना से डिगमिगा जायेंगे। ऐसे ही परपाषंड-प्रशंसा से मिथ्यामार्ग को प्रोत्साहन मिलता है। साधारण लोग भी प्रशंसा से प्रभावित होकर कुमार्गगामी बन जाते हैं, अतः सम्यग्दर्शनी को कुमार्ग अर्थात् मिथ्यात्व की भी प्रशंसा से दूर रहना चाहिये।

यहाँ वीतराग वाणी में 'स्व-पर' का मर्म कुछ भिन्न ही बताया गया है। यहाँ पर जाति, कुल-धर्म और वर्ण की दृष्टि से नहीं वरन् परमार्थ दृष्ट्या आत्म-गुणों को 'स्व' और जड़-गुण को 'पर' माना गया है। वीतराग भाव की ओर आत्मा को अभिमुख करना यह स्व-समय है, तथा अपने सिवाय संसार की समस्त भौतिक वस्तुओं के अभिमुख वृत्ति को पर-समय माना गया है। पर भाव की दशा में अर्थात् राग या

मिथ्यात्व में जब साधक कुछ कह जाता है, तो वह परदर्शन है, अज्ञान दशा है। आत्मा के शुद्ध भाव में जो बात कही जाती है, वही स्वदर्शन है। भगवान ने आनन्द को बंधमार्ग पर-मार्ग की प्रशंसा करने से रोका।

हस्तीतापस नामक एक साधु ने नियम कर रखा था कि मैं कन्द, मूल, फल और सब्जी न खाकर एक हाथी को मार कर खाऊंगा, इससे अधिक जीवों की हिंसा बच जायेगी। हस्ती तापस का यह विचार परभाव है, अज्ञान है। उसने सोचा अनेक अनाज के दानों को नष्ट करने के बदले एक बड़े जीव को मार कर खा लेना अच्छा है, किन्तु यह तर्क भ्रम पूर्ण है। हिंसा का छोटा-बड़ा होना जन्तुओं की गणना से नहीं है। स्थावर जन्तु में चेतना कम विकसित है, चींटी में कुछ अधिक, पशु में और अधिक तथा मानव में सबसे उच्च चेतना का विकास है। पशु हमला होने के बाद अधिक शोर करता है, पर चींटी नहीं। एक अनार्य किसी सूअर को मारता है, तो चारों तरफ हल्ला मच जाता है। बकरे, सुअर और मुर्गी आदि की हिंसा में मनुष्य का मन अधिक कठोर होता है। चींटी के लिये मन को उतना कठोर नहीं करना पड़ता जरा पैर गिरते ही वह तड़फेगी और चेतना शून्य हो जायेगी। स्थावर जन्तुओं की हिंसा में तड़पन, क्रन्दन आदि स्थूल चेष्टा बिल्कुल नहीं होगी। जितनी ही अधिक चेतनाशील जीव की हत्या होगी, उतनी ही बड़ी हिंसा समझी जायेगी, यह बाहरी लक्षण है।

वनस्पति की तरह मांस जीवन के लिये अत्यावश्यक नहीं है। मांसाहार के बिना मानव जीवन चल सकता है, परन्तु वनस्पति के बिना जीवन चलना अशक्य है। शेर का बच्चा महीनों दूध पर गुजारा करता है। जंगली जातियों के बच्चे भी प्रारम्भ में दूध पर ही जीवन चलाते हैं। जैसे फलाहार जीवन में अनिवार्य है, वैसे मांसाहार नहीं। बेपरवाही या कठोर दिल करके, आर्तध्वनि सुनकर भी जो न पसीजे वह क्रूर मिथ्यात्वी या अभव्य होगा। यदि कोई हस्तीतापस की इसलिये प्रशंसा करे कि वह हस्ती को मारकर गुजर करता है और अनाज के हजारों जीवों की जान बचाता है, तो यह प्रशंसा परपाषंड-प्रशंसा रूप है ।

यदि कोई व्यक्ति व्रत करे और उसमें रोटी एवं दूध दही नहीं खावे किन्तु प्याज, लहसुन आदि कन्दमूल खाता रहे तो यह प्रशंसनीय व्रत नहीं है। यह तो एक प्रकार का अज्ञान प्रदर्शन है। व्रत का तात्पर्य उत्तेजक एवं नशीली वस्तुओं के त्याग से आत्मा को शुद्ध एवं निर्मल बनाये रखना है। कोई शादी नहीं करे, उसका त्याग

करले किन्तु वेश्यावृत्ति को खुला रखे, तो यह नीति के विरुद्ध होगा। इसको सुव्रत नहीं कह सकते। भारतीय परम्परा के अनुसार २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का नियम रखना अच्छा गिना गया है ।

पाश्चात्य देशों में सदाचार की ओर बड़ा दुर्लक्ष्य है। वहाँ व्यभिचार का खुला ताण्डव चलता रहता है। ब्रह्मचर्य खण्डन को लोग उतना बुरा नहीं मानते, जितना कि अन्य नैतिक नियमों को तोड़ने को । किन्तु भारत धर्म प्रधान देश है यहाँ के लोग व्रत नियम करके व्यभिचार से बचने की चेष्टा करते हैं। बिना विवेक के पाश्चात्य देशों की सचाई की प्रशंसा करना भी परपाषंड-प्रशंसा जैसा हो सकता है। व्यापार में एक बात रखना उन्होंने अर्थलाभ में सहायक माना है, पर राजनीति में बड़ा से बड़ा झूठ बोलना और विश्वासघात करना उतना बुरा नहीं मानते। क्योंकि यह राजनीतिक दांव पेंच है। भगवान महावीर का सन्देश है कि कई बार अस्थिर मति वाले इस प्रकार की पाषंड प्रशंसा से गड़बड़ा जाते हैं। अतएव सम्यग्दर्शनी को इसका परित्याग करना चाहिये। इसी प्रकार साधक को मिथ्यामार्ग वाले का संग यानि अति परिचय भी छोड़ना आवश्यक है। क्योंकि संग दोष से साधना का रूप भी गलत हो सकता है। कहावत भी है कि—

"तुख्म तासीर, सोहबते असर"

जब पाप कर्म कटेंगे तो दुःख स्वयं ही मिट जायेंगे। क्योंकि पाप और दुःख इन दोनों में कार्यकारण भाव है। दुःख मिटाने के लिये कुछ गलत रीति रिवाज पाले जाते हैं। व्रत करके पुत्रादि की कामना की जाती है, ऐसे व्रत प्रशंसा के लायक नहीं हैं। स्वार्थ की भावना से व्रत करना, व्रत के महत्त्व को कम करना है। कामना को दृष्टि में रखकर तथा राग या मिथ्यात्व में पड़कर किये गये व्रत विष मिश्रित पकवान की तरह हेय हैं। इस प्रकार की परिपाटी मिथ्यात्व को बढ़ाने में सहायक होगी। आज मनुष्य जिसकी प्रशंसा कर रहा है, उसकी कल बुराई करने लगता और जिसकी कल बुराई करता था, उसकी आज प्रशंसा करने लगता है।

राजनीति में कोई नेता हो गया तो उसके दुर्गुण भी प्रशंसनीय बन जाते हैं। क्या पद पा लेने से उसका बुरापन दूर हो गया, यह विचारणीय विषय है। धर्मनीति में ऐसा नहीं होना चाहिये, परन्तु राजनीति का प्रभाव पड़ने से यहाँ पर भी दूषण आ जाता है। कल का ऊँचा आज का हीन बन जाता है, यह वाणी की चंचलता, मनुष्य की प्रामाणिकता के लिये खतरा है। जिसकी प्रशंसा की, ऊंचा माना, उसे शीघ्रता से बुरा न कहिये। हर एक का मूल्य आंकने से पहले विचार कीजिये।

सम्यग्दर्शनी को अपना विश्वास निर्मल रखने के लिये परपाषंड-प्रशंसा से दूर रहना चाहिये। इसके विपरीत उसे स्वपाषंड प्रशंसा करनी चाहिये। सम्यग्दर्शनी दिखावे से आकर्षित नहीं होता। क्योंकि दिखावे की ओर झुकने वाला कभी-कभी ठगा जाता है। कोई तपस्वी कल देवता से मिलने की बात कह कर आज बीमार पड़ जाये, तो लोगों का उस पर से विश्वास घट जायेगा। भीतर का मूल्य जहाँ ज्यादा होगा, वहाँ बाह्य दिखावा कम होगा, कांसे की थाली के गिरने पर अधिक आवाज होती है । वैसी सोने की थाली के गिरने पर आवाज नहीं होती । मूल्य सोने की थाली का अधिक है अतः उसमें झनझनाहट कम है। कहा भी है–

असारस्य पदार्थस्य, प्रायेणाडम्बरो महान् ।
नहि स्वर्णे ध्वनिस्तादृग्, यादृक् कांस्ये प्रजायते ।।

पुण्य-पाप, आत्मा-परमात्मा और जीव आदि तत्वों पर विश्वास रखने वाला सम्यग्दर्शनी अपने मार्ग पर अडिग रहता है। निश्चल मन वाला खतरे की जगह पर भी जा सकता है। सर्कस का खिलाड़ी तार के ऊपर साइकिल चला लेता है, कारण उसका सतत् अभ्यास है। किंतु कविवर आनन्दघनजी कहते हैं–

धार तलवार नी सोहली, दोहली चवदमा जिन तणी चरण सेवा ।
धार पर नाचतां देख बाजीगर, सेवना धार पर रहे न देवा ।।धार।।

तलवार की धार पर चलना सरल है, पर परमात्मा के चरणों की सेवा में चलना कठिन है।

अज्ञान एवं मोह के दुर्बल भावों से हटकर स्थूलभद्र ज्ञान तथा निर्मल भाव के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं। चार माह के लिये अनिन्द्य सुन्दरी रूपकोषा का अन्तःपुर उन्होंने काम विजय के परीक्षण के रूप में अंगीकार किया। वहाँ स्थूलभद्र ने श्रद्धा का नगर बनाया, संवर का द्वार लगाया तथा क्षमा-याचना का परकोटा तैयार किया और इस तरह स्थूलभद्र रूपकोषा के महल में अडिग भाव से ध्यानस्थ हो गये।

रूपकोषा वस्त्राभूषण तथा विविध हाव-भाव एवं सरस भोजन से मुनि के मन को ललचाने लगी। उसका विश्वास था कि नारी के इस आकर्षण के आगे मुनि का झुकना बहुत आसान है। इस तरह बहुतों को उसने अपने आगे नतमस्तक किया था। कुछ दिन पहले स्थूलभद्र भी रूपकोषा के मधुकोष में भ्रमरवत आलिप्त रह चुके थे। अतः वह समझती थी कि वैसे तरुणवय वाला भोग-पदार्थों की ओर शीघ्र आकर्षित होता है। जैसे छोटा बच्चा खिलौने की ओर झुक जाता है। अवस्था की

दृष्टि से सारी सामग्रियों के द्वारा रूपकोषा ने स्थूलभद्र को ललचाने का भरपूर प्रयास किया। मगर स्थूलभद्र जरा भी विचलित नहीं हुए। वे तो नित्य शाश्वत, बुद्ध, निष्कलंक एवं शुद्ध भावों में रमण कर रहे थे।

योगी और भोगी कभी एक नहीं हो सकते और न शुद्ध एवं अशुद्ध कभी एक रूप हो सकता है। इसी तरह की दशा रूपकोषा और स्थूलभद्र की हो रही थी। रूपकोषा ने सोचा कि गुरु के पास कष्ट पाने या संयम के त्रास से ये यहां आए हुए हैं । बल से न झुकने पर आर्तभाव आदि से अवश्य पिघल जायेंगे, ऐसा सोचकर वह करुण क्रन्दन करती हुई स्थूलभद्र के चरणों में गिर पड़ी और बोली कि यदि आप शरण न देंगे तो मुझ अभागिनी का गुजारा कैसे होगा। जिसके लिये मैंने अपना लोक और परलोक दोनों बिगाड़ा, वह भी अगर मेरी नहीं सुनेंगे तो मैं कहीं की नहींरहूंगी ?

रूपकोषा की आकुलता देखकर स्थूलभद्र अकम्पित भाव से उसे उपदेश देने लगे, जिसका उसके दिल पर अच्छा प्रभाव पड़ा।

(प्रथम भाग समाप्तम्)

खण्ड द्वितीय

[४६]

अस्तेय-अतिचार

आत्मा स्वभावतः चिन्मय, आनन्दघन, परमेश्वर रूप और परम विशुद्ध है, तथापि अनादिकाल से उसके साथ विजातीय द्रव्यों का सम्मिश्रण हो रहा है । विजातीय द्रव्य का सम्मिश्रण ही अशुद्धि कहलाता है । आत्मा में यही अशुद्धि निरन्तर चली आ रही है । विजातीय द्रव्यों का यह सम्मिश्रण ही जैन परिभाषा में कर्म बन्ध कहलाता है । भगवान् महावीर ने जिस साधनापथ का स्वयं अवलम्बन किया और अपने अनुगामियों के समक्ष जिसे प्रस्तुत किया उसका एकमात्र लक्ष्य कर्म बन्ध का निरोध करना और पूर्व संचित विजातीय तत्वों से अपने आपको पृथक् करना है । इसी में साधना की सार्थकता है, साधना की समग्रता है । जिस साधक ने इतना कर लिया, समझ लीजिये कि वह कृतार्थ हो गया । उसे फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहा । अतएव भगवान् महावीर ने कहा है कि साधना के पथ पर अग्रसर होने से पहले साधक को दो बातें समझ लेनी चाहिए –

'किमाह बंधणं वीरो, किंवा जाणं तिउट्टई ।' अर्थात्

(१) बंध और बंध का कारण क्या है ?

(२) बंध से छूटने का उपाय क्या है ?

शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार बन्ध के कारण को 'आस्रव' कहा गया है । यदि आत्मा की एक सरोवर से कल्पना की जाय तो उसमें नाना दिशाओं से आने वाले विजातीय द्रव्यों अर्थात् कार्मण वर्गणा के पुद्गलों को जल कहा जा सकता है। जिस सरोवर के सलिलागमन के स्रोत बन्द नहीं होते, उसमें जल निरन्तर आता ही रहता है । उस जल को उलीचने का कितना ही प्रयत्न क्यों न किया जाय, सरोवर रिक्त नहीं हो सकता, क्योंकि नया-नया जल उसमें आता रहता है। यही स्थिति आत्मा की है । प्रतिक्षण, निरन्तर, निर्जरा यानि जल निष्कासन का क्रम चालू है–पल भर के

लिए भी निर्जरा का प्रवाह बन्द नहीं होता और अनादिकाल से यह क्रम बराबर चल रहा है, फिर भी आत्मा निष्कर्म नहीं बन सकी । इसका एकमात्र कारण यही है कि प्रतिक्षण, निरन्तर नूतन कर्म वर्गणाओं का आत्मा में प्रवेश भी होता रहता है । इस प्रकार 'अन्धी पीसे कुत्ता खाय' वाली कहावत चरितार्थ हो रही है । एक ओर निर्जरा के द्वारा कुछ कर्म पृथक् हुए तो दूसरी ओर आस्रव के द्वारा नवीन कर्मों का आगमन हो गया ! आत्मा वहीं की वहीं, जैसी की तैसी । आत्मा की अनादि कालीन मलिनता का यही रहस्य है ।

तो फिर किस प्रकार कर्म से मुक्ति प्राप्त की जाय ? साधक के समक्ष यह महत्वपूर्ण प्रश्न है । ज्ञानियों ने इस प्रश्न का बड़ा ही सुन्दर और युक्तिसंगत उत्तर दिया है । सरोवर के जलागमन के स्रोत निरुद्ध कर दिये जाएं, नया पानी आने से रोक दिया जाय और पूर्वसंचित जल उलीचने आदि से (निर्जरा द्वारा) बाहर निकल जाने पर सरोवर रिक्त हो जाएगा । कर्मों के आगमन स्रोत यानि आस्रव को रोक दिया जाय और निर्जरा का क्रम चालू रखा जाय तो आत्मा अन्ततः निष्कर्म स्थिति, जिसे मुक्ति भी कहते हैं, प्राप्त कर लेगा ।

यहां एक बात ध्यान रखने योग्य है । तालाब में जो जल आता है वह ऊपर से दिखलाई देने वाले स्थूल स्रोतों से ही नहीं किन्तु भूमि के भीतर जो अदृश्य सूक्ष्म स्रोत हैं, उन से भी आता है । कचरा निकालते समय हवा की दिशा देखकर कचरा निकाला आता है । ऐसा न किया जाय तो वह कचरा उड़ कर फिर घर में चला आता है । किन्तु घर के द्वार बन्द कर देने पर भी बारीक रजकण तो प्रवेश करते ही रहते हैं । इसी प्रकार साधना की प्राथमिक और माध्यमिक स्थिति में कर्मों के स्थूल स्रोत बन्द हो जाने पर भी सूक्ष्म स्रोत चालू रहते हैं और उनसे कर्म-रज आती रहती है । किन्तु जब साधना का परिपाक अपनी चरम परिणति में होता है तो वे सूक्ष्म स्रोत भी अवरुद्ध हो जाते हैं और एकान्त निर्जरा का तीव्र प्रवाह चालू हो जाता है।

साधना की वह उत्कृष्ट स्थिति धीरे-धीरे प्रचण्ड पुरुषार्थ से प्राप्त होती है । आज आप के लिए वह दूर की मंजिल है । आपको कर्मास्रव के मोटे द्वार अभी बन्द करने हैं । वे मोटे द्वार कौन-से हैं ? शास्त्र में पांच मोटे द्वार कहे गए हैं--हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह । पांच आस्रव भी ये ही कहलाते हैं ।

प्रश्न हो सकता है कि प्राणातिपात यदि पाप है तो उसे आस्रव क्यों कहा गया है ? पाप और आस्रव में भेद है । जब तक प्राणातिपात की कारण रूप हिंसा चल रही है, तब तक वह क्रिया है, आस्रव है और कार्य रूप में पूरा हो

चुकने पर पाप है । किन्तु पाप और आस्रव में सर्वथा भेद भी नहीं समझना चाहिए । आस्रव के दो रूप हैं शुभ और अशुभ । अशुभ आस्रव पाप रूप है । यहां यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि हिंसा आदि अशुभ व्यवहार कर्मास्रव के कारण होने से ही पाप कहलाते हैं ।

कोई व्यक्ति व्रतादि करके तप तो करे किन्तु हिंसा जारी रखे तो उसको पाप आता रहेगा, क्योंकि उसने आस्रव का द्वार खुला रखा है । बहुत बार तो ऐसा होता है कि नवीन बन्ध अधिक और उसकी निर्जरा कम होती है। निर्जरा का परिमाण इतना कम होता है कि आने वाला पाप बढ़ जाता है। किसी की कमाई प्रतिदिन एक रुपया हो और खर्च आठ रुपया, तो ऐसा व्यक्ति लाभ में नहीं रह सकता, घाटे में ही रहेगा । वह अपना भार बढ़ा भले ले, पर घटा नहीं सकता। अतएव यह आवश्यक है कि तप, उपवास आदि व्रतों के साथ ही साथ हिंसादि आस्रवों का भी त्याग किया जाय। नूतन पाप के आगमन के द्वार बन्द कर दिये जाएं ।

श्रावक आनन्द की व्रतचर्या से इस विषय पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है । उसने व्रतों को अंगीकार करके पाप का मार्ग छोटा कर दिया था । तीसरे व्रत के पांच दूषणों में से दो की चर्चा पहले की जा चुकी है, जो इस प्रकार हैं –

(१) चोरी की वस्तु खरीदना, और

(२) चोर को सहयोग देना ।

चोर द्वारा चुराई हुई वस्तु लेना अथवा खरीदना प्रथम अतिचार या दोष है। यह प्रत्यक्ष चोरी न होने पर भी अप्रत्यक्ष चोरी है । ऐसा पाप करने से आत्मा हल्की नहीं रहती । यह वस्तु चोरी की है अथवा नहीं, यह निर्णय करना कठिन नहीं है, क्योंकि चोरी की वस्तु प्रायः कम मूल्य में मिलती है । जो चुराई हुई वस्तुओं को खरीदते हैं, उनकी लोक में भी विश्वसनीय स्थिति नहीं रहती; शासन के कानून के अनुसार भी वे दण्डनीय होते हैं । इस प्रकार लौकिक हानि के साथ उनका आत्मिक पतन भी होता है, क्योंकि उनमें आसक्ति एवं कषाय की बहुलता होती है । इसी प्रकार लूट या डकैती का माल भी श्रावक को नहीं लेना चाहिए, क्योंकि अनीति से आया होने के कारण ऐसा द्रव्य शान्तिदायक एवं फलीभूत भी नहीं होता ।

दूसरा दोष है चोर को चोरी करने के लिए प्रेरित करना, परामर्श देना, उपाय बतलाना आदि । मनुष्य यदि शास्त्र के बतलाये मार्ग पर चले तो उसे किसी प्रकार का खतरा नहीं हो सकता । जो चोरी सम्बन्धी सब दोषों से दूर रहता है उसे भय का पात्र नहीं बनना पड़ता । अतः चोर को किसी भी रूप में सहयोग नहीं देना चाहिए ।

तीसरा दोष है योग्य अधिकारी की अनुमति प्राप्त किये बिना देश-प्रदेश के हितार्थ किये गये किसी निषिद्ध क्षेत्र विशेष में प्रवेश करना । ऐसा करने से नागरिक की प्रामाणिकता में बाधा पहुँचती है ।

एक देश-प्रदेश की सीमा दूसरे देश-प्रदेश से मिली होती है । किसी देश-प्रदेश में एक वस्तु का मूल्य अधिक होता है तो दूसरे में उसी का मूल्य अल्प होता है । ऐसी स्थिति में कुछ लोभ अथवा धन-लोलुपतावश अवैध रूप से उस वस्तु को बहुमूल्य वाले देश-प्रदेश में पहुँचाया करते हैं । इस प्रकार का व्यापार आज तस्कर व्यापार कहलाता है । आधुनिक कानून की दृष्टि में भी यह कृत्य चोरी में गिना जाता है । जैन-शास्त्र सदा से ही चौर्य-व्यापार गिनाता आया है । यह 'विरुद्ध राज्यातिक्रम' होने से चोरी है और इससे अचौर्य व्रत दूषित हो जाता है । यों भी वैध अनुमति के बिना किसी राज्य-प्रदेश की सीमा का उल्लंघन करना अतिचार है, क्योंकि वह दूसरे राज्याधिकारियों के लिए शंका का कारण बन जाता है । ऐसा व्यक्ति, जो किसी दूसरे देश का प्रजाजन है, यदि किसी अन्य देश में चला जाय तो उसे गुप्तचर समझ कर गिरफ्तार कर लिया जाता है । हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की सीमा के उल्लंघन से आधुनिक काल में ऐसी सैकड़ों घटनाएं घटित हुईं और हो रही हैं ।

अमेरिका के लिए रूस का और रूस के लिए अमेरिका का गगनमण्डल बिना अनुमति के निषिद्ध क्षेत्र है, अतएव उसमें वायुयानों की उड़ान निषिद्ध है । उसमें भेद लेने की आशंका हो जाती है । यही कारण है कि एक देश के गगनमण्डल में बिना अनुमति प्राप्त किये यदि दूसरे देश का विमान उड़ता है तो उसे मार गिराया जाता है। इस प्रकार स्थलगत, जलगत और गगनगत, तीनों सीमाओं का अतिक्रमण करना व्रतों का दोष है । इसी प्रकार कोई स्वार्थ के वशीभूत होकर यदि देश की सुरक्षा के नियमों का उल्लंघन करता है एवं राजकीय नियमों के विरुद्ध कार्य करता है तो वह भी तीसरे व्रत का अतिचार-दोष है ।

राजकीय विधान के अनुसार कर न देना, सीमा-प्रवेश का टैक्स न चुकाना, बिना टिकिट रेलयात्रा करना आदि भी इस व्रत के अतिचारों में सम्मिलित हैं । यह सब चोरी के ही विविध रूप हैं । ऐसा करने से मनुष्य नैतिक दृष्टि से पतित होता है और जो नैतिक दृष्टि से पतित हो वह धार्मिक दृष्टि से उन्नत कैसे हो सकता है? नैतिकता की भूमिका पर ही धार्मिकता की इमारत खड़ी होती है । अतएव जो नीतिभ्रष्ट है, वह धर्म से भी भ्रष्ट होगा ।

नीतिमान् सद्गृहस्थ इन सब अतिचारों से बचकर रहता है । फिर श्रावक का तो कहना ही क्या ? उसका स्तर बहुत ऊंचा और सम्मानित है । यदि श्रावक

आगम प्रतिपादित मार्ग पर चलता है तो उसके गार्हस्थिक कृत्यों में किसी प्रकार की कठिनाई भी नहीं आती और वह राजकीय दण्ड से भी सदा-सर्वदा बचा रह सकता है। वास्तव में जैन-शास्त्रों में प्रदर्शित श्रावक धर्म किसी भी काल के आदर्श प्रजाजनों का एक सुन्दरतम आदर्श विधान है, जिसमें लौकिक और लोकोत्तर श्रेयस् की असीम सम्भावनाएं निहित हैं । भूलना नहीं चाहिए कि जीवन एक अभिन्न-अविच्छेद्य इकाई है, जिसे धार्मिक और लौकिक अथवा परमार्थिक और व्यावहारिक खंडों में सर्वथा विभक्त नहीं किया जा सकता । ज्ञानी का व्यवहार परमार्थ के प्रतिकूल नहीं होगा और परमार्थ भी व्यवहार का उच्छेदक नहीं है । अतएव साधक को, चाहे वह गृहत्यागी हो, या गृहस्थ हो अपने जीवन को अखंड तत्व मानकर ही इस प्रकार के जीवन के समस्त पहलुओं के उत्कर्ष में तत्पर रहना चाहिए । जैन आचार विधान का यही निचोड़ है ।-

इसका आशय यह नहीं कि प्रजाजनों को निर्वीर्य होकर, राजकीय शासन के प्रत्येक आदेश को नेत्र बन्द करके शिरोधार्य ही कर लेना चाहिए । राज्य शासन की ओर से टिड्डीमार, चूहेमार या मच्छरमार जैसे धर्म विरुद्ध आन्दोलन या आदेश अगर प्रचलित किये जाएं अथवा कोई अनुचित कर-भार लादा जाय तो उसके विरुद्ध सत्याग्रह या असहयोग करना व्रत भंग का कारण नहीं है । शर्त यही है कि शासन को सूचना देकर प्रकट रूप में ऐसा किया जा सकता है । इस प्रकार का राज्य विरुद्ध कृत्य अतिचार में सम्मिलित नहीं होगा क्योंकि वह छिपा कर नहीं किया जाता। इसके अतिरिक्त उसमें चौर्य की भावना नहीं वरन् प्रजा के उचित अधिकार के संरक्षण की भावना होगी । इसी प्रकार अगर कोई शासक अथवा शासन हिंसा, शोषण, अत्याचार, अनीति या अधर्म को बढ़ावा देने वाला हो तो उसके विरुद्ध कार्यवाही करना एक नागरिक के नाते उसका कर्त्तव्य है । इसमें कोई धर्म बाधक नहीं हो सकता । तो यह कार्यवाही भी 'विरुद्ध राज्यातिक्रम' में सम्मिलित नहीं है ।

राज्य की व्यवस्था का जैसा बाह्य रूप है, वैसा ही उसका दायित्व भी सीमित है । साधारण मनुष्य राज्य शासन से लाभालाभ की अपेक्षा रखते हैं । ऋषि-मुनि तो अन्तर के राज्य (मनोराज्य) से अथवा धर्मराज तीर्थंकर के शासन से शासित होते हैं । उनकी साधना निराली होती है । वे धर्म शासन के विधान को मान्य करके चलने वाले एक देश को ही नहीं वरन् समस्त विश्व को प्रभावित करते हैं। इन्द्र-नरेन्द्र भी उनकी साधना एवं साधना प्रसूत अनिर्वचनीय अनाकुलता तथा अद्भुत शान्ति के लिए तरसते हैं । उनकी अद्भुत प्रभावोत्पादक साधना इन्द्रों को भी चकित कर देती है तो मानवों की तो बात ही क्या है ?

महामुनि स्थूलभद्र ने इस सत्य को अपने साधना-जीवन में चरितार्थ कर दिया और बता दिया कि साधना में, यदि वह जीवन का अभिन्न अंग बन जाए और साधक का अन्तरतम उससे प्रभावित हो जाय तो कितनी शक्ति है ? वेश्या के विलास एवं श्रृंगार की सभी सामग्री से सुसज्जित सदन में रहकर आत्मबल के द्वारा उस महामुनि ने वह साधना की कि जिससे न केवल उसने स्वयं का उद्धार कर लिया, वरन् वेश्या का भी उद्धार कर दिया । स्थूलभद्र ने वेश्या से कहा–"भद्रे ! सांसारिक भोगों की आग बड़ी विलक्षण होती है । इस आग में जो अपने जीवन की आहुति देता है, वह एक बार नहीं, अनेक बार–अनन्त बार मौत के विकराल मुख में प्रवेश करता है । अज्ञानी मनुष्य मानता है कि मैं ये भोग भोग कर तृप्ति प्राप्त कर लूंगा मगर उस अभागे को अतृप्ति, असन्तुष्टि, पश्चात्ताप और जन्म-मरण की एक लंबी श्रृंखला के सिवाय अन्य कुछ हाथ नहीं लगता ।"

महामुनि ने रूपकोषा को समझाया–"कोषे ! संसार का यह भोग-विलास प्रधान मार्ग दिखने में तो अति सुन्दर, सुखद एवं लुभावना लगता है, मगर प्रभु उससे दूर होते हैं । अतः यह मार्ग मुझे प्रिय नहीं है । जिस मार्ग से भगवान् के निकट पहुँचा जा सकता है, मुझे वही मार्ग प्रिय है ।"

हिंसा झूठ कुशील कर्म से, प्रभु होते हैं दूर ।
दया सत्य समभाव जहां है, रहते वहीं प्रभु हुजूर ।।

एक कवि ने ठीक ही कहा है–

लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूर ।
जो लघुता धारण करो, प्रभु प्रभुता होत हुजूर ।।

मुनि ने रूपकोषा से पुनः कहा–"जो प्रभुता का अहंकार करता है, अपने को सर्व-समर्थ समझकर दूसरों की अवहेलना करता है उससे प्रभु दूर होते हैं । किन्तु जो महान् होकर भी अपने को लघु समझता है, जो अन्तरंग और बाह्य उपाधियों का परित्याग करके लघु बन जाता है, जो अत्यल्प साधनों से ही अपना जीवन शान्तिपूर्वक यापन करता है, उसे प्रभुता और प्रभु दोनों मिलते हैं । ज्यों-ज्यों जितनी-२ जीवन में लघुता एवं निर्मलता आती जाएगी त्यों-त्यों उतनी ही प्रभु के निकट तू होती जाएगी ।"

मुनि के इस प्रकार के उद्‌गारों ने रूपकोषा के हृदयकोश को स्पर्श किया। अब तक उसने जीवन के एक ही पहलू को देखा था, अब दूसरा पहलू उसके सामने आया । उसके हृदय-परिवर्तन को लक्षित करके मुनि ने पुनः कहा–"अगर परिपूर्ण संयम की साधना तुझसे न हो सकती हो तो कम से कम मर्यादित संयम को अंगीकार करके श्राविका का जीवन अवश्य व्यतीत कर ।"

राजा की आज्ञा में बल होता है दण्ड का और महात्मा के आदेश में बल होता है ज्ञान और करुणाभाव का। निमित्त अनुकूल मिलने से और मुनि के द्वारा विकीर्ण प्रकाश-पुंज से वेश्या का जीवन आलोकिक हो उठा। उसकी सुप्त चेतना जागृत हो गई। क्या वेश्या और क्या कसाई, सभी मूलतः अन्तर में निर्मल ज्योति-स्वरूप होते हैं। सबमें समान चैतन्य धन विद्यमान है। परन्तु आत्मा की वह अन्तर-ज्योति और चेतना दबी हुई एवं बुझी हुई रहती है। पर जब एक प्रकार की रगड़ उसमें उत्पन्न होती है तो वह आत्मा जागृत हो जाती है। मूल स्वभाव को देखा जाय तो कोई भी आत्मा कसाई, वेश्या या लम्पट नहीं होती, वह शुद्ध, बुद्ध और अनन्त आत्मिक गुणों से समृद्ध है, निष्कलंक है। हीरक कण मूल में उज्ज्वल ही होता है फिर भी उस पर धूल जम जाती है, उसमें गन्दगी आ जाती है। इसी प्रकार शुद्ध चिन्मय आत्मा में जो अशुद्धि आ गई है, वह भी बाहरी है, 'पर' संयोग से है, पुद्‌गल के निमित्त से आई हुई है।

कोषा ने अपने जीवन में परिवर्तन कर डालने का निश्चय किया। वह मुनि के चरणों में गिर पड़ी।

मुनि बोले –"अधीर न हो भद्रे ! साधना में अपूर्व क्षमता है। तेरी साधना अतीत की सारी कालिमा धो देगी। आगे कालिमा नहीं लगने देगी। वेश्या, चाण्डाल, चोर, जुआरी और बटमार जैसे सभी पतितों का उद्धार करने वाले पतित पावन भगवान् हैं। मेरु के बराबर पापों की ढ़ेरी भी भगवान् के नामस्मरण से नष्ट हो जाती है।" कवि विनयचंदजी ने कहा है–

वेश्या चुगल छिनाल जुआरी, च्योर महा बटमारो।
जो इत्यादि भजे प्रभु तौंने, तो निवृत्ते संसारो।।
पाप पराल को पुंज बन्यो अति, मानो मेरु अकारो।
ते तुझ नाम हुतासन सेती, सहजां प्रज्वलत सारो।।

–पदम प्रभु ! पावन नाम तिहारो।

जिस वेश्या का जीवन भोग के कीचड़ में फंसा हुआ था, जिसने भोग के सिवाय योग की बात सोची तक नहीं थी, वही अब मुनि की संगति से आत्मोन्मुख हुई और आत्मा के उद्धार के लिए तत्पर हो गई।

आचार्यों ने भी गुणों के दो विभाग किए हैं–

(१) दैवी सम्पत्ति–अहिंसा, अभय, संशुद्धि, सत्य आदि श्रेष्ठ गुण इस कोटि में आते हैं।

(२) आसुरी सम्पत्ति–हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य, ममत्व मूर्छा आदि दुर्गुण, जो आत्मा को अधःपतन की ओर ले जाते हैं, इस कोटि में गिने जाते हैं ।

मुनिराज ने रूपकोषा को आसुरी सम्पत्ति के बदले दैवी सम्पत्ति की स्वामिनी बनाया और श्राविकाधर्म की दीक्षा दे दी । उसके हृदय की आकुलता, वासना, अशान्ति और सन्तप्तता दूर हो गई । त्याग में जो अद्भुत अवर्णनीय आनन्द और तृप्ति है, उसे त्यागी ही अनुभव कर सकता है, वह उसे प्राप्त हो गई । उसका जीवन साधना के पथ पर अग्रसर हुआ ।

रूपकोषा की तरह जो अपने जीवन को आनन्द और शान्तिमय बनाना चाहते हैं, उन्हें वासना के पंकिल पथ का परित्याग करके साधना के राजमार्ग की ओर मुड़ना चाहिए और उसी पर अग्रसर होना चाहिए । दुर्बल मनोवृत्ति को त्याग कर सबल और शुभ मनोवृत्ति को जगाना चाहिए । ऐसा करने से ही परम मंगल का द्वार खुलता है और इहलोक तथा परलोक आनन्दमय बनता है ।

———

[४७]

अस्तेय के अतिचार

ज्ञानियों के अन्तःकरण में संसार के लघु से लघु और बड़े से बड़े जीवों के प्रति करुणा और उनकी मंगलकामना का सागर लहराता रहता है । उनका हृदय माता के हृदय के समान वात्सल्य से परिपूर्ण होता है । ज्ञानी और माता के हृदय के वात्सल्य में यदि अन्तर है तो यही कि माता का वात्सल्य खण्डित होता है—अपनी सन्तति तक ही सीमित रहता है और उसमें ज्ञान अथवा अज्ञान रूप में स्वार्थ की भावना का सम्मिश्रण होता है, किन्तु ज्ञानी के हृदय के वात्सल्य में ये दोनों चीजें नहीं होती । उनका वात्सल्य विश्वव्यापी होता है । वे जगत् के प्रत्येक छोटे-बड़े, परिचित-अपरिचित, उपकारक-अपकारक, विकसित-अविकसित या अर्धविकसित प्राणी पर समान वात्सल्य रखते हैं । उसमें किसी भी प्रकार का स्वार्थ नहीं होता ।

जगत् का प्रत्येक जीव ज्ञानी पुरुष का बन्धु है । जीवन में जब पूर्ण रूप से बन्धुभाव उदित हो जाता है तो संघर्ष जैसी कोई स्थिति नहीं रहती, वैर-विरोध के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता । यही कारण है कि ज्ञानी पुरुष के हृदय रूपी हिमालय से करुणा, वात्सल्य और प्रेम की सहस्र-सहस्र धाराएं प्रवाहित होती रहती हैं और वे प्रत्येक जीवधारी को शीतलता और शान्ति से आप्लावित करती रहती हैं । इससे ज्ञानी का जीवन भी भारी नहीं, हल्का बनता है ।

ज्ञानी अपने लिए जो जीवन-नीति निर्धारित करते हैं, वही प्रत्येक मानव के लिए योग्य और उचित नीति है । प्रत्येक मनुष्य सब के प्रति प्रीति और अहिंसा की भावना रखकर अपनी जीवनयात्रा सरलता व सुगमता से चला सकता है । आघात-प्रत्याघात से ही जीवन चलेगा, ऐसा समझना भ्रम है । सावधानी के साथ चलने वाला सभी प्राणियों के प्रति समबुद्धि रख कर जीवन चला सकता है । समत्वबुद्धि ही भावकरुणा है । किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना, छेदन-भेदन न

करना, यह द्रव्य-दया है। राग-द्वेष उत्पन्न न होना भावदया है। जब अन्तःकरण में राग-द्वेष का उद्‌भव नहीं होता, तब कषाय के विषैले अंकुर नष्ट हो जाते हैं अर्थात् जब हृदय भाव-दया से परिपूर्ण हो जाता है तब द्रव्य-दया का सहज प्रादुर्भाव होता है। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि जीवन को परममंगल की ओर अग्रसर करने के लिए केवल द्रव्यदया पर्याप्त नहीं है, भाव-दया भी चाहिए। भाव-दया के बिना जो द्रव्य-दया होती है, वह प्राणवान् नहीं होती।

राग-द्वेष भावहिंसा है। भावहिंसा करने वाला किसी अन्य का घात करे या न करे, आत्मघात तो करता ही है—उसके आत्मिक गुणों का घात होता ही है और यही सबसे बड़ा आत्मघात है।

साधकों के सामर्थ्य और उनकी विभिन्न परिस्थिति की दृष्टि से धर्म के दो विभाग किये गये हैं—(१) श्रमण धर्म और (२) श्रावक धर्म। श्रमण धर्म के भी अनेक भेद किये गये हैं। पर वह मूल में एक है। साधक आसानी से अपनी साधना चला सके, इस उद्देश्य से चारित्र के पांच भेद कर दिये गये हैं, यद्यपि इन सब का लक्ष्य एक ही है और उनमें कोई मूलभूत पार्थक्य नहीं है। भेद इसलिये हैं कि सभी साधकों का शारीरिक संहनन, मनोबल और संस्कार एक-से नहीं होते, अतएव उनकी साधना का तरीका भी एक नहीं हो सकता। यही कारण है कि चारित्र और तपश्चर्या के अनेक रूप हमारे आगमों में प्रतिपादित किये गये हैं। इनमें से जिस साधक की जैसी शक्ति और रुचि हो, उसी का अवलम्बन करके वह आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर हो सकता है। मगर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य हैं। इनको देशतः स्वीकार किये बिना श्रावकधर्म का और पूर्णरूपेण स्वीकार किये बिना श्रमणधर्म का पालन नहीं हो सकता। ये पांच व्रत चारित्र धर्म रूपी सौध (भवन) के पाये हैं, मूल आधार हैं। आचारात्मक धर्म का प्रारम्भ इन्हीं व्रतों से होता है।

इनमें से अहिंसा और सत्य व्रत के अतिचारों की चर्चा की जा चुकी है। अस्तेय व्रत के भी तीन अतिचारों का निरूपण हो चुका है। यहां शेष दो अतिचारों पर विचार करना है।

(४) हीनाधिक मानोन्मान– वस्तु के आदान-प्रदान में तोलने-नापने की आवश्यकता पड़ती है। अनेक व्यापारी लोभ के वशीभूत होकर तोलने और नापने के साधन हल्के या भारी रखते हैं। देते समय हीन बाटों से तोलते और लेते समय अधिक बाटों से। इस प्रकार का तोल-माप कूट अर्थात् झूठा तोल-माप कहलाता है। यह एक प्रकार की चोरी है। श्रावक को तोलने और मापने में

अनुचित-अनैतिक लाभ लेने की प्रवृत्ति नहीं रखनी चाहिए । तोलने के बाटों का तिलोकचन्द (तीन पाव), शेरसिंह (सेर भर), पचानदास (सवा सेर), किलोचन्द (एक किलोग्राम) आदि नामकरण करके लाभ लेने की प्रवृत्ति अगर कोई व्यापारी रखता है तो वह अपना इहलोक और परलोक बिगाड़ता है ।

तोलने और नापने के साधन सही न रखना राजकीय दृष्टि से भी अपराध है । मापते-तोलते समय उंगली या पांव के अंगूठे से अन्तर करने वाला पापी है। छल या धोखा करके तोल-नाप में घट-बढ़ कर देना पाप की प्रवृत्ति है। जिसने अचौर्य व्रत को अंगीकार किया है, वह इस प्रकार की प्रवृत्ति से सदा दूर ही रहेगा। कपड़ा, भूमि, खाद्य एवं पेय वस्तु आदि गजों, मीटरों एवं किलों आदि से मापे-तोले जाते हैं। इन माप-तोलों में न्यूनाधिकता करना, छल-कपट करना इस व्रत का दूषण है ।

छल-कपट का सेवन करके, नीति की मर्यादा का अतिक्रमण करके और राजकीय विधान का भी उल्लंघन करके धनपति बनने का विचार करना अत्यन्त गर्हित और घृणित विचार है । ऐसा करने वाला कदाचित् थोड़ा-बहुत जड़-धन अधिक संचित कर ले मगर आत्मा का धन लुटा देता है । और आत्मिक दृष्टि से वह दरिद्र बन जाता है । लौकिक जीवन में वह अप्रामाणिक माना जाता है और जिस व्यापारी की प्रामाणिकता (साख) एक बार नष्ट हो जाती है उसे लोग अप्रामाणिक समझ लेते हैं। उसको व्यापारिक क्षेत्र में भी हानि उठानी पड़ती है । आप भली-भांति जानते होंगे कि पैठ अर्थात् प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा व्यापारी की एक बड़ी पूंजी मानी जाती है । जिसकी पैठ नहीं वह व्यापारी दिवालिया कहा जाता है । अतएव व्यापार के क्षेत्र में भी वही सफलता प्राप्त करता है जो नीति और धर्म के नियमों का ठीक तरह से निर्वाह करता है ।

श्रावक धर्म में अप्रामाणिकता और अनैतिकता को कोई स्थान नहीं है । व्यापार केवल धन-संचय का ही उपाय नहीं है । अगर विवेक को तिलांजलि न दे दी जाय और व्यापार के उच्च आदर्शों का अनुसरण किया जाय तो वह समाज की एक बड़ी सेवा का निमित्त भी हो सकता है । प्रजा की आवश्यकताओं की पूर्ति करना अर्थात् जहां जीवनोपयोगी जो वस्तुएं सुलभ नहीं हैं, उन्हें सुलभ कर देना व्यापारी की समाज सेवा है किन्तु वह सेवा तभी सेवा कहलाती है जब व्यापारी अनैतिकता का आश्रय न ले, एकमात्र अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर अनुचित लाभ न उठावे । संक्षेप में कहा जा सकता है कि श्रावक धर्म का अनुसरण करते हुए जो व्यापारी व्यापार करता है, वह समुचित द्रव्योपार्जन करते हुए भी देश और समाज की बहुत बड़ी सेवा कर सकता है ।

(५) तत्प्रति रूपक व्यवहार–अचौर्य व्रत का पांचवां अतिचार तत्प्रतिरूपक व्यवहार है, जिसका अर्थ है–बताना कोई अन्य माल और देना कोई अन्य माल । बढ़िया चीज दिखाना और घटिया चीज देना, असली माल की बानगी दिखा कर नकली दे देना, यह तत्प्रतिरूपक व्यवहार है । इस प्रकार ठगाई करके खराब माल देने वाला अपनी प्रामाणिकता गंवा देता है । माल घटिया हो और उसे घटिया समझ कर ग्राहक खरीदने को तैयार हो तो बात दूसरी है क्योंकि ग्राहक अपनी स्थिति के अनुसार ऐसे माल से भी अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर लेता है। मगर अच्छा माल दिखलाकर और अच्छे का मूल्य लेकर खराब माल देना या खराब माल मिलाकर देना प्रामाणिकता नहीं है ।

श्रावक अपने अन्तरंग और बहिरंग को समान स्थितियों में रखता है । वचन से कुछ कहना और मन में कुछ और रखना एवं क्रिया किसी अन्य प्रकार की करना श्रावक-जीवन से संगत नहीं है । श्रावक भीतर-बाहर में समान होता है । संसार में ऐसे व्यक्ति की ओर कोई अंगुली-निर्देश भी नहीं कर सकता । इस लोक और परलोक में उसकी सद्गति होती है । कहा भी है कि–

समझूं शंके पाप से, अनसमझूं हरषंत ।
वे लूखा वे चीकणा, इण विध कर्म बढंत ।।

समझदार अपना कदम सावधानी से रखता है । वह पाप से उसी प्रकार बचता है जैसे मैले से बचा जाता है । अबोध बालक मैले के ऊपर से हंसते-हंसते निकल जाता है किन्तु विवेकवान् व्यक्ति उससे दूर रहता है । इसी प्रकार समझदार हिंसा, झूठ, चोरी आदि से तथा क्रोध लोभ आदि से बच कर चलेगा । काली मिर्च या पीपल में चूहे का विष्टा मिलाने वाले क्या अपनी आत्मा को धोखा नहीं देते ?

आज भारतवर्ष में मिलावट का बाजार गर्म है । घी में वनस्पति तेल, दूध में पानी, दही में स्याही सोख, आटे में भाटे के चूरे का मिलाना तो सामान्य बात हो गई है । असली दवाओं में भी नकली वस्तुएं मिलाई जाने लगी हैं । बिना मिलावट के शुद्ध रूप में किसी वस्तु का मिलना कठिन हो गया है । इस प्रकार यह देश अप्रामाणिकता और अनैतिकता की ओर बड़े वेग के साथ अग्रसर हो रहा है । विवेकशील दूरदर्शी जनों के लिए यह स्थिति चिन्तनीय है । ऐसे अवसर पर धर्म के प्रति अनुराग रखने वालों को और धर्म की प्रतिष्ठा एवं महिमा को कायम रखने और बढ़ाने की रुचि रखने वालों को आगे आना चाहिए । उन्हें धर्मपूर्वक व्यवहार करके दिखाना चाहिए कि प्रामाणिकता के साथ व्यापार करने वाले कभी घाटा नहीं उठाते। घाटे के भय से अधर्म और अनीति करने वालों को मैं विश्वास दिलाना चाहता हूँ

कि धर्म किसी भी स्थिति में हानिकारक नहीं होता । अतएव भय को त्यागकर, धर्म पर श्रद्धा रख कर प्रामाणिकता को अपनाओ । ऐसा करने से आत्मा कलुषित होने से बचेगी और प्रामाणिकता का सिक्का जम जाने पर अप्रामाणिक व्यापारियों की अपेक्षा व्यापार में भी अधिक लाभ प्राप्त किया जा सकेगा । जिन्हें उत्तम धर्म श्रवण करने का सुअवसर मिला है, उन्हें दूसरों की देखादेखी पाप के पथ पर नहीं चलना चाहिए । उनके हृदय में दुर्बलता, कुशंका और कल्पित भीति (भय) नहीं होनी चाहिए। ऐसा सच्चा धर्मात्मा अपने उदाहरण से सैकड़ों अप्रामाणिकों को प्रामाणिक बना सकता है और धर्म की प्रतिष्ठा में भी चार चांद लगा सकता है ।

अचौर्य व्रत को अंगीकार करने वाले गृहस्थ को न तो मिलावट का धन्धा करना चाहिए और न असली के बदले नकली वस्तु देनी चाहिए । मिलावट करके देना या नकली चीज देना धोखा है । यह अधर्म है । धर्म का प्राण है सरलता और निर्मलता ।

जो इन पांच दोषों से बचेगा वह प्रामाणिक कहलाएगा और कर्मबन्ध से हल्का होकर अपने भविष्य को मंगलमय बनायेगा । इन अतिचारों से बचे रहने से व्रतों की सुन्दर भूमिका तैयार हो जाती है ।

धर्म शिक्षा को जीवन में रमाने के लिए काम-वासना को उपशान्त एवं नियन्त्रित करना, मोह की प्रबलता को दबाना और अमर्यादित लोभ का निग्रह करना आवश्यक है । ऐसा नहीं किया गया तो धर्म के संस्कार जीवन में बद्धमूल नहीं हो सकेंगे । जब आत्मा में सम्यग्ज्ञान की सहस्र-सहस्र किरणें फैलती हैं और उस आलोक से जीवन परिपूर्ण हो जाता है, तब काम, क्रोध और लोभ का सघन अन्धकार टिक ही नहीं सकता ।

उदाहरण रूप में देखिये—

महामुनि स्थूलभद्र की संगति से पाटलिपुत्र की नगर-नायिका अपने जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन कर लेती है । रूपकोषा के द्वार पर पण्डित की पण्डिताई, कुलीन की कुलीनता और साधु की साधना हवा हो जाती थी । उसके विलास-भवन में वासना की धधकती धूनि में संयम, शील, और सदाचार भस्म हो जाते थे । मगर यह नर-वीर अद्भुत योगी था जिसने चार मास तक उसके घर में ही डेरा डाला । काजल की कोठरी में से वह अछूता निकला । यही नहीं, उसने काजल को अपने सान्निध्य से स्वर्ण रूप में परिवर्तित कर दिया । जामन डालने से दूध दही रूप में बदल जाता है । मुनि ने वाणी का ऐसा जामन डाला कि कोषा की भावना रूपी

दूध में परिवर्तन आया और वह दही के रूप में जमने लगी । उसने देशविरति रूप श्राविका धर्म को अंगीकार कर लिया ।

सद्भावना और हित भावना से उच्चरित सुवक्ता की वाणी का यदि प्रभाव नहीं पड़ता तो समझना चाहिए कि श्रोता ही अपात्र है । वह दूध ही खराब है जो जामन डालने पर भी नहीं जमता ।

मगर रूपकोषा वासना के विष में पगी हुई भी अपात्र नहीं थी । बाह्य दृष्टि में जो अधम और पतित से पतित प्रतीत होता है, उसके भीतर भी दिव्यता और भव्यता समाहित हो सकती है । यही कारण है कि ज्ञानी जन उसके प्रति भी घृणा के बदले करुणा का ही भाव रखते हैं और उसकी दिव्यता को जागृत करने का प्रयत्न करते हैं । ऐसा वे न करते तो शास्त्रों में घोरातिघोर कुकर्म करने वाले अर्जुन मालाकार और प्रदेशी राजा के जैसे जीवन चरित्र पढ़ने को हमें कैसे मिलते ?

तो कलंदर की तरह मन-मर्कट को इच्छानुसार नचानेवाली रूपकोषा मुनि की वैराग्य रस-परिपूरित वचनावली सुनकर वीतरागता की उपासिका बन गई । मुनिराज स्थूलभद्र उसके गुरु बन गये । 'गु' शब्द अन्धकार का और 'रु' शब्द उसके विनाश का वाचक है । अभिप्राय यह है कि मनुष्य के अन्तःकरण में व्याप्त सघन अन्धकार को जो विनष्ट कर देता है, जो विवेक का आलोक फैला देता है वह 'गुरु' कहलाता है । जीवन-रथ को कुमार्ग से बचाकर सन्मार्ग पर चलाने के लिए और अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए योग्य गुरु की अनिवार्य आवश्यकता है । रूपकोषा को सुयोग्य गुरु मिल गए और उसका जीवन-रथ विषय-वासना के कीचड़मय एवं ऊबड़-खाबड़ मार्ग से निकल कर साधना के राजमार्ग पर अग्रसर हो चला । उसने वासना के विष को वमन कर दिया और परम-ज्योतिस्वरूप परमात्मा को अपने चिन्तन का लक्ष्य बनाया ।

साधना के साधारणतया दो रूप देखे जाते हैं – (१) सकाम साधना और (२) निष्काम साधना । सकाम साधना लौकिक लाभ के उद्देश्य से की जाती है, उसमें आत्मकल्याण का विचार नहीं होता, अतएव सच्चे अर्थ में वह साधना नहीं कहलाती। सकाम साधना के विकृत अतिविकृत रूप आज हमारे सामने हैं । लोगों ने अपनी-अपनी कामना के अनुकूल साधना की विविध विधियों का आविष्कार कर लिया है और उसी के अनुसार अनेकानेक भिन्न-भिन्न देव-देवियों की सृष्टि कर डाली है । कई देवों और देवियों को तो रक्त-पिपासु के रूप में कल्पित कर लिया गया है । मगर क्या देवी-देवता रक्त से प्रसन्न होंगे ? रक्त की बूंद कपड़े पर पड़ जाती है तो मनुष्य उसे तत्काल धोना चाहता है और जब तक नहीं धो डालता तब तक मन में

अपावनता का अनुभव करता है । जो रक्त इतना अपावन और अशुचि है उसे क्या देवता उदरस्थ करके सन्तुष्ट और प्रसन्न हो सकता है ? मगर जो स्वयं जिह्वालोलुप हैं और खून जिसकी दाढ़ों में लग गया है, वह देवी-देवता के नाम पर पशु की बलि चढ़ाता है और उसका उपदेश करता है । यह सब निम्न श्रेणी की कामना के रूप हैं । तुलसीदासजी ने ठीक ही कहा है–

'जाकी रही भावना जैसी,
प्रभु मूरत देखी तिन तैसी'

अब रूपकोषा का आकर्षण भोगी पुरुषों की ओर न रहकर परमात्मा की ओर हो गया । उसका चित्त भोगों से और भोग-सामग्री से विरक्त हो गया । अनादिकालीन मोह के संस्कारों के कारण आत्मा स्वभाव से विमुख होकर विभाव की ओर प्रेरित होती है । संसार में काम भोग उसे प्रिय लगते हैं और इसी दुर्वृत्ति के कारण लोग वड़े चाव से अपने मकानों की दीवालों पर अश्लील चित्र लगाते हैं । जहां देखो जनता को भड़काने वाले चित्र दृष्टि पथ में आते हैं । इन चित्रों को देखने वाले की मानसिक प्रवृत्ति तो पतनोन्मुख होती ही है, नारी जाति का अपमान भी होता है । विज्ञापनों तथा केलेंडरों के नारी चित्रों की वेशभूषा पूर्ण नग्न नहीं तो अर्द्धनग्न तो रहती ही है । उनके शरीर पर जो वस्त्र दिखाये भी जाते हैं वे अंगों के आच्छादन के लिए नहीं प्रत्युत नारी का कुत्सितता के साथ प्रदर्शन करने के लिए ही होते हैं । आज जनता की सरकार भी इधर कुछ ध्यान नहीं देती । पर आज की अपने अधिकारों को जानने वाली नारियां भी इस अपमान को सहन कर लेती हैं, यह विस्मय की बात है । अगर महिलाएं इस ओर ध्यान दें और संगठित होकर प्रयास करें तो मातृ जाति का इस प्रकार अपमान करने वालों को सही राह पर लाया जा सकता है ।

रूपकोषा ने अपनी चित्रशाला को धर्मशाला के रूप में बदल दिया । विलास की सामग्री हटा कर उसने विराग की सामग्री सजाई । जहां विलास की वैतरणी बहती थी, वहां विराग की महामंदाकिनी प्रवाहित होने लगी । शृंगार का स्थान वैराग्य ने ग्रहण किया ।

वर्षाकाल व्यतीत होने पर महामुनि स्थूलभद्र पाप-पंक में लिप्त आत्मा का उद्धार कर के अपने गुरु के निकट चले गए ।

मुनि ने अपने सद्गुणों की सौरभ से वेश्या के जीवन को सुरभित कर दिया। वेश्या के मन का कण-कण मुनि के प्रति कृतज्ञता से परिपूर्ण हो गया । वह

उनके लोकोत्तर उपकार के भार से दब-सी गई । अब उसके चित्त की चंचलता दूर हो गई । मन पूरी तरह शान्त हो गया ।

अनुकूल निमित्त मिलने पर जीवन बड़ी तेजी के साथ आध्यात्मिकता में बदल जाता है ।

बन्धुओ ! जिस प्रकार भूख खाने से ही मिटती है, भोजन देखने या भोज्य-पदार्थों का नाम सुनने से नहीं, इसी प्रकार धर्म को जीवन में उतारने से जीवन के समग्र व्यवहारों को धर्ममय बनाने से ही वास्तविक शान्ति प्राप्त हो सकती है । जिनका जीवन धर्ममय बन जाता है, वे परम शान्ति और समाधि के अपूर्व आनन्द को प्राप्त करके कृतार्थ हो जाते हैं ।

---

[४८]

ब्रह्मचर्य

यों तो ज्ञान आत्मा का स्वभाव है और आत्मा कितनी ही मलिन और निकृष्ट दशा को क्यों न प्राप्त हो जाय, उसका स्वभाव मूलतः कभी नष्ट नहीं होता। ज्ञानालोक की कतिपय किरणें, चाहे वे धूमिल ही हों, मगर सदैव आत्मा में विद्यमान रहती हैं । निगोद जैसी निकृष्ट स्थिति में भी जीव में चेतना का अंश जागृत रहता है । इस दृष्टि से प्रत्येक आत्मा ज्ञानवान् ही कही जा सकती है, मगर जैसे अत्यल्प धनवान् को धनी नहीं कहा जाता, विपुल धन का स्वामी ही धनी कहलाता है, इसी प्रकार प्रत्येक जीव को ज्ञानी नहीं कह सकते। जिस आत्मा में ज्ञान की विशिष्ट मात्रा जागृत एवं स्फूर्त्त रहती है, वही वास्तव में ज्ञानी कहलाता है ।

ज्ञान की विशिष्ट मात्रा का अर्थ है–विवेकयुक्त ज्ञान होना, 'स्व-पर' का भेद समझने की योग्यता होना और निर्मल ज्ञान होना । जिस ज्ञान में कषायजनित मलीनता न हो वही वास्तव में विशिष्ट ज्ञान या विज्ञान कहलाता है । साधारण जीव जब किसी वस्तु को देखता है तो अपने राग या द्वेष की भावना का रंग उस पर चढ़ा देता है और इस कारण उसे वस्तु का शुद्ध ज्ञान नहीं होता । इसी प्रकार जिस ज्ञान पर राग-द्वेष का रंग चढ़ा रहता है, जो ज्ञान कषाय की मलीनता के कारण मलिन बन जाता है, वह समीचीन ज्ञान नहीं कहा जा सकता । कहा भी है–

"तज्ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणाः ।
तमसः कुतोऽचस्ति शक्तिः, दिनकर किरणाग्रतः स्थातुम् ।।"

जिस ज्ञान के उदय में भी राग, द्वेष मोह, अविवेक आदि दूषण बने रहें, उसे ज्ञान नहीं कहा जा सकता । जैसे सूर्य के उदय होने पर अंधकार नहीं ठहर सकता, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञांन के उत्पन्न होने पर रागादि नहीं रह सकते ।

इस प्रकार का सम्यग्ज्ञान जिन्हें प्राप्त है, उनका दृष्टिकोण सामान्य जनों के दृष्टिकोण से कुछ विलक्षण होता है । साधारण जन जहां बाह्य दृष्टिकोण रखते हैं, ज्ञानियों की दृष्टि आन्तरिक होती है । हानि-लाभ को आंकने और मापने के मापदण्ड भी उनके अलग होते हैं । साधारण लोग वस्तु का मूल्य स्वार्थ की कसौटी पर परखते हैं, ज्ञानी उसे अन्तरंग दृष्टि से अलिप्त भाव से देखते हैं । इसी कारण वे अपने आपको कर्म बन्ध के स्थान पर भी कर्म निर्जरा का अधिकारी बना लेते हैं। अज्ञानी के लिए जो आस्रव का निमित्त है, ज्ञानी के लिए वही निर्जरा का निमित्त बन जाता है। आचारांग में कहा है–

'जे आसवा ते परिसव्वा,
जे परिसव्वा ते आसवा ।'

संसारी प्राणी जहां हानि देखता है, ज्ञानी वहां लाभ अनुभव करता है । इस प्रकार ज्ञान दृष्टि वाले और बाह्य दृष्टि वाले में बहुत अन्तर है । बाह्य दृष्टि वाला भौतिक वस्तुओं में आसक्ति धारण करके मलिनता प्राप्त करता है; जबकि ज्ञानी निखालिस भाव से वस्तुस्वरूप को जानता है, अतएव मलिनता उसे स्पर्श नहीं कर पाती । बहुत बार ज्ञानी और अज्ञानी की बाह्य चेष्टा एक-सी प्रतीत होती है, मगर उनके आन्तरिक परिणामों में आकाश-पाताल जितना अन्तर होता है । ज्ञानी जिस लोकोत्तर कला का अधिकारी है, वह अज्ञानी के भाग्य में कहां !

ज्ञानी पुरुष का पौद्‌गलिक पदार्थों के प्रति मोह नहीं होता, अतएव वह किसी भी पदार्थ को अपना बनाने के लिए विचार ही नहीं करता और जो उसे अपना नहीं बनाना चाहता, वह उसका अपहरण तो कर ही कैसे सकता है । वह सोने और मिट्‌टी को समान दृष्टि से देखता है उसके लिए तृण और मणि समान हैं ।

इस प्रकार जिस साधक की दृष्टि अन्तर्मुखी हो जाती है, उसे पदार्थों का स्वरूप कुछ निराला ही नजर आने लगता है । वह आत्मा और परमात्मा को अपने में ही देखने लगता है । उसे अपने भीतर पारमात्मिक गुणों का अक्षय भण्डार दृष्टिगोचर होता है, जिसकी तुलना में जगत् के बहुमूल्य से बहुमूल्य पदार्थ भी तुच्छ और निस्सार लगते हैं । वह अपनी ही आत्मा में अनिर्वचनीय आनन्द का अपार सागर लहराता हुआ देखता है । उस आनन्द की तुलना में विषय-जनित आनन्द नगण्य और तुच्छ प्रतीत होता है ।

इस प्रकार की अर्न्तदृष्टि प्रत्येक प्राणी में जागृत हो सकती है, मगर उसके जीवन में विद्यमान दोष उसे जागृत नहीं होने देते । अतएव यह आवश्यक है कि उन दोषों को समझने का प्रयत्न किया जाय । इसी दृष्टि से यहां उनका विवेचन

किया जा रहा है। ऐसे मूलभूत दोष पांच हैं जिनमें से तीन हिंसा, असत्य एवं चोरी का सविस्तार वर्णन किया जा चुका है।

स्वदार सन्तोष अथवा स्वपति सन्तोष–जगत् के जीवों में, चाहे वे मनुष्य हों अथवा मनुष्येतर, कामवासना या मैथुनवृत्ति पाई जाती है। मिथुन का अर्थ है जोड़ा (युगल) मिल कर जो कार्य करते हैं, वह मैथुन कहलाता है। तथापि मैथुन शब्द कामवासना की पूर्ति के उद्देश्य से किये जाने वाले कुकृत्य के अर्थ में रूढ हो गया है, अतः इसे कुशील भी कहते हैं। मोह के वशीभूत होकर कामुकवृत्ति को शान्त करने की चेष्टा करना मैथुन है। कामवासना की प्रबलता होने पर मनुष्य विजातीय प्राणियों के साथ भी भ्रष्ट होता है।

मैथुन के अठारह भेद किये गये हैं। मैथुनक्रिया आत्मिक और शारीरिक शक्तियों का विघात करने वाली है। इससे अनेक प्रकार के पापों की परम्परा का जन्म होता है। जिस मनुष्य के मस्तिष्क में काम-सम्बन्धी विचार ही चक्कर काटते रहते हैं, वह पवित्र और उत्कृष्ट विचारों से शून्य हो जाता है। उसका जीवन वासना की आग में ही झुलसता रहता है। व्रत, नियम, जप, तप, ध्यान, स्वाध्याय और संयम आदि शुभ क्रियाएं उससे नहीं हो सकतीं। उसका दिमाग सदैव गन्दे विचारों में उलझा रहता है। पतित भावनाओं के कारण दिव्य भावनाएं पास भी नहीं फटकने पातीं। अतः जो पुरुष साधना के मार्ग पर चलने का अभिलाषी हो उसे अपनी कामवासना को जीतने का सर्वप्रथम प्रयास करना चाहिए।

आज इस विषय में अनेक प्रकार के भ्रम फैले हुए हैं और फैलाये जा रहे हैं। एक भ्रम यह है कि कामवासना अजेय है; लाख प्रयत्न करने पर भी उसे जीता नहीं जा सकता। ऐसा कहने वाले लोगों को संयम-साधना का अनुभव नहीं है। जो विषय-भोग के कीड़े बने हुए हैं, वे ही इस प्रकार की बातें कह कर जनता को अधःपतन की ओर ले जाने का प्रयत्न करते हैं। 'स्वयं नष्टः परान्नाशयति'–जो स्वयं नष्ट है वह दूसरों को भी नष्ट करने की कोशिश करता है। ऐसे लोग स्थूलभद्र जैसे महापुरुषों के आदर्श को नहीं जानते हैं, न जानना ही चाहते हैं। वे अपनी दुर्बलता को छिपाने का जघन्य प्रयास करते हैं। वास्तविकता यह है कि ब्रह्मचर्य आत्मा का स्वभाव है और मैथुन विभाव या पर-भाव है। स्वभाव में प्रवृत्ति करना न अस्वाभाविक है और न असंभव ही। भारतीय संस्कृति के अग्रदूतों ने, चाहे वे किसी धर्म व सम्प्रदाय के अनुयायी रहे हों, ब्रह्मचर्य को साधना का अनिवार्य अंग माना है।

यह सत्य है कि प्रत्येक मनुष्य सहसा पूर्ण ब्रह्मचर्य का परिपालन नहीं कर सकता तथापि सम्पूर्ण त्यागी साधुओं के लिये पूर्ण ब्रह्मचर्य का अनिवार्य विधान है और गृहस्थ के लिए स्थूल मैथुन त्याग का विधान किया गया है । सद्गृहस्थ वही कहलाता है जो पर-स्त्रियों के प्रति माता और भगिनी की भावना रखता है । जो पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श तक नहीं पहुँच सकते, उन्हें भी देशतः ब्रह्मचर्य का तो पालन करना ही चाहिए । परस्त्रीगमन का त्याग करने के साथ-साथ जो स्वपत्नी के साथ भी मर्यादित रहता है, वह विशेष रूप से देशतः ब्रह्मचर्य का पालन करके ओजस्वी और तेजस्वी बनने के साथ संयम का पालन करता है । सद्गृहस्थ को ज्ञानीजन चेतावनी देते हैं कि स्थूल मैथुन का भी त्याग नहीं करोगे तो स्थूल हानि होगी । सूक्ष्म और आन्तरिक हानि का भले ही हर एक को पता न लगे पर स्थूल अब्रह्म के सेवन से जो स्थूल हानियां होती हैं, उन्हें तो सारी दुनिया जानती है । जिसने अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण कर लिया है, जिसका मनोबल प्रवल है और जो अपना इहलोक परलोक सुधारना चाहता है वही ब्रह्मचर्य का पालन करता है । इसके विपरीत दुर्बल हृदय-जन अहिंसा आदि व्रतों का भी पालन नहीं कर सकता । सत्य का निर्वाह भी निर्बल नहीं कर सकता । अहिंसा और सत्य के पालन के लिए मनोबल और धैर्य की आवश्यकता होती है । इन्हें उत्पन्न करने वाला और सुरक्षित रखने वाला ब्रह्मचर्य है ।

जगत् में जितने भी महापुरुष हुए हैं उन सभी ने एक स्वर से ब्रह्मचर्य की महिमा का गान किया है । ब्रह्मचर्य की साधना में अद्भुत प्रभाव निहित है । देवता भी ब्रह्मचारी के चरणों में प्रणाम करके अपने को कृतार्थ मानते हैं जैसा प्रभु महावीर ने भी कहा है–

"देव दाणव गन्धव्वा जक्ख रक्खस किन्नराः ।
बम्भयारिं नमं सन्ति दुक्करं जे करति तं ।।"

ब्रह्मचर्य ऐसी साधना है कि उसकी रक्षा के लिये कतिपय नियमों का पालन करना आवश्यक है। धान्य की रक्षा के लिए जैसे वाड़ की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए भी बाड़ों की आवश्यकता है । शास्त्रों में ब्रह्मचर्य के सहायक एवं रक्षक नियमों की (ऐसी बाड़ों की) संख्या नौ बतलाई गई है ।

जहां स्त्री, हिंजड़ा और पशु निवास करते हों, वहां ब्रह्मचारी पुरुष को नहीं रहना चाहिए । ब्रह्मचारिणी स्त्री के लिए भी यही नियम जाति-परिवर्तन के साथ लागू होता है । इसी प्रकार मात्रा से अधिक भोजन करना, उत्तेजक भोजन करना, कामुकतावर्धक बातें करना, विभूषा-श्रृंगार करना और इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति

धारण करना, इत्यादि ऐसी बातें हैं जिनसे ब्रह्मचारी को सदैव बचते रहना चाहिए। जो इनसे बचता रहता है, उसके ब्रह्मचर्य व्रत को आंच नहीं आती। जिस कारण से भी वासना भड़कती हो, उससे दूर रहना ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक है।

प्रत्येक मनुष्य स्थूलभद्र और विजय सेठ नहीं बन सकता। स्थूलभद्र का कथानक आपने सुना है। विजय सेठ भी एक महान् सत्वशाली गृहस्थ थे, जिनकी ब्रह्मचर्य साधना बड़े-से-बड़े योगी की साधना से समता कर सकती है। विवाह होने से पूर्व ही उन्होंने कृष्णपक्ष में ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा अंगीकार की थी। उनकी पत्नी विजया ने भी विवाह से पूर्व ही एक पक्ष, शुक्लपक्ष, में ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा ली थी। संयोगवश दोनों विवाह के बन्धन में आबद्ध हो गए। दोनों एक साथ रहे फिर भी अपना व्रत अखंडित रख सके। माता को विलगाव मालूम न हो और शुद्धवासना विहीन प्रेम भी बना रहे, ऐसा आदर्श-जीवन उस दम्पत्ति ने व्यतीत किया। वे विशिष्ट साधक थे, किन्तु साधारण साधक के लिए तो यही श्रेयस्कर है कि ब्रह्मचर्य की साधना के लिए वह स्त्री के सान्निध्य में न रहे और एकान्त में वार्तालाप आदि तक न करे।

मुनि स्थूलभद्र की साधना उच्चकोटि की थी। उनका संयम अत्यन्त प्रबल था। एक शिशु को, जिसमें कामवासना का उदय नहीं हुआ है इन्द्राणी भी षोडशवर्षीया सुन्दरी का रूप धारण करके आवे तो उसे नहीं लुभा सकती। स्थूलभद्र ने अपने मन को बालक के मन के समान वासना विहीन बना लिया था। यही कारण है कि प्रलोभन की परिपूर्ण सामग्री विद्यमान होने पर भी रूपकोषा उन्हें नहीं डिगा सकी बल्कि उन्होंने ही रूपकोषा के मन को संयम की ओर मोड़ दिया।

वर्षावास का समय समाप्त हो गया। मुनिराज प्रस्थान करने लगे। रूपकोषा उन्हें विदाई दे रही है। बड़ा ही भावभीना दृश्य है। मनुष्य का मन सदा समान नहीं रहता। सन्त-समागम पाकर बहुतों के मन पर धार्मिकता और आध्यात्मिकता का रंग चढ़ जाता है किन्तु दूसरे प्रकार के वातावरण में आते ही उसके उतरते भी देर नहीं लगती। धर्म-स्थान में आकर और धार्मिकों के समागम में पहुँच कर मनुष्य व्रत और संयम की बात सोचने लगता है किन्तु उससे भिन्न वायुमण्डल में वह बदल जाता है। सामान्यजनों की ऐसी मनोदशा होती है। मुनि स्थूलभद्र मानवीय मन की इस चंचलता से भलीभांति परिचित थे। अतएव उन्होंने प्रस्थान के समय रूपकोषा को सावधान किया—"भद्रे ! तू ने अपने स्वरूप को पा लिया है। अब सदा सतर्क रहना, काम-क्रोध की लहरें तेरे मन-मानस सरोवर में न उठने पावें और उनसे तेरा जीवन मलिन न बन जाय। तेरा परायारूप विकारमय जीवन चला गया है, कुसंगति का निमित्त पाकर तेरे निज रूप पर पुनः कचरा न आ

जाय। पावन जीवन की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि पाप की मलिन वृत्तियों से सदैव अपने को बचाया जाय। देखना, आज तेरे जीवन में जो निर्मलता और भव्यता आई है, वह वासना के विष से विषाक्त न बन जाय। तेरे जीवन में महामंगल का जो द्वार खुल गया है वह बन्द न हो जाय। अन्तःकरण में जो पवित्र प्रकाश उदित हुआ है, वह मोह के काले-काले बादलों से आच्छादित न हो जाय। आत्म-कल्याण की ओर बढ़ाया हुआ कदम पीछे न हट जाए या वहीं का वहीं न रह जाय, इस बात के लिए सदा सावधान रहना। कल्याण के पथ पर प्रतिपल अग्रसर होते जाना ही जीवन को सफल बनाने का उपाय है।"

"जब तक रासायनिक प्रक्रिया के द्वारा स्वर्ण शुद्ध नहीं किया जाता, तब तक वह अशुद्ध रहता है। खान से निकले सोने में वह चमक नहीं होती उस समय उसमें मैल मिला रहता है। कर्म के सघन आवरण से तेरी आत्मा की कान्ति भी फीकी पड़ी हुई थी, अब वह उज्ज्वल हो गई है। वह पुनः फीकी न पड़ जाय, यह ध्यान में रखना। विकास की गति अवरुद्ध न हो जाय, निरन्तर जीवन प्रगति की ओर बढ़ता जाय, यह स्मरण रखना।"

मुनि ने कोषा से फिर कहा–"मंगलमयि ! अतीत को भूल जाना और यह मानना कि यही तेरे जीवन का शुभ प्रभात है। तेरे जीवन की अन्धकारमयी विकराल रात्रि समाप्त हो गई है, अब सुनहरा प्रभात उदित हुआ है। प्रभात का यह पवित्र प्रकाश निरन्तर प्रखर होता रहे, तेरा जीवन पवित्रता की ओर बढ़ता रहे और निर्मल से निर्मलतर बनता जाय, यही मेरी मंगलकामना है। पुण्य के उदय से मिली हुई यह उत्तम सामग्री – मानव-जीवन, परिपूर्ण इन्द्रियां, नीरोगता, सत्समागम, धर्मश्रवण का सुयोग आदि – निरर्थक न हो जाय। यह सामग्री धर्म की आराधना में लगे और आत्मा में निर्मल भाव को जागृत करे तो ही इसकी सार्थकता है।"

मुनि की भावपूर्ण वचनावली श्रवण कर रूपकोषा का हृदय सद्भावना से परिपूर्ण हो गया। उसका अन्तर अधिक साहस एवं सत्संकल्प से भर गया। उसने अतिशय नम्रता और दृढ़ता से कहा – "योगिराज ! मैं अपने को हीरा-कणी के समान बनाये रखूंगी। हीराकणी कीचड़ में भी अपनी कान्ति नहीं छोड़ती। कीचड़ की मलिनता उसमें प्रवेश नहीं कर सकती। मैं गृहस्थी में रहकर भी पाप की कालिमा से बची रहने का प्रयास करूंगी और जिन व्रतों को अंगीकार किया है, उन्हें अखंडित रखूंगी। आप मेरे विषय में निश्चिन्त रहें। आप जैसे योगी का समागम पाकर मैं धन्य हो गई हूँ। आपकी प्रभावपूर्ण वाणी को श्रवण करने से मेरा अज्ञानान्धकार विलीन हो गया है। हृदय में पवित्र ज्योति आलोकित हुई है। विश्वास रखिए

महात्मन् ! वह अब बुझने नहीं पाएगी । प्रभो ! आप करुणा और ज्ञान के सागर हैं। प्रकाश के पुंज हैं । मेरी हार्दिक कामना है कि जैसे आपकी संगति से मुझ अधम का उद्धार हुआ है उसी प्रकार जगत् के अन्य पतित प्राणियों का भी उद्धार हो । आपने जैसे एक जीवन को पवित्र बनाया है, वैसे ही जन-जन के जीवन को पवित्र बनावें । योगिन् ! आप गंगा के निर्मल जल के समान निर्मल हैं । जन-जन के जीवन के लिए वरदान हैं ।"

रूपकोषा के हृदय में मुनि के प्रति अगाध सात्विक अनुराग और पवित्र श्रद्धाभाव है । भौतिक देह के प्रति संयोग-वियोग की भावना नहीं है । वह संकल्प करती है कि मुनि महाराज भले ही चले जाएं परन्तु उनका उपदेश, उनके द्वारा विखेरा हुआ पावन आलोक, मेरे हृदय से नहीं जाएगा । उसे मैं अपने जीवन के उत्थान का मूलमन्त्र बना कर सुरक्षित रखूंगी ।

संसार के जीवों की परिणति बड़ी विचित्र है । सबसे बड़ी विचित्रता तो यही है कि आत्मा स्वयं अनन्त ज्ञान-दर्शन और असीम सुख का निधान होकर भी अपने स्वरूप को भूल कर रंक बना हुआ है । जब वह अपने वास्तविक रूप को समझ कर उसमें रमण करने लगता है तो संसार के उत्तम से उत्तम पदार्थ भी उसे आनन्ददायक प्रतीत नहीं होते । उसे सारा विश्व एक निस्सार नाटक के समान भासित होने लगता है । रूपकोषा की अब यही मनोदशा थी । उसे धर्म-चिन्तामणि पाकर अन्य किसी भी वस्तु की कामना नहीं रह गई थी ।

इस प्रकार रूपकोषा मुनि को विदा देती है और अपने जीवन को विशुद्ध बनाने का आश्वासन देती है। मुनि चातुर्मास समाप्त कर गुरु के निकट लौट रहे हैं।

जैसे महामुनीश्वर स्थूलभद्र विकार, विलास एवं वासना के विषैले वातावरण में भी अपने को विशुद्ध बनाए रख सके, उसी प्रकार हमें भी अपने जीवन को शुद्ध बनाना है । याद रखिए, आपने भी मुनिराजों के मुखारविन्द से महावीर की मंगल-देशना सुनी है । आप भी इसी प्रकार दृढ़-संकल्पी बनें और कैसे भी विरोधी वातावरण में रहकर भी अपनी धर्मभावना में अन्तर न आने दें । आज आपके जीवन में जो धर्मभाव उदित हुआ है व हो रहा है, वह स्थिर रहे और बढ़ता जाय, यही जीवन के अभ्युदय का राजमार्ग है ।

---

[४९]

ब्रह्मचर्य की विशुद्धि

आचारांग सूत्र में जीवों की रक्षा का विचार करते हुए निरूपण किया गया है कि किन-किन प्रयोजनों एवं कारणों से प्रेरित हो कर अज्ञानीजन हिंसा करते हैं और कैसे उससे बचना चाहिए ? हिंसा से बचने और अहिंसा का पालन करने के लिए सर्वप्रथम जीव-अजीव को पहचानने की आवश्यकता है । जीव के स्वरूप को जाने बिना हिंसा से बचना संभव नहीं है । शास्त्र में कहा है कि—

जो जीवे वि न याणेइ अजीवे वि न याणेइ
जीवाजीवे अयाणंतो कहं सो नाहीइ संजमं ।

बहुत-से लोग जीव को अजीव मानकर निःसंकोच हिंसा में प्रवृत्त होते देखे जाते हैं । चलते-फिरते और व्यक्त चेतना वाले जीवों को तो साधारण लौकिक जन भी जीव समझते हैं किन्तु ऐसे भी जीव होते हैं जिनकी चेतना व्यक्त नहीं होती या जिनकी चेतना के कार्य हमारे प्रत्यक्ष नहीं होते । वे स्थावर जीव कहलाते हैं । यद्यपि ज्ञानी के लिए उनकी चेतना भी व्यक्त है, पर चमड़े की आंख वाले के लिए वह व्यक्त नहीं होती । फिर भी यदि गहराई से विचार किया जाय तो उसमें रही हुई चेतना को समझ लेना कठिन नहीं है । अनुमान और आगम प्रमाणों से तो उसे भी समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी ।

सब का स्वानुभव इस सत्य का साक्षी है कि जगत् के छोटे-बड़े सभी जीवों को अपनी-अपनी आयु प्रिय है, जीवन प्रिय है, प्राण प्रिय है । मृत्यु सभी को अप्रिय है । सभी जीव दुःख से उद्विग्न होते हैं और सुख से प्रसन्न होते हैं ।

एक राजनीतिज्ञ और विधान शास्त्री धन, भूमि और वस्त्र आदि के हरण को अपराध मानते हैं तो क्या प्राणहरण अपराध नहीं है । वास्तव में प्राणहरण सबसे बड़ा अपराध है, क्योंकि जीवों को प्राण सब से अधिक प्रिय है। बड़े-से-बड़े साम्राज्य

के बदले में भी, यहां तक कि त्रैलोक्य की प्रभुता के बदले में भी, कोई अपने प्राण देने को तैयार नहीं होता ।

यदि सर्वतोभावेन आत्मस्वरूप की ओर गति करने का लक्ष्य है तथा निज गुणों की रक्षा करनी है तो सभी प्रकार की हिंसा से बचना चाहिए । जैसे मनुष्य की हिंसा को गर्हित समझा जाता है, उसी प्रकार मनुष्येतर प्राण-धारियों की हिंसा को भी त्याज्य समझना चाहिए ।

आज हमारे देश में, राजनीतिक क्षेत्रों में भी अहिंसा की चर्चा होती है । भारतीय शासन भी अहिंसा की दुहाई देता है । मगर समझ में नहीं आता कि वह कैसी अहिंसा है ! जो सरकार मांस, मछली और अंडे खाने का प्रचार करती है, तो कहना चाहिए वह सही रूप में अहिंसा को समझती ही नहीं । राजनीतिज्ञों की अहिंसा संभवतः मानव प्राणी तक ही सीमित है । मानवेतर प्राणी अपनी रक्षा के लिए पुकार नहीं कर सकते, संगठित होकर आन्दोलन नहीं कर सकते, असहयोग और सत्याग्रह करने का सामर्थ्य उनमें नहीं है, वे शासन को हिला नहीं सकते और उनसे किसी को 'वोट' लेने का स्वार्थ नहीं है, क्या इसी कारण वे अहिंसा और करुणा की परिधि से बाहर हैं ? यदि यह सत्य है तो स्वार्थ एवं भय पर आधारित अहिंसा सच्ची अहिंसा नहीं है। वह अहिंसा, धर्म और नीति नहीं है--मात्र पॉलिसी' (छल-कपट है) ।

मगर याद रखना चाहिए कि जब तक प्राणी मात्र के प्रति अहिंसा और करुणा का दृष्टिकोण नहीं अपनाया जाएगा तब तक मानव-मानव के प्रति भी अहिंसा का पालन नहीं कर सकेगा । पशुओं और पक्षियों की हिंसा करने वाले में हिंसा के प्रति झिझक नहीं रहती तो कभी भी वह मनुष्यों की हिंसा भी कर सकता है । राजनीतिक क्षेत्र में अहिंसा सम्बन्धी आन्दोलन की अब तक की असफलता का यही मुख्य कारण है । अधूरी अहिंसा की प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती । हिंसा के संस्कारों को मनुष्य के मस्तिष्क से तभी दूर किया जा सकता है जब मनुष्य और मनुष्येतर सभी प्राणियों की हिंसा को पाप समझा जाय और उसके उन्मूलन के लिए प्रयत्न किया जाय । ऐसा करने के लिए अहिंसा को धर्म समझना होगा – पॉलिसी' समझने से काम नहीं चलेगा ।

जैन मनीषियों ने अहिंसा के सम्बन्ध में तलस्पर्शी और अत्यन्त व्यापक चिन्तन किया है । उन्होंने असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और मूर्च्छा को भी हिंसा का ही

' पालिसी = नीति । यह शाब्दिक अर्थ है । पर जन-प्रचलित अर्थ में यहाँ इसका 'छल-प्रपंच' के अर्थ में प्रयोग किया गया है ।

रूप स्वीकार किया है । राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया लोभ आदि जितनी भी दुर्वृत्तियां हैं, सभी हिंसा के अन्तर्गत हैं । कभी इनसे किसी का घात न भी होता हो तो भी आत्मिक स्वरूप का विघात तो होता ही है और इस अर्थ में यह स्वहिंसा है । ज्ञानीजन इसलिए ऐसी स्वहिंसा से भी बचते हैं ।

उपासकदशांग सूत्र के चालू प्रकरण में मैथुन आदि के विषय में भगवान् महावीर स्वामी आनन्द आदि को सम्बोधित करके बता रहे हैं कि कायिक मैथुन स्थूल मैथुन है । स्थूल मैथुन के त्यागी को पांच बातों से बचना चाहिए । स्वदार-सन्तोष और स्वपति सन्तोष के पांच अतिचार जानने योग्य हैं किन्तु आचरण करने योग्य नहीं हैं । वे इस प्रकार हैं–

(१) इत्वरिका परिग्रहीतागमन–परिग्रहीता (विवाहिता) के साथ गमन करना साधारणतया दोष नहीं माना जाता, लौकिक दृष्टि से अनैतिक कृत्य भी नहीं गिना जाता, किन्तु अल्प अवस्था की पत्नी से गमन करना अतिचार है–ब्रह्मचर्य व्रत सम्बन्धी दोष है, क्योंकि ऐसा करना उसके प्रति अन्याय है ।

रखैल स्त्री के साथ गमन करना भी दूषण है, क्योंकि वह उसकी वास्तविक स्वकीया पत्नी नहीं है । जब तक रखैल स्त्री से कायिक सम्बन्ध न हो तब तक अतिचार समझना चाहिए और कायिक सम्बन्ध होने पर अनाचार हो जाता है, अर्थात् काया से सम्बन्ध करने पर स्वदार सन्तोष व्रत पूरी तरह खण्डित हो जाता है ।

(२) अपरिग्रहीतागमन–अविवाहिता – कुमारी अथवा वेश्या को पराई स्त्री न समझ कर उसके साथ गमन करना भी अतिचार है । वास्तव में वे सब स्त्रियां परकीया ही हैं । जो स्वकीया (विवाहिता) नहीं हैं, उनके साथ संभोग करने से व्रतभंग नहीं होगा, यह धारणा भ्रमपूर्ण है । अतएव स्वकीय पत्नी के अतिरिक्त सभी स्त्रियों को परस्त्री समझना चाहिए ।

(३) अनंग क्रीड़ा–कामभोग के प्राकृतिक अंगों के अतिरिक्त जो अंग हैं वे यहां अनंग कहलाते हैं । उनके द्वारा काम चेष्टा करना ब्रह्मचर्य व्रत का दूषण है । जब कामुकवृत्ति तीव्रता के साथ उत्पन्न होती है तो मनुष्य का विवेक विलुप्त हो जाता है । वह उचित-अनुचित के विचार को तिलांजलि दे देता है और गर्हित से गर्हित कृत्य भी कर डालता है । अतएव इस प्रकार की उत्तेजना के कारणों से सद्गृहस्थ को दूर ही रहना चाहिए ।

श्रावक भी मोक्षमार्ग का पथिक है । वह अपने जीवन का प्रधान ध्येय सिद्धि (मुक्त) प्राप्त करना ही मानता है और तदनुसार 'यथाशक्ति व्यवहार' भी

करता है । फिर भी वह अर्थ और काम की प्रवृत्ति से सर्वथा विमुख नहीं हो पाता, यह सत्य है मगर अर्थ एवं काम संबंधी प्रवृत्ति उसके जीवन में आनुषांगिक (गौण) ही होती है । पथिक अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के लिए अनेक स्टेशनों और पड़ावों से गुजरता है, मार्ग में अनेक दृश्य देखता है । निर्धारित स्थान पर पहुँचने के पूर्व बीच में कितनी ही बातें देखता-सुनता है । इसी प्रकार साधक भी मोक्षमार्ग का पथिक है । वह शब्द-रूप आदि को सुनता-देखता और अनुभव करता है । भूमि, धन आदि से भी उसका काम पड़ता है, परन्तु वह उनमें उलझता नहीं और अपने लक्ष्य-मोक्ष को नहीं भूलता ।

कितने ही कामुक अनंग क्रीड़ा करके अपनी काम-वासना को तृप्त करते हैं। ऐसे लोग समाज में कदाचार को बढ़ाते हैं, अपना सर्वनाश करते हैं और अपने सम्पर्क में आने वालों को भी अधःपतन की ओर ले जाते हैं । सद्गृहस्थ ऐसे कृत्यों से अपने को बचाये रखता है ।

पूर्व काल में, अनेक दृष्टियों से सामाजिक व्यवस्था बहुत उत्तम थी । लोग ब्रह्मचर्य का अभ्यास करने के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे । शिक्षा की व्यवस्था ऐसी थी कि उन्हें ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए अनुकूल वातावरण प्राप्त होता था। जब कारण शुद्ध होता है तो कार्य भी शुद्ध होता है । अगर कारण में ही अशुद्धि हुई तो कार्य स्वतः अशुद्ध हो जाएगा ।

तारुण्य या प्रौढ़ावस्था में यदि सहशिक्षा हो तो वह ब्रह्मचर्य पालन में बाधक होती है । अच्छे संस्कारों वाले बालक-बालिकाएं भले ही अपने को कायिक सम्बन्ध से बचा लें किन्तु मानसिक अपवित्रता से बचना तो बहुत कठिन है । और जब मन में अपवित्रता उत्पन्न हो जाती है तो कायिक अधःपतन होते क्या देर लगती है ? तरुण अवस्था में अनंगक्रीड़ा की स्थिति उत्पन्न होने का खतरा बना रहता है । अतएव माता-पिता आदि का यह परम कर्तव्य है कि वे अपनी सन्तति के जीवन व्यवहार पर बारीक नजर रखें और कुसंगति से बचाने का यत्न करें । उनके लिए ऐसे पवित्र वातावरण का निर्माण करें कि वे गन्दे विचारों से बचे रहें और खराब आदतों से परिचित हो न हो पाएं ।

बालकों को कुसंस्कारों से बचाने और सुसंस्कारी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि बड़े-बूढ़े घर का वातावरण शुद्ध और सात्विक रखने की सावधानी बरतें । जिस घर में धर्म के संस्कार होते हैं, धर्म कृत्य किये जाते हैं, सन्त महात्माओं के जीवन-चरित पढ़े-सुने जाते हैं, सत्साहित्य का पठन-पाठन होता है और धर्मशास्त्रों का स्वाध्याय किया जाता है, जहां हंसी-मजाक में भी गाली-गलौच का या

अशिष्ट शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता और नैतिकता पूर्ण जीवन व्यतीत करने का आग्रह होता है उस घर का वातावरण सात्विक रहता है और उस घर के बालक सुसंस्कारी बनते हैं । अतएव माता-पिता आदि बुजुर्गों का यह उत्तरदायित्व है कि बालकों के जीवन को उच्च, पवित्र और सात्विक बनाने के लिए इतना अवश्य करें और साथ ही यह सावधानी भी रखें कि बालक कुसंगति के चेप से बचा रहे ।

(४) परविवाहकरण–जैसे ब्रह्मचर्य का विघात करना पाप है उसी प्रकार दूसरे के ब्रह्मचर्य पालन में बाधक बनना और मैथुन के पाप में सहायक बनना भी पाप है । अपने आश्रित बालक-बालिकाओं का विवाह करके उन्हें कुमार्ग से बचाना और सीमित ब्रह्मचर्य की ओर जोड़ना तो गृहस्थ की जिम्मेवारी है, मगर धनोपार्जन आदि के उद्देश्य से विवाह सम्बन्ध करवाना श्रावक धर्म की मर्यादा से बाहर है । अतएव यह भी ब्रह्मचर्य-अणुव्रत का अतिचार माना गया है ।

(५) कामभोग की तीव्र अभिलाषा–कामभोग की तीव्र अभिलाषा चित्त में बनी रहती है तो इससे अध्यवसायों में मलिनता पैदा हो जाती है । अतएव प्रत्येक श्रावक का यह कर्तव्य है कि वह काम-वासना की वृद्धि न होने दे, उसमें तीव्रता न आने दे । काम-वासना की उत्तेजना के यों तो अनेक कारण हो सकते हैं और बुद्धिमान व्यक्ति को उन सबसे बचना चाहिए, परन्तु दो कारण उनमें प्रधान माने जा सकते हैं । दुराचारी लोगों की कुसंगति और खानपान सम्बन्धी असंयम । व्रती पुरुष भी कुसंगति में पड़ कर गिर जाता है और अपने व्रत से भ्रष्ट हो जाता है । इसी प्रकार जो लोग आहार के सम्बन्ध में असंयमी होते हैं, उत्तेजक भोजन करते हैं, उनके चित्त में भी काम-भोग की अभिलाषा तीव्र रहती है । *वास्तव में आहार-विहार के साथ ब्रह्मचर्य का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है* । अतएव ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले को इस विषय में सदा जागरुक रहना चाहिए । मांस, मदिरा, अंडा, आदि का उपयोग करना ब्रह्मचर्य को नष्ट करने का कारण है । कामोत्तेजक दवा और तेज मसालों के सेवन से भी उत्तेजना पैदा होती है ।

तीव्र काम–वासना होने से व्रत खण्डित हो जाता है और आत्मा की शक्तियां दब जाती हैं, अतएव पवित्र और उच्च विचारों में रमण करके गन्दे विचारों को रोकना चाहिए ।

ब्रह्मचर्य को व्रत के रूप में अंगीकार करने से भी विचारों की पवित्रता में सहायता मिलती है । मनुष्य के मन की निर्बलता जब उसे नीचे गिराने लगती है तब व्रत की शक्ति ही उसे बचाने में समर्थ होती है । व्रत अंगीकार नहीं करने वाला किसी भी समय गिर सकता है । उसका जीवन बिना पाल की तलाई जैसा है किन्तु

व्रती का जीवन उज्ज्वल होता है । उसमें एक प्रकार की दृढ़ता आ जाती है जिससे अपावन विचार उस पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकते । अतएव किसी पाप या कुकृत्य को न करना ही पर्याप्त नहीं है वरन् न करने का व्रत ले लेना भी आवश्यक है । पूर्व समय के लोगों की तेजस्विता का कारण ब्रह्मचर्य की सुरक्षा ही है । पूर्व समय में वनराज चावड़ा की बड़ी ख्याति थी । उसके पिता बड़े पराक्रमी थे । वनराज चावड़ा के पिता ने, जब वनराज शैशव काल में था, उसकी माता के मुख पर हाथ फेर दिया । माता ने विचार किया—बच्चे ने इस घटना को देख लिया है और उसकी लाज लुट गई है । इससे उसके हृदय को इतना गहरा आघात लगा कि उसने प्राणों का परित्याग कर दिया ।

आपके विचार में यह घटना साधारण-सी हो सकती है और कई लोग वनराज की माता के प्राणोत्सर्ग को कोरी भावुकता कह सकते हैं, मगर उसकी पृष्ठ-भूमि में तो उदात्त संस्कार मौजूद हैं । उस पर विचार करने को मैं प्रेरणा देना चाहता हूँ । उस महिला को अपनी लज्जा एवं मर्यादा की रक्षा करने का कितना ध्यान था ।

एक कवि ने भारतीयों की वर्तमान दशा का चित्रण करते हुए लिखा है—

हम देखते रहते नजर के सामने ललना-परा ।
क्योंकि नहीं हममें रहा, वह वीर्य बल अनुपम अभी ।
हम बन गये निर्वीर्य, कायर भीरु क्षयरोगी सभी ।

आज तो अधिकारियों को आवेदन-पत्र देने की निर्भीकता भी आप में नहीं रही । ऐसे भीरु भला देश, धर्म और दीन-हीन सती की क्या रक्षा कर सकेंगे । सदाचार की रक्षा करने के लिए भारत के प्राचीन वीर पुरुषों ने कुछ भी कसर नहीं छोड़ रखी थी । उसके लिए उन्होंने सर्वस्व निछावर कर दिया, प्राणों तक की आहुति देने में संकोच नहीं किया । भारत माता के बड़े ज्ञानी, दानी मानी और वीर पुत्र हुए हैं । नारियों ने भी ऐसे वीरोचित कार्य किए हैं जो पुरुषों के द्वारा भी होने संभव न थे । हमारे पूर्वज ज्ञान और विवेक की मशाल लेकर चलते थे, इसी कारण ऐसे नर-नारियों का जन्म हुआ । बादशाही सल्तनत के समय आततायी शासक थे, फिर भी उस समय ऐसे वीर पुरुष हुए हैं जो उन्हें राह पर ले आते थे । अकबर ने देश के लोगों की धर्मभावना का आदर किया । वह धर्मान्ध नहीं, धर्मसहिष्णु था । कहते हैं वह सभी धर्म के नेताओं से सम्पर्क रखता था ।

जब व्यक्ति प्रधान राजतन्त्र में भी ऐसी स्थिति थी तब आज तो प्रजातन्त्र है । प्रजा के द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि भारत का शासन चला रहे हैं । फिर भी यदि

शासन हिंसा को बढ़ावा दे तो यह प्रजा की कमजोरी या लापरवाही का ही फल है। अगर प्रजा अपनी भावना पर बल दे तो शासकों के आसन डोले बिना नहीं रह सकते । जनभावना के सामने बड़े से बड़े प्रभावशाली शासक को भी झुकना पड़ता है । जनता की मांग के सामने कोई शासक खड़ा नहीं रह सकता । कई कानूनों, यहां तक कि संविधान में भी परिवर्तन करना पड़ता है ।

राजनीति को वारांगना की उपमा दी गई है । वह साम दाम से काम निकालती है । अनेकों बार अनेक आश्वासन देकर जनता की उग्र भावना को शान्त कर दिया जाता है मगर अन्ततः वे आश्वासन कोरे आश्वासन ही सिद्ध होते हैं । आश्वासन देकर शासन यदि तदनुसार कार्य न करे तो संगठित बल से विरोध किया जाता है और तब शासन को झुकना पड़ता है ।

सारे देश के धर्मप्रिय विचारक अहिंसा के पक्षपाती हैं । वैष्णव समाज, ब्रह्म-समाज, जैन-समाज और बौद्ध-समाज, सभी अहिंसा पर विश्वास रखते हैं । सब के संगठित विरोध के कारण दिल्ली में रोहतक रोड पर बनने वाला कत्लखाना आखिर रुक ही गया ।

मानव पशुओं की हत्या करके उन्हें उदरस्थ कर लेता है इससे बढ़ कर नृशंसता और क्या हो सकती है ? आखिर उन मूक प्राणियों का अपराध क्या है ? क्या उन्हें अपना जीवन-प्रिय नहीं है ? क्या वे अपने प्राणों को मनुष्य की भांति ही प्यार नहीं करते ? जिस धरती पर मनुष्य ने जन्म लिया है, उसी धरती पर उन पशुओं का भी जन्म हुआ है । ऐसी स्थिति में क्या पशुओं का उस पर अधिकार नहीं है? धरती का पट्टा किसने लिख दिया है मनुष्य के नाम ? किसने उन्हें धरती पर जीने के अधिकार से वंचित किया है ? हां मनुष्य सबल है और पशु निर्बल, क्या इसी कारण मनुष्य को यह अधिकार है कि वह पशुओं की हत्या करे ? अगर यही न्याय मान्य कर लिया जाय तो जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली कहावत चरितार्थ होगी । फिर सबल मनुष्य निर्बल मनुष्य का भी अगर खून कर दे तो कोई अन्याय नहीं कह सकेगा मगर यह सभ्यता की निशानी नहीं है । यह बर्बरता का बोलबाला ही कहा जाएगा ।

कई लोग कहते हैं—जब पशु बूढ़ा हो जाय और काम का न रहे तब उसका पालन-पोषण करने से क्या लाभ ? ऐसे लोग क्या अपने बूढ़े मां-बाप को भी कत्ल कर देंगे ? जिन गायों, भैंसों और बैलों से भरपूर सेवा ली, अब जीवन के सन्ध्याकाल में उन्हें कसाई को सौंप देना और उनके गले पर छुरी चलवाना क्या योग्य है ? क्या यही मनुष्य की कृतज्ञता है ? मगर आज यही सब हो रहा है । मनुष्य

अपने को विश्व का एकाधिपति मान कर इतर प्राणियों के जिन्दा रहने के अधिकार को भी स्वीकार करने को तैयार नहीं है ।

दयावान् गृहस्थों का कर्तव्य है कि वे पशु-पक्षी आदि समस्त मनुष्येतर प्राणियों को अपना छोटा भाई समझें और उनके साथ वही व्यवहार करें जो बड़े भाई को छोटे भाई के साथ करना चाहिए । इतना न हो सके तो भी उनके प्रति करुणा का भाव तो रखना ही चाहिए । जब गाय-भैंस जैसे उपयोगी पशु वृद्ध हो जाएं तो उन्हें कसाई के हाथों न वेचें । पशुपालक इन को नहीं बेचेंगे तो कसाईखाने चलेंगे ही कैसे ?

आज आदिवासियों तथा अन्य पिछड़ी जातियों में दया की भावना तथा अन्य सद्भावनाएं उत्पन्न कर दी जाएं तो बड़ा भारी सामाजिक लाभ हो सकता है इससे उनकी आत्मा का जो कल्याण होगा, उसका तो कोई मूल्य ही नहीं आंका जा सकता । आज उनके बीच काम करना जैनियों का सर्वोच्च कर्त्तव्य होना चाहिये । इसकी आज सबसे बड़ी आवश्यकता है ।

पिछड़े एवं असंस्कृत जनों के सुधार के लिए कोरा कानून बना देने से कोई विशेष लाभ नहीं होगा । असली और मूलभूत बात है उनकी मनोभावनाओं में परिवर्तन कर देना । मनोभावना जब एक बार बदल जाएगी तो जीवन में आमूलचूल परिवर्तन स्वतः आ जाएगा फिर उनकी सन्तति परम्परा भी सुधरती चली जाएगी ।

आप जानते हैं कि समाज व्यक्तियों के समूह से बनता है । अतएव व्यक्तियों के सुधार से समाज का सुधार होता है और समाज के सुधार से शासन में सुधार आता है । अगर आप अपने किसी एक पड़ौसी की भावना में परिवर्तन ला देते हैं और उसके जीवन को पवित्रता की ओर प्रेरित करते हैं तो समझ लीजिए कि आपने समाज के एक अंग को सुधार दिया है । प्रत्येक व्यक्ति यदि इसी प्रकार सुधार के कार्य में लग जाय तो समाज का कायापलट होते देर न लगे ।

आज इस देश में जब अनैतिकता, भ्रष्टाचार, घूसखोरी और अप्रामाणिकता आदि दोषों का अत्यधिक फैलाव हो रहा है और मनुष्य की सद्भावनाएं विनष्ट होती जा रही हैं तब इस प्रकार के सुधार की बड़ी आवश्यकता है । आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भ्रष्टाचार प्रवेश कर चुका है । वह निरन्तर बढ़ता गया और उसकी रोकथाम न की गई तो इस देश की क्या दशा होगी, कहना कठिन है । अतएव प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को सर्वप्रथम तो अपने जीवन में प्रविष्ट बुराइयों को साहस के साथ दूर करना चाहिए और फिर अपने पड़ौसियों को सुधारने का प्रयत्न करना

चाहिए । अगर आज आप इस पर ध्यान नहीं देंगे तो कल जाकर घोर पश्चात्ताप करने का समय आ सकता है ।

आप स्थूलभद्र मुनि का आख्यान सुन रहे हैं । एक स्थूलभद्र ने रूपकोषा के जीवन को सुधार दिया । क्या उसके सुधार से अनेकों का सुधार नहीं हुआ होगा? सुधार की परम्परा इसी प्रकार प्रारम्भ होती है ।

आत्मबली महामानव मनुष्यों पर ही नहीं, पशुओं पर भी अपना प्रभाव डालते हैं और उनको भी कल्याण पथ का पथिक बना देते हैं । भारतीय साहित्य में ऐसे उदाहरण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं । स्थूलभद्र का एक साथी मुनि सिंह की गुफा पर चार महीने सिंह के सामने अडोल रहा, यद्यपि सिंह उसे देख कर गुर्राया, उसने उग्ररूप भी धारण किया । इधर साधक ने अपनी शान्त दृष्टि सिंह की ओर डाली और उस दृष्टि में कुछ ऐसा अद्‌भुत प्रभाव था कि सिंह का सारा उग्र भाव शान्त हो गया। एक क्षण पहले गुर्राने वाला सिंह मुनि के चरण चूमने लगा । एक आचार्य ने कहा है –

'अहिंसा–प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर-त्यागः ।

जिसके अन्तःकरण में अहिंसा की प्रबल भावना होती है, जिसका जीवन अहिंसामय बन जाता है, उसका प्रभाव दूसरों पर पड़े बिना रह नहीं सकता । अहिंसा के आगे वैर-विरोध की समस्त शक्तियां परास्त हो जाती हैं । अहिंसक के आसपास का समग्र वातावरण शान्तिमय, करुणामय, सात्विकता से परिपूर्ण और पवित्र बन जाता है । मुनि अहिंसा के प्रतीक थे और उनके अन्तःकरण में प्रेम एवं वात्सल्य का भाव इतना उग्र और गहरा था कि सिंह की सारी हिंसा भावना उसके सामने गल कर पानी-पानी हो गई ।

एक मनुष्य अगर अपने जीवन को सुधार लेता है तो दूसरों पर उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता । आत्म-बल में ऐसी अपूर्व और अनिर्वचनीय शक्ति है ।

[५०]

अममत्व

इस विराट् जीवसृष्टि की ओर दृष्टि डालते हैं तो असंख्य प्रकार के जीव दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार भेद भी किसी एक आधार पर नहीं है। शरीर-संस्थान की दृष्टि से देखें तो भिन्नता है, इन्द्रियों की संख्या की दृष्टि से विचार किया जाय तो भी विषमता प्रतीत होती है। बौद्धिक स्तर भी सबका एक-सा नहीं है।

इसके विपरीत जब आगमों की गहराई में उतरते हैं तो कुछ दूसरा ही तत्व विदित होता है। आगम आत्मा की एकता का प्रतिपादन करता है—'एगे आया' यह शास्त्र का विधान है, जिसका आशय यह है कि चैतन्य-सामान्य की दृष्टि से विभिन्न आत्माओं में एकरूपता है। सभी आत्माएं अपने मूल स्वरूप से एक-सी हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष एक प्रकार का विधान करता है और आप्त प्रणीत आगम दूसरे प्रकार का। इस विरोध का कोई परिहार है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ज़िनागम का कोई भी विधान प्रमाण से बाधित नहीं हो सकता और न परस्पर विरोधी ही हो सकता है। प्रत्येक आत्मा मौलिक रूप में एक समान होते हुए भी उसमें जो विविधता दृष्टिगोचर होती है वह बाह्य निमित्त से है। जल मूल में एक-सा होता है, फ़िर भी अनेक प्रकार की पृथ्वी आदि के संसर्ग से खारा-मीठा, हल्का-भारी, शीत-उष्ण आदि रूप धारण कर लेता है। यही आत्मा की स्थिति है। आत्मा कर्मों की विचित्रता के कारण विविध रूपों में हमें प्रतीत होता है। कर्म यदि सघन और विशिष्ट शक्तिशाली होते हैं तो वे आत्मिक शक्तियों को अधिक आच्छादित करते हैं और यदि हल्के होते हैं तो उतनी सघनता से आच्छादित नहीं करते।

चन्द्रमा के समान निर्मल और सूर्य के समान तेजोमय आत्मा कर्म के आवरण से मलीन हो रहा है। उसकी अनन्त-अनन्त शक्तियां कुंठित हो रही हैं।

उसके भीतर अमित गुणों का जो खजाना भरा पड़ा है, वह उसको पहचानने में भी असमर्थ हो रहा है । आत्मा में अनन्त, असीम, अव्याबाध आनन्द का समुद्र लहरा रहा है, किन्तु उसे आत्मा मूढ़ बनकर पहचानता भी नहीं है । जब पहचानता ही नहीं हो तो कैसे उसमें अवगाहन कर सकता है ? और कैसे उसे प्राप्त करने का प्रयास कर सकता है ? आत्मिक आनन्द से वंचित होने के कारण ही उसे विषय-जनित आनन्द को अनुभव करने की कामना उत्पन्न होती है । वह पौद्गलिक पदार्थों से सुख पाने की इच्छा करता है । मगर सुख पुद्गल का धर्म नहीं है । पुद्गल के निमित्त से अनुभव में आने वाला सुख भी वास्तव में आत्मा का ही है– आत्मा के सुख-गुण का विकार है । कुत्ता हड्डी चूसता है । हड्डी की रगड़ लगने से उसकी दाढ़ों में से रुधिर बहने लगता है, मगर वह भ्रमवश समझता है कि यह रुधिर हड्डी में से प्राप्त हो रहा है । अज्ञानी जीव भी इसी प्रकार के भ्रम में रहता है। वह आत्मा के सुख को पुद्गलों से प्राप्त होने वाला सुख मान कर उनका संग्रह करने की अभिलाषा करता है, मगर अन्ततः पुद्गलों के संयोग से उसे दुःख की ही प्राप्ति होती है और विविध प्रकार की वेदनाओं का अनुभव करना पड़ता है । इसी से भव परम्परा चालू रहती है । यह भ्रम ही सब अनर्थों की जड़ है। वह आत्मिक सम्पत्ति से वंचित होने के कारण ही पुद्गलों के प्रति रति धारण करता है ।

अनेक जीव ऐसे हैं जो आत्मा और आत्मिक सम्पत्ति पर विश्वास ही नहीं करते । उनमें जो सरल हैं, भोले हैं, वे कदाचित् सन्मार्ग पर आ सकते हैं, परन्तु जो आग्रहशील हैं, उन्हे सुमार्ग पर लाना संभव नहीं है । कुछ लोग ऐसे भी हैं जो आत्मा में अनन्त ज्ञान की निधि, आनन्द की सम्पदा और चैतन्य के चमत्कार का वर्णन सुनकर आनन्दविभोर हो जाते हैं, मगर वे उसे प्राप्त करने के लिए कुछ भी नहीं पाते ।

तो जिसे जिनेन्द्र प्ररूपित तत्व का बोध प्राप्त है, उसको ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि जिससे आत्मा की ज्ञान-सुख स्वरूप शक्तियां सर्वथा प्रकट हो जाएं, जागृत हो जाएं और आत्मा में तेज प्रस्फुटित हो जाए । साधना के द्वारा कर्म के आवरण को दूर करना चाहिए। आवरण हटते ही आत्मा का नैसर्गिक तेज उसी प्रकार प्रकट हो जाता है जैसे मेघों के हटने पर सूर्य अपने स्वाभाविक रूप में प्रकट हो जाता है ।

सूर्य कितनी ही सघन मेघमाला से मण्डित क्यों न हो, उसकी किरणों की सहज उज्ज्वलता में अन्तर नहीं पड़ता । मेघों के आवरण से ऐसा मलूम पड़ता है कि सूर्य की किरणों की तेजस्विता कम हो गई है, किन्तु यह भ्रम है। इसी प्रकार

आत्मा में कोटि-कोटि सूर्यों से भी अधिक जो तेज है, वह कम नहीं हो सकता, सिर्फ आवृत होता है। सहज रूप से निर्मल आत्मा में कोई धब्बा नहीं लगता। फिर भी बाह्य आवरण को चीर कर अन्तरतर को न देख सकने के कारण हम ऐसा अनुभव करते हैं कि आत्मा में मलीनता है। वास्तव में यह हमारा भ्रम है, अज्ञान है।

पुद्गल एवं पौद्गलिक पदार्थों की ओर जितनी अधिक आसक्ति एवं रति होगी, उतना ही आन्तरिक शक्ति का भान कम होगा।

पाप आचरण के मुख्य दो कारण हैं। कुछ पाप परिग्रह के लिए और कुछ आरम्भ के लिए किये जाते हैं। कुछ पापों में परिग्रह प्रेरक बनता है। परिग्रह आरम्भ का वर्द्धक है। अगर परिग्रह अल्प है और उसके प्रति आसक्ति अल्प है तो उसके लिए आरम्भ भी अल्प होगा। इसके विपरीत यदि परिग्रह बढ़ा और अमर्याद हो गया तो आरम्भ को भी बढ़ा देगा–वह आरम्भ महारम्भ होगा।

आन्तरिक दृष्टि से अल्पारंभ और महारंभ तथा अल्पपाप और महापाप और ही ढंग से माना गया है। बाह्य दृष्टि से तो ऐसा लगता है कि बड़े कुटुम्ब वाले का आरम्भ महारम्भ है, ग्रामपति का आरम्भ और भी बड़ा है तथा चक्रवर्ती राजा के महारम्भ का तो पूछना ही क्या! किन्तु एकान्ततः ऐसा समझना समीचीन नहीं है। जहां सम्यक् दृष्टि है, कषाय की तीव्रता नहीं है, मूर्च्छा-ममता में गहराई नहीं है, आसक्ति कम है वहां बाह्य पदार्थों की प्रचुरता में भी महापरिग्रह नहीं होता।

व्यावहारिक दृष्टि से आनन्द के यहां महारम्भ था। उसका बड़ा कारोबार था, किन्तु बाहर का रूप बढ़ा-चढ़ा होने पर भी जहां दृष्टि में सम्यक्त्व और विरतिभाव आ जाता है, वहां आरम्भ का दोष बढ़ा-चढ़ा नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जीव में दर्शनमोहनीय का उदय न होने से तथा चरित्रमोहनीय की भी तीव्रतम शक्ति (अनन्तानुबन्धी कषाय) का उदय न रहने से मूर्च्छा-ममता में उतनी सघनता नहीं होती जितनी मिथ्यादृष्टि में होती है। जहां सुदृष्टि आ जाती है वहां आरम्भ विषयक दृष्टि भी सम्यक् हो जाती है। ज्हां सुदृष्टि नहीं होती वहां अन्धाधुन्ध आरम्भ होता है।

गृहस्थ के लिये आरम्भ के साथ परिग्रह का परिमाण करना भी आवश्यक माना गया है, हिंसा, असत्य, चोरी और कुशील का घटना तब संभव होता है जब परिग्रह पर नियन्त्रण रहे। जब तक परिग्रह पर नियन्त्रण नहीं किया जाता और उसकी कोई सीमा निर्धारित नहीं की जाती तब तक हिंसा आदि पापों का घटना प्रायः असंभव है।

सर्वथा परिग्रह विरमण (त्याग) और परिग्रह परिमाण, ये इस व्रत के दो रूप हैं। परिग्रह परिमाण व्रत का दूसरा नाम इच्छा परिमाण है। कामना अधिक होगी

तो प्राणातिपात और असत्य भी बढ़ेगा । सब अनर्थों का मूल कामना-लालसा है । कामना ही समस्त दुःखों को उत्पन्न करती है । भगवान् ने कहा है–'कामे कमा ही कमियं खु दुक्खं ।' यह छोटा-सा सूत्र वाक्य दुःख के विनाश का अमोघ उपाय हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है । जो कामनाओं को त्याग देता है वह समस्त दुःखों से छुटकारा पा लेता है ।

साधारण मनुष्य कामनापूर्ति में ही संलग्न रहता है और उसी में अपने जीवन को खपा देता है । विविध प्रकार की कामनाएं मानव के मस्तिष्क में उत्पन्न होती हैं और वे उसे नाना प्रकार से नचाती हैं । इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि कामना का कहीं ओर-छोर नहीं दिखाई देता । प्रारम्भ में एक कामना उत्पन्न होती है । उसकी पूर्ति के लिए मनुष्य प्रयत्न करता है । वह पूरी भी नहीं होने पाती कि अन्य अनेक कामनाएं उत्पन्न हो जाती हैं । इस प्रकार ज्यों-ज्यों कामनाओं को पूर्ण करने का प्रयास किया जाता है त्यों-त्यों उसकी वृद्धि होती जाती है और तृप्ति कहीं हो ही नहीं पाती, आगम में कहा है–

'इच्छा हु आगास समा अणंतिया।'

जैसे आकाश का कहीं अन्त नहीं वैसे ही इच्छाओं का भी कहीं अन्त नहीं। जहां एक इच्छा की पूर्ति में से ही सहस्रों नवीन इच्छाओं का जन्म हो जाता हो वहां उनका अन्त किस प्रकार आ सकता है ? अपनी परछाईं को पकड़ने का प्रयास जैसे सफल नहीं हो सकता, उसी प्रकार कामनाओं की पूर्ति करना भी सम्भव नहीं हो सकता । उससे बढ़ कर अभागा और कौन है जो प्राप्त सुख-सामग्री का सन्तोष के साथ उपभोग न करके तृष्णा के वशीभूत होकर हाय-हाय करता रहता है, आकुल-व्याकुल रहता है, धन के पीछे रात-दिन भटकता रहता है, जिसने धन के लिए अपना मूल्यवान मानव-जीवन अर्पित कर दिया वह मनुष्य होकर भी मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं है ।

पारलौकिक श्रेयस् और सुख की बात जाने भी दी जाय और सिर्फ वर्तमान जीवन की सुख-शान्ति की दृष्टि से ही विचार किया जाय तो भी इच्छाओं को नियन्त्रित करना अनिवार्य प्रतीत होगा । जब तक मनुष्य इच्छाओं को सीमित नहीं कर लेता तब तक वह शान्ति नहीं पा सकता और जब तक चित्त में शान्ति नहीं तब तक सुख की संभावना ही कैसे की जा सकती है ?

यही कारण है कि इच्छा परिमाण श्रावक के मूलव्रतों में परिगणित किया गया है । इच्छा का परिमाण नहीं किया जाएगा और कामना बढ़ती रहेगी तो प्राणातिपात और झूठ बढ़ेगा। अदत्त ग्रहण में भी प्रवृत्ति होगी । कुशील को बढ़ाने में भी

परिग्रह कारणभूत होगा । इस प्रकार असीमित इच्छा सभी पापों और अनेक अनर्थों का कारण है ।

जो पदार्थ यथार्थ में आत्मा का नहीं है, आत्मा से भिन्न है, उसे आत्मीय भाव से स्वीकार करना परिग्रह है । परिग्रह के मुख्य भेद दो हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। रुपया-पैसा, महल-मकान आदि बाह्य परिग्रह हैं और क्रोध, मान, माया लोभ, राग, द्वेष, मोह आदि विकार भाव आभ्यन्तर परिग्रह कहलाते हैं ।

श्रावक आनन्द ने इच्छा परिमाण व्रत अंगीकार किया और अन्यान्य पापों को भी घटा लिया । इच्छापरिमाण करने से आन्तरिक परिग्रह भी घट जाता है । बाह्य परिग्रह का तो कुछ नाप-तोल भी हो सकता है, जैसे जमीन और धन का प्रमाण किया जा सकता है किन्तु आन्तरिक परिग्रह का, जो बाह्य परिग्रह की अपेक्षा भी आत्मा का अधिक अहित करने वाला है और आत्मा को अधोगति में ले जाने वाला है, कोई नाप-तोल नहीं हो सकता । उसकी सीमा श्रावक के लिए यही है कि वह प्रत्याख्यान कषाय के रूप में रहेगा । गृहस्थ साधक का कर्तव्य है कि कदाचित् किसी के साथ वैर-विरोध उत्पन्न हो जाय तो उसे चार मास के भीतर-भीतर शमन कर ले । अगर चार मास से अधिक समय तक कोई कषाय विद्यमान रहता है तो वह अप्रत्याख्यान कषाय की कोटि में चला जाता है और अप्रत्याख्यान कषाय के सद्भाव में श्रावक के व्रत (देशविरति) ठहर नहीं सकते । अतएव जो श्रावक अपने व्रतों की रक्षा करना चाहता है, उसे चार महीने से अधिक काल तक कषाय नहीं रहने देना चाहिए ।

बाह्य परिग्रह में जमीन, खेत, मकान, चांदी-सोना, गाय, भैंस, घोड़ा, मोटर आदि समस्त पदार्थों का परिमाण करना चाहिए । परिमाण कर लेने से तृष्णा कम हो जाती है और व्याकुलता मिट जाती है । जीवन में हल्कापन आ जाता है और एक प्रकार की तृप्ति का अनुभव होने लगता है । आखिर शान्ति तो सन्तोष से ही प्राप्त हो सकती है । सन्तोष हृदय में नहीं जागा तो सारे विश्व की भूमि, सम्पत्ति और अन्य सुख-सामग्री के मिल जाने पर भी मनुष्य शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता । मन की भूख मिटाने का एकमात्र उपाय सन्तोष है, इच्छा को नियन्त्रित कर लेना है । पेट की भूख तो पाव दो पाव आटे से मिट जाती है मगर मन की भूख तीन लोक के राज्य से भी नहीं मिटती ।

कहा भी है –

गोधन, गजधन, रत्नधन, कंचन खान सुखान ।
जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूल समान ।

धनवान मनुष्य भी अधिक धन की लालसा से प्रेरित होकर बड़े-बड़े आरम्भ करता है । भयानक से भयानक दुष्कर्मों को लालच करवाता है । और जिस धन के लिए मनुष्य इस लोक मे सुखों का परित्याग करता है और परलोक को बिगाड़ता है, वह धन उसके क्या काम आता है ? इष्टजन का वियोग क्या धन से टल सकता है ? रोग आने पर क्या धन काम आता है ? जब विकराल मृत्यु अपना मुख फाड़ कर सामने आती है तो धन देकर उसे लौटाया जा सकता है ? सोने-चांदी और हीरों से भरी तिजोरियां क्या मौत को टाल सकती हैं ? आखिर संचित किया हुआ धन का अक्षय कोष किस बीमारी की दवा है ? चाहे गरीब हो या अमीर, खाएगा तो खाद्य-पदार्थ ही, हीरा-मोती तो खा नहीं सकता । फिर अनावश्यक धनराशि एकत्र करने से क्या लाभ है ? मानव-जीवन जैसी अनमोल निधि को धन के लिए विनष्ट कर देने वाले क्यों नहीं सोचते कि धन उपार्जन करते समय कष्ट होता है, उपार्जित हो जाने के पश्चात् उसके संरक्षण की प्रति क्षण चिन्ता करनी पड़ती है और संरक्षण का प्रयत्न असफल होने पर जब वह चला जाता है, तब दुःख और शोक का पार नहीं रहता । इस प्रकार प्रत्येक परिस्थिति में धन, दुःख, चिन्ता, शोक और किसी संस्कृत कवि ने ठीक ही कहा है–

अर्थानामर्जने दुःखं, अर्जितानाञ्च रक्षणे ।
आये दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थं शोक भाजनम् ।।

अर्थ सन्ताप ही देता है । वास्तव में धन जीवन के लिए वरदान नहीं, अभिशाप है। एक अकिंचन निस्पृह योगी को जो अद्भुत आनन्द प्राप्त होता है वह कुबेर की सम्पदा पालने वाले धनाढ्य को नसीब नहीं हो सकता ।

कहा जा सकता है कि धन भले ही शान्ति प्रदान न कर सकता हो तथापि गृहस्थ के लिए वह अनिवार्य तो है ही । गृहस्थी का काम धन के विना नहीं चल सकता । इस कथन में सच्चाई मानी जा सकती है, मगर आवश्यकता से अधिक धन के संचय का औचित्य तो इस तर्क से भी नहीं होता । अमर्यादित धन-संचय की वृत्ति के पीछे गृहस्थी की आवश्यकता नहीं किन्तु लोलुपता और धनवान् कहलाने की अहंकार-वृत्ति ही प्रधान होती है ।

मनुष्य की वास्तविक आवश्यकताएं बहुत कम होती हैं, किन्तु वह उन्हें स्वेच्छा से बढ़ा लेता है । आज तो मानव व्यक्ति ही नहीं, देश भी आवश्यकताओं के शिकार हो गए हैं। विदेशों में क्या भेजें और कैसे विदेशी मुद्रा प्राप्त करें, यह देश के नेताओं की चिन्ता है । जब उन्हें अन्य पदार्थ भेजने योग्य नहीं दीखते, तो उनकी नजर पशु-धन की ओर जाती है। बढ़िया किस्म के वस्त्रों, खिलौनों और

मशीनों की पूर्ति के लिए धन कहां से दिया जाय ? इसका एक रास्ता पशु-धन है। एक समय भारतवासी सादा जीवन व्यतीत करते थे पर विदेशों का ऋण नहीं था मगर आज विचित्र स्थिति बन गई है। नन्हें-नन्हें बच्चों को दूध न मिले और गोमांस विदेशों में भेजा जाय। यह सब आवश्यकताओं को सीमित न रखने का फल है।

प्राचीन काल में कहावत थी – 'यथा राजा तथा प्रजा।' अब प्रजातन्त्र के युग में यह कहावत बदल गई है और 'यथा प्रजा तथा राजा' के रूप में हो गई है। ऐसी स्थिति में प्रजा को जागृत होना चाहिए। अगर प्रजा जागृत रहेगी तो शासक वर्ग को भी जागृत रहना पड़ेगा। प्रजा में अपनी संस्कृति के रक्षण की भावना बलवती होगी तो वह ऐसी सरकार ही नहीं बनने देगी जो भारतीय-संस्कृति और सभ्यता की जड़ें उखाड़े और भारत की धार्मिक विशेषता का हनन करे। आज सरकार की ओर से हिंसा को बढ़ावा दिया जा रहा है, यह धर्मप्रिय जनता को विशेष रूप से सोचने योग्य और प्रतिकार करने योग्य मुद्दा है। प्रत्येक अहिंसा प्रेमी व्यक्ति को, फिर वह किसी भी धर्म का अनुयायी क्यों न हो, संगठित होकर निश्चय करना पड़ेगा कि हम देश की संस्कृति के विरुद्ध कोई कार्य नहीं होने देंगे।

बन्धुओ ! करोड़ों निरपराध और मूक प्राणियों के प्राण बचाने का प्रश्न है और इसमें व्यक्तिगत स्वार्थ किसी का नहीं है। अतएव इस क्षेत्र में काम करने वाले कम मिलते हैं। किन्तु मैं विश्वासपूर्वक कहना चाहता हूँ कि इस कार्य से आपको मानसिक शान्ति और सन्तोष प्राप्त होगा। अगर आप चाहते हैं कि देश में हिंसा न बढ़े तो प्रत्येक को अपनी आवश्यकताओं को सीमित करना होगा। महाहिंसा से बनी वस्तुओं का उपयोग त्यागना पड़ेगा। वृद्ध और असमर्थ जानवरों का बेचना बन्द करना होगा और गोशाला जैसे संस्थानों में उन्हें रखने की व्यवस्था करनी होगी। गोशाला की आय के लिए दुधारू पशु ही रखे जायं, यह भावना गलत है। आय के लिए दूसरे उपाय सोचे जा सकते हैं परन्तु असमर्थ पशुओं का विक्रय बन्द कर उनका रक्षण तो गोशालाओं का मुख्य लक्ष्य है। इसको नहीं भूलना चाहिए। घर-धनी (स्वामी) अगर अपने जानवरों का पालन-पोषण न कर सके तो संस्थाएं उनकी रक्षा की व्यवस्था करें जिससे वे कत्लखाने में न जा सकें। पशु कत्लखाने में न जाएं, इस प्रकार की सावधानी रखी जाए, तभी हिंसा रोकी जा सकती है।

अगर व्यक्ति तन-धन सम्बन्धी ममता को मोड़ ले तो व्यवहार और परमार्थ का कोई कार्य होना अशक्य नहीं है। ममता हटा लेने या कम करने से पाप रुक सकता है। साधक तन, मन और धन से ममता हटा ले तो उनसे आदर्श कार्य की सिद्धि हो, इसमें शंका ही क्या है ?

मन की ममता हटाने से ही स्थूलभद्र वेश्या की दुर्वृत्ति पर विजयी हो सके और सिंह की गुफा पर रहने वाले साधक ने तन की ममता को मार कर सिंह से विजय प्राप्त की।

मुनि-दीक्षा अंगीकार करने वाला साधक जब अपने को गुरु के श्रीचरणों में अर्पित करता है तब द्रव्य परिग्रह (धन) का त्याग तो कर ही देता है , भाव-परिग्रह के त्याग की परीक्षा भी समय-समय पर होती रहती है । एक मुनि नाग की बांबी पर ध्यान में लीन हो गए। मुनि ध्यानावस्था में एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जाता, वाणी का उच्चारण नहीं करता और चित्त की चंचलता को भी त्याग देता है । इस प्रकार तीनों गुप्तियों से गुप्त मुनि को देख कर नाग का रोष सीमातीत हो गया । उसने विचार किया कौन है यह अभागा जो अपने प्राण देने के लिए मेरी बांबी पर आया है ! मौत किसे पकड़ कर आज यहां ले आई है ? ऐसा सोचकर उसने फुंकार की, मगर मुनि ज्यों के त्यों स्थिर बने रहे । नाग और निकट आया । इस बार उसने अपना मुँह मारा, फिर भी मुनि अडोल अकम्प ! न उनका शरीर चलायमान हुआ और न मन विचलित हुआ । सर्प विस्मय में पड़ गया । फिर सर-सर करके वह मुनि के गले में लिपट गया । विषविहीन-सा हो गया । जैसे गारुड़ी लोग सर्प को वश में कर लेते हैं, वैसी ही स्थिति इस सर्प की हो गई ।

जैसे समुद्र में विस्फोट होने से बम का विष विलीन हो जाता है । वैसे सर्प का विष मुनिराज के समता-सागर में विलीन हो गया । वह एक अनोखी स्थिति का अनुभव करने लगा ।

मुनि की मनोदशा का विचार कीजिए । यह तो निश्चित है कि उनके मन में नाग के प्रति तनिक भी द्वेष उत्पन्न नहीं हुआ । ऐसा होता तो नाग की हिंसक-वृत्ति को ईंधन मिल जाती और उसे डंक मार कर विषवमन करने का अवसर मिल जाता ।

तो क्या मुनि के मन में भय का संचार हुआ ? किन्तु भय भी हृदय की दुर्बलता है और हिंसा का ही एक रूप है । भय उत्पन्न होने पर मनुष्य निश्चल, मौन और शान्त नहीं रह सकता । अतएव यह मानना स्वाभाविक है कि उनके मन में भय की भावना का भी अविर्भाव नहीं हुआ । और फिर मुनि के लिए भय का कारण ही क्या था ? जो आत्मा को अजर, अमर, अदिनाशी, सत्‌चित्त-आनन्दमय मानता है और समझता है कि संसार का तीक्ष्ण से तीक्ष्ण शस्त्र भी आत्मा के एक प्रदेश को भी उससे अलग नहीं कर सकता, उसे भय क्यों उत्पन्न होगा ? अमूर्तिक आत्मा पर शस्त्र की पहुँच नहीं हो सकती । कहा भी है–

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः ।"

शस्त्र आत्मा का छेदन नहीं कर सकते, आग उसे जला नहीं सकती । कोई भी भौतिक पदार्थ आत्मा का कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता । जो वहिरात्मा हैं, शरीर को अपना समझते हैं, वे ही विष और शस्त्र से भयभीत होते हैं । जिन्होंने आत्मा के शुद्ध स्वरूप को पहचान लिया है, जो पौद्‌गलिक देह से आत्मा को परे मानते हैं, उन्हें शरीर का विनाश होने पर भी भय नहीं होता ।

सांप की बांबी पर ध्यान जमाने वाले योगी ऐसे ही थे । वे शरीर में स्थित होने पर भी अपने आपको शरीर से भिन्न समझते थे । अतएव सर्प से उन्हें कोई भय नहीं था । आत्मज्ञान वास्तव में अनन्त शक्ति का स्रोत है, केवल पर्दा हटाने की आवश्यकता है । अगर हम इस पर्दे को हटा सकें तो अनन्त आनन्द हमारे अन्दर ही किलकारियां मारने लगेगा ।

[५१]

शुभ-अशुभ

भगवान् महावीर ने साधक की विविध स्थितियाँ बतला कर उसे ध्यान दिलाया कि संसार में विविध प्रकार के कर्म दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु वे सब मुख्य रूप से दो भेदों के अन्तर्गत हो जाते हैं (१) शुभ या पुण्य कर्म और (२) अशुभ या पाप कर्म।

पुण्य कर्म और पाप कर्म का भेद यद्यपि उनके विपाक की विविधता के आधार पर किया गया है, किन्तु सूक्ष्मता में उतरें तो प्रतीत होगा कि यह दोनों प्रकार भी कोई मौलिक नहीं है । इन दोनों का मूल कार्मणवर्गणा है जो पुद्गल की एक जाति है । कार्माणजातीय पुद्गल अत्यन्त सूक्ष्म और समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं। जीव के मनोयोग, वचनयोग और काययोग की प्रवृत्ति या तो शुभ होती है या अशुभ। दोनों प्रकार की प्रवृत्ति से कर्मों का बन्ध होता है । शुभ योग की प्रवृत्ति से शुभ कर्मों का बन्ध होता और उसे पुण्यबन्ध कहते हैं । तथा अशुभ योग की प्रवृत्ति से अशुभ कर्मों का बन्ध होता है, जिसे पापबन्ध कहते हैं । पुण्यकर्म का फल जीव को इष्ट रूप में प्राप्त होता है और पापकर्म का फल अनिष्ट रूप में मिलता है, संसार में जितने भी इष्ट संयोग हैं, मनोरम फल हैं, अभीष्ट पदार्थों की प्राप्ति होती है, वह सब पुण्य का परिणाम है और जितने भी अनिष्ट, अमनोज्ञ और अकाम्य फल हैं, वे सब पाप के परिपाक हैं । साधारणतया सामान्य संसारी जीव पुण्य को उपादेय और पाप को हेय समझते हैं और व्यावहारिक दृष्टि से यह ठीक भी है, किन्तु निश्चय दृष्टि से पुण्य और पाप दोनों ही उपादेय नहीं है । शुद्ध अध्यात्म दृष्टि से दोनों प्रकार के कर्मों का अन्त होने पर ही सिद्धि, मुक्ति या शुद्ध स्वरूपोपलब्धि होती है । सिद्धि की प्राप्ति में दोनों प्रकार के कर्म बाधक हैं । मगर इस विषय की विशेष विचारणा यहां नहीं करनी है । आज तो पुण्य और पाप के विषय में ही कतिपय विचार प्रस्तुत किये जाएगे ।

किसी जीव को पूर्वकृत पुण्यकर्म का उदय तो हो, किन्तु उस पुण्यकर्म के फलस्वरूप प्राप्त सामग्री का उपयोग वह पापकृत्यों में कर रहा हो तो वह कर्म उसे ऊपर नहीं उठा कर नीचे गिरा देगा । पुण्य प्रकृति का भोग करते समय मनुष्य अगर अपनी वर्तमान प्रवृत्ति को न संभाले तो वह गिर जाएगा ।

उच्च पद, धन, सुन्दर शरीर, अनुकूल परिवार, विनीत पुत्र, वैभव, बुद्धि, यश-कीर्ति, ये सब पुण्य के फल हैं, लेकिन इन्हें पाकर किसी ने यदि इनका ठीक उपयोग न किया, बल पाकर दूसरों को पीड़ा पहुँचाई, धन का दुरुपयोग किया, बुद्धि से कुकल्पनाएं करके स्व-पर को अधःपतन की ओर प्रेरित किया, इसी प्रकार प्राप्त किसी भी शक्ति का दुरुपयोग किया तो उसका परिणाम सुन्दर नहीं होगा । संसार में कितने ही मिथ्या मत-पंथ प्रचलित हैं । उन्हें चलाने वाले भी बुद्धिशून्य नहीं, बुद्धिमान लोग ही थे । लेकिन उन्होंने पुण्ययोग से प्राप्त बुद्धि का दुरुपयोग किया । कितने राजा-महाराजा धन-वैभव को प्राप्त करके उससे पापकर्म करते हैं । शारीरिक शक्ति प्राप्त करके अन्य प्राणियों का संहार करते हैं । कंस को जो शक्ति प्राप्त थी उसका उसने क्या उपयोग किया ? मगर इस प्रकार पुण्य से प्राप्त साधनों का जो दुरुपयोग करते हैं वे अपनी आत्मा को नीचे गिराते हैं । इस प्रकार भावना यदि शुभ न हो—भावना में पुण्य प्रकृति का उदय न हो तो पुण्य जीव को नीचे भी गिरा देता है। प्राप्त शक्ति तथा वैभव के सदुपयोग का विचार उसे नहीं मिला । परिग्रह उसके जीवन में ममता तथा आसक्ति का कारण बना, इससे उसका पतन हुआ । जगत् में चार प्रकार के मनुष्य होते हैं – (१) उदितोदित (२) उदितास्त (३) अस्तोदित और (४) अस्तास्त । जो मनुष्य उदय में उदय करने वाला है, वह उदितोदित कहलाता है। वर्तमान जीवन में जो स्वस्थ तन, धन, भूमि, आदि सामग्री मिली है, वह पुण्य के उदय के कारण मिली है । उस सामग्री का सदुपयोग करके जो उसके निमित्त से वर्तमान में भी पुण्य का उपार्जन करता है, ऐसा पुण्य से पुण्य का उपार्जन करने वाला पुरुष उदितोदित कहा गया है । वह वर्तमान में उदय को प्राप्त है और भविष्य में भी उदय को प्राप्त होगा । उसने पूर्वपुण्य के उदय से वैभव, धन आदि प्राप्त किया और मति भी पाई और उसका सदुपयोग किया तो फिर ऊंचा उठेगा । हम भरत को उदितोदित कह सकते हैं, तो ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को उदितअस्त ।

यदि दीपक प्रकाश में रहा है तो मनुष्य उसके प्रकाश में काम कर सकता है । उसके बुझ जाने पर काम नहीं किया जा सकता । एक प्रकाशित दीपक हजारों दीपाकों को प्रकाशित कर सकेगा । छोटा-सा दीपक लालटेनों आदि को भी प्रकाश दे सकता है । किन्तु बुझने पर वह किसी काम का नहीं । जीवन की भी यही स्थिति है । जिसने अपने जीवन में विवेक प्राप्त किया है, वह उदय में उदय

करेगा—अपने को ऊंचा उठाएगा और दूसरों को भी ऊंचा उठाने का प्रयत्न करेगा। जो मनुष्य उदितोदित है वह अपने धन से दीन, हीन, असहाय और विपन्न जनों के दुःख को दूर करेगा। ऐसा करके वह पुनः उदित बनेगा और दूसरों के उदय में भी सहायक बनेगा। यदि उसे सुबुद्धि प्राप्त है तो दूसरों को सत्परामर्श देकर कुपथ से हटाएगा, सुपथ पर लाने का प्रयत्न करेगा, ज्ञान का प्रकाश देगा। इस प्रकार स्वयं प्रकाशित होने के साथ-साथ दूसरों को भी प्रकाशित करेगा। किसी कवि ने ठीक कहा है—

कमनीय कुन्दन की कान्ति का कलेवर है,
कौन काम का जो काम मारा नहीं आपने।
माना आप रुस्तम से कम नहीं, किन्तु क्या,
जो दीनों को विपत्ति से उबारा नहीं आपने।
कंकरी सी सम्पदा करोड़ों की न कौड़ी की,
जो दिया दीन-दुःखी को सहारा नहीं आपने।
व्यर्थ हुए पण्डित प्रवीण प्रतिभा के पूरे,
देश की दशा को जो सुधारा नहीं आपने॥

अगर कामवासना पर विजय प्राप्त न कर सके तो कुन्दन की सी कान्ति से कलित आपका यह कलेवर किस काम का? रुस्तम-सा बल पाकर भी यदि गरीबों को विपदा से नहीं बचाया तो आपका बल किस मर्ज की दवा है? पुण्य के योग से जो शक्ति प्राप्त हुई है, उसे पुण्य कार्य में जो नहीं लगाता स्व-पर कल्याण में व्यय नहीं करता, उसका उस शक्ति को पाना व्यर्थ है। व्यर्थ ही नहीं वरन् अकल्याण का कारण है। ऐसे अभागे मनुष्य के लिए यही कहा जा सकता है कि उसने हीरे की कणी पाकर उसे आत्मघात का कारण बना लिया! जो पुण्य-पाप का कारण बनता है वह पापानुबन्धी पुण्य कहलाता है, जो बाह्य में पुण्य रूप हो कर भी वस्तुतः पाप की ही श्रेणी में गिना जाता है।

किसी महापण्डित का मस्तिष्क यदि समाज और देश की उन्नति में नहीं लगता तो उसका पाण्डित्य किस काम का? आज के वैज्ञानिक भौतिक पदार्थों की बहुत-सी सूक्ष्म शक्तियों को समझते हैं। वे भौतिक पदार्थों के महापण्डित कहे जा सकते हैं। उनके वैज्ञानिक कौशल ने संसार को कुछ का कुछ बना दिया है। आज वे सुदूरगामी राकेट छोड़ कर चन्द्रमा और मंगल आदि का पता लगाने के लिए प्रयत्नशील हैं। सैकड़ों चमत्कार उन्होंने इस धरती पर दिखलाए हैं किन्तु उनकी इस सूक्ष्म प्रज्ञा का नतीजा क्या है? उस प्रज्ञा के परिणामस्वरूप जिन भयानक अणुबमों

और उद्जन बमों का निर्माण हुआ, उससे जगत् में क्या शान्ति हुई है ? बुद्धिमान, वैज्ञानिक राजनीतिज्ञों के हाथ की कठपुतली बने हुए हैं । वे अपनी बुद्धि का दुरुपयोग करके संहारक साधनों का निर्माण करके दुनिया को भीषण संकट में डाल रहे हैं । ऐसे पण्डितों की पण्डिताई किस काम की है ?

जो तन से दूसरों की सेवा करेगा, अपनी विद्या का उपयोग दूसरों को सम्यग्ज्ञान देने में करेगा, शक्ति के द्वारा दीनों की सहायता करेगा, वह मनुष्य उदितोदित माना जाएगा । वह दीपक से दीपक जगाने वाला है, पुण्य के द्वारा पुण्य का उपार्जन करने वाला है । उसके पुण्य को पुण्यानुवन्धी पुण्य समझना चाहिए ।

महावीर जैसे महापुरुष आज भी हमारे हृदय में विराजमान हैं, उनका नाम हमारे हृदय में पवित्र प्रेरणा उत्पन्न करता है और उनका स्मरण हृदय में श्रद्धा-भक्ति का स्रोत प्रवाहित कर देता है क्योंकि उन्होंने स्वयं आदर्श-जीवन व्यतीत कर जन-समाज के उत्थान में महान् योग प्रदान किया । न केवल वाणी के द्वारा ही वरन् उन्होंने अपने जीवन-व्यवहार से भी उच्च आदर्श हमारे समक्ष उपस्थित किए । ऐसे महान् व्यक्ति ही जगत् में वन्दनीय और अभिनन्दनीय होते हैं ।

इससे विपरीत जो पूंजी पाकर स्वयं उसका सदुपयोग नहीं करता, और दूसरों की सहायता नहीं करता प्रत्युत दुर्व्यसनों का पोषण करता है, वह इस लोक में निन्दित वनता है और अपरलोक को पापमय बना कर दुःखी होता है ।

पूर्वसंचित पुण्य का ही यह फल है कि हमें आर्यभूमि में जन्म मिला, मानव शरीर मिला, धर्म-संस्कार दाला कुल मिला, धन-वैभव मिला और सन्त समागम करने का सुयोग मिला । ऐसी स्थिति में आगे उदय का क्या रूप हो यह मनुष्य को सोचना चाहिए ।

जीवन की जो अवधि है, वह स्थायी टिकने वाली नहीं यह निश्चित है । शरीर त्यागने के पश्चात् पुनः शरीर धारण करना पड़े और न भी धारण करना पड़े, परन्तु शरीर धारण करने के पश्चात् उसे त्यागना तो अनिवार्य ही है । कोई भी मनुष्य न अमर हुआ और न हो सकता है इसी प्रकार पुण्य के खजाने के समाप्त होने की भी अवधि है । जो भी कर्मबन्ध में बंधता है, वह चाहे शुभ हो या अशुभ, एक नियत अवधि तक ही आत्मा के साथ बद्ध रह सकता है । अवधि समाप्त होते ही वह आत्मा से पृथक् हो जाता है । इस नियम के अनुसार पूर्वोपार्जित पुण्यकर्म का भी क्षय होना अनिवार्य है । जिस खजाने में से खर्च ही खर्च होता रहता है और नवीन आय बिलकुल नहीं होती, वह कितना ही विपुल क्यों न हो, कभी न कभी समाप्त हो ही जाता है। इस तथ्य को कौन नहीं जानता ? व्यावहारिक जगत् में धन

के आय-व्यय सम्बन्धी बातों की सबको चिन्ता रहती है, किन्तु जिस पुण्य के प्रभाव से धन-वैभव टिकता है, उसकी किसको कितनी चिन्ता रहती है ? हम पुण्य का जो खजाना लेकर आए हैं तथा जिसका उपभोग प्रति पल कर रहे हैं, यदि उसमें नवीन आय सम्मिलित न की गई—नया पुण्य नहीं उपार्जित किया गया तो खजाना समाप्त हो जाएगा। फिर आगे क्या स्थिति होगी ? किन्तु मनुष्य वर्तमान को ही सब कुछ समझ कर भविष्य को भूल जाता है। वह भूल जाता है कि उसे परलोक में जाना होगा और वहां पुण्य के अभाव में क्या कठिनाइयां उठानी पड़ेंगी।

बन्धुओ ! इस छोटे-से वर्तमान के लिए दीर्घ भविष्य को विस्मृत मत करो। जैसे पूर्व पुण्य का फल यहां भोग रहे हो, उसी प्रकार यहां भी पाप से बचो और पुण्य का उपार्जन करो जिससे आगे भी उत्तम संयोग प्राप्त कर सको और उन उत्तम संयोगों का सदुपयोग करके आत्मा का कल्याण साधन् कर सको ।

जो पुण्य को बढ़ाएँगे वे कभी किसी से भय नहीं खाएँगे । वे इहलोक और परलोक में निर्भय रहेंगे । कुछ करने का फल ही आज हमें इस रूप में प्राप्त है । अन्यथा यों संसार में कौन किसे पूछता है ?

बीज अच्छे खेत में बोया जाता है तो पौधे के रूप में लहलहाने लगता है। वही अगर नाली में डाल दिया जाय तो सड़ जाएगा पर पौधे के रूप में विकसित नहीं हो सकेगा । इसी प्रकार धन रूपी बीज अगर अच्छे खेत में डाला जाय, सुकृत्य में लगाया जाय, तो वह पुण्य रूपी पौधे के रूप में विकसित होता है । कुकर्म ऊसर या खारी भूमि है, और सुकर्म सुन्दर खेत है । हमें बीज वहां डालना है जहां वह फूले, फले और विकसित हो । जो ऐसा करता है वही प्रथम श्रेणी का मानव है, उदय में उदय करने वाला है ।

जीवन, धन और वैभव जाने वाली वस्तुएं हैं किन्तु इन जाने वाली वस्तुओं से कुछ लाभ उठा लिया जाय, अपने भविष्य को कल्याणमय वना लिया जाय, इसी में मनुष्य की बुद्धिमत्ता है, विवेकशीलता है । कहा भी है—

गढ़ रहे न गढ़पति रहे, रहे न सकल जहान ।
दोय रहे नृप मान कहे, नेकी बदी निदान ।।

सुकृत करने वाला मनुष्य अपना नाम संसार में चिरस्थायी बना जाता है । काल की चक्की उसके यश को खण्डित नहीं कर सकती । युग पर युग व्यतीत हो जाते हैं परन्तु लोगों की जीभ पर उसका सुयशगान बना रहता है ।

भारत में आज जनता का राज्य है । योग्य व्यक्ति अपनी बुद्धि तथा बल का प्रयोग करके महत्वपूर्ण कार्य कर सकते हैं । प्रत्येक मानव पर आज महान्

उत्तरदायित्व है । देश की स्वाधीनता का अर्थ इतना ही नहीं कि विदेशी शासकों की कुर्सी पर देशी शासक बैठ जाएं। सच्ची स्वाधीनता में देश की कल्याणकारिणी परम्पराओं की तथा संस्कृति की सुरक्षा भी गर्भित है। भारत स्वाधीन हो कर भी अगर अपनी परम्पराओं की और अध्यात्म-प्रधान संस्कृति की रक्षा नहीं करता और विदेशियों के ही अनिष्ट आचार-विचार का अन्धानुकरण करता है तो इस स्वाधीनता का कोई विशेष अर्थ नहीं । भारत की आत्मा अगर उन्मुक्त न हुई तो वह स्वाधीनता किस काम की ? स्वाधीनता का सच्चा लाभ तब है जब आप अपने देश की महान् सभ्यता का जो जनमंगलकारिणी है और जीवन के अन्तरंग तत्व के विकास पर जोर देती है, प्रचार और प्रसार करें और अखिल विश्व के समक्ष उसका सच्चा स्वरूप प्रस्तुत करें। किन्तु आज उलटी गंगा बह रही है । देश के देशी शासक विदेशों की नकल कर रहे हैं, उनकी संस्कृति को इस देश पर लादने का प्रयास कर रहें हैं, हिंसा बढ़ रही है, अनैतिकता अपना सिर ऊंचा उठा रही है, घूसखोरी, भ्रष्टाचार और पक्षपात बढ़ता जा रहा है । देश के इस अधःपतन को देख कर विवेकशील जन ही सोचते हैं कि आखिर इस दशा का कहां अन्त आएगा? देश कहां जाकर रुकेगा?

इस परिस्थिति में परिवर्तन लाने का कार्य शक्तिशाली व्यक्ति कर सकते हैं । शक्तिशाली वे जो बल-बुद्धि तथा आत्मिक शक्ति से युक्त हैं । जिन्होंने इस तथ्य को भलीभाँति हृदयंगम कर लिया हो कि जीवन और धर्म अभिन्न हैं । धर्म की उपेक्षा करके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का उत्थान होना संभव नहीं है । प्रजा में धार्मिक भावना को जगाये बिना देश में फैले अनाचार का उन्मूलन नहीं हो सकता । 'धर्मो रक्षति रक्षितः' अगर हम धर्म की रक्षा करेंगे तो धर्म भी हमारी रक्षा करेगा ।

जो लोग पेट पूर्ति की समस्या से ही परेशान हैं, उनसे सामाजिक कार्य करने की अपेक्षा नहीं की जा सकती । श्रीमन्त लोग अगर इस कार्य को अपने हाथ में ले लें तो परिस्थिति में सुधार की आशा की जा सकती है । उनके लिए यह कार्य कठिन नहीं है । भारत का पुरातन इतिहास बतलाता है कि राजपुत्रों ने महलों का परित्याग कर वनों की शरण ली और आत्मिक साधना में तत्पर होकर स्व-पर का कल्याण किया। महलों में पूर्वसंचित पुण्य का भोग करके क्षय किया जा सकता है। किन्तु नयी सामग्री जुटानी है तो महलों को छोड़ना होगा ।

आदिवासी लोगों की ओर भी अनेक कार्यकर्त्ताओं का ध्यान आकर्षित हुआ है । उन्हें सभ्य और शिक्षित बनाने का प्रयत्न हो रहा है । किन्तु सच्चीी सभ्यता और शिक्षितता का लक्षण यह है कि वे दुर्व्यसनों से बचें, अपने जीवन-व्यवहार में सुसंस्कृत हों, पापों से अपनी रक्षा कर सकें, अपने जीवन के उच्च-आदर्श को समझ

सकें । जिन्होंने स्वयं अपने जीवन को सुधारा है, उन पर दूसरों के जीवन को भी सुधारने का दायित्व है । दूसरों के जीवन-सुधार में सहायक बनना भी एक प्रकार से अपने जीवन को सुधारना है । जिसके पास पुण्य का बल है, दिमाग का बल है, वह साधारण प्रयास से भी दूसरे के जीवन में परिवर्तन ला सकता है ।

सम्पत्तिशाली घरों के बढ़ने और चढ़ने के जो कारण हैं वे बन्धु-भाव व्यसनहीनता और सेवा भावना है । इनके विपरीत कार्य होने से उनका विनाश हो जाता है । भर्तृहरि ने कहा है–

दौर्मन्त्र्या न्नृपति विनश्यति, यतिः संगात् सुतो लालनात् ।
विप्रोऽनध्ययनात् कुलं कुतनयात्, शीलं खलोपासनात् ।

ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः, स्नेहः प्रवासाश्रयात् ।
मैत्री चाप्रणयात् समृद्धिरनयात् । त्यागात् प्रमादाद्धनम् ।।

मन्त्री खराब हो तो राजा विनष्ट हो जाता है । परिग्रह धारण करने से साधु का सर्वनाश होता है । अधिक लाड़ लड़ाने से पुत्र, अविद्या से ब्राह्मण, कुपुत्र से कुल, दुर्जन की संगति से शील, मद्यपान से लज्जा, देखरेख नहीं करने से खेती, अधिक काल तक प्रवास से स्नेह, प्रेम के अभाव से मैत्री और अनीति से समृद्धि तथा त्याग एवं प्रमाद से धन का नाश हो जाता है ।

जैसे लकड़ी में लगा घुन उसे नष्ट कर डालता है, उसी प्रकार जीवन में प्रविष्ट दुर्व्यसन जीवन को नष्ट कर देता है । अतएव दुर्व्यसनी लोगों की संगति से बचना चाहिए । अकर्त्तव्य से दुश्मनी रखनी चाहिए । जीवन को सदैव निर्मल और पवित्र बनाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए । भगवान् महावीर का सन्देश है कि अपने जीवन का उत्थान और पतन मनुष्य के स्वयं के हाथ में है । कोई अदृश्य शक्ति या देवी-देवता हमारे जीवन को बना-बिगाड़ नहीं सकते । मनुष्य स्वयं ही अपना शत्रु और स्वयं ही अपना मित्र है । 'पुरिसा तुम मेव तुमं मित्ता'

एक हितैषी ने संसारी लोगों को उद्‌बोधन करते हुए कहा–मित्र ! जीवन की सरिता बह रही है, इस बहती हुई सरिता में कहीं तेरे जीवन की सम्पदा नष्ट न हो जाय । जरा संभल के चलना । कहा है–

धर्म री गंगा में हाथ धोय ले नी रे !
चांदणों हुओ है, मोती पोय ले नी रे !

सत्पुरुष सदा से संसारी जीवों को सावचेत करते आ रहे हैं कि धर्म रूपी गंगा में अवगाहन करो । ऐसा करने से ही जीवन में शान्ति मिलेगी । गंगा तन को

निर्मल और शीतल बनाती है परन्तु धर्म-गंगा आन्तरिक मन की मलीनता को दूर करती है और जीवन को शान्त तथा सुखमय बना देती है । इससे काम की जलन और तृष्णा की प्यास दूर होती है ।

मगर धर्म की गंगा उसीके जीवन में प्रवाहित होती है जिसके हृदय में दैवी भावनाएं होती हैं । दानवी प्रकृति वालों से धर्म दूर ही रहता है ।

पुराणों में एक कथा आती है । सुन्द और उपसुन्द नामक आसुरी प्रकृति के दो भाई थे । उन्होंने शिवजी की आराधना की । भोले शंकर ने उनकी आराधना से सन्तुष्ट और प्रसन्न होकर वर दे दिया कि जिसके सिर पर हाथ रख दोगे वही भस्म हो जाएगा । 'करेला और नीम चढ़ा' की कहावत चरितार्थ हुई । आसुरी प्रकृति के साथ शक्ति का संयोग हुआ तो उनकी दानवता और अधिक बढ़ गई । उन्होंने शंकर पर ही हाथ रखने की सोची। शंकर स्वयं संकट में फंस गए । जान बचाने के लिए भागने लगे और वे दोनों भाई उनका पीछा करने लगे । मार्ग में विष्णु मिल गए। शंकर ने अपनी मुसीबत की कहानी उन्हें सुनाई तो विष्णु ने उपालंभ देते हुए कहा—आपने अपात्रों को वर दिया ही क्यों ? हथियार को अधिक तेज करने से उसकी काटने की शक्ति बढ़ती ही है । अस्तु, जो होना था हो गया। अब मैं सम्भालने का प्रयत्न करता हूँ ।

विष्णु सुन्द-उपसुन्द के समीप पहुँचे। उन्होंने जब विष्णु से बाबा (शंकर) का परिचय पूछा तो विष्णु ने उन्हें सलाह दी कि यह वर वास्तविक है या धोखा? इस बात को परीक्षा तो पहले कर लेनी चाहिए । वृथा भटकने से क्या लाभ है?

विष्णु की बात सुन्द-उपसुन्द को जंच गई । उन्होंने परीक्षा के लिए एक-दूसरे के सिर पर हाथ रखा और दोनों भस्म हो गये ।

आज दुनिया के बड़े राष्ट्रों की स्थिति भी सुन्द-उपसुन्द के समान है । अगर ये एक-दूसरे पर हाथ फेरेंगे तो दुनिया का सर्वनाश कर छोड़ेंगे । यह सब आसुरी शक्ति की उच्छ्रंखल वृद्धि का परिणाम है । शक्ति में आसुरीपन धार्मिकता के अभाव से उत्पन्न होता है। शक्ति स्वयं तो शक्ति ही होती है, उसके साथ धर्म हुआ तो वह दैवी रूप में होती है और अधर्म हुआ तो आसुरी रूप धारण कर लेती है । जो मनुष्य उदितोदित होता है वह धर्म का आचरण करके प्राप्त शक्ति का सदुपयोग करता है और अपने जीवन को दैवी सम्पत्ति से विभूषित बना लेता है । वह जिस समाज और देश में जन्म लेता है, उसके उत्थान में अपना उत्थान मानता है और अपने पुण्य आचरण से पवित्रता का विस्तार करता है । ऐसे सत्पुरुषों का लौकिक और पारलौकिक कल्याण होता है ।

[५२]

परिग्रह मर्यादा

"आचारः प्रथमो धर्म" अर्थात् धर्म के अनेक क्रियात्मक रूप हैं किन्तु आचार-सदाचार सब धर्मों में प्रथम है । इस उक्ति के अनुसार जब भगवान् महावीर की वाणी का संकलन किया गया तो भगवान् के द्वारा प्ररूपित आचार धर्म का प्रथम अंग-आचारांग में संकलित हुआ । इस प्रकार प्रथम धर्म का प्रथम अंग में निरूपण किया जाना शास्त्रकारों की दूरदर्शिता और सूक्ष्म प्रज्ञा का परिचायक है ।

आचारांग सूत्र में मुनिधर्म का हृदय ग्राही निरूपण है । उसमें भी प्रथम अध्ययन में पापत्याग की प्ररूपणा की गई और हिंसा से होने वाले कुपरिणाम बतलाए गए हैं ।

मुनियों के समान प्रत्येक साधक को पूर्ण रूप से निष्पाप और त्यागमय जीवन बनाने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए । त्यागमय जीवन यापन करने के लिए व्रतों को प्रतिज्ञा के रूप में अंगीकार करना आवश्यक होता है ।

कई लोग समझते हैं कि हम यों ही व्रत का पालन कर लेंगे, प्रतिज्ञा के बन्धन में बंधने की क्या आवश्यकता है ? किन्तु इस प्रकार का विचार हृदय की दुर्बलता से प्रसूत होता है । जिसे व्रत का पालन करना ही है उसे प्रतिज्ञा से घबराने की क्या आवश्यकता है ? प्रतिज्ञा के बन्धन में न बंधने के विचार की पृष्ठभूमि में क्या उस व्रत की मर्यादा से बाहर चले जाने की दुर्बल वृत्ति नहीं है ? यदि संकल्प में कमी न हो तो व्रत के बन्धन से बचने की इच्छा ही न हो । स्मरण रखना चाहिए कि बन्धन वही कष्टकर होता है जो अनिच्छा से मनुष्य पर लादा जाता है । स्वेच्छापूर्वक अंगीकार किया हुआ, व्रत का बन्धन साहस और शक्ति प्रदान करता है । प्रतिकूल परिस्थिति में इसके द्वारा अपनी मर्यादा से विचलित न होने की प्रेरणा प्राप्त होती है । व्रत के बन्धन से ही गांधीजी विलायत में मद्य, मांस और

परस्त्रीगमन के पापों से बच सके और आगे चल कर 'महात्मा' की महान् पदवी से विभूषित हुए । माता की प्रेरणा से जैन मुनि के समक्ष ग्रहण किए गये व्रतों ने उनके जीवन को कितना प्रभावित किया, इस बात को वही भलीभाँति समझ सकेगा जिसने उनकी जीवनी का अध्ययन किया है ।

किन्तु व्रत ग्रहण करना यदि महत्वपूर्ण है तो उसका यथावत् पालन करना भी कम महत्वपूर्ण नहीं है । उचित है कि मनुष्य अपने सामर्थ्य को तोल कर और परिस्थितियों का विचार करके व्रत को स्वीकार करे और फिर दृढ़ संकल्प के साथ उस पर दृढ़ रहे । व्रत ग्रहण करके उसका निर्वाह नहीं करने के भयंकर दुष्परिणाम या अनर्थ हो सकते हैं । किन्तु चूक के डर से व्रत ही नहीं करना बड़ी भूल है । जो कठिनाई आने पर भी व्रत का निर्वाह करता है और अपने संकल्प बल में कमी नहीं आने देता वह सभी कठिनाइयों को जीत कर उच्च बन जाता है । और अन्त में पूर्ण निर्मल बन कर चरम सिद्धि का भागी होता है ।

साधु-जीवन का दर्जा बहुत ऊंचा है, इसका कारण यही है कि वे महाव्रतों का मनसा, वाचा, कर्मणा पालन करते हैं, और महाव्रतों के पालन के लिए उपयोगी जो नियम उपनियम हैं, उनके पालन में भी जागरूक बने रहते हैं । ऐसा साधु अपनी साधना में सफलता प्राप्त कर परम ज्ञान पाता है । यदि ऊंची मंजिल वाला फिसल गया तो वह चोट भी गहरी खाता है । अतः उसे बहुत ही सावधान होकर चलना पड़ता है। भव-भव के बन्धनों को काटने में वही सफल होता है जो व्रतों का पूर्ण रूप से निर्वाह करता है ।

अपरिग्रह भी महाव्रतों में एक है । इस व्रत में साधक को पूर्ण रूप से अकिंचन होकर रहना पड़ता है । मगर श्रावक के लिए पूर्ण अपरिग्रह होकर रहना शक्य नहीं है, अतएव वह मर्यादित परिग्रह रखने की छूट लेता है । किन्तु व्रतधारी श्रावक परिग्रह को गृह-व्यवहार चलाने का साधन मात्र मानता है । कमजोर आदमी लकड़ी का सहारा लेकर चलता है और उसे सहारा ही समझता है । कमजोरी दूर होने पर वह लकड़ी का प्रयोग नहीं करता । अगर वह लकड़ी को ही साध्य मान ले और अनावश्यक होने पर भी हाथ में थामे रहे तो अज्ञानी समझा जाएगा ।

इसी प्रकार व्रती श्रावक धन-वैभव आदि परिग्रह को जीवन-यात्रा का सहारा समझता है, साध्य नहीं । धन अर्थात् परिग्रह को ही सर्वस्व समझ लेने से सम्यग्दृष्टि नहीं रहती । वह जो परिग्रह रखता है, अपनी आवश्यकताओं का विचार करके ही रखता है और उसका जीवन इतना सादा होता है कि उसकी आवश्यकताएं भी अत्यल्प होती हैं इस कारण वह आवश्यक परिग्रह की छूट रखकर शेष का परित्याग कर देता है ।

डराने-धमकाने वाला यदि हाथ में बांस आ जाय तो उसी को लेकर दौड़ पड़ेगा । कमजोरी के कारण लकड़ी रखने का प्रयोजन दूसरा था किन्तु क्रोधावेश में उसका प्रयोजन दूसरा ही होता है–प्रहार करना । श्रावक परिग्रह का पूरी तरह त्याग नहीं कर पाता, यह उसकी दुर्बलता है । वह इसे अपनी दुर्बलता ही समझता है ।

कभी-कभी ऐसा अवसर भी आ जाता है कि भ्रम, विपर्यास या मानसिक दुर्बलता के कारण मनुष्य व्रत की सीमा से बाहर चला जाता है, वह समझता है कि मेरा व्रत-भंग नहीं हो रहा है । मगर वास्तव में व्रत भंग होता है । इस प्रकार का व्रतभंग अतिचार की कोटि में गिना जाता है । और जब व्रत से निरपेक्ष हो कर जानबूझ कर व्रत को खण्डित किया जाता है तो अनाचार कहलाता है । परिग्रह का परिमाण करने वाला श्रावक यदि धन, सम्पत्ति, भूमि आदि परिमाण से अधिक रख लेता है तो अनाचार समझना चाहिए और वैसी स्थिति में उसका व्रत पूरी तरह खण्डित हो जाता है । पचास एकड़ भूमि का परिमाण करने वाला यदि साठ एकड़ रख लेता है तो यह जानबूझ कर व्रत की मर्यादा को भंग करना है और यह अनाचार है ।

कोई व्यक्ति एक मकान के बीच में दीवाल खड़ी कर दे तो एक के बदले दो मकान कहलाऐंगे । एक मकान के चार भाग कर दिये जाएं तो भी वह वस्तुतः एक ही कहा जााता है, जब तक उसमें विशेष परिवर्तन न हो । इस प्रकार मकान का परिमाण करने में दृष्टि या लक्ष्य की प्रधानता होती है ।

जमीन-जायदाद आदि के किये हुए परिमाण का व्रत सापेक्ष अतिक्रमण करना प्रथम अतिचार है। किसी ने व्रत ग्रहण करते समय एक या दो मकानों की मर्यादा की। बाद में ऋण के रुपयों के बदले उसे एक और मकान प्राप्त हो गया। अगर वह उसे रख लेता है तो यह अतिचार कहलाएगा। इसी प्रकार एक खेत बेच कर या मकान बेचकर दूसरा खेत या मकान खरीदना भी अतिचार है यदि उसके पीछे अतिरिक्त अर्थलाभ का दृष्टिकोण हो । तात्पर्य यह है कि इस व्रत के परिमाण में दृष्टिकोण मुख्य रहता है और व्रतधारी को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसने तृष्णा, लोभ एवं असन्तोष पर अंकुश लगाने के लिए व्रत ग्रहण किया है, अतएव ये दोष किसी बहाने से मन में प्रवेश न कर जाएं और ममत्व बढ़ने नहीं पाए।

व्रती को नौ प्रकार के परिग्रह के अतिक्रमण से बचना चाहिए –

(१) जमीन (२) जायदाद (३) स्वर्ण (४) चांदी (५) दास-दासी आदि (६) घोड़ा आदि (७) धन (८) धान्य और (९) कुप्य–फर्नीचर, बर्तन आदि ।

पशुओं की सन्तति उत्पन्न होने पर संख्या में वृद्धि हो जाती है, यह स्वभाविक है । किन्तु एक तो उस वृद्धि को लाभ का कारण बनाना और दूसरे संरक्षण की भावना से उनको रखना अलग-अलग बातें हैं । ऐसी बातों का स्पष्टीकरण अगर व्रत ग्रहण करते समय ही कर लिया जाय तो अधिक अच्छा । बाद में किया जाय तो इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि मेरे किए हुए निर्णय में कहीं मेरी ममत्व-बुद्धि तो मुझे धोखा नहीं दे रही है । इस प्रकार की जागरूकता व्रत की रक्षा करने में सहायक होगी । किसी ने पचास हजार के धन का परिमाण किया, फिर ब्याज में अतिरिक्त धन आ गया । उस अतिरिक्त धन को अगर कोई अतिक्रमण नहीं मानता तो यह अनुचित है ।

अतिचार केवल जानने के लिए नहीं है, बचने के लिए भी है । जानी हुई बातों को केवल दिमाग की वस्तु बना कर रखा जाय और उनका आचरण से कोई सरोकार नहीं रखा जाय तो ऐसी जानकारी की कोई उपयोगिता नहीं होती । ज्ञान वही सार्थक है जिसके अनुसार वर्त्ताव किया जाता है । 'ज्ञानं भार क्रिया विना' अगर ज्ञान के अनुसार प्रवृत्ति नहीं की गई तो वह ज्ञान बोझ रूप ही है ।

परिग्रह परिमाण पांच अणुव्रतों में अन्तिम है और चार व्रतों का संरक्षण करना एवं बढ़ाना इसके अधीन है । परिग्रह को घटाने से हिंसा, असत्य, अस्तेय, कुशील इन चारों पर रोक लगती है । अहिंसा आदि चार व्रत अपने आप पुष्ट होते रहते हैं ।

परिग्रह परिमाण व्रत से महत्व बढ़ता है, घटता नहीं । जीवन में शान्ति और सन्तोष प्रकट होने से सुख की वृद्धि होती है । निश्चिन्तता और निराकुलता आती है। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने से धर्म-क्रिया की ओर मनुष्य का चित्त अधिकाधिक आकर्षित होता है । इस व्रत के ये वैयक्तिक लाभ हैं । किन्तु सामाजिक दृष्टि से भी यह व्रत अत्यन्त उपयोगी है । आज जो आर्थिक वैषम्य दृष्टिगोचर होता है, इस व्रत के पालन न करने का ही परिणाम है । आर्थिक वैषम्य इस युग की एक बहुत बड़ी समस्या है । पहले बड़े-बड़े भीमकाय यन्त्रों का प्रचलन न होने के कारण कुछ व्यक्ति आज की तरह अत्यधिक पूंजी एकत्र नहीं कर पाते थे; मगर आज यह बात नहीं रही। आज कुछ लोग यन्त्रों की सहायता से प्रचुर धन एकत्र कर लेते हैं तो दूसरे लोग धनाभाव के कारण अपने जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने से भी वंचित रहते हैं । उन्हें पेट भर रोटी, तन ढंकने को वस्त्र और औषध जैसी चीजें भी उपलब्ध नहीं । इस स्थिति का सामना करने के लिए अनेक वादों का जन्म हुआ है । समाजवाद, साम्यवाद, सर्वोदयवाद आदि इसी के फल हैं । प्राचीन काल में अपरिग्रहवाद के द्वारा इस समस्या का समाधान किया जाता था । इस वाद

की विशेषता यह है कि यह धार्मिक रूप में स्वीकृत है, अतएव मनुष्य इसे बलात् नहीं, स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करता है । साथ ही धर्मशास्त्र महारंभी यन्त्रों के उपयोग पर पाबन्दी लगा कर आर्थिक वैषम्य को उत्पन्न नहीं होने देने की भी व्यवस्था करता है । अतएव अगर अपरिग्रह व्रत का व्यापक रूप में प्रचार और अंगीकार हो तो न अर्थ-वैषम्य की समस्या विकराल रूप धारण करे, न वर्ग-संघर्ष का अवसर उपस्थित हो और न उसके लिए विविध प्रकार के त्रासदायक संघर्ष का अवसर उपस्थित हो और न उसके लिए विविध प्रकार के वादों का आविष्कार करना पड़े । मगर आज की दुनिया धर्मशास्त्रों की बात सुनती कहाँ है ? यही कारण है कि संसार अशान्ति और संघर्ष की क्रीड़ाभूमि बना हुआ है और जब तक धर्म का आश्रय नहीं लिया जायेगा तब तक इस विषम स्थिति का अन्त नहीं आएगा ।

देशविरति धर्म के साधक को अपनी की हुई मर्यादा से अधिक परिग्रह नहीं बढ़ाना चाहिए । उसे परिग्रह की मर्यादा भी ऐसी करनी चाहिए कि जिससे उसकी तृष्णा पर अंकुश लगे, लोभ में न्यूनता हो और दूसरे लोगों को कष्ट न पहुँचे ।

सर्वविरत साधक का जीवन तो और भी अधिक उच्चकोटि का होता है । वह आकर्षक शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श पर राग और अनिष्ट शब्द आदि पर द्वेष भी नहीं करेगा । इस प्रकार के आचरण से जीवन में निर्मलता बनी रहेगी । ऐसा साधनाशील व्यक्ति चाहे अकेला रहे या समूह में रहे, जंगल में रहे या समाज में रहे, प्रत्येक स्थिति में अपना व्रत निर्मल रख सकेगा ।

मुनि स्थूलभद्र वेश्या के भवन में, विलास और विकार के वातावरण में रहे । कुएँ की पाल पर साधना करने वाले मुनि भी जनसमुदाय के बीच में हैं । नाग की बामी और सिंह की गुफा वाले मुनियों को जन-सम्पर्क से दूर रहना है । कुएँ की पाल पर साधना करने वाले मुनि पर कभी पानी भरने वाली महिलाएं पानी और कीचड़ उछाल देतीं उनसे बाल्टी या डोली टकरा देतीं । रात्रि में निद्रा से उन्हें बचना पड़ता है । कभी निद्रा का झोंका आ जाय तो कुएँ में पड़ने का खतरा है । दिन के समय राग-द्वेष से अपनी आत्मा की रक्षा करनी है। इस प्रकार वे सतत् अप्रमत्त अवस्था में रह कर अचल समाधि में स्थित रहे । निरन्तर जागृत रहना, पल भर के लिए भी निद्रा न लेना और राग-द्वेष पर विजय पाना कोई साधारण साधना नहीं है । प्रमाद पर विजय प्राप्त करने की उतनी आवश्यकता शायद सिंह गुफा वाले और वेश्या के भवन वाले मुनि को न रही हो ।

तीनों मुनि वर्षाकाल व्यतीत होने पर गुरु के चरणों में उपस्थित होते हैं और दीर्घकाल के पश्चात् गुरु का दर्शन करके आनन्द का अनुभव करते हैं । कुएँ की

पाल वाले, सिंह की गुफा वाले और नाग की बामी वाले, तीनों मुनियों को उनकी सफल साधना के लिए गुरुजी धन्यवाद देते हैं ।

तीनों मुनि गुरुचरणों में प्रणत हो अपना-अपना वृत्तान्त निवेदन करने के लिए उत्सुक हैं । तीनों को अपनी साधना से सन्तोष है । हम अपनी साधना से गुरु संभूति विजय को प्रसन्न कर सकेंगे, उनके मन में ऐसा विश्वास था । गुरुजी अपने शिष्यों की प्रतीक्षा उसी प्रकार कर रहे थे जैसे पिता विदेश से विद्याध्ययन करके आने वाले पुत्र की करता है । गच्छ के अन्य मुनि भी उनकी तपस्या का वृत्तान्त सुनने के लिए आतुर हो रहे थे, जैसे किसी की लम्बी यात्रा का विवरण सुनने के लिए उसके स्वजन-परिजन आतुर रहते हैं ।

उक्त तीनों मुनि जो पहले आ पहुँचे थे । उन्होंने अपना वृत्तान्त कह सुनाया और अन्त में कहा–"साधना थी तो बड़ी कठोर, परन्तु आपके अनुग्रह से वह निभ गई। यह आपकी कृपा का ही फल है । आपकी आज्ञा का सहारा लेकर ही हम सफल हो सके ।"

महामुनि ने उन्हें धन्य कहा और उनके दुष्कर कार्य के लिए उनकी सराहना की। गुरु से प्रशंसा प्राप्त करके तीनों मुनि गद्‌गद् हो गए और अपने जीवन को कृतार्थ समझने लगे। बीसों कोस से आया अश्व जैसे स्वामी की प्यार भरी थपकियों से सन्तुष्ट हो जाता है, वैसे ही ये तीनों मुनि भी सन्तुष्ट हुए ।

कुछ समय पश्चात् स्थूलभद्र भी गुरु के श्रीचरणों में उपस्थित हुए । यथायोग्य प्रणति के पश्चात् उन्होंने भी अपना वृत्तान्त निवेदन किया । कहा – "गुरुदेव ! आपके श्रीचरणों की कृपा और महिमा से मैंने रूपकोषा को श्राविका बना दिया है । अब वह वेश्या नहीं रही । उसके जीवन का कल्मष धुल गया है, वह अंधकार से प्रकाश की ओर अग्रसर हुई है, उसके जीवन में महान् परिवर्तन आ गया है ।"

गुरु ने यह सब सुनकर कहा – "धन्य, धन्य, धन्य !" इस प्रकार तीन बार धन्य कह कर स्थूलभद्र की साधना की महान् प्रशंसा की । फिर बोले – "तुमने दुष्कर ही नहीं, अति दुष्कर कार्य किया है ।"

गुरु के लिए सभी शिष्य समान थे । उनके चित्त में किसी के प्रति न्यून या अधिक सद्‌भाव नहीं था । फिर भी साधना की गुरुता को ध्यान में रखकर उन्होंने शिष्यों को धन्यवाद दिया । संभूति विजय बड़े प्रसन्न हुए और अपने शिष्यों की साधना के लिए गौरव अनुभव करने लगे । ऐसे आदर्श साधकों के वृत्तान्त से हमें अपना लौकिक और पारलौकिक कल्याण-साधन करना चाहिए ।

[५३]

भ्रमण पर अंकुश

दुनिया दुरंगी है । परस्पर विरोधी तत्वों की विद्यमानता इसकी विशेषता है । यहां धर्म है तो अधर्म भी है, नीति है तो अनीति भी है, सुजन हैं तो दुर्जन भी हैं, जीव है तो अजीव भी है, साधक तत्त्व हैं तो बाधक तत्त्व भी मौजूद हैं । कोई किसी कार्य में प्रवृत्त हो, तो उसे पहले यह समझ कर चलना चाहिए कि मेरे कार्य में अनेक बाधाएं उपस्थित होंगी । बाधाओं के उपस्थित होने पर विचलित न होने की क्षमता और संकल्प का बल बटोर कर चलने वाला ही अपने कार्य में सफल होता है।

बाधक कारणों का कार्य बाधा पहुँचाना है किन्तु साधक यदि सजग है, उसके संकल्प में कहीं कोई कमजोरी नहीं है तो कोई भी बाधक तत्त्व उसके मार्ग को न अवरुद्ध कर सकता है और न उसे विमुख ही बना सकता है ।

अध्यात्म-साधना के पथ में क्या-क्या बाधाएं उपस्थित हो सकती हैं और उन पर किस प्रकार विजय प्राप्त करनी चाहिए, इस सम्बन्ध में इस क्षेत्र के अनुभवी साधकों ने पर्याप्त विचार किया है । प्रधान रूप से वे बाधक तत्त्व दो हैं – प्रमाद और कषाय ।

प्रमाद और कषाय का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । प्रमाद, कषाय का मार्ग प्रशस्त करता है । वह साधक को पहले असावधान बनाता है और फिर कषाय आ धमकता है । कषाय का कार्य साधना में रुकावट डालना है, गतिरोध उत्पन्न करना है और कभी-कभी वह गाड़ी को उलट भी देता है । वह साधक को विपरीत दिशा में भी ले जाता है । इस प्रकार प्रमाद और कषाय दोनों सम्यग्दर्शन और विरतिभाव की निर्मलता में बाधक हैं । इन्हीं के प्रभाव से मनुष्य व्रत के विषय में अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार का सेवन करता है । जो लोग विषय और कषाय के पंजे में पड़े रहते हैं, उनको शास्त्र ज्ञान देना भी कठिन होता है ।

प्रमाद आकर मनुष्य के हृदय पर जब अधिकार जमा लेता है तो श्रवण और वचन में शिथिलता आ जाती है । वास्तव में यही दोनों बाधक तत्त्व सर्वविरति और देशविरति की साधना को मलिन बनाते हैं । इसी कारण शास्त्र-वचन इन बाधक तत्त्वों से साधक को सावधान करता है । लोभ और कषाय ये दोनों परिग्रह, परिमाण, व्रत में विशेष रूप से बाधक हैं । कई साधक इसके प्रभाव से अपने व्रत को दूषित कर लेते हैं । उदाहरणार्थ – किसी साधक ने चार खेत रखने की मर्यादा की । तत्पश्चात् उसके चित्त में लोभ जगा । उसने बगल का खेत खरीद लिया और पहले वाले खेत में मिला लिया । अब वह सोचता है कि मैंने चार खेत रखने की जो मर्यादा की थी, वह अखण्डित है । मेरे पास पांचवां खेत नहीं है । इस प्रकार आत्म-वंचना की प्रेरणा लोभ से होती है । इससे व्रत दूषित होता है और उसका असली उद्देश्य पूर्ण नहीं होता ।

अणुव्रतों को निर्मल बनाए रखने के लिए अन्य सहायक व्रतों का पालन करना भी आवश्यक है । अतएव अणुव्रती साधक को उनकी ओर ध्यान देना चाहिए। शास्त्रों में उन्हें उत्तरव्रत या उत्तरगुण कहते हैं । वे भी दो भागों में विभक्त हैं–गुणव्रत और शिक्षाव्रत । तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत मिलकर सात होते हैं । पांच मूलव्रत (अणुव्रत) इनमें सम्मिलित कर दिये जाएँ तो उनकी संख्या बारह हो जाती है। ये ही श्रावक के बारह व्रत कहलाते हैं ।

अणुव्रतों का निर्दोष पालन करने के लिए श्रावक को अपने भ्रमण पर भी अंकुश लगाना चाहिए । जितना अधिक घूमना होगा, उतना ही अधिक हिंसा, झूठ और परिग्रह का विस्तार बढ़ेगा । गमनागमन का क्षेत्र बढ़ेगा तो कुशील, मोह-ममता और अदत्तग्रहण की संभावना बढ़ेगी । वस्तुओं का किया हुआ परिमाण भी अपना रूप बढ़ा लेगा । इस कारण व्रती गृहस्थ अपने गमनागमन की भी सीमा निर्धारित कर लेता है । तथ्य यह है कि पापों के संकोच करने का दृष्टिकोण बढ़ाया जाना चाहिए । इच्छा को बे-लगाम नहीं होने देना चाहिए । यदि इच्छा बे-लगाम हो गई और उस पर काबू न किया गया तो सभी व्रत खतरे में पड़ जाएँगे ।

आनन्द श्रावक ने अपनी स्थिति के अनुसार क्षेत्र की सीमा बांध ली और अपरिमित इच्छाओं को परिमित कर लिया । इसके लिए उसने ऊर्ध्व दिशा, अधोदिशा और तिरछी दिशाओं में गमनागमन की सीमा-रेखा भी निश्चित कर ली । इस प्रकार दिशाओं सम्बन्धी नियम दिग्व्रत कहलाता है । उसका स्वरूप इस प्रकार है –

दिग्व्रत – विभिन्न दिशाओं में गमनागमन करने की मर्यादा को दिग्व्रत कहते हैं । एक केन्द्र से किसी दिशा की ओर जाने की दूरी इस व्रत के अनुसार निश्चित

की जाती है । साधक ने अपने स्थायी निवास के लिए जो केन्द्र नियत किया है, उससे ऊपर की ओर जाना ऊर्ध्व दिशा में गमन करना कहलाता है । वायुयान के सहारे या विद्या अथवा ऋद्धि के बल से ऊपर जाना होता है । कूप, खदान, समुद्रतल आदि अधोगमन के मार्ग हैं । पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं और विदिशाओं में जाना तिर्यक् दिशा में गमन करना कहलाता है ।

इस प्रकार के व्रत को ग्रहण करने का उद्देश्य अपनी इच्छा या संग्रहवृत्ति को सीमित करना है । सभी स्थानों में भूमि, धन, धान्य आदि एक-सा ही है, ऐसा सोच लेने से मनुष्य नवीन-नवीन स्थानों या देशों में भटकना बंद कर देगा और मर्यादित क्षेत्र में रह कर अपने सादे और संयमी जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करके निराकुलतापूर्वक धर्म का आचरण करके आनन्द में रहेगा । उसके जीवन में आकुलता-व्याकुलता और चिन्ता का बाहुल्य नहीं होगा ।

दिग्व्रत में जिस दिशा में जाने की जो मर्यादा की है, उसमें इधर से उधर मिला कर कमी-बेशी नहीं करना चाहिए । ऐसा करने से व्रत का लक्ष्य सुरक्षित नहीं रहता । उदाहरणार्थ–किसी श्रावक ने सौ-सौ मील प्रत्येक दिशा में जाने का नियम लिया । उसकी कालान्तर में लोभ के वश होकर सवा-सौ मील तक जाने की इच्छा हुई । ऐसी स्थिति में किसी दूसरी दिशा में पच्चीस मील घटा कर वांछित दिशा में बढ़ा लेना और उस दिशा की सीमा को सौ के बदले सवा-सौ मील कर लेना दिग्व्रत का अतिचार है ।

कांक्षा (कामना) से व्रतों में कमजोरी आती है । ज्यों-ज्यों कामना की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों उसकी पूर्ति के साधनों का संग्रह बढ़ाया जाता है और उसके लिए दौड़-धूप भी बढ़ानी पड़ती है । स्पष्टतया इससे शान्ति भंग होती है और आकुलता बढ़ती है और अप्राप्त सामग्री को प्राप्त करने की धुन में मनुष्य प्राप्त सामग्री का आनन्द भी नहीं उठा सकता, फिर भी कामना का भूत उसके चित्त में प्रवेश करके उसे नचाता रहता है और नाना प्रकार की सुनहरी कल्पनाएं उसे बेभान बनाए रहती हैं । यद्यपि ज्ञानी पुरुषों ने स्पष्ट कर दिया है कि बाह्य पदार्थों का संयोग दुःख का ही कारण होता है और वह संयोग जितना अधिक बढ़ेगा उतना ही अधिक दुःख बढ़ेगा, फिर भी मनुष्य इस ओर ध्यान नहीं देता और मोह के नशे में पागल बन कर सुख प्राप्त करने की अभिलाषा से दुःख की सामग्री बटोरता रहता है।

शास्त्र में साधु को 'संजोगा विप्प मुक्कस्स' विशेषण लगाया गया है । यह विशेषण उसकी निराकुलता एवं शान्ति का सूचक है । संयोग से विमुक्त होना दुःखों से छुटकारा पाना है, क्योंकि एक आचार्य कहते हैं–

संयोग मूला जीवेन, प्राप्ता दुःखपरम्परा ।

अनादि काल से जीव दुःखों से घिरा हुआ है और अब तक भी उसके दुःखों का कहीं ओर-छोर नजर नहीं आता, इसका मूल कारण पर-संयोग है । पर-संयोग दो प्रकार का है– बाह्य और आन्तरिक, जिसे द्रव्य संयोग और भाव संयोग कह सकते हैं । धन-वैभव आदि भौतिक पदार्थों का संयोग बाह्य और क्रोध, लोभ, मोह, ममता आदि वैभाविक भावों का संयोग आन्तरिक संयोग है । इनमें से बाह्य संयोग से विमुक्ति पाना उतना कठिन नहीं है जितना आन्तरिक संयोग से ।

काम-क्रोध आदि विकार जीव को अपने स्वरूप की ओर उन्मुख नहीं होने देते । ज्यों-ज्यों ये विकार घटते जाते हैं, बाहरी दौड़-धूप स्वतः कम होती जाती है। बाह्य दौड़धूप को रोकना उतना कठिन नहीं है जितना अन्तर की भावना को सीमित करना कठिन है ।

भावना के क्षेत्र में अहंकार, मान, महिमा, कामना को ऊर्ध्व दिशा कह सकते हैं, मोह, लोभ और तिरस्कार को अधोदिशा तथा काम को तिर्यक् दिशा कह सकते हैं । ज्ञानी चित्त के इन विकारों को सीमित करता–करता अन्ततः समूल नष्ट करने में समर्थ हो जाता है । कापुरुष (दुर्बल हृदय) के लिए अपनी भावनाओं का नियन्त्रण करना कठिन होता है । उसके चित्त में कामनाओं की जो चंचल हिलोरें उठती हैं, उन्हीं में वह बहता रहता है । उसको देहली भी डूंगरी जैसी लगती है । कहावत है –

'देहली (घर के दरवाजे की चौखट) हो गई डूंगरी, सौ कोसां भया बजार ।'

जब शुद्ध ज्ञानादिक का बल क्षीण होता है तो छोटे-मोटे विकारों पर विजय पाना भी कठिन होता है । परन्तु साधक का कर्तव्य है कि वह ऊंची दिशा में मन के भावों को मलिन न होने दे और लोभादि से नीचे न गिरे । स्थूलभद्र की साधना इसीलिए दुष्करतम कहलाई । काम का शस्त्र मृदुल होता है फिर भी बड़ी गहरी मार करता है ।

परीषह के दो रूप होते हैं – अनुकूल परीषह और (२) प्रतिकूल परीषह । अनुकूल परीषह अर्थात् प्रलोभन । कोई साधक के सद्भूत अथवा असद्भूत गुणों की प्रशंसा करता है । साधक के लिए यह अनुकूल परीषह है । अपनी प्रशंसा सुनकर अगर वह गौरव का अनुभव नहीं करता, उसके मन में अभिमान नहीं जगता और अखंड समभाव में स्थिर रहता है तो वह परीषह विजेता है और यदि मन में अहंकार उत्पन्न हो जाता है तो समझना चाहिए कि वह परीषह से पराजित हो गया है, अपने पद से गिर गया है ।

साधु के समक्ष भोग-उपभोग की मनोज्ञ सामग्री प्रस्तुत की जाती है और उसे ग्रहण करने का अनुरोध किया जाता है तो यह भी अनुकूल परीषह है । अगर साधु उस सामग्री के प्रलोभन में आकर संयम की सीमा का उल्लंघन करता है तो वह गिर जाता है और यदि उसके मन में प्रलोभन उत्पन्न नहीं होता और समभाव बना रहता है तो वह परीषह विजेता कहलाता है ।

इस प्रकार संयम से च्युत करने वाले जितने भी प्रलोभन हैं, सब अनुकूल परीषह कहलाते हैं । प्रतिकूल परीषह इससे उलटे होते हैं । भूख-प्यास की बाधा होने पर भी भोजन-पानी न मिलना, सर्दी-गर्मी का कष्ट होना, अपमान और तिरस्कार की परिस्थिति उत्पन्न हो जाना आदि जो अवांछनीय कष्ट आ पड़ता है, वह प्रतिकूल परीषह है ।

अज्ञानी लोग अपनी प्रशंसा करने वाले को, अभिनन्दन-पत्र प्रदान करने वाले को और दूसरे प्रलोभन देने वाले को अपना मित्र समझते हैं और अपमान करने वाले को तथा किसी दूसरे तरीके से कष्ट और संताप पहुँचाने वाले को शत्रु समझते हैं । वह एक पर राग और दूसरे पर द्वेष करके कर्म का बन्ध करता है । किन्तु ज्ञानी पुरुष दोनों पर समभाव रखता है। न किसी पर रोष, न किसी पर तोष । उसका समभाव अखंड रहता है ।

प्रश्न किया जा सकता है कि यदि साधु के वास्तविक गुणों की प्रशंसा करना उसके लिए अनुकूल परीषह है तो क्या प्रशंसा करना पाप है ? क्या साधु के गुणों की प्रशंसा नहीं करनी चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पाप और पुण्य का सम्बन्ध कर्त्ता की भावना पर निर्भर है । साधु के उत्तम संयम और उच्चकोटि के वैराग्यभाव को देखकर भव्य जीव के हृदय में प्रमोद भावना उत्पन्न होती है । प्रमोदभाव से प्रेरित होकर वह उन गुणों की स्तुति करता है । स्तुति सुनकर मुनि अभिमान करने लगे और अपने समभाव से गिर जाए, ऐसी कल्पना भी उसके हृदय को स्पर्श नहीं करती । वह उन गुणों की प्राप्ति की ही प्रकारान्तर से कामना करता है और अपने धर्म को पालन करता है । ऐसी स्थिति में प्रशंसा करना हेय नहीं है । हां, मुनि का कर्तव्य है कि वह अपने समभाव को स्थिर रखे और प्रशंसा सुनकर भी गर्व का अनुभव न करे, वरन् प्रशंसा के अवसर पर अपनी त्रुटियों का ही विचार करे। ऐसा करके मुनि अपने धर्म का पालन करता है । दोनों को अपने-अपने धर्म का पालन करना चाहिए ।

प्रतिकूल परीषह को सहन करना वीरता है तो अनुकूल परीषह को सहन करना महावीरता है । मनुष्य कष्ट झेल सकता है मगर प्रलोभन को जीतना कठिन

होता है । कष्ट की अपेक्षा प्रलोभन के सामने गिर जाने की अधिक सम्भावना रहती है ।

सम्भूति विजय के चार शिष्य उग्र साधना के लिए निकले थे । उनमें से तीन के सामने प्रतिकूल परीषह थे और चौथे स्थूलभद्र के सामने अनुकूल परीषह । प्रतिकूल परीषहों को जीतने वाले धन्य हुए तो अनुकूल परीषह को जीतने वाला अतिधन्य कहलाया । स्थूलभद्र के कार्य को 'दुष्करम् अति दुष्करम् कह कर सराहा गया । सारी मुनि-मण्डली ने भी उनकी सराहना की । तीनों मुनियों ने स्थूलभद्र की प्रशंसा सुनी ।

जौहरी नगीनों का मूल्यांकन उनकी चमक-दमक आदि की दृष्टि से करता है। विभिन्न नगीनों की कीमत में अन्तर होता है । गुरु सम्भूति विजय जौहरी के समान थे और साधक मुनि नगीने के समान । यदि गुरु साधनाओं का सही मूल्यांकन न करे तो शिष्यों पर ठीक प्रभाव न पड़े । जिस गुणी में जिस कोटि का गुण हो, उसकी उसी रूप में प्रशंसा करना दर्शनाचार का पोषण करना है ।

गुरु के लिए सभी शिष्य समान थे । उनके मन में किसी के प्रति पक्षपात नहीं था । फिर भी स्थूलभद्र की उन्होंने विशेष प्रशंसा की । इसका कारण उनकी साधना की उत्कृष्टता ही समझना चाहिए । निद्रा, भूख, प्यास, आदि को जीतना उतना कठिन नहीं है जितना काम, क्रोध आदि पर विजय प्राप्त करना कठिन है ।

अध्यापक अपने शिष्यों में स्वस्थ प्रतियोगिता की भावना उत्पन्न कर देता है जिससे अध्ययन में विशेष प्रगति हो, अध्यात्म-मार्ग में भी इसी प्रकार प्रतियोगिता की सुयोजना की जाती है ।

तीनों मुनियों को स्थूलभद्र की विशिष्ट प्रशंसा सुनकर विचार हुआ–हम लोगों ने प्राणों का ममत्व त्याग कर जीवन को संकट में डाल कर साधना की और स्थूलभद्र मुनि रूपकोषा के विलास-भवन में मजे से रहे, फिर उनकी साधुना को सर्वाधिक महत्व क्यों प्रदान किया गया ? वहां जाकर तो कोई भी चार महीने व्यतीत कर सकता था । कहा है –

जप तप करणी सोहिली रण संग्राम ।
प्रकृति पाछी मोड़नी, 'याको मुश्किल' काम ।।

ऐसा सोचने वाले मुनि भी सामान्य नहीं थे । वे तपस्वी होने के साथ चतुर भी थे । अतएव उन्होंने अपने भावों को शीघ्र प्रकट नहीं किया । जिसमें चतुराई कम होती है वह शीघ्र ही अपने मनोभावों को प्रकट कर देता है, उगल देता है ।

बुद्धिमान अपने विचार को औचित्य की तराजू पर तोलता है और तोल-तोल कर बोलता है ।

संघ का सम्मान गुरुजी का मान और बिना विचारे काम न करना या न बोलना चाहिए इस बात का भान उनको था अतः इन सब कारणों से वे मौन रहे । कड़वे घूंट को पी गए ।

अगर ज्ञान का प्रकाश पाकर कषाय का शमन कर लिया जाय तो वह रसायन है । दमन करने से भी उसकी भयंकरता कम हो जाती है । जिसका शमन कर दिया जाता है, वह शीघ्र उठ कर खड़ा नहीं होता किन्तु जिसका दमन किया जाता है वह समय की प्रतीक्षा करता है ।

बन्धुओ ! इस भूमि पर एक से एक बढ़ कर आत्म-विजयी महापुरुष हुए हैं। वे आत्मविजय को ही परम लक्ष्य और चरम विजय मानते थे, क्योंकि आत्मविजय के पश्चात् किसी पर विजय प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता । उनकी पावन प्रेरणा प्रदान करने वाली प्रशस्तियों और कथाओं से हमारा साहित्य परिपूर्ण है । ये प्रशस्तियां और कथाएं युग-युगान्तर तक मानव-जाति की महान् निधि बनी रहेंगी और उसके समक्ष स्पृहणीय आदर्श उपस्थित करती रहेंगी । जो भव्य जीव आत्माभिमुख होंगे, वे उनसे लाभ उठाते रहेंगे और अपना कल्याण करेंगे ।

---

[५४]

विकार विजय

अज्ञानी और ज्ञानी के जीवन में बड़ा अन्तर होता है। बहुत बार दोनों की बाह्य क्रिया एक-सी दिखाई देती है, फिर भी उसके परिणाम में बहुत अधिक भिन्नता होती है। ज्ञानी का जीवन प्रकाश लेकर चलता है जबकि अज्ञानी अन्धकार में ही भटकता है। ज्ञानी का लक्ष्य स्थिर होता है, अज्ञानी के जीवन में कोई लक्ष्य प्रथम तो होता ही नहीं, अगर हुआ भी तो विचारपूर्ण नहीं होता। उसका ध्येय ऐहिक सुख प्राप्त करने तक ही सीमित होता है। फल यह होता है कि अज्ञानी जीव जो भी साधना करता है वह ऊपरी होती है, अन्तरंग को स्पर्श नहीं करती। उससे भवभ्रमण और बन्धन की वृद्धि होती है, आत्मा के बन्धन कटते नहीं।

ज्ञानी का अन्तस्तल एक दिव्य आलोक से जगमगाता रहता है। वह सांसारिक कृत्य करता है, गृहस्थी के दायित्व को भी निभाता है और व्यवहार-व्यापार भी करता है, फिर भी अन्तर में ज्ञानालोक होने से उनमें वह लिप्त नहीं होता। उसकी क्रियाएं अनासक्त भाव से सहज रूप में ही होती रहती हैं। इस तथ्य को समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए। एक अध्यात्मनिष्ठ सन्त भी भोजन करता है और एक रसलोलुप भी। बाहर से दोनों की क्रिया में अन्तर दिखाई नहीं देता। मगर दोनों की आन्तरिक वृत्ति में कितना अन्तर होता है? एक में लोलुपता है, जिह्वासुख भोगने की वृत्ति है और इस कारण, भोजन करते हुए वह चिकने कर्मों का बन्धन करता है तो दूसरे में पूर्ण अनासक्त भाव है। वह इन्द्रिय तृप्ति के लिए नहीं वरन् जीवन के उच्च ध्येय को प्राप्त करने में सहायक शरीर को टिकाये रखने की इच्छा से भोजन करता है। अतएव भोजन करते हुए भी वह कर्मबन्ध नहीं करता। यही पार्थक्य अन्यान्य क्रियाओं के विषय में भी समझ लेना चाहिए। ज्ञानी और अज्ञानी का अन्तर दिखलाते हुए कहा गया है—

जं अण्णाणी कम्मं, खवेइ कोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसास मेत्तेणं ।।

अज्ञानी जीव करोड़ों जन्मों में जितने कर्म खपाता है, ज्ञानीजन तीन गुप्तियों से गुप्त होकर एक उच्छ्वास जितने अल्प समय में ही उतने कर्मों का क्षय कर डालता है । कहां करोड़ों जन्म और कहां एक उच्छ्वास जितना समय ! इस अन्तर का कारण अन्तरंग में विद्यमान ज्ञान का आलोक ही है ।

ज्ञानी पुरुष के विहार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया है । वह जहां चाहे विचरण कर सकता है और जितनी भी दूर जाना चाहे, जा सकता है । गंगा का पानी फैलकर सुखद वातावरण का निर्माण करता है । क्षारयुक्त, विषाक्त और गटर के गन्दे जल पर नियन्त्रण की आवश्यकता है । अज्ञानी के साथ विषय, कषाय और बन्ध का विष फैलता है, जिससे उसकी आत्मा तो मलिन होती ही है, पर समाज का वातावरण भी कलुषित बनता है । फोड़े के बढ़ने से हानि की आशंका की जाती है, स्वस्थ अंग के बढ़ने में कोई खतरा नहीं, वह स्वस्थता का चिन्ह माना जाता है ।

गृहस्थ के जीवन में हिंसा और परिग्रह का विष घुला रहता है । उसके विस्तार से विष वृद्धि की संभावना रहती है, अतएव उस पर नियन्त्रण की आवश्यकता है । यही कारण है कि उसके गमनागमन पर प्रतिबन्ध लगाया गया है और उसे सीमित करने का विधान किया गया है । साधु के लिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है । उसका क्षेत्र सीमित नहीं किया गया, बल्कि उसके लिए एक स्थान पर न रहकर भ्रमण करते रहने का विधान किया गया है । उसे एक जगह नहीं टिकना है, क्योंकि वह 'अनगार' है और उसे भ्रमण ही करते रहना है, क्योंकि उसे भ्रमर (भ्रमणशील) की उपमा दी गई है । कहा है –

बहता पानी निर्मला, पड़ा गन्दीला होय ।
साधु तो रमता भला, दाग न लागे कोय ।।

साधु एक स्थान पर स्थिर हो जाएगा तो दूर-दूर तक उसके ज्ञान-प्रकाश की किरणें नहीं फैल सकेंगी । वह चलता-फिरता रहेगा तो जनसमाज को प्रकाश देगा, सत्प्रेरणा देगा । इस सामूहिक लाभ के साथ उसका निज का लाभ भी इसी में है कि वह स्थिर होकर एक जगह न रहे । एक जगह रहने से परिचय और सम्पर्क गाढ़ा होता है और उससे राग-द्वेष की वृत्तियां फलती-फूलती हैं । विचरणशील साधु अनिष्ट से सहज ही बच सकता है । साधु जहां भी जाएगा, प्रकाश की किरणें

फैलाएगा । ज्ञान, दर्शन-चारित्र का प्रचार भ्रमण बन्द होने से नहीं हो सकेगा और जन-जन को उनके जीवन और प्रवचन से जो प्रकाश मिलता है, वह नहीं मिल सकेगा । हाँ, साधु के लिए गमनागमन का निषेध वहीं है जहां जाने से उसके ज्ञान एवं चारित्र में बाधा उपस्थित होती हो ।

आनन्द ने अपने गमनागमन की मर्यादा की थी । सम्यग्दृष्टि विद्यमान होने से उसमें ज्ञान का प्रकाश था, पर चारित्र का पूर्ण प्रकाश नहीं था वह क्षेत्रीय सीमा निर्धारित करके अपनी कामनाओं को मर्यादित करने का प्रयत्न करने लगा । उसने ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा और तिरछी दिशा में गमनागमन करने का परिमाण बांध लिया ।

जिस साधक ने दिशा परिमाण व्रत अंगीकार किया है, उसे चलते-चलते रास्ते में सन्देह उत्पन्न हो जाय कि कहीं वह निर्धारित परिमाण का उल्लंघन तो नहीं कर रहा है ? फिर भी वह आगे चलता जाय तो उसका चलना व्रत का अतिचार है । ऐसा करने से व्रत में मलिनता उत्पन्न होती है । अगर साधक जानबूझ कर किसी कारण से परिमाण का उल्लंघन करता है तो अनाचार का सेवन करता है ।

सदिग्ध अवस्था में व्रत का जो उल्लंघन हो जाता है, वह अतिचार की कोटि में आता है, जैसे रात्रि भोजन त्यागी अगर सूर्योदय से पहले या सूर्यास्त के पश्चात् शंका की स्थिति में कार्य करे तो वह अतिचार है ।

स्वेच्छापूर्वक व्रतों को ग्रहण करने वाला साधक अतिचार से भी बचने की सावधानी रखता है और ऐसा प्रयत्न करता है कि उसका व्रत सर्वथा निर्दोष रहे, फिर भी भूल-चूक हो जाना स्वाभाविक है । ऐसी स्थिति में अगर व्रत दूषित हो जाता है मगर दूषित करने की इच्छा नहीं होती तो उसे व्रत का आंशिक विराधन ही समझा जाता है ।

वस्तुतः साधक का दृष्टिकोण पापों पर विजय प्राप्त करना है, जिन्होंने प्रत्येक संसारी जीव को अनादिकाल से अपने चंगुल में फंसा रखा है ।

'जे तु जीत्योरे ते मुझ जीतियो,
पुरुष किसुं मुझ नाम,

प्रभु के चरणों में आत्मनिवेदन का ढंग निराला होता है । अध्यात्म-भावना के रंग में रंगा हुआ साधक अपनी आन्तरिक निर्बलता का अनुभव करता है और उस पर विजय प्राप्त कर लेता है । उपर्युक्त पद्य में भक्त ने निवेदन किया है – प्रभो ! जिन काम क्रोध आदि विकारों को आपने पराजित कर दिया, उन विकारों ने मुझे

पराजित कर रखा है । कैसे मैं मर्द होने का दावा करूं ! हारे हुए से हारना मर्दानगी नहीं, नपुंसकता है । यह भक्त के निवेदन की एक विशिष्ट शैली है । इसमें प्रथम तो वह अपने विकारों पर विजय प्राप्त करने की उत्सुकता प्रकट करता है, दूसरे अपने असामर्थ्य के प्रति असन्तोष भी व्यक्त करता है ।

विकारों पर विजय प्राप्त करने की साधना दो प्रकार की है – द्रव्य साधना और भावसाधना । दोनों साधनाएं एक-दूसरी से निरपेक्ष होकर नहीं चल सकतीं, परस्पर सापेक्ष ही होती हैं । जब अन्तरंग में भावसाधना होती है तो बाह्य चेष्टाओं, क्रियाओं के रूप में वह व्यक्त हुए बिना नहीं रह सकती । अन्तरतर के भाव बाह्य व्यवहार में झलक ही पड़ते हैं । बल्कि सत्य तो यह है कि मनुष्य की बाह्य क्रियाएं उसकी आन्तरिक भावना का प्रायः दृश्यमान रूप है । हृदय में अहिंसा एवं करुणा की वृत्ति बलवती होगी तो जीवन रक्षा रूप बाह्य प्रवृत्ति स्वतः होगी । ऐसा मनुष्य किसी प्राणी को कष्ट नहीं देगा और किसी को कष्ट में देखेगा तो उसे कष्ट मुक्त करने का प्रयत्न करेगा । इस प्रकार बाह्य क्रियाकाण्ड तभी सजीव होता है जब उसके साथ आन्तरिक भावना का सम्मिश्रण हो । अगर वह न हुई तो क्रियाकाण्ड मात्र दिखावा होकर रह जाता है । वह 'स्व-पर' वंचना का साधन भी बन सकता है । अतएव साधना के जो दो भेद कहे गए हैं, वे केवल उसके दो रूप हैं, स्वतन्त्र दो पक्ष नहीं हैं ।

अपरिचित पथ पर चलने वाला पथिक पहले चले पथिकों के पदचिन्ह देखकर आगे बढ़ता है ताकि वह भटक न जाय । साधना मार्ग के बटोही को भी ऐसा ही करना चाहिए । पूर्वकालीन साधना के मार्ग पर चले हुए महापुरुषों के अनुभवों का लाभ हमें उठाना चाहिए, वीतरागों का स्मरण हमें प्रेरणा देता है, स्फूर्ति देता है, आत्मविश्वास जगाता है, और सही मार्ग से इधर-उधर भटकने से बचाता है । आदर्श महापुरुषों की शिक्षाओं से हमारे जीवन की अनेक समस्याओं का समाधान होता है, उलझनें सुलझ जाती हैं । आचार मार्ग में भी महापुरुषों के वचनों से अनेक प्रकार के लाभ होते हैं । भूधरजी महाराज ऐसे ही महापुरुषों में से एक थे ।

भूधर जी महराज विजयादशमी को ही इस धरती पर अवतरित हुए और विजयादशमी के दिन ही स्वर्गवासी हुए । यह एक विस्मयकारक घटना है, परन्तु महापुरुषों के जीवन के वास्तविक रहस्य को समझना बहुत कठिन है ।

मारवाड़ के प्रसिद्ध नगर सोजत में धन्नाजी महाराज का उपदेश सुनकर उनके चित्त में विराग उत्पन्न हुआ और वे उन्हीं के पास दीक्षित हो गए । दीक्षित होने के पश्चात्' उन्होंने संयम और तप का मार्ग ग्रहण किया । अपने अन्दर साधना की

ज्योति जगाई और वह ज्योति उन्हीं तक सीमित नहीं रही । अन्दर जब प्रकाश उत्पन्न होता है तो उसकी कतिपय किरणें बाहर प्रस्फुटित हुए बिना नहीं रहतीं । बाहर निकल कर वे किरणें कितने ही लोगों का पथ प्रशस्त करती हैं । भूधरजी महाराज के अन्तरतम में आलोक का जो पुंज उद्‌भूत हुआ, उससे सहस्रों नर-नारियों को मार्गदर्शन मिला । उनकी वाणी-गंगा में अवगाहन करके न जाने कितने लोगों ने अपने मन का मैल धोया ।

त्याग और तप की साधना से प्रमाद घटता है और प्रमाद के घटने से ज्ञान बढ़ता है । चारित्र की शोभा ज्ञान के बिना नहीं होती । ज्ञान और चारित्र का संगम ही सिद्धि प्राप्त करने का मार्ग है । भूधरजी महाराज इन दोनों ही क्षेत्रों में अग्रसर थे ।

एक बार भूधरजी महाराज का इन्दौर की ओर विहार हुआ । उस काल में किसी दुकान पर खुले रूप में प्रवचन करने का प्रचलन था । जिस गांव के प्रांगण में वे प्रवचन कर रहे थे, वहां होकर कुछ सैनिकों के साथ एक सेनाधिकारी निकला । मुनि के प्रवचन को सुनने की उत्कंठा से वह ठिठका । कुछ वाक्य कानों में पड़े तो रुक गया और आगे सुनने को उत्सुक हुआ । उनके ज्ञानपूर्ण भाषण से वह बहुत प्रभावित हुआ । उसके चेहरे पर जिज्ञासा की रेखाएं देख कर मुनिराज ने कहा – क्या कुछ पूछने की इच्छा है ?

वह अधिकारी जोधपुर के श्री भण्डारी थे । मुनिराज के प्रश्न को सुनते ही उन्हें एक नवीन कल्पना आई । बात यह थी कि वे दिल्ली बादशाह के यहां काम करते थे, उनकी शाहजादी गर्भवती हो गई थी । भण्डारीजी का विचार था कि– कोई दैवी कारण होगा नहीं तो शाहजादी ऐसी गलती नहीं कर सकती ? उनका यह विचार सत्य है या नहीं, इस विषय में मुनिराज से जानने का उन्होंने विचार किया । अतः उन्होंने मुनिराज से पूछा–"क्या पुरुष के साथ संभोग किये बिना भी कोई स्त्री गर्भवती हो सकती है ?"

भूधरजी स्वामी ने उत्तर दिया–"हाँ, ऐसा हो सकता है । गर्भाधान का कारण एक पुरुष संयोग ही नहीं है । भगवान् महावीर ने उसके पांच अन्य कारण भी बतलाए हैं । गर्भ पुरुष के संयोग से है अथवा अन्य कारण से, इसकी परीक्षा भी की जा सकती है ।

विज्ञान ने आज अपने भौतिक उपकरणों से इसके अन्वेषण की कुछ बातें जगत् के समक्ष रखी हैं किन्तु महर्षियों ने पहले ही अपने आत्मज्ञान के बल से जान लिया था ।

स्नान करते समय जल में मिले हुए वीर्य के पुद्गल स्त्री के गर्भाशय में प्रवेश कर सकते हैं। पुरुषों के बैठने के स्थान में रहे हुए वीर्य-पुद्गल, यदि स्त्री उसी स्थान में बैठ जाय तो कदाचित् उसके गर्भाशय में जा सकते हैं। इत्यादि परिस्थितियों में पुरुष के संसर्ग के बिना भी गर्भ रह सकता है। पुरुष के संसर्ग से जो गर्भाधान होता है उसमें गर्भ के शरीर में अस्थियों का निर्माण होता है, मगर अन्य कारणों से होने वाले गर्भ में मांसपिण्ड ही बनता है । उसमें अस्थि नहीं होती ।"

भण्डारीजी इस बात से बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने बादशाह के सामने यह बात रख कर शाहजादी के प्राण बचा लिये । बादशाह को जब पूज्य भूधरजी महाराज का परिचय प्राप्त हुआ तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ । उन्होंने पूज्य श्री के दर्शन कर अहिंसा धर्म का ज्ञान प्राप्त किया ।

एक बार पूज्य भूधरजी महाराज कालू नामक ग्राम में पधारे । यह ग्राम जोधपुर रियासत के अन्तर्गत है । आषाढ़ का महीना था गर्मी तेज गिर रही थी । मेघ घिर-घिर कर आते और बिखर जाते थे । किसानों में बड़ी व्यग्रता थी । बार-बार आशा बंधती और वह निराशा में परिणत हो जाती थी । प्रकृति कृषकों के साथ निष्ठुर क्रीड़ा कर रही थी ।

ऐसे समय में भूधरजी महाराज वहां पहुँचे थे । नदी वहां की सूखी पड़ी थी । तेज धूप पड़ने से नदी की रेत तप जाती थी । भूधर जी महाराज उस रेत में लेट कर आतापना लेते थे । आंखों की सुरक्षा के लिए वे उन पर पट्टी बांध लिया करते थे ।

एक दिन एक किसान उस ओर निकला । यद्यपि मुनि ने उसको कोई हानि नहीं पहुँचाई थी, फिर भी कषाय के वशीभूत होकर उसने उनके मस्तक पर लट्ठ का प्रहार कर दिया ।

भारत में और विशेषतः देहातों में अब भी अनेक प्रकार के अन्धविश्वास प्रचलित हैं । उस जमाने में तो और अधिक प्रचलित थे । संभवतः उस किसान ने सोचा कि यह साधु नदी की रेत में लेट कर वर्षा नहीं होने देता । इसी के कारण बादल आ-आ कर चले जाते हैं । इस विचार से उसको क्रोध आना स्वाभाविक था ।

मस्तक पर प्रहार होते ही रुधिर की धारा प्रवाहित होने लगी । बाबाजी ने गीले वस्त्र की पट्टी बांध ली । जब वे गांव में आए तो शोरगुल मच गया । प्रहार करने वाला पकड़ा गया और कड़ाह के नीचे दबा दिया गया । यह समाचार भूधरजी महाराज तक पहुँचा ।

मुनि क्षण भर के लिए सोच-विचार में पड़ गए । वे सोचने लगे–मेरे कारण एक अज्ञानी किसान के प्राण चले जाएंगे तो मैं इसे कैसे सहन कर सकूंगा । इस घटना से तो जैन शासन की भी बदनामी होगी ।

उसी समय उन्होंने अपने कर्त्तव्य का निर्णय कर लिया । मुनिजी ने घोषणा कर दी – "जब तक उस किसान को नहीं छोड़ दिया जाएगा, तब तक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूंगा ।"

मुनिराज की भीष्म प्रतिज्ञा सुन कर ग्राम के लोग सन्न रह गए । सर्वत्र उनकी दयालुता की भूरि-भूरि प्रशंसा होने लगी । उसी समय वह किसान छोड़ दिया गया । किसान के मन में भारी उथल-पुथल हुई । वह सोचने लगा "मैं जिसकी जान लेने पर उतारू हुआ, उसी ने मेरी जान बचाई । ऐसा महात्मा धन्य है । मैं कितना अधम हूँ कि एक निरपराध साधु को व्यथा पहुँचाने से न हिचका !"

श्री राम और महावीर स्वामी की कथाओं में भी करुणा का सजीव आदर्श उपलब्ध होता है, मगर उन्हें हुए बहुत काल हो चुका है । मगर भूधरजी महाराज को हुए तो लम्बा समय नहीं हुआ । वे आधुनिक काल के ही महापुरुषों में गिने जा सकते हैं । उनका ज्वलन्त जीवन हमारे समक्ष एक महान् आदर्श है ।

राम ने रावण की दानवी लीला समाप्त की । हमारी दृष्टि में आत्मा का शुद्ध स्वरूप ही राम का प्रतीक है। उन्होंने काम रूपी दशानन पर विजय प्राप्त की । रावण अपने समय का महान् शक्तिशाली राजा था । उसका जीवन वैसा पतित नहीं था जैसा साधारण लोग समझते हैं । वह बड़ा नीतिज्ञ और भक्त था । बाल्मीकि ने भी उसे महात्मा माना है । उसके जीवन में मर्यादा थी, इसी कारण सीता का शील सुरक्षित रह सका । फिर भी उसके प्रति आज भी घृणा प्रकट की जाती है । किन्तु आज समाज में रावण से बढ़ कर न जाने कितने महारावण मौजूद हैं । वे अपने हृदय को टटोल कर आज अपनी शुद्धि का संकल्प कर लें तो उनके लिए विजयादशमी वरदान सिद्ध होगी । जैसे राम, महावीर स्वामी तथा भूधरजी जैसे महापुरुषों ने अन्तःकरण के विकारों पर विजय प्राप्त की, वैसे ही हमें भी अपने विकारों को जीतना है । यही विजयादशमी का दिव्य संदेश है । जो विकार पर विजय प्राप्त करेंगे वे अपना इहलोक और परलोक सुधार सकेंगे । उन्हीं का कल्याण भी होगा ।

---

[५५]

भोगोपभोग-मर्यादा

भगवान् महावीर धर्म तीर्थंकर थे । उन्होंने ऐसे धर्मतीर्थ की प्ररूपणा की है जो प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक युग के लिए समान रूप से हितकारी है । अढ़ाई हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी जब महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्म के सिद्धान्तों के मर्म पर विचार करते हैं तो ऐसा लगता है, मानो इसी युग को लक्ष्य करके उन्होंने इन सिद्धान्तों का उपदेश किया है । उनके सिद्धान्त बहुत गंभीर और व्यापक हैं तथापि भगवान ने श्रुतधर्म और चारित्र धर्म की सीमा में सभी का समावेश कर दिया है ।

श्रुतधर्म का सम्बन्ध विचार के साथ और चारित्र धर्म का सम्बन्ध आचार के साथ है । आचार का उद्गम विचार है । विचार को बीज मान लिया जाय तो आचार उससे फूटने वाला अंकुर, पौधा, वृक्ष आदि सभी कुछ है । पहले विचार का निर्माण होता है फिर आचार· उत्पन्न होता है । हो सकता है कि कभी विचार आचार के रूप में परिणत न हो । बहुत बार ऐसा होता भी है । मगर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि विचार आचार का कारण नहीं है । ऐसे अवसर पर यही मानना होगा कि विचार में शिथिलता है, दृढ़ता नहीं आई है । उसे समुचित पोषण-सामग्री नहीं मिली है ।

विचार और आचार जीवन के दो पक्ष हैं । दोनों पक्ष यदि सशक्त होते हैं तो जीवन गतिशील बनता है और ऊँची उड़ान भरी जा सकती है । दोनों में से एक के अभाव में जीवन प्रगतिशील नहीं बन सकता ।

श्रुतधर्म में ज्ञान-दर्शन का समावेश है और चारित्र धर्म में आचार के व्रत, नियम, उपनियम आदि सभी अंगों का समावेश है ।

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि श्रुतधर्म मूल है तो व्रत-नियम आदि उसके फल हैं । श्रुतधर्म रूपी मूल अच्छा हो तो पत्र-पुष्प-फल आदि भी मजबूत होंगे । मूल के कमजोर होने से फल भी कमजोर होते हैं । फलों में सड़ांध या

विकृति का कारण वास्तव में मूल का परिपुष्ट न होना है। मूल पुष्ट होता है तो वह सड़ांध या विकृति का निराकरण कर देगा।

इसी प्रकार विचार-बल यदि पुष्ट हो तो साधक अहिंसा सत्य आदि व्रतों का ठीक तरह से निर्वाह कर सकेगा। मूल ढीला हुआ तो सामायिक में भी प्रमाद सताएगा या निद्रा आएगी। भगवान् महावीर स्वामी ने इन्हीं तथ्यों को सामने रखकर आनन्द आदि को उपदेश दिया है।

दिग्व्रत के अतिचारों के बारे में पहले चर्चा की गई है। वे पाँच हैं। (१) ऊर्ध्वदिशा के परिमाण का अतिक्रमण (२) अधोदिशा सम्बन्धी परिमाण का अतिक्रमण (३) तिर्छी दिशा सम्बन्धी परिमाण का अतिक्रमण (४) एक दिशा के परिमाण को घटाकर दूसरी दिशा के परिमाण को बढ़ा लेना और (५) किये हुए परिमाण का स्मरण न रखना। यह भी कहा जा चुका है कि परिमाण का उल्लंघन उसी स्थिति में अतिचार माना गया है जब सन्देह की स्थिति में किया गया हो। अगर जान-बूझ कर उल्लंघन किया जाय तो वह अनाचार हो जाता है।

भोगोपभोग परिमाण—भोजन, पानी, गंध, माला आदि जो वस्तु एक ही बार काम में आती है, वह उपभोग कहलाती है और जो वस्त्र, अलंकार, शय्या, आसन आदि वस्तुएं बारबार काम में लायी जाती हैं उन्हें परिभोग कहते हैं। श्रावक को ऐसी सब चीजों की मर्यादा कर लेनी चाहिए जिससे शान्ति और सन्तोष का लाभ हो, निरर्थक चिन्ता न करनी पड़े, तृष्णा पर अंकुश लग सके और जीवन हल्का हो। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को जितनी कम कर लेगा, उतनी ही अधिक शान्ति उसे प्राप्त हो सकेगी। अगर अपनी भोगोपभोग सम्बन्धी इच्छा को नियन्त्रित नहीं किया गया तो जिन्दगी उसके पीछे बर्बाद हो जाती है। भोगोपभोग के लिए ही मनुष्य हिंसा करता है, असत्य भाषण करता है, अदत्त ग्रहण करता है, कुशील सेवन करता है, और संग्रह परायण बनता है। यदि भोगोपभोग की लालसा कम हो गई तो हिंसा आदि पापों से स्वतः ही बचाव हो जाता है। कई ब्राह्मण पुजारियों ने मन्दिरों में दी जाने वाली बलि को बन्द करा दिया है। उन्होंने यह कह कर हिंसा रुकवा दी कि अभी मेरे रहते मिष्ठान्न का भोग लगने दो। मेरे न रहने के बाद जो चाहो सो करना। ऐसी बात वही कह सकता है जिसमें मांसभक्षण की लालसा न हो। वास्तव में भोग की लालसा न हो तो हिंसा जैसे अनेक बड़े-बड़े पापों से पिण्ड छूट जाए।

इस प्रकार भोगोपभोग के साथ पापों का अनिवार्य सम्बन्ध है। भोगोपभोग की लालसा जितनी तीव्र होगी, पाप भी उतने ही तीव्र होंगे। अतएव जो साधक

पापों से बचना चाहता है उसे भोगोपभोग के साधनों में कमी करनी चाहिए । कमी करने का अच्छा उपाय यही है कि उनका परिमाण निश्चित कर लिया जाय और धीरे-धीरे यथायोग्य उसमें भी कमी करता जाय । ऐसा करने वाला स्वयं ही अनुभव करने लगेगा कि उसके जीवन में शान्ति बढ़ती जा रही है, एक प्रकार की लघुता और निराकुलता आ रही है ।

भोगोपभोग के दो प्रकार बतलाए गए हैं, यथा–

(१) भोजन सम्बन्धी, जैसे खाना पहनना, आदि ।
(२) कर्म सम्बन्धी ।

किसी भुक्तभोगी ने ठीक ही कहा है–

पेट राम ने बुरा बनाया, खाने को मांगे रोटी ।
पड़े पाव भर चून पेट में, तब फुरके बोटी-बोटी ।।

भोगोपभोग की प्रवृत्ति के वशीभूत होकर मनुष्य ऐसे क्रूरतापूर्ण कार्य कर डालता है कि जिनमें पशु-पक्षियों की हत्या होती है । भोगोपभोग की लालसा की बदौलत ही मनुष्य रक्त की धाराएं प्रवाहित करता है । उसे पाप करते समय तो कुछ जोर नहीं पड़ता, हँसते-हँसते भयानक पाप कर डालता है, मगर उनका फल भोगते समय भीषण स्थिति होती है। हम अनेक मानवों और मानवेतर प्राणियों को घोर व्यथा, अतिशय दारुण वेदना भोगते और छटपटाते देखते हैं । यह सब उनके पापकर्म का ही प्रतिफल है । अगर इस तथ्य को मानव भलीभाँति समझ ले तो भोगोपभोग के पीछे न पड़ कर बहुत से पापों से बच सकेगा ।

हिंसा को सहन करने वाला और उसमें सहयोग देने वाला भी हिंसा के फल का भागी होता है । प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से बलि प्रथा को सहकार देना महान् पातक है । जिन कार्यों से हिंसा को प्रोत्साहन मिलता हो और जिन स्थानों में हिंसा होती हो और जो कर्मबन्ध के कारण हों उनके साथ असहयोग करना चाहिए। ऐसा करने से दो लाभ होंगे – अज्ञानतावश ऐसे दुष्कर्म करने वालों का हृदय-परिवर्तन होगा और स्वयं को पाप से बचाया जा सकेगा । अज्ञानी जनों को सही राह न बतलाना भी अपने कर्त्तव्य से मुंह मोड़ना है । पुण्य योग से जिसे विचार और विवेक प्राप्त हुआ है, जिसने धर्म के समीचीन स्वरूप को समझा है और जिसे धर्म के प्रसार करने की लगन है, उसका यह परम कर्तव्य है कि वह अज्ञानी जनों को सन्मार्ग दिखलाए । इस दिशा में अपने कर्तव्य का अवश्य पालन करना चाहिए । यह धर्म की बड़ी से बड़ी प्रभावना है ।

भोगोपभोग की सामग्री परिग्रह है और उसकी वृद्धि परिग्रह की ही वृद्धि है। परिग्रह की वृद्धि से हिंसा की वृद्धि होती है और हिंसा की वृद्धि से पाप की वृद्धि होती है । साधारण स्थिति का आदमी भी दूसरों की देखा-देखी उत्तम वस्तुएं रखना चाहता है । उसे सुन्दर और मूल्यवान फर्नीचर चाहिए, चांदी के बर्तन चाहिए, पानदान चाहिए, मोटर चाहिए और पड़ौसी के यहां जो कुछ अच्छा है सब चाहिए । जब सामान्य न्याय संगत प्रयास से वे नहीं प्राप्त होते तो उनके लिए अनीति और अधर्म का आश्रय लिया जाता है । अतएव मनुष्य के लिए यही उचित है कि वह अल्प सन्तोषी हो अर्थात् सहजभाव से जो साधन उपलब्ध हो जायं, उनसे ही अपना निर्वाह कर ले और शान्ति के साथ जीवंनयापन करे । ऐसा करने से वह अनेक पापों से बच जायेगा और उसका भविष्य उज्ज्वल बनेगा ।

पूर्णरूप से त्यागमय जीवन यापन करने वाले भोगोपभोग की सामग्री से विमुख ही रहते हैं । भोगोपभोग की वस्तुएं दो कोटि की होती हैं–

(१) निर्जीव भोग्य और उपभोग्य पदार्थ, और

(२) सजीव जैसे हाथी, घोड़ा, फूलमाला आदि ।

यद्यपि पूर्ण त्यागी को भी जीवन-निर्वाह के लिए भोगोपभोग की वस्तुओं को ग्रहण और उनका उपयोग करना पड़ता है, तथापि वह उनके उपयोग में आनन्द या शौक नहीं मानता । वह उन्हें जीवनयापन का अनिवार्य साधन समझ कर ही काम में लेता है । आसन, वसन, अशन आदि उसके लिए उपभोग्य नहीं वरन् जीवन-निर्वाह के साधन मात्र होते हैं ।

भावना में यदि अनासक्ति है तो कोई भी जीवन-निर्वाह का साधन भोग या परिग्रह नहीं बनता । आसक्ति होने पर सभी पदार्थ परिग्रह हो जाते हैं । स्थूलभद्र ने वेश्यालय में चार मास व्यतीत किए किन्तु परिपूर्ण अनासक्ति के कारण वे बेदाग रहे । आचार्य संभूतिविजय ने अपने तीन मुनियों को धन्यवाद दिया, और स्थूलभद्र ने काम-विजय कर जो सिद्धि पाई, उसके लिए उन्होंने 'दुष्करम् अतिदुष्करम्' कह कर अपना प्रमोद प्रकट किया । काम-विजय को सर्वाधिक महत्व देना गुरु महाराज का लक्ष्य था और यह उचित भी था किन्तु अन्य मुनियों को लगा कि गुरुजी ने पक्षपात किया है । वे सोचने लगे कि वेश्या के घर में रह कर चार मास व्यतीत कर लेना कौन बड़ी बात है । इसमें 'अति दुष्कर' क्या है !

'वक्त्रं वक्ति हि मानसम्' इस कहावत का अर्थ यह है कि मनुष्य का चेहरा ही उसके मन की बात प्रकट कर देता है । भावभंगिमा को देख कर दूसरे के हृदय की थाह ली जा सकती है , अपने अन्य शिष्यों के चेहरों को देख कर विचक्षण

प्रतिभाशाली गुरु भांप गए कि इन्हें मेरे निर्णय से सन्तोष नहीं है । मगर उन्होंने सोचा–अभी इस सम्बंध में ऊहापोह करने का अवसर नहीं है । उपयुक्त अवसर आने पर इन्हें समझाना होगा ।

तीनों मुनि सोचने लगे–अगला चातुर्मासावास हम लोग वेश्या के घर करेंगे और वहीं ध्यान लगा कर गुरु महाराज से प्रशंसा प्राप्त करेंगे ।

शेर की गुफा, सर्प की बांबी और कुएँ की पाल पर रह कर आने वाले मुनि काम-विजय की दुष्करता को नहीं समझते थे । उन्हे ख्याल नहीं आया कि काम-विजय संसार में सब से बड़ी विजय है और जो काम को जीत लेता है वह क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह को अनायास ही जीत लेता है । काम को जीतने के लिए अपनी मनोवृत्तियों को पूरी तरह वशीभूत करना पड़ता है और निरन्तर मन की चौकसी रखनी पड़ती है । तनिक देर के प्रमाद से भी काम-विजय के लिए की जाने वाली चिर-साधना नष्ट हो जाती है । ब्रह्मा, विष्णु, और महेश जैसे तथा रावण जैसे बली राजाओं को भी जो जीत सकता है, उस काम को जीतना क्या साधारण बात है ? उसके लिए बड़ी तपस्या चाहिए । मन को मेरु के समान अचल बनाना होता है और अन्तःस्तल के किसी भी कोने में मोह या राग न रह जाए, इस बात की सावधानी बरतनी पड़ती है। आग पत्थर के फर्श पर गिर कर बुझ जाती है और घास की गंजी (ढेरी) में गिर कर सहस्रों ज्वालाओं के रूप में प्रज्वलित हो उठती है । काम-विजेता को अपना हृदय पत्थर के समान मजबूत बनाना पड़ता है ।

स्थूलभद्र ने अपने हृदय को पूरी तरह साध लिया था । काम-राग की गहरी घुसी हुई वृत्ति का उन्मूलन कर दिया था । अतः उनकी विजय महान् थी । इस विजय के महत्व को अन्य तीन मुनि ईर्ष्या के आवेग के कारण नहीं समझ सके ।

शीतकाल चल रहा था । तीनों मुनियों में इन दिनों कुछ विशेष घनिष्ठता कायम हो गयी थी । वे एक-दूसरे के प्रति अधिक सहानुभूति रखने लगे थे । शेर की गुफा वाले मुनि का सम्मान अन्य दो से कुछ अधिक था । निःशस्त्र रह कर शेर के सामने जाना और उससे मैत्री रखना भी कोई आसान काम नहीं था । उसने अपने सौम्य भाव एवं दृष्टि से सिंह की हिंसक शक्ति को एवं उसके क्रूरतर स्वभाव को भी वश में कर लिया था । ऐसी स्थिति में स्वाभाविक ही था कि उस मुनि का सम्मान तीनों में अधिक होता ।

तीनों मुनि शीतकालीन तपःसाधना में निरत हो गए । साधु शब्द का अर्थ ही है–साधनाशील । मगर सामान्य संसारी जीवों की अपेक्षा उसकी साधना निराली होती

है। सामान्य लोग भौतिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए साधना करते हैं; जब कि साधु उनके त्याग की और उनकी अभिलाषा न करने की साधना करता है । शुद्ध आत्मोपलब्धि ही उसकी साधना का उद्देश्य होता है ।

गृहस्थ और साधु के जीवन की साधनाएं दो प्रकार की होती हैं– सामान्य साधना और विशिष्ट साधना । षट् आवश्यक करना, स्वाध्याय करना, ध्यान करना, व्रतों का पालन करना आदि दैनिक साधना सामान्य साधना कहलाती हैं । विशेष साधना वह है जो विशिष्ट पर्व आदि के अवसरों पर की जाती है । चातुर्मास के समय की जाने वाली अतिरिक्त साधना भी विशिष्ट साधना के अन्तर्गत है ।

सामान्य साधना के समय तीनों मुनियों के मन में ईर्ष्याभाव था । ईर्ष्या के बदले अगर स्पर्द्धा का भाव होता और वे काम-विजय के लिए चित्त को वशीभूत करने का विशिष्ट अभ्यास करते तो उनके हित में अच्छा होता । स्वस्थ स्पर्द्धा दूसरे के उत्थान एवं विकास में बाधक नहीं बनती । उसमें दूसरों का भी विकास वांछित होता है पर उसकी अपेक्षा अपना अधिक विकास अभीष्ट होता है । अतएव यह एक अच्छा गुण कहा जा सकता है । दान, सेवा, ईश्वर-भक्ति, स्वाध्याय, सत्संग आदि में प्रतिस्पर्द्धा का भाव हो तो अवांछनीय नहीं वरन् अभिनन्दनीय गिना जा सकता है, मगर ईर्ष्या होना अनुचित है । ईर्ष्या में दूसरे के प्रति जलन होती है, द्वेष होता है । इससे आत्मा मलिन बनती है । ईर्ष्यालु व्यक्ति दूसरे को गिराने का षड्यन्त्र रचता रहता है और ऐसी दूषित भावना से वह स्वयं गिर जाता है, दूसरा कदाचित् गिरे या न भी गिरे ।

एक बार तीनों मुनियों ने परस्पर विचार-विमर्श किया और वे मिलकर गुरुजी के निकट पहुँचे । यथोचित वन्दन एवं नमस्कार करके उन्होंने सिंहगुफावासी मुनि के लिए रूपकोषा के घर जाकर साधना करने की अनुमति मांगी ।

गुरुजी बड़े असमंजस में पड़ गए । वे इन मुनियों के मनोभाव को भलीभाँति जानते थे । उन्हें पता था कि साधना की इस मांग के पीछे सहज भाव नहीं है, अहंकार को तुष्ट करने की ही भावना प्रधान है । स्थूलभद्र के प्रति ईर्ष्याभाव ने इन्हें इसके लिए उद्यत किया है । स्थूलभद्र जिस वासना पर विजय प्राप्त करके यशस्वी बने, उसे जीतना प्रत्येक के लिए सरल नहीं है । ऐसी पात्रता प्राप्त करने के लिए विशिष्ट भूमिका होनी चाहिए । इन तीनों में अभी तक उस भूमिका का निर्माण नहीं हो सका है । सिंहगुफावासी अनगार सात्विक भाव वाला है अवश्य, पर इस समय ईर्ष्या के कारण उसके सात्विक भाव में कुछ मलिनता ही आई है । उत्कर्ष के बदले इसकी विशुद्धि का अपकर्ष हुआ है । नीतिकार कहते हैं ।

घृत कुम्भसमा नारी, तप्तांगारसमः पुमान् ।
तस्मात् घृतस्य कुम्भं च न तत्र स्थापयेद् बुध : ।।

नारी घी का घड़ा है और पुरुष तपा हुआ अंगार । इन दोनों को एक जगह रखने वाला पुरुष बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता ।

गुरु संभूतिविजय बड़ी दुविधा में थे । उनका मन अनुमति देने को तैयार न था । वे उस मुनि के संयम को संकट में नहीं डालना चाहते थे । भला कौन ऐसा गुरु होगा जो अपने शिष्य को असंयम के गहरे गर्त में गिराने की इच्छा करे ? गुरु और शिष्य का सम्बन्ध संयम की वृद्धि के लिए होता है, अन्यथा पिता, भ्राता आदि से नाता तोड़ कर गुरु के नाम पर नया नाता जोड़ने की आवश्यकता ही क्या थी ? एक साधना का अभिलाषी नौसिखिया किसी अनुभवी की शरण में जाता है और निवेदन करता है–"भगवन् ! मैं साधना के इस अपरिचित और गहन पथ पर चलना चाहता हूँ । आप इस पथ के अनुभवी हैं । इस मार्ग में आने वाली विघ्न-बाधाओं से परिचित हैं । अनुग्रह करके मुझे अपनी शरण में लीजिए, मेरा पथ-प्रदर्शन कीजिए और संसार-अटवी से पार होने में मेरी सहायता कीजिए ।"

अनुभवी साधक सोचता है–"इसे ग्रहण करने के कारण मेरी एकाग्र साधना में कुछ बाधा आएगी, मगर दूसरे की साधना में निस्पृह भाव से सहायक होना भी साधना का एक अंग है । इसके अतिरिक्त जिन शासन की परम्परा को निरन्तर चालू रखने के लिए भी यह आवश्यक है कि साधना क्षेत्र में आने वाले अनुभवहीन जनों का मार्गदर्शन किया जाय । अगर मेरे गुरुजी ने मुझे शरण न दी होती तो मैं आज इस स्थिति में कैसे आता ? जब मैंने किसी की छत्रछाया ली तो उस ऋण को चुकाने के लिए भी यह आवश्यक है कि मैं किसी अन्य को अपनी छत्रछाया प्रदान करूं ।"

गुरु और शिष्य के सम्बन्ध का यह शास्त्रीय आधार है । पुराने परिवार को त्याग कर नया परिवार बनाना इस सम्बन्ध का उद्देश्य नहीं है । हुकूमत चलाने या प्रतिष्ठा पाने के लिए चेलों की फौज नहीं बनाई जाती । ऐसी स्थिति में गुरु अपने शिष्य को ऐसी ही अनुमति देगा जिससे उसके संयम की वृद्धि हो । वह ऐसा आदे। कदापि न देगा जिससे संयम को खतरा उपस्थित हो जाए ।

गुरु संभूतिविजय इसी कारण उन मुनियों की प्रार्थना को सुनकर 'हां' नहीं कह सके । वे मौन ही रह गए ।

जब शिष्यों ने देखा कि गुरुजी मौन हैं तो 'मौनं सम्मतिलक्षणम्' अर्थात् चुप्पी सहमति का लक्षण है, यह समझ कर वे वहां से चल दिए । सिंह गुफावासी अनगार रूपकोषा के घर जाने को उद्यत हो गए । आगे की घटना प्रसंग आने पर विदित होगी । हमें इस घटना से यह सीखना है कि ईर्ष्या के बदले यदि सात्विक स्पर्द्धाभाव से काम लिया जाय तो इहलोक-परलोक में कल्याण हो सकता है।

---

[५६]

भोगोपभोगव्रत की विशुद्धि

मुक्ति के लिए प्रयाण करने वाले प्रत्येक पुरुष के लिए यह आवश्यक है कि वह जगत् के समस्त प्राणियों के प्रति समभाव धारण करे और उनके सुख-दुःख को अपने ही सुख-दुःख के समान समझे । त्रस और स्थावर जितने भी प्रकार के जीव हैं, सब के प्रति मैत्रीभाव का धारण करना अध्यात्म-साधना का अनिवार्य अंग है ।

भगवान् महावीर स्वामी ने त्रसजीवों के समान स्थावर जीवों की रक्षा करना भी आवश्यक बतलाया है, मगर सभी साधकों की योग्यता और पात्रता समान नहीं होती । हाथी का पलान (बोझ) हाथी ही संभाल सकता है । प्रत्येक स्तर के मनुष्य के लिए यदि समान साधना का विधान किया जाय तो वह सबके लिये समान रुप से अनुकूल नहीं होगा । वह यदि गृहत्यागी अनगार के योग्य होगा तो गृहस्थ उससे लाभ नहीं उठा सकेंगे और उनका जीवन साधना विहीन रह जायगा । अगर वह विधान गृहस्थ के योग्य हुआ तो साधुओं को भी गृहस्थों के समान होकर रहना पड़ेगा । इस प्रकार दोनों तरफ से हानि होगी ।

इस स्थिति को सामने रखकर महावीर स्वामी और उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों ने सभी स्तर के साधकों के लिए भिन्न-भिन्न साधना क्षेत्रों का विधान कर दिया है । मुनिधर्म में सम्पूर्ण विरति का विधान है और गृहस्थ धर्म में देशविरति का । यहां इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि साधु और गृहस्थ के धर्म में कोई विरोध नहीं है, वस्तुतः एक ही प्रकार के धर्मों के पूर्ण और अपूर्ण दो स्तर हैं । साधु भी अहिंसा का पालन करता है और गृहस्थ भी । किन्तु गृहव्यवहार से निवृत्त होने और भिक्षाजीवी होने के कारण साधु त्रस और स्थावर दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा से बच सकता है किन्तु गृहस्थ के लिये यह संभव नहीं है । उसे युद्ध, कृषि, व्यापार आदि ऐसे कार्य करने पड़ते हैं जिनमें हिंसा अनिवार्य है । अतएव स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग उसके लिए अनिवार्य नहीं रखा गया । त्रस जीवों की हिंसा में भी

केवल निरपराध जीवों की संकल्पी हिंसा का ही त्याग आवश्यक बतलाया है । इससे अधिक त्याग करने वाला अधिक लाभ का भागी होता है किन्तु देशविरति अंगीकार करने के लिए इतना त्याग तो आवश्यक है । इसी प्रकार अन्यान्य व्रतों में भी गृहस्थ को छूट दी गई है ।

गृहस्थ ने जिस सीमा तक जो व्रत अंगीकार किया है, उसका पालन कष्टों और विघ्न-बाधाओं का सामना करके भी वह करता है । व्रत के मार्ग में आने वाली सभी कठिनाइयों को वह दृढ़तापूर्वक सहन करता है । जिन सीमाओं तक उसने मनोवृत्ति को वश में करने का व्रत लिया है, उसका वह पालन करेगा । यही नहीं, सम्पूर्ण रूप से विरति का पालन करना उसका लक्ष्य होगा और वह उस लक्ष्य की ओर बढ़ने का निरन्तर प्रयास करेगा । यह बात दूसरी है कि वह उस ओर बढ़ पाता है या नहीं और यदि बढ़ पाता है तो कितना ?

आनन्द श्रावक के चरित्र में श्रावक जीवन की एक अच्छी झांकी हमें मिलती है । उसने भोगोपभोग के साधनों की जो मर्यादा की थी, शास्त्र में उसका दिग्दर्शन (विवरण) मिलता है । भोगोपभोग के नियमन सम्बन्धी व्रत के दो विभाग हैं–भोजन सम्बन्धी और कर्म सम्बन्धी । कर्म सम्बन्धी भोगोपभोग में जो मर्यादा की जाती है, उसे भगवान् महावीर ने समझा दिया है । उस पर आप ध्यान देंगे तो विदित हो जाएगा कि श्रावक का शास्त्रीय जीवन वैसा नहीं जैसा आज दिखाई देता है, वरन् वह निराले ही ढंग का होता है ।

गृहस्थ भले ही श्रावक जीवन में रहता है, मगर उसका लक्ष्य 'मुनिजीवन' होता है । मुनिजीवन एक प्रकार से पराश्रित है, क्योंकि मुनि गृहस्थ के यहां से निर्वाह योग्य वस्तु पाता है । गृहस्थ जिन वस्तुओं का उपयोग करता होगा, वही वस्तुएं साधु को प्राप्त हो सकेंगी, उन्हें ही वह दे सकेगा । सोने-चांदी के पात्रों में खाने वाला यदि काष्ठपात्र न रखता हो तो अवसर आने पर काष्ठपात्र मुनि को कैसे दे सकेगा ? हां तो यहां पहले भोजन सम्बन्धी भोगोपभोग परिमाण व्रत के पाँच अतिचार बताये हैं, जो इस प्रकार हैं–

(१) सचित्ताहार– व्रत में त्यागी हुई सचित्त वस्तुओं का असावधानी या भ्रम के कारण सेवन करना सचित्ताहार नामक अतिचार है । इस अतिचार से बचने के लिए श्रावक को सदा सावधान रहकर त्यागी हुई सचित्त वस्तुओं के सेवन से बचना चाहिए ।

(२) सचित्त से सम्बद्ध वस्तु का आहार–यदि कोई वस्तु अचित्त होते हुए भी सचित्त से प्रतिबद्ध है तो वह आहार के योग्य नहीं है, जैसे बबूल या किसी

अन्य वृक्ष से गोंद निकाल कर उसका सेवन करना। अनेक परिपक्व वस्तुएं भी बर्फ आदि के साथ रखी जाती हैं जिससे अधिक समय सुरक्षित रह सकें–जल्दी खराब न हो जाएं। दूध, दही, घृत आदि अचित्त पदार्थ हैं तथापि यदि सचित्त से सम्बन्धित हों तो उनको ग्रहण करना भी अतिचार है।

(३) पूरी पकी नहीं, पूरी कच्ची भी नहीं–गृहस्थी में ऐसे भी खाद्य-पदार्थ तैयार किये जाते हैं जो अधपके या अधकच्चे कहे जा सकते हैं। मोगरी आदि वनस्पतियों को तवे पर छोंक कर जल्दी उतार लिया जाता है। उनका पूरा परिपाक नहीं होता। उनमें सचित्तता रह जाती है। अतएव जो सचित्त का त्यागी है, उसके लिए ऐसे पदार्थ ग्राह्य नहीं हैं। उनके सेवन से व्रत दूषित होता है।

(४) अभिपक्वाहार–इसका अर्थ है सड़े-गले फल आदि का सेवन करना। ऐसे पदार्थों के सेवन से त्रसजीवों की हिंसा होती है और असावधानी में वे खाने में भी आ सकते हैं। प्रत्येक खाद्य पदार्थ की एक अवधि होती हैं तब तक वह ठीक रहता है। अधिक समय बीत जाने पर वह सड़ जाता है, गल जाता है या घुन जाता है। उसमें जीव-जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में वह खाद्य नहीं रहता। अधिक दिनों तक रखने से मिष्ठान्नों में भी जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं। वह न खाने योग्य रहते हैं और न खिलाने योग्य। पशुओं को भी ऐसी चीज नहीं खिलाना चाहिए। अनुचित लालच और अविवेक के कारण मनुष्य इन्हें खाकर या खिलाकर महाहिंसा के कारण बन जाते हैं। इससे अनेक रोगों की भी उत्पत्ति होती है। अन्यान्य खाद्य वस्तुओं में भी नियत समय के पश्चात् जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। अतएव गृहस्थों को, विशेषतः बहिनों को इस विषय में खूब सावधानी बरतनी चाहिए। खाने के लिये उपयोग करने से पहले प्रत्येक खाद्य पदार्थ की बारीकी से जाँच कर लेनी चाहिए। बहुत बार खाद्य वस्तु में विकृति तो हो जाती है परन्तु देखने वाले को सहसा मालूम नहीं होती। अतएव वस्तु के वर्ण, गंध आदि की परीक्षा कर लेनी चाहिए। अगर वर्ण, गंध आदि में परिवर्तन हो गया हो तो उसे अखाद्य समझना चाहिए। अगर खान-पान सम्बन्धी मर्यादा पर पूरा ध्यान दिया जाय और बहिनें विवेक एवं यतना से काम लें तो बहुत-से निरर्थक पापों से बचाव हो सकता है और स्वास्थ्य भी संकट में पड़ने से बच सकता है।

मनुष्य बाहरी तुच्छ हानि-लाभ की सोचता है, मगर यह नहीं देखता कि समय बीत जाने के कारण यह वस्तु त्याज्य हो गई है। यदि इसका सेवन किया जाएगा, तो कितनी हिंसा होगी, यह विचार बहुत कम लोगों में होता है। श्रावक-श्राविका की दृष्टि पाप से बचने की होती है, आर्थिक हानि-लाभ उसकी तुलना में गौण होते हैं।

अतएव जिस वस्तु का स्वाद बदल जाय, गंध बदल जाय और रंगरूप बदल जाय, उसे अभक्ष्य जान कर श्रावक कार्य में नहीं लेता–न ही लेना चाहिए ।

विभिन्न वस्तुओं के विभिन्न स्वभाव हैं । कोई वस्तु शीघ्र बिगड़ जाती है, कोई देर में बिगड़ती है। उनका बिगड़ना मौसम पर भी निर्भर है । अतएव सब चीजों के लिए कोई एक समय निर्धारित नहीं किया जा सकता । गृहस्थ यदि सावधान रहे तो अपने अनुभव से ही यह सब समझ सकता है । बहिनों को इस सम्बन्ध में खूब सावधान रहना चाहिए ।

(५) तुच्छ औषधिभक्षण–भोजन करने का साक्षात् प्रयोजन भूख को उपशान्त करना है । जिस वस्तु को खाने से वह प्रयोजन सिद्ध न हो, उसे नहीं खाना चाहिए । विवेकमान गृहस्थ यह लक्ष्य रखता है कि काम बने, भूख मिटे और वस्तु व्यर्थ न बिगड़े । सीताफल, तिन्दुकफल आदि में बीज बहुत होते हैं । उनमें खाद्य अंश अत्यल्प होता है । उनके खाने से शरीर निर्वाह हो जाय ऐसी बात नहीं है । जिस वस्तु के सेवन से शरीर की यात्रा का निर्वाह न हो और उस वस्तु की भी हानि हो, उसके सेवन से भला क्या लाभ है । उदर की पूर्ति हो, शरीर का निर्वाह हो और अधिक हिंसा भी न हो, यही विचार उत्तम है । केवल थोड़ी-सी देर के स्वाद-सुख के लिए किसी वस्तु को खाना और हिंसा का भागी बनना श्रावक पसन्द नहीं करता । श्रावक अपने भोजन के विषय में विवेकयुक्त होता है । जिसमें विवेक नहीं होता, वह खाने के विषय में कम सोचता है । स्वादलोलुप न हिंसा-अहिंसा का विचार करता है न हित-अहित की बात सोचता है और न अन्य प्रकार के हानि-लाभों का विचार करता है ।

आज फल, मक्खन, घृत आदि पदार्थ विदेशों से सीलबन्द होकर भारत आ रहे हैं । यह कैसी बिडम्बना है । जिस देश में गाय को माता माना जाता हो और उसकी पूजा की जाती हो वह देश मक्खन जैसी चीज भी विदेश से मंगवाए । जो देश कृषिप्रधान गिना जाता हो उसे विदेशों की दया पर निर्भर रहना पड़े और उदरपूर्ति के लिए उनका मुख ताकना पड़े, यह भारतीय जनों के लिए क्या शोचनीय स्थिति नहीं है ?

जब देश में खाद्य पदार्थों की कमी हो तब खास तौर पर ध्यान रखना चाहिए कि कोई खाद्य पदार्थ बिगड़ने न पावे । इससे लौकिक और धार्मिक दोनों लाभ होंगे । पर इधर कितना ध्यान दिया जा रहा है ?

आज लोगों की सात्विक वृत्ति कम हो रही है । खाद्य-अखाद्य का कोई ध्यान नहीं रखा जा रहा है । मिलावट करना मामूली बात हो गई है । भाग्य से ही

कोई चीज शुद्ध मिल सकती है, अन्यथा किसी में कुछ और किसी में कुछ मिलाया जा रहा है और लोग विवश होकर ऐसे पदार्थों को खरीदते हैं । दूध और आटे जैसी वस्तुओं का, जो शरीर एवं जीवन के लिए उपयोगी मानी गई हैं, शुद्ध रूप में प्राप्त होना कितना कठिन हो गया है, इस बात को आप भली-भांति जानते हैं । केमिकल के नाम पर क्या-क्या मिलाया जाता है, इसका क्या पता है ? पैक की हुई वस्तुओं पर भी आज भरोसा नहीं रह गया है । अभी यह स्थिति है तो आगे आने वाले समय में क्या स्थिति होगी, कहा नहीं जा सकता । इन बातों का उल्लेख किया जा रहा है कि धर्म का आधार नैतिकता नहीं वहां धर्म ठहर नहीं सकता । अतएव धर्म की प्रतिष्ठा के लिए जीवन में नैतिकता आना आवश्यक है । आज नैतिकता के ह्रास के कारण लोगों के हृदय में से धर्म का भाव भी नष्ट होता जा रहा है ।

आज भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार न करके मनुष्य उच्छृंखल प्रवृत्ति का परिचय दे रहा है, किन्तु याद रखना चाहिए कि आहार बिगड़ने से विचार बिगड़ता है और विचार बिगड़ने से आचार में विकृति आती है । जब आचार विकृत होता है तो जीवन भी विकृत बन जाता है । शास्त्र में कहा है–

'आहार मिच्छे मियमेसणिज्जं ।'

एक शिष्य ने गुरु से प्रश्न किया–काम, क्रोध, मोह आदि विकारों पर कैसे विजय प्राप्त की जाय ? तो गुरु ने उत्तर दिया – तेरा आहार आवश्यकता के अनुसार और निर्दोष होना चाहिए । इससे मन में सात्विकता आएगी, मन शुद्ध होगा। साधना के मार्ग में सजग रह कर चलने वाला ही अपना जीवन ऊंचा उठा सकता है ।

बहुत-से विवेकहीन लोग स्वाद के लोभ में पड़ कर आवश्यकता से अधिक खा जाते हैं । भोजन स्वादिष्ट हुआ तो ठूंस-ठूस कर उसे पेट में भरते हैं । यदि अन्न पराया हुआ तब तो पूछना ही क्या है । पेटू लोगों ने कहा है–

परान्नं प्राप्य दुर्बुद्धे, शरीरे मा दयां कुरु ।
परान्नं दुर्लभं लोके, शरीरं हि पुनः पुनः ।।

अर्थात्–अरे मूर्ख ? पराया अन्न मिले तो शरीर पर दया मत कर । शरीर मिल सकता है, किन्तु पराया अन्न दुर्लभ है । जहां लोगों की ऐसी दृष्टि हो वहां क्या कहा जाय, वे जीवन के लिए भोजन समझने के बजाय भोजन के लिए जीवन समझते हैं । किन्तु भगवान् महावीर ने साधक को सूचना दी है कि भोजन उतना ही करना चाहिए जिससे संयम की साधना में बाधा न पहुँचे; आवश्यकता से अधिक

भोजन किया जाएगा तो शरीर में गड़बड़ होगी, मन में अशान्ति होगी, प्रमाद आएगा और साधना यथावत् न हो सकेगी । स्वाध्याय और ध्यान के लिए चित्त की जिस एकाग्रता की आवश्यकता है, वह नहीं रह सकेगी ।

आनन्द ने जब व्रत ग्रहण किए तो भोजन सम्बन्धी अनेक मर्यादाएं भी स्वीकार कीं । उसका आहार शुद्ध है उसके पास ज्ञान का बल है, अतएव उसकी प्रगति के द्वार अवरुद्ध नहीं हुए हैं । जहां आत्मज्ञान का लोकोत्तर प्रकाश दैदीप्यमान रहता है वहीं साधना सही मार्ग पर चलती और फलती है ।

स्थूलभद्र मुनि अपने आत्मज्ञान के बल पर वह कार्य कर सके जिसे देव भी नहीं कर सकते । सिंहगुफावासी मुनि ने गुरु संभूति विजय से निवेदन किया कि मुझे भी वेश्या के घर में वर्षाकाल व्यतीत करने की अनुमति दी जाय । उन्हें ज्ञान नहीं है कि मुनि स्थूलभद्र ने कैसा जीवन व्यतीत किया है और किस सीमा तक विराग अवस्था प्राप्त करके काम को पराजित किया है । आवेश में चलने वाला व्यक्ति प्रायः असफल होता है । चाहे लौकिक साहस का काम हो, चाहे लौकोत्तर साहस का । भयपूर्ण स्थानों में विजय पाने का लौकिक कार्य हो या कामक्रोध आदि विकारों पर विजय पाने का आध्यात्मिक कार्य हो, जोश वाला व्यक्ति सफलता नहीं पाता । उस मुनि को इतना भी पता नहीं था कि स्थूलभद्र ने रूपकोषा के जीवन में ही महान् परिवर्तन कर दिया है ।

जब उक्त मुनि ने अनुमति मांगी तो गुरुजी कुछ देर तक मौन ही रहे । वे समझ गए कि इसके मन में भावावेश खेल रहा है । यह स्थूलभद्र की बराबरी करने की ही भावना से कठोर साधना करना चाहता है । मगर स्थूलभद्र की योग्यता और वैराग्यवृत्ति की ऊंचाई का इसको ठीक-ठीक परिज्ञान नहीं है ।

स्थूलभद्र का अभिनन्दन और अभिवादन सकल संघ का अभिनन्दन और अभिवादन है, ऐसी उदार भावना यदि उन तीनों मुनियों में होती तो वे ईर्ष्या के वशीभूत होकर ऐसा करने पर उतारू न होते । उन्हें यही पता नहीं कि जब साथी मुनि के गुणों का उत्कर्ष एवं सम्मान हो उनका मन सहन नहीं कर सकता तो वे दुर्जय कामवासना को उस हद तक कैसे जीत सकेंगे ! इतना दुर्बल हृदय क्या उस घोर परीसह को जीतने में समर्थ हो सकेगा ?

एक गांव में एक भाई अपने आपको बड़े साहसी मानते थे । वे अक्सर कहा करते—भूत का क्या भय है ? मैं भूत के लिए भी भूत हूँ । साहस का कोई भी कार्य कर सकता हूँ ।

लोगों ने उनकी परीक्षा करने की ठानी । एक बार जब वे इसी प्रकार की डींगे मार रहे थे, लोगों ने उनसे कहा अगर आप रात्रि के समय, श्मशान में जाकर, पीपल के पेड़ में कील ठोंक कर आ जाएं तो समझें कि आप वास्तव में हिम्मतवर हैं । अन्यथा अपने मुंह से अपनी तारीफ के पुल बांधना कौन बड़ी बात है ?

वह महाशय जैसे वस्त्र पहने थे, वैसे ही श्मशान पहुँच गए । बात उन्हें चुभ गई थी और वे इस परीक्षा में सफल होकर अपना सिक्का जमा लेना चाहते थे। श्मशान में पहुँच कर उन्होंने पीपल के वृक्ष में कील भी गाड़ दी । किन्तु उतावलेपन में आदमी चूके बिना नहीं रहता । उतावलापन काम बिगाड़ता है । जब उसने पीपल के मूल में कील ठोकी तो कपड़े का एक पल्ला भी उस कील में दब गया । वह अपना पल्ला छुड़ाने लगा पर वह छूटा नहीं । उसने समझ लिया–भूत ने मेरा पल्ला पकड़ लिया है । होशहवास गुम हो गए । भय का इतना तीव्र संचार हुआ कि वे भाई वहीं पर ठार हो गए ।

धैर्य से काम लिया होता और अहंभाव मन में न आता तो उसका काम बन जाता, परन्तु अधैर्य, अहंकार एवं जोश के कारण उसका काम बिगड़ गया ।

सिंहगुफावासी मुनि के हृदय में भी अहंकार का विष घुला हुआ था । वे सोचते थे कि मेरे समान तपस्वी कौन है ? इस अहंकार की प्रेरणा से ही उन्होंने अनुमति चाही थी, मगर गुरुजी मौन रहे । वे जानते थे कि इसे सफलता मिलने वाली नहीं है । यह ईर्ष्या के वशीभूत होकर अब तक के किये पर पानी फेर देगा । तथापि हमेशा के लिए इसे अच्छी सीख मिल जाएगी । मैं अनुमति तो दे नहीं सकता– इसके अधःपतन में कैसे निमित्त बन सकता हूँ ? मगर मना करना भी उचित नहीं प्रतीत होता । मना करूंगा तो इसके चित्त में सदा शल्य बना रहेगा और यह निश्शल्य साधना नहीं कर सकेगा । आवश्यक यह है कि कषाय का विष किसी प्रकार धुल जाए । यह सब सोच कर गुरुजी मौन ही रहे ।

अन्य मुनिजन भी वर्षाकाल में अपनी-अपनी साधना में लगने की बात सोचने लगे । सिंहगुफावासी मुनि पाटलीपुत्र जा पहुँचे, जहां रूपकोषा का घर है । रूपकोषा का पूरा मुहल्ला था । यद्यपि उसने वेश्यावृत्ति का परित्याग कर दिया था, फिर भी लोग उसके यहां आते-जाते थे ।

मुनि भी उसके घर पहुँचे । उसने मुनि का यथोचित सम्मान किया । उसके अनुपम रूप-लावण्य ने, उसकी मधुरवाणी ने और विनम्रतापूर्ण व्यवहार ने मुनि के मन को आकर्षित कर लिया । मुनि ने उससे कहा–मुझे अपने भवन में चातुर्मास व्यतीत करने की आज्ञा दीजिए ।

चतुर रूपकोषा ने दुनिया देखी थी। वह उड़ती चिड़िया को पहचानती थी। मुनि के मन का भाव उससे छिपा नहीं रहा । उसने समझ लिया कि यह मुनि स्थूलभद्र की बराबरी करना चाहते हैं, अन्यथा इतने बड़े पाटलीपुत्र को छोड़ कर मेरे यहां चौमासा व्यतीत करने का क्या हेतु हो सकता है ?

इन मुनि का शरीर तो स्थूलभद्र के शरीर के समान था, किन्तु स्थूलभद्र के अन्तर में विराजमान मनोदेवता के समान मन नहीं था । रूपकोषा ने सोचा–मुनि को सीख मिलनी चाहिए किन्तु पतित नहीं होने देना चाहिए । अच्छा हुआ कि वे मेरे भवन में आए; अन्यत्र कहीं चले गए होते तो न जाने क्या होता ?

मन ही मन इस प्रकार सोच कर रूपकोषा ने कहा – आप प्रसन्नतापूर्वक यहां निवास करें, किन्तु मेरी मांग आपको पूर्ण करनी होगी ।

मुनि नहीं समझ पाए कि इसकी मांग क्या बला है ? वह तो इसी धुन में थे कि किसी प्रकार इसके यहां ठहरने को स्थान मिल जाय । वे प्रमाणपत्र लेकर गुरु के पास लौटना चाहते थे और अपने को स्थूलभद्र के समकक्ष साधक प्रमाणित करना चाहते थे ।

बन्धुओ ! ये अतीत की गाथाएं मनोरंजन की सामग्री नहीं, सजीव बोध-पाठ हैं । साधक के जीवन में किस प्रकार उतार-चढ़ाव आते हैं, कैसे-कैसे उत्थान-पतन के अवसर आते हैं, यह बात इन गाथाओं से समझी जा सकती है । जो इनके मर्म तक पहुँच कर अपने जीवन को उन्नत और निर्मल बनाएंगे, वे इहलोक–परलोक को कल्याणमय बना सकेंगे ।

[५७]

महारम्भ के जनक-कर्मादान

कहा जा चुका है कि चारित्र धर्म दो भागों में विभाजित किया गया है– (१) अनगार धर्म और (२) सागार धर्म । मुनियों का धर्म अनगार धर्म कहलाता है, जिसका आधार पूर्ण त्याग है । पूरी तरह पापों से निवृत्त होने पर और ममता को जीत लेने पर ही अनगार धर्म का पालन हो सकता है । किन्तु यह योग्यता सबमें नहीं होती । जीवन की इतनी उच्च भूमिका पर पहुँचना साधारण व्यक्तियों के लिए सुसाध्य नहीं है । अतएव जो अनगार धर्म के मार्ग पर नहीं चल सकता वह सागार धर्म अर्थात् गृहस्थ धर्म का पालन करता है, जिसे श्रावक धर्म भी कहते हैं । मुनि धर्म और श्रावकधर्म की दिशा में कोई अन्तर नहीं है – अन्तर केवल स्तर का है । अतएव जैसे मुनि अहिंसा की आराधना करता है वैसे ही श्रावक भी । मुनि त्रस-स्थावर जीवों की पूर्ण अहिंसा का पालक होता है परन्तु श्रावक उसे आंशिक रूप में पाल सकता है। फिर भी उसका लक्ष्य सदैव अहिंसा की ओर ही रहता है । वह अधिक से अधिक जीव-रक्षा करता हुआ अपना संसार व्यवहार चलाता है । बन्ध मोक्ष आदि की विचारधारा उसके जीवन से अछूती नहीं रहती । प्राणातिपात विरमण उसका प्रथम धर्म है । वह सापेक्ष, निरपेक्ष, निवार्य, अनिवार्य कार्यों को लक्ष्य में रखकर चलता है । विवेक का दीपक उसका मार्गदर्शक होता है । वह ऐसे भोगों तथा कर्मों पर नियन्त्रण करता है जिससे बड़ी हिंसा होती हो । वह निरर्थक हिंसा नहीं करता और सार्थक हिंसा से भी अधिक से अधिक बचने का प्रयास करता है ।

अहिंसा की आराधना के लिए और साथ ही ममत्व भाव को कम करने के लिए ही गृहस्थ भोगोपभोग की सामग्री की मर्यादा बाँध लेता है । भोगोपभोग परिमाण व्रत का निर्मल पालन हो सके, इस उद्देश्य से उसके पाँच अतिचार बतलाए गए हैं और उनका विवेचन भी किया जा चुका है ।

मोक्षमार्ग का साधक, चाहे वह मुनि हो या गृहस्थ, जीवनरक्षण और शरीर-रक्षण के लिए ही भोजन करता है, रसना की तृप्ति के लिए नहीं, स्वादलोलुपता से प्रेरित होकर नहीं । इसी उद्देश्य से यह कहा गया है कि श्रावक तुच्छ औषधियों के प्रयोग को भी सीमित करे ।

अतिचारों की गणना में 'औषधि' शब्द का प्रयोग विशेष अभिप्राय से किया गया है । उसमें कुछ रहस्य निहित है । प्रत्येक तुच्छ वनस्पति-धान्य को औषधि या औषध कहा है । 'ओषं-पोषं' धत्ते-धारयति, इति औषधिः ।' यह इस शब्द की व्युत्पत्ति है, जिसका अभिप्राय यह है कि जो शरीर को पुष्टि प्रदान करे, वह औषधि कहलाती है । मूल औषधि या दवा धान्य वनस्पति है ।

लोग समझते हैं कि 'नेचरोपैथी' पश्चिम की देन है, मगर जिन्होंने भारतीय साहित्य-सागर में अवगाहन किया है, वे भलीभाँति समझ सकते हैं कि इसका मूल भारत में है । उत्तराध्ययन सूत्र के मृगापुत्रीय अध्ययन को जो विचारपूर्वक पढ़ेंगे, वे इस तथ्य से परिचित होंगे । भारत के मनीषी बहुत प्राचीन काल से प्राकृतिक उपचार के महत्व को जानते थे । आज भारतवासी उसके महत्व को भूल रहे हैं और पश्चिम के लोग उसकी उपयोगिता को स्वीकार कर रहे हैं, यह एक विस्मय की बात है ।

प्राकृतिक चिकित्सा के मुकाबिले में अनेक प्रकार की चिकित्सा पद्धतियां प्रचलित हुई हैं । आज इस देश में विदेशी दवाओं का इतना अधिक प्रचार हो गया है कि भारत की आयुर्वेदिक औषधों को भी उनके समान गोलियों, केप्सूलों और इंजेक्शनों के ढाँचे में ढालना पड़ा । आयुर्वेद का विधान है – 'ज्वरादौ लंघनम् पथ्यम्' अर्थात् बुखार आते ही उपवास कर लेना चाहिए, किन्तु आज इस बात पर कौन विश्वास करता है ? सूर्य की किरणें और जल आदि प्राकृतिक वस्तुएं बड़ी लाभदायक औषधियां हैं ।

ऋषि-मुनियों के दीर्घ जीवन का कारण उनका प्राकृतिक वस्तुओं का सेवन है । कई प्राणी जीभ से चाट-चाट कर अपना घाव ठीक कर लेते हैं । मगर लोगों को प्राकृतिक चिकित्सा पर आज भरोसा नहीं रहा है । वे अपवित्र एलोपैथिक औषधियों का सेवन करके अपना धर्म विनष्ट करते हैं । शास्त्र की दृष्टि से समस्त धान्य औषधि की कोटि में आते हैं । यदि विधिपूर्वक इनका सेवन किया जाय तो वे स्वास्थ्यप्रद सिद्ध होते हैं । हां, अविधि से सेवन करने पर वे अवश्य रोगोत्पादक हो सकते हैं ।

व्रतमय जीवन व्यतीत करने वाले को तुच्छ औषधि का सेवन नहीं करना चाहिए क्योंकि उसमें खाद्य अंश कम होता है और फैंकने योग्य अंश अधिक होता है ।

महावीर स्वामी का कथन है–"हे मानव ! तू वृथा पाप के भार को क्यों बढ़ाता है ? पदार्थों का सेवन इस प्रकार कर कि तेरा काम चले और वस्तु का विनाश न हो । भोगलालसा पर अंकुश लगाएगा तो कर्मबन्ध पर स्वतः अंकुश लग जाएगा । जीवन बनाना है, जीवन से कुछ महत्वपूर्ण लाभ उठाना है और आत्म-साधना की यात्रा में बिना टकराए लक्ष्य पर पहुँचना है तो भोग और उपभोग की सामग्री पर विवेकपूर्ण नियन्त्रण करना आवश्यक है । यदि ठीक तरह से यह नियन्त्रण स्थापित हो जाय और जीवन में संयम और सादगी आ जाय तो बड़े-बड़े राक्षसी कल-कारखानों की आवश्यकता ही न हो । इस प्रकार के कारखानों की स्थापना महा तृष्णा की बदौलत होती है । उनमें कितने ही लोगों की हत्या और शोषण होता है, कितने ही गरीबों के हाथ-पैर कटते हैं और न जाने कितने लोगों की आजीविका नष्ट होती है । हजारों मनुष्य अपने हाथों से जो निर्माण करते हैं, उसे एक बड़ा कारखाना थोड़े-से लोगों की सहायता से कर डालता है । परिणामस्वरूप बहुत से लोग बेकार और बेरोजगार फिरते हैं उनके पास कोई आजीविका नहीं बचती। जिन देशों की आबादी अल्प संख्यक हो वहां कल-कारखानों की उपयोगिता समझ में आ सकती है किन्तु जिस देश में इतनी विपुल जनसंख्या हो और वह निरन्तर बढ़ती ही जा रही हो, वहां यन्त्रों से काम लेना और मानव-शक्ति को व्यर्थ बना देना बुद्धिमत्ता नहीं है । धार्मिक दृष्टि से भी यह महारंभ है ।"

जो श्रावकधर्म की आराधना करता है उसे चिन्तन करना है, विचार करना है, आत्मा को भारी बनाने वाले कार्यों को कम करना है और अपने लक्ष्य की ओर गति तीव्र करनी है । यह यान्त्रिक पद्धति से चढ़ने का मार्ग नहीं है, जीवन तय करने का मार्ग है । यंत्र के सहारे भारी वस्तुएं ऊपर उठा ली जाती हैं, मगर भारी जीवन को ऊंचा उठाने के लिए कोई यन्त्र नहीं है । दूसरे के सहारे ऊँचा चढ़ना अस्थायी है, अल्पकालिक है । इस प्रकार चढ़ना वास्तविक चढ़ना नहीं है । अध्यात्म की उच्च, उच्चतर और उच्चतम भूमिका पर स्वयं के पुरुषार्थ से ही चढ़ा जाता है । भगवान् महावीर ने उच्च स्वर में घोष किया है–

'तुममेव तुमं मित्ता, किं बहिया मित्तमिच्छसि ।'

हे आत्मन् ! तू अपना मित्र आप ही है । क्यों बाहरी मित्र (सहायक) की अपेक्षा रखता है ।

भगवान् की स्वावलम्बन की इस उदात्त स्वर-लहरी में जीवन का तेज और ओज भरा हुआ है । हमें भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि हमारा कल्याण और उत्थान हमारे ही प्रयत्न और पुरुषार्थ में निहित है । कल्याण और उत्थान भीख मांगने से नहीं मिलता ।

'जीवित प्राणी चलता है, मुर्दा घसीटा जाता है ।'

ऐंजिन दूर है तो मजदूर धक्का देकर डिब्बों को इधर-उधर कर देते हैं । या ऐंजिन ने धक्का दिया, डिब्बा थोड़ी दूर चला और रुक गया । उस डिब्बे में स्वयं की पावर (शक्ति) नहीं है चलने की । वह दूसरे के सहारे चलने वाला है। इसी प्रकार सत्संगति का धक्का लगने पर थोड़ा आगे चला जा सकता है, मगर मंजिल तक पहुँचने के लिए तो निज का ही बल चाहिए ।

रेल की पटरियों पर चलने वाली ठेलागाड़ी में धक्का देकर गति लानी पड़ती है । बार-बार धक्का देने से उसमें वेग आता है । एक-दो स्टेशनों तक यों काम चल जाता है । पर डिब्बों को लेकर चलने की शक्ति उसमें नहीं है । क्या मानव को अपना जीवन ऐसा ही बनाना उचित है ? नहीं, उसे सजीव की तरह स्वयं चलना चाहिए, मुर्दे की तरह दूसरे के सहारे चलना शोभा नहीं देता ।

श्रावक आनन्द ने महावीर स्वामी की ज्ञानज्योति से अपना लघु दीप जला लिया और अब वह स्वयं आलोकित होकर चल रहा है । उसने भोगोपभोग परिमाण व्रत को जब अंगीकार किया तो भोजन की दृष्टि से होने वाले पाँच और कर्म की दृष्टि से होने वाले पन्द्रह अतिचारों से भी बचने का संकल्प किया । पाँच अतिचारों का प्रतिपादन किया जा चुका है । कर्मादानों के सम्बन्ध में कुछ बातें बतलाना आवश्यक है ।

'कर्मादान' शब्द दो शब्दों के मेल से बना है, वे दो शब्द हैं – कर्म और आदान । जिन कार्यों से कर्म का बन्ध होता है वे कर्मादान हैं, यह इस शब्द का अर्थ है । किन्तु यह अर्थ परिपूर्ण नहीं है । संसार में ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं है जिससे कर्म का आदान (ग्रहण बन्ध) न होता हो । शुभ कृत्य शुभ कर्मों के आदान के कारण हैं तो अशुभ कृत्यों से अशुभ कर्मों का आदान होता है । इस प्रकार भाषण, प्रवचन, श्रवण, मुनिवन्दन आदि सभी क्रियाएं कर्मादान सिद्ध हो जाती हैं। फिर कर्मादानों की संख्या पन्द्रह ही क्यों कही गई है ? क्या वास्तव में संसार के सभी कृत्य कर्मादान ही हैं ? इस प्रश्न पर विचार करने की आवश्यकता है ।

'कर्मादान' जैन परिभाषा के अनुसार योगरूढ़ शब्द है । यहां 'कर्म' शब्द से महाकर्म अर्थ समझना चाहिए, अर्थात् जिस कार्य या व्यापार-धन्धे से घोर कर्मों का बन्ध हो, जो कार्य महारंभ रूप हों, महारम्भ के जनक हों, वेही कर्मादान कहलाते हैं।

कर्म दो प्रकार के होते हैं–(१) खर कर्म और (२) मृदु कर्म । जिस कर्म में हिंसा बढ़ न जाय, यह विचार रहता है, वह मृदु (सौम्य) कर्म कहलाता है और जहां यह विचार न हो वह खर कर्म है । अथवा यों कहा जा सकता है कि जो कर्म आत्मा के लिए और अन्य जीवों के लिए कठोर बनें, वे खर कर्म हैं । खर कर्म दुर्गति की ओर ले जाते हैं । जीवों के विनाश की अधिकता वाले कार्य करने से हृदय कठोर बन जाता है और करुणा भाव विलुप्त हो जाता है । इसी कारण ऐसे कार्यों को कर्मादान कहा गया है ।

कर्मादान पन्द्रह हैं जिनमें से दस कर्म से सम्बन्ध रखते हैं और पाँच व्यापार-धन्धे से सम्बन्ध रखते हैं । आशय यह है कि कर्मादानों में दो प्रकार के कार्यों को ग्रहण किया गया है – वाणिज्य को और कर्म को । जिस चीज को आप स्वयं बनाते नहीं किन्तु उसका क्रय-विक्रय करके लाभ कमाते हैं, वह वाणिज्य कहलाता है । एक बुनकर स्वयं कपड़ा बनाता और बेचता है, वह कर्म कहलाता है ।

भोगोपभोग परिमाण व्रत में इन्हीं दोनों के सम्बन्ध में मर्यादा की जाती है । जब कोई गृहस्थ इस व्रत को धारण करे तो उसे प्रलोभन से ऊपर उठना चाहिए और देश-काल सम्बन्धी वातावरण से प्रभावित नहीं होना चाहिए । उसके अन्तःकरण में संयम के प्रति गहरी लगन होनी चाहिए और उसके फलस्वरूप जीवन में सादगी आ जानी चाहिए । वह अपनी आवश्यकताओं को नियन्त्रण में रखेगा और तृष्णा के वशीभूत नहीं होगा तभी इस व्रत का समीचीन रूप से पालन कर सकेगा ।

अनगार धर्म साधना का रूप निराला है । उसमें पुर्ण रूप से वाणिज्य एवं कर्म का त्याग तो होता ही है, सभी प्रकार के आरंभमय कार्यों का भी त्याग होता है । अनगार का जीवन ऐसी मर्यादा से बंधा है कि प्रलोभनों को वहां जगह ही नहीं है । जरा-सी असावधानी में वह वर्षों की कठिन साधना को गंवा देता है । सांसारिक हानि-लाभ के विषय में साधारण मनुष्य भी सावधान रहता है तो आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में तो और भी अधिक सचेत रहने की आवश्यकता है । जो सचेत रहेगा वह आत्मिक धन को नहीं खोएगा । उसे मानसिक सन्तुलन रखने की अनिवार्य आवश्यकता है ।

अनादिकालीन कुसंस्कारों के कारण मन में विविध प्रकार के आवेगों की उर्मियां उत्पन्न होती हैं । अगर मनुष्य उनके वेग में बह जाता है तो उसका कहीं

ठिकाना नहीं रह जाता। भय और क्रोध के वेग को जीतना आसान नहीं फिर भी वह जीता जा सकता है, मगर राग का वेग अतीव प्रबल होता है। उसे जीत लेना अत्यन्त कठिन है। आदिवासी कहलाने वाले लोग आज भी खुले जंगलों में पड़े मिल जाते हैं, जहां शेर जैसे हिंस्र जानवरों का आवागमन होता रहता है। वे निर्भय रह कर जंगल में निवास करते हैं। भय को जीतना उनकी प्रकृति के अन्तर्गत है। किन्तु राग को जीतना इतना सरल नहीं है। इसके लिए ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान भी बाह्य एवं शब्दस्पर्शी मात्र नहीं मगर आत्मस्पर्शी होना चाहिए।

सिंहगुफावासी मुनि ने राग की दुर्जेयता को नहीं समझा। उसने भय की वृत्ति पर विजय पाई थी और सोचा था कि भय को जीतना ही कठिन है। जिसने भय को जीत लिया उसके लिए रागवृत्ति को जीतना चुटकियों का खेल है। परन्तु वह राग की आग में से गुजरा नहीं था। शूरवीर पुरुष पैने प्रहारों को जीत लेता है परन्तु रमणी के मृदुल प्रहारों के सामने उसे भी हार जाना पड़ता है। उन प्रहारों को जीतने के लिए फौलाद का कलेजा चाहिए। इसी कारण कहा गया है कि महापुरुषों का चित्त वज्र से भी अधिक कठोर और फूल से भी अधिक कोमल होता है। दूसरे को दुःख में देख कर उनका हृदय अनायास ही मुरझा जाता है परन्तु अपने प्रति वे वज्र के समान होते हैं। कठिन से कठिन उपसर्ग भी उनके दिल को हिला नहीं सकते।

जोश की स्थिति में सिंहगुफावासी पाटलीपुत्र में रूपकोषा के घर पहुँचे। उन्होंने उसके घर में निवास करके चार मास (चातुर्मास्य) व्यतीत करने की अनुमति मांगी। वेश्या उनके आत्मबल की परीक्षा करना चाहती थी। अतएव उसने विनम्र एवं मधुर स्वर में कहा–"मेरा बड़ा सौभाग्य है कि आपका मेरे द्वार पर पदार्पण हुआ। समाज में मेरी जैसी महिलाएं गर्हा की दृष्टि से देखी जाती हैं किन्तु आप लोकोत्तर दृष्टि से सम्पन्न हैं। आपके लिए प्राणीमात्र समान हैं। इसी कारण इतने बड़े नगर को छोड़ कर यहां पधारे हैं। किन्तु आप पहले भिक्षा ग्रहण कर लीजिए, बाद में धर्म वृद्धि की बात कीजिएगा।"

अर्थी अर्थलाभ का पात्र होता है और कामी कामलाभ का पात्र होता है। राजिया कवि ने कहा है –

कहणी जाय निकाम, आछोड़ी आणी उकत।
दामां लोभी दाम, रंजे न बातां 'राजिया'।।

वेश्या बोली धर्म की बात करने से पहले पेटपूर्ति कर लीजिए।

गुरु लोभी चेला लालची, दोनों खेलें दाव ।
दोनों डूबा बापड़ा बैठ पत्थर की नांव ।।

और भी कहा है–

बिल्ली गुरु बगुला किया, दशा ऊजली देख ।
कहो कालू कैसे तिरैं, दोनों की गति एक ।।

रूपकोषा कहती है – "आपका प्रयोजन है मेरे रंगमहल में रहने के लिए एक कमरे की अनुमति प्राप्त करना, किन्तु एक बात मेरी भी मान लीजिए ।"

राग की स्थिति में मनुष्य का विवेक सुषुप्त हो जाता है । जिस पर राग भाव उत्पन्न होता है, उसके अवगुण उसे दृष्टिगोचर नहीं होते । गुणवान के गुणों का आकलन करना भी उस समय कठिन हो जाता है ।

रूपकोषा ने मुनि से भिक्षा ग्रहण करने की प्रार्थना की । मुनि ने आनाकानी नहीं की और भिक्षा अंगीकार करली । यह भिक्षा मुनि की कसौटी करने के लिए दी गई थी । वे कितने गहरे पानी में हैं, यह जानने के लिए ही दी गई थी, अतएव उसमें गरिष्ठ, मादक और उत्तेजक खाद्य थे । मुनि ने भिक्षा ग्रहण करके उसका उपयोग कर लिया ।

मुनि के मन पर आहार का असर हुआ । चिरकाल से पोषित विराग निर्बल पड़ने लगा और अनादिकालीन राग का भाव उभरने लगा । जैसे संध्या के समय सूर्य अस्त होने लगता है और अन्धकार अपने पैर फैलाने लगता है, उसी प्रकार मुनि के मनरूपी आकाश से विवेक का सूर्य अस्त होने लगा और मोह का अन्धकार अपना प्रसार करने लगा । उसकी यह मनोदशा देखकर विचक्षण रूपकोषा ने कहा–"आप रंगमहल में रहने की अनुमति चाहते हैं और मैं प्रसन्नतापूर्वक आपको अनुमति देना चाहती हूँ, किन्तु अनुमति पाने से पहले आपको मेरी एक छोटी-सी शर्त स्वीकार करनी होगी । शर्त यह है कि एक रत्नजटित कंबल लाकर आप मुझे प्रदान करें । यह शर्त पूरी होते ही सारा रंगमहल आप अपना ही समझिए । यही नहीं, मैं भी आपकी दासी होकर सेवा करूंगी ।"

मुनि कुछ हिचकिचाए । सोचने लगे – 'रत्नजटित कंबल कहां पाऊंगा मैं ?' यह विचार कर वे असमंजस में पड़ गए ।

रूपकोषा ने उनके भाव को ताड़ कर कहा–"आप चिन्ता में पड़ गए हैं रत्नजटित कंबल नेपाल-नरेश के यहां मिलता है । अभ्यागत साधु-सन्तों को वे मुफ्त

में ऐसे कंबल देते हैं । कंबल की कीमत तो कुछ देनी नहीं है, सिर्फ नेपाल तक जाने का साहस करना है । नेपाल जंगल प्रधान देश है और पैदल चलने वालों को पद-पद पर भय बना रहता है । अगर आप में इतनी निर्भयता हो तो ही वहां जाने का साहस कीजिएगा, अन्यथा रहने दीजिए ।"

निर्भयता और साहस की बात सुनकर मुनि के हृदय में अहंकार जागा । सोचने लगे–'भय को जीतने में कौन मेरी बराबरी कर सकता है । मेरे पास साहस का जितना बल है, अन्य किसके पास हो सकता है । रूपकोषा की मांग मेरे लिए एक चुनौती है । इस चुनौती का सामना न किया तो मैंने संयम क्या पाला अब तक भाड़ ही झौंकी, ऐसा समझना चाहिए ।'

मुनि के मन में अज्ञात रूप में अनुराग के अंकुर फूट निकले थे, ऊपर से उन्हें चुनौती भी मिल गई । उनके ज्ञान की छाप राग की छाप से दब गई । विवेक पराजित हो गया, राग विजयी हो गया । निर्भयता, जो अब तक उनका भूषण थी, विवेक एवं समभाव के अभाव में दूषण बन गई । वह उन्हें पतन की ओर घसीटने लगी । हृदय में राग का जो तूफान उठा, उससे विवेक का दीपक बुझ गया ।

नेपाल पहुँचना मामूली बात नहीं । वहां जीवन के उपभोग की, विलास की, सामग्रियां कम हैं और वहां के निवासियों की आवश्यकताएं भी कम हैं वहां के लोग प्रायः निर्भय रहते हैं । परन्तु मुनि को वास्तविकता का पता नहीं था । वह तो किन्हीं अन्य विचारों में ही चक्कर लगाने लगे थे ।

रूपकोषा की भावना मुनि को सत्पथ पर लाने की ही थी । वह उन्हें असंयम और अधःपतन की ओर नहीं ले जाना चाहती थी । मुनि के विलुप्त विवेक को जागृत करना उसका लक्ष्य था । उनका मानसिक बल उभर आए और वे जिन अवांछनीय वृत्तियों के वशीभूत हो रहे हैं, उनसे सावधान हो जाएं, यही उसकी कामना थी । इसी उद्देश्य से उसने रत्नजटित कंबल का नाटक रचा था । वह मुनि को स्खलना से बचाने का प्रयास कर रही थी ।

इसी प्रकार हमें भी समाज की स्खलनाओं को ध्यान में रखना है और हृदय में घुसे हुए मलिन भावों को जीतना है । ऐसा करने से हमारा इहलोक-परलोक दोनों में कल्याण होगा ।

---

[५८]

कर्मादान के भेद

जिसका समभाव, करुणाभाव एवं मैत्रीभाव इतना व्यापक बन जाता है कि वह त्रस और स्थावर–सभी प्राणियों के प्रति अहिंसक हो जाय, जिसके जीवन में संसार के किसी भी सजीव अथवा निर्जीव पदार्थ सम्बन्धी आसक्ति नहीं रह जाती, जो सब प्रकार के पापमय कृत्यों से अपने को पृथक् कर लेता है और जो महाव्रतों का परिपालन करने में समर्थ होता है, वही श्रमणधर्म के पालन का अधिकारी है । श्रमणधर्म का पालन करने के लिए गृहस्थी से नाता तोड़कर एकान्त साधना से नाता जोड़ना पड़ता है । किन्तु श्रावक का जीवन मात्र एक मर्यादा के साथ, आचार से परिपूर्ण होता है । वह अपनी परिस्थिति और सामर्थ्य के अनुसार देशविरति का आचरण करता है । श्रावक के व्रतमय जीवनादर्श का सम्यक् प्रकार से निरूपण हमें उपासकदशांग सूत्र में मिलता है। उसमें भगवान् महावीर के समय के दस श्रावकों का विवरण है, जिससे श्रावकधर्म की एक स्पष्ट रूपरेखा हमारे समक्ष खिंच आती है ।

उपासकदशांग में पहला चरित आनन्द श्रावक का है । आनन्द के माध्यम से उसमें श्रावक के बारह व्रतों पर प्रकाश डाला गया है । पहले व्रतों का निरूपण और फिर उनके अतिचारों का प्रतिपादन यह क्रम उसमें रखा गया है । आनन्द ने विभिन्न व्रतों में क्या-क्या मर्यादाएं रखीं, यह भी विशद रूप से वर्णन वहां मिलता है ।

आनन्द सम्बन्धी उल्लिखित वर्णन केवल आनन्द के लिए ही नहीं, देशविरति का पालन करने वाले प्रत्येक साधक के लिए है । उस वर्णन के प्रकाश में श्रावक अपने व्रतमय जीवन का निर्माण कर सकता है और आदर्श श्रावक बनकर अपने जीवन को सफल कर सकता है । यहां कर्मादान का विचार करना है । कल 'कर्मादान' शब्द के अर्थ पर विचार किया जा चुका है । ये कर्मादान पन्द्रह हैं, यह भी कहा जा चुका है । इस वर्गीकरण में उन सभी कर्मों का समावेश कर लेना

चाहिए जो महारंभ के जनक हैं और जिनसे घोर अशुभ कर्मों का बन्ध होता है। ये कर्मादान जानने के योग्य हैं जिससे आत्मा भारी न बने। कर्मादानों के विषय में आचार्य हरिभद्र, आचार्य अभयदेव और आचार्य हेमचन्द्र आदि ने कर्मादानों की व्याख्या की है और उनके भेदों पर अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं। यहां संक्षेप में इन पर विचार करना है–

(१) इंगाल कम्मे (अंगार कर्म)– इंगाल का अर्थ है कोयला। कोयला बना कर बेचने का धंधा करने वाला अग्निकाय, वनस्पतिकाय और वायुकाय के जीवों का प्रचुर परिमाण में घात करता है। अन्य त्रस आदि प्राणियों के घात का भी कारण बनता है। इस कार्य से महान् हिंसा होती है। कोयला बनाने के लिए लकड़ी का ढेर कर-करके उसमें आग लगानी पड़ती है जैसे कुम्हार मिट्टी के बर्तनों को पकाने के लिए उनका ढेर करता है। प्रायः जीव-जन्तु जहां शीतलता पाते हैं वहां निवास करते हैं, लकड़ी के पास और उसके सहारे भी अनेकानेक जीवन रहते हैं। ऐसी स्थिति में लकड़ी की ढेरी को जलाने से कितने जीवों की हत्या होती है, यह तो केवल भगवान् ही जानते हैं। अतएव कोयला बनाने का धंधा करने वाला महारंभ और त्रस जीवों की हिंसा का भी भागी बनता है। धंधे के रूप में इस कार्य को करने से बड़े परिमाण में जीव हिंसा रूप महारंभ करना पड़ता है। अतएव महारंभ का कारण होने से इंगालकम्म (अंगार कर्म) श्रावक के करने योग्य नहीं है।

कुछ आचार्यों ने अंगार कर्म का व्यापक अर्थ लिया है। वे अंगार का अर्थ अग्नि मान कर इसकी व्याख्या करते हैं। अगर यह अर्थ लिया जाय तो लोहकार, स्वर्णकार, हलवाई और भड़भूंजे का धंधा भी अंगार कर्म के अन्तर्गत आ जाएगा। यह स्मरण रखना चाहिए कि व्याख्याकारों के विचारों पर देश, काल और वातावरण की छाया भी पड़ती है।

जैसा यहां श्रावक के कर्म पर विचार किया गया है, उसी प्रकार मनुस्मृतिकार ने ब्राह्मणों के कर्म बतलाए हैं। ब्राह्मणों के कर्म का निरूपण करने में मनुस्मृतिकार का लक्ष्य यह रहा प्रतीत होता है कि त्याग-साधना-परायण ब्राह्मण अर्थोपार्जन में लीन न बन जाएं। श्रावक का पद भी ऊंचा है। श्रावक को ब्राह्मण भी कहा गया है। साधु की तरह श्रावक भी किसी को शिक्षा दे सके, ऐसा लक्ष्य है।

किन्तु शिक्षा वही दे सकता है जो स्वयं त्याग करता है। स्थूल प्राणातिपात का और महारंभ-महापरिग्रह का स्वयं जो त्याग करेगा वही दूसरे को इनके त्याग की प्रेरणा कर सकेगा, अन्यथा–

'पर उपदेश कुशल बहुतेरे,
जे आचरहिं ते नर न घनेरे ।'

यह उक्ति चरितार्थ होगी । जो स्वयं त्याग करता है और शिक्षा देता है, उसका प्रभाव अड़ौसी-पड़ौसी पर क्यों नहीं पड़ेगा? उनका परिमार्जन क्यों नहीं होगा ? त्याग भावना विद्यमान होने से उसकी वाणी प्रभावोत्पादक होगी । आचार के अनुरूप विचार जब भाषा के माध्यम से व्यक्त किये जाते हैं तो अवश्य दूसरों पर स्थायी प्रभाव अंकित करते हैं । श्रोताओं के हृदय में परिवर्तन ला देते हैं । हां, कोई एकदम ही अपात्र और कुसंस्कारी श्रोता हो तो बात दूसरी है ।

पश्चाद्वर्ती आचार्यों की दृष्टि से ईंटें पकाने, खपरा पकाने का तथा लोहार आदि का धंधा अंगार कर्म में समाविष्ट हो जाता है पर कोयला बना-बना कर बेचना अत्यन्त खर कर्म है, अतएव श्रावक को इसका परित्याग करना ही चाहिए ।

(२) वणकम्मे (वनकर्म)–वृक्षों को काट कर बेचने का काम वनकर्म कहलाता है । वनकर्म करके मनुष्य घोर पाप उपार्जन करता है । वन के वृक्षों को काटने का ठेका लेने वाला किसी अन्य बात को ध्यान में नहीं रखता । उसके सामने एक ही लक्ष्य रहता है कि अधिक से अधिक वृक्षों को काट कर कैसे अधिक से अधिक धन कमाया जाय ।

एक समय था जब फलदार वृक्षों को काटना कानूनी अपराध समझा जाता था । आज भी राष्ट्रनायक नेहरू जी निर्देश करते हैं कि वृक्षों का काटना अत्यन्त हानिकारक है । वे कहते हैं–'जब तक दस वृक्ष नये न लगा दिये जाएं तब तक एक वृक्ष न काटा जाए ।' मगर बड़े-बड़े वन साफ किये जा रहे हैं जिससे ईंधन तथा गृह-निर्माण के लिए भी लकड़ी मिलना मुश्किल हो जाता है ।

भारतीय संस्कृति में वट, पीपल, नीम आदि वृक्षों के काटने में भय बतलाया गया है । संभवतः इस विधान के पीछे इन विशालकाय वृक्षों की रक्षा करने का ही ध्येय रहा हो । साधारण जनता ऐसे वृक्षों को काटना अनिष्टकारक समझती आई है, परन्तु अब यह धारणा परिवर्तित होती जा रही है । जब वृक्षों के सम्बन्ध में भारतीय जनता का यह दृष्टिकोण था तो पशुओं की बलि की बात कहां तक संगत हो सकती है ?

वनस्पति की गणना स्थावर जीवों में की गई है, किन्तु अन्य स्थावर जीवों की अपेक्षा वनस्पति में चेतना का अंश किंचित अधिक विकसित प्रतीत होता है । अतएव उसकी रक्षा की ओर इतर लोगों का भी ध्यान आकृष्ट हुआ हो, यह

स्वाभाविक है। धार्मिक दृष्टि से वृक्षों का काटना पाप है ही, मगर लौकिक दृष्टि से देखा जाय तो भी उनका काटना हानिकारक है। वृक्षों को सुरक्षित रखने से छाया, फल-फूल आदि की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त जहां वृक्षों की बहुतायत होती है वहां वर्षा भी अधिक होती है, जिससे फसल में वृद्धि होती है। इस प्रकार धार्मिक और लौकिक दोनों दृष्टियों से वृक्षों का उच्छेदन करना अनुचित है, अधर्म है ।

जीव-जगत् पर वृक्ष का कितना महान् उपकार है । एक-एक वृक्ष हजार-हजार प्राणियों का पालन करता है । उससे पशुओं, पक्षियों और मानवों का सभी का रक्षण और पालन होता है । अतएव जब वृक्ष हमारा रक्षक है तो हमारे द्वारा भी वह रक्षणीय होना चाहिए । पुराने जमाने के लोग पुराने और उखड़े हुए वृक्षों के सिवाय अन्य किसी को काटना उचित नहीं समझते थे । यह उनका व्यावहारिक दृष्टिकोण था । धार्मिक दृष्टिकोण से वृक्षों का छेदन करना इसीलिए वर्जित है कि उसके प्रत्येक अंग में हजारों जीव निवास करते हैं । वृक्ष के मूल में पृथक् और फलों-फूलों में पृथक्-पृथक् जीव होता है । जो वृक्ष का उच्छेदन करता है वह एक ऐसे साधन को नष्ट करता है जो हजारों वर्ष विद्यमान रह कर अनेकानेक जीवों का अनेक प्रकार से उपकार कर सकता है । इसके अतिरिक्त वह जीवघात के पाप का भागी भी होता है । अतएव सद्गृहस्थ का यह कर्तव्य है कि वह जंगल का ठेका लेकर और वृक्षों को काट कर अपनी आजीविका न चलाए । उदरपूर्ति के अनेक साधन हो सकते हैं जो पापरहित या अल्पतर पाप वाले हों । ऐसी स्थिति में पेट पालने के लिए घोर पाप उपार्जित करना और आत्मा को गुरुकर्मा बनाना विवेकशील पुरुषों के लिए उचित नहीं है । मनुष्य सम्पत्तिशाली बनने के लिए पाप के कार्य करता है मगर यह नहीं सोचता कि ऐसा करके वह आत्मा की अनमोल सम्पत्ति नष्ट कर रहा है । उस सम्पत्ति के अभाव में उसका भविष्य अत्यन्त दयनीय हो जाएगा । अल्पारंभ के कार्यों से ही जब गृहस्थ जीवन का निर्वाह निर्बाध रूप से हो सकता है तो क्यों अनन्त जीवों का घात किया जाय ?

पर का घात करना वस्तुतः आत्मघात करना है, क्योंकि पर के घात से आत्मा का अहित होता है । एक मनुष्य किसी जीव की घात करने को उद्यत हो रहा है, कदाचित् उस जीव का घात हो जाय, कदाचित् वह बच भी जाय, मगर घातक तो पाप बन्ध करके अपनी आत्मा का घात कर ही लेता है । उसके चित्त में कषाय का जो उद्रेक होता है, उससे आत्मिक गुणों का विघात होता है और वह विघात ही उसका आत्मविघात कहलाता है ।

स्मरण रखना चाहिए, कर्म अपना फल दिये बिना नहीं रहते । घात का प्रतिघात होता है । आज तुम जिसका छेदन-भेदन करके प्रसन्न होते हो, वही आगे

चलकर तुम्हारा छेदन-भेदन करने वाला बन सकता है। चरितानुयोग में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि हिंसक हिंस्य बन गया, छेदक को छेद्य बनना पड़ा और भेदक को भेद्य बनना पड़ा।

मनुष्य अपने को सर्वश्रेष्ठ सामर्थ्यशाली और जीवजगत् का सम्राट् समझता है, मगर सम्राट् सदा सम्राट् नहीं बना रहेगा, एक समय ऐसा आ सकता है जब उसे रंक की स्थिति में आना पड़े। मनुष्य को कीट, पतंग और वनस्पति आदि के रूप में भी जन्म लेना पड़ता है। उस समय यह सर्वश्रेष्ठ सामर्थ्य कहां पाओगे ? इस अल्पकालीन वर्तमान वैभव की चकाचौंध में अनन्त भविष्य को क्यों आंखों से ओझल कर रहे हो ? जो अपने को विशिष्ट सामर्थ्यशाली समझता है उसमें भविष्य को देखने का भी सामर्थ्य होना चाहिए न !

इन सब स्थितियों को यथावत् जानकर देशविरत श्रावक पाप से भय मानता है। अज्ञानी व्यक्ति ही पाप से नहीं डरते। पाप का भय भाव में है। लोक-परलोक का भय मोह के कारण होता है। पाप का भय आत्मा की निर्बलता को उत्पन्न करता है, वह उत्थान का कारण है। कई लोग पाप से तो नहीं डरते किन्तु अपयश और अपवाद से डरते हैं। ऐसे लोग जीवन को उच्च कक्षा पर आरूढ़ नहीं कर सकते। उनमें एक प्रकार की लोकेषणा है। जब अपवाद एवं अपयश की संभावना न हो तो उनकी पाप में प्रवृत्ति भी हो सकती है। अतएव पाप से भयभीत न होकर केवल लोकापवाद से भयभीत होने वाला साधक सफल नहीं होता। जो पापभय को प्रधान और लोकभय को गौण समझता है, वही साधक उत्तम माना जाता है।

सिंहगुफावासी, सर्प की बांबी पर साधना करने वाले और कुएँ की पाल पर अप्रमत्त रहने वाले मुनियों ने भय को जीता, प्रमाद को जीता और पापभय से भी बचे, अतएव वे अपनी साधना में सफल होकर गुरुचरणों में पहुँचे।

अध्यवसायों की तीन अवस्थाएं होती हैं–(१) वर्द्धमान (२) हीयमान और (३) अवस्थित। चित्त की परिणति या तो उच्च से उच्चतर दशा की ओर बढ़ती हुई होती है या नीचे की ओर गिरती हुई होती है अथवा अवस्थित अर्थात् ज्यों की त्यों स्थिर रहती है। उत्तम कोटि के साधक वर्द्धमान स्थिति में रहते हैं और मध्यम श्रेणी के अवस्थित कोटि में। उत्तम कोटि के साधक आठवें गुणस्थान से निरन्तर ऊँचे चढ़ते हुए बारहवें गुणस्थान में जा पहुँचते हैं और सिद्धि का झंडा गाड़ देते हैं। उनकी आत्मा में अनन्त ज्ञान की ज्योति जगमगाने लगती है। मध्यम साधक छठे-सातवें गुणस्थान तक ही रह जाता है। निम्नकोटि का साधक हीयमान दशा में

वर्तता है । उसके परिणामों की धारा गिरती जाती है । भगवान् महावीर ने साधकों को सचेत किया है–

'जाए सद्धाए णिक्खंतो तमेव अणु पालए ।'

जिस श्रद्धा, आत्मबल, उत्साह और उल्लास से व्रतों को धारण किया है, उसे कम न होने दो । एक बार अन्तर में जो ज्योति जागृत हुई है, वह मन्द न पड़ने पाए, बुझ न जाए, साधक को सदैव इस बात की सावधानी रखनी चाहिए ।

सिंहगुफावासी मुनि जब रूपकोषा के द्वार पर पहुँचा तब उसका अध्यवसाय अलग प्रकार का था। भिक्षा अंगीकार करने पर उस अध्यवसाय में परिवर्तन हो गया। निस्पृह साधक कभी नहीं फिसलता, स्पृहवान कभी भी फिसल सकता है । किसी ने ठीक ही कहा है–

'चाह छोड़, धीरज धरे तो हो बेड़ा पार ।

मानसिक दुर्बलता मनुष्य को अधःपतन की ओर ले जाती है । सिंह-गुफावासी मुनि ने दुर्बलता से ग्रस्त होकर रूपकोषा से कहा–"नेपाल का मार्ग कितना ही दुर्गम हो, भले अगम्य ही हो, मैं वहां से रत्नजटित कंबल ले आऊंगा । जिसने सिंह की गुफा में चार मास–एक सौ बीस दिन निर्भयता के साथ व्यतीत किये हों, उसे जंगल से क्या भय ? मैंने भय की वृत्ति पर पूरी तरह विजय पा ली है, अतएव आप मेरी बात पर अविश्वास मत लाइए । रत्नकंबल मैं ला दूंगा, किन्तु अभी यह साधना पूर्ण होने दीजिए ।"

एक चाह से दूसरी चाह उत्पन्न होती है । रूपकोषा समझ गई कि मुनि का मन विचलित हो गया है । वह इस रंगमहल के प्रलोभन में फंस गया है । मगर पूरी कसौटी किए बिना वह मानने वाली नहीं । मुनि को स्थिर करने का उसने निश्चय कर लिया था । अतएव उसने कहा–"आप निडर और आत्मजयी वीर हैं, किन्तु वर्षा प्रारम्भ होने पर मार्ग में कीचड़ ही कीचड़ हो जाएगा । चोरों और हिंसक पशुओं का डर रहेगा । अतएव रत्नकंबल पहले ही ले आइए ।"

रूपकोषा का आग्रह मुनि को प्रीतिकर नहीं लगा । उसके मन में निराशा का भाव उदित हुआ और शीघ्र ही विलीन भी हो गया । दूसरा कोई मार्ग न देख कर मुनि रत्नकंबल लाने के लिए चल पड़े ।

राग के वशीभूत होकर मनुष्य क्या नहीं करता ? राग उसके विवेक को आच्छादित करके उचित-अनुचित सभी कुछ करवा लेता है । वह प्राण हथेली में लेकर अतिसाहस का कोई भी काम कर सकता है ।

मुनि रूपकोषा के भवन में ठहरे थे । उनकी आत्मा इतनी प्रबल नहीं थी कि वह उस वातावरण पर हावी हो जाती, अपनी पवित्रता और सात्विकता से उसे परिवर्तित कर देती, जहर को अमृत के रूप में परिणत कर देती । परिणाम यह हुआ कि उस वातावरण से उनकी आत्मा प्रभावित हो गई । जब आत्मा में निर्बलता होती है तो आहार-विहार, स्थान और वातावरण आदि का प्रभाव उस पर पड़े बिना नहीं रहता । अतएव साधक को इन सबका ध्यान रखना चाहिए और इनकी शुद्धि को आवश्यक समझना चाहिये ।

उक्ति है – 'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति' अर्थात् मनुष्यों में दोषों और गुणों की उत्पत्ति संसर्ग से होती है । यदि उत्तम विचार वाले का संसर्ग हो तो सत्कर्मों की प्रेरणा मिलती है । समान या उच्च बुद्धि वाले की संगति हो तो वह मार्ग से विचलित होने पर बचा लेगा । इसके विपरीत यदि दुष्ट साथी मिल गए तो फिसलते को और एक धक्का देंगे ।

तो रूपकोषा की प्रेरणा से मुनि रत्नकंबल लाने को उद्यत हो गए । पहाड़ी भूमि की दुर्गमता निराली होती है । वहां घुमावदार ऊँचे-नीचे ऊबड़-खाबड़ रास्ते से जाना पड़ता है, झाड़ियों से उलझना पड़ता है और जंगली जानवरों के बीच से मार्ग तय करना पड़ता है । मुनि ने बाहर का भय जीत लिया है और पाप के भय को पीठ पीछे कर दिया है । वे यह भी भूल गए हैं कि लौटते समय वर्षाकाल प्रारम्भ हो जाएगा और तब विहार करना भी निषिद्ध होगा, तब क्या होगा ?

मुनि अडोल भाव से पहाड़ों और वनों को पार करते हुए नेपाल देश में जा पहुँचे । फिर राजधानी में भी पहुँच गए । उन्हें खाने-पीने की सुधि नहीं थी, एक मात्र रत्नकंबल प्राप्त करने की उमंग थी । उन्हें बतलाया गया था कि नेपाल नरेश रत्नकंबल वितरण करते हैं । उन्हें ख्याल ही नहीं आया कि जिसके शरीर पर साधारण वस्त्र का भी ठिकाना नहीं वह किसके लिए रत्नजटित कंबल की चाह करता है ?

यह निमित्त (रूपकोषा) वास्तव में चक्कर में डालने वाला नहीं, उबारने वाला है ।

मुनि इस बात से प्रसन्न हैं कि वह सफलता के द्वार तक आ पहुँचा है । वह नहीं सोच सकता कि उस रत्नकंबल का क्या होगा ?

बन्धुओ ! यह साधक की हीयमान स्थिति है । इसे समझ कर हमें अपनी साधना में सजग रहना है । छल-कपट, माया-मोह, फरेब किसी समय भी अपना सिर ऊँचा उठा सकते हैं । यदि असावधान हुए तो नीचे गिरना संभव है । अतएव सावधान होकर ज्ञानबल लेकर चलना है, पाप से डरना है, भगवान् से डरना है । यह लक्ष्य कभी मंद न पड़े । यदि पाप से भय है, अधःपतन से भय है तो शास्त्र या धर्म की शिक्षा काम आएगी । पाप का भय हो तो साधक कहीं भी रहे, जीवन निर्मलता के मार्ग में अग्रसर ही होता जाएगा और लौकिक तथा पारलौकिक कल्याण होगा ।

---

[५९]

विविध कर्मादान

अध्यात्म के क्षेत्र में शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि ही सिद्धि मानी गई है और उस सिद्धि को प्राप्त करना ही प्रत्येक साधक का चरम लक्ष्य है । जल तभी तक ढुलकता, ठोकरें खाता, ऊँचे-नीचे स्थानों में पददलित होता और चट्टानों से टकराता है जब तक महासागर में नहीं मिल जाता । नदी-नाले के जल की यह सब मुसीबतें समुद्र में मिल जाने के पश्चात् समाप्त हो जाती हैं । साधक के विषय में भी यही बात है । उसे भी ऊँची-नीची अनेक भूमिकाओं में से गुजरना पड़ता है, अनेकानेक परीषहों और उपसर्गों की चट्टानों से टकराना पड़ता है और ठोकरें खानी पड़ती हैं । किन्तु जब वह सिद्धि रूपी महासागर में पहुँच जाता है तो उसका भटकना, ठोकरें खाना और टकराना सदा के लिए समाप्त हो जाता है । उसे शाश्वत और अविचल स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है ।

समुद्र में प्रवेश करने के पश्चात् भी जल वाष्प बनकर रूपान्तर को प्राप्त करता है किन्तु सिद्धि प्राप्त होने पर साधक को किसी रूपान्तर-पर्यायान्तर को प्राप्त नहीं करना पड़ता । चरम सिद्धि के अनन्तर न तो किसी प्रकार की असिद्धि की संभावना रहती है और न उससे बढ़कर कोई सिद्धि है जिससे प्राप्त करने का प्रयत्न करना आवश्यक हो ।

जो साधना करता है और साधना के हेतु ही अपनी समस्त शक्तियां समर्पित कर देता है, उसी को सिद्धि प्राप्त होती है। साधना करने वाला साधक कहलाता है । साधारणतया साधनाएं अनेक प्रकार की होती हैं – अर्थ साधना, कामसाधना, धर्म साधना आदि । अर्थ या काम की साधना का आत्मोत्कर्ष के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । वह साधना बाह्य साधना है और यदि उसमें सफलता मिल जाय तो आत्मा का अधःपतन भले हो, उत्थान तो नहीं ही होता । ऐसी साधनाएं इस आत्मा ने अनन्त-अनन्त वार की हैं, मगर उनसे कोई समस्या सुलझी नहीं । इन साधनाओं में

सिद्धि प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी घोर असिद्धि का सामना करना पड़ता है । किन्तु धर्मसाधना (आत्मसाधना) से प्राप्त होने वाली सिद्धि शाश्वत सिद्धि है । यह सिद्धि आत्मा के अनन्त और अक्षय वैभव-कोष को सदा के लिए उन्मुक्त कर देती है और अव्याबाध सुख की प्राप्ति का कारण होती है ।

हम अपनी ओर स्वयं दृष्टिपात करें और सोचें कि हमारे जीवन में कौन-सी साधना चल रही है ? हम अर्थ और काम की साधना में व्यग्र हैं अथवा धर्म की साधना कर रहे हैं ? स्मरण रखना चाहिए कि अर्थ और काम की साधना छूटे बिना धर्मसाधना संभव नहीं है । दोनों परस्पर विरोधी हैं । जहां धर्म साधन की प्रधानता होगी वहां अर्थ और काम की साधना गौण या लंगड़ी हो कर ही रह सकती है । अर्थ-काम साधना का भाव वहां महत्व का नहीं रहेगा, क्योंकि वहां दृष्टिकोण आत्मा की शुद्धि और निज-गुण वृद्धि का रहेगा ।

जीवन में एक ऐसी स्थिति भी होती है जहां मनुष्य धर्म, अर्थ और काम की साधना करता है । गृहस्थ जीवन में ऐसी स्थिति है । किन्तु विवेकशील गृहस्थ इनका सेवन इस ढंग से करता है कि धर्म, अर्थ और काम में से कोई किसी का विरोधी न बने । इन तीनों के परस्पर अविरोधी सेवन से गृहस्थ-जीवन में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं होती, प्रत्युत वह जीवन अत्यन्त श्रेष्ठ बनता है । सद्गृहस्थ अर्थ और काम का सेवन धर्म का घात करके नहीं करेगा और धर्म का सेवन अर्थ और काम का नियामक होगा पर विघातक नहीं होगा । अर्थ और काम का सेवन भी उसका अविरुद्ध होगा । तात्पर्य यह है कि गृहस्थ जब तक गृहस्थ सम्बन्धी उत्तरदायित्व को वहन करके चल रहा है तब तक वह धर्म का बहाना करके अपने सामाजिक या पारिवारिक कर्त्तव्यों से विमुख नहीं होगा और श्रावक के योग्य धर्म-साधना का भी परित्याग नहीं करेगा । अर्थोपार्जन करते समय और उसका उपभोग करते समय धर्म का विस्मरण नहीं करेगा । इस प्रकार परस्पर अविरोधी धर्म, अर्थ और काम का सेवन करते हुए वह अपने गृहस्थ जीवन को आदर्श बनाएगा और जब एकान्त धर्मसाधना का सामर्थ्य अपने में पाएगा तो गार्हस्थिक उत्तरदायित्व से अपने को मुक्त कर लेगा। एक आचार्य कहते हैं–

परस्पराविरोधेन, त्रिवर्गो यदि सेव्यते ।
अनर्गलमदः सौख्यमपवर्गो ह्यनुक्रमात् ।।

यदि त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम का सेवन इस प्रकार किया जाय कि कोई किसी के सेवन में बाधक न हो तो ऐसे मनुष्य लौकिक सुख के साथ त्यागी बनकर अनुक्रम से, मुक्ति भी प्राप्त कर लेते हैं ।

साधक को अपना चिन्तन, स्मरण, भाषण और व्यवहार ऐसा रखना चाहिए जो लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायक हो । अर्थ और काम की साधना वहां रुक जाएगी जहां वह धर्म साधना में गतिरोध उत्पन्न करेगी । जैसे–दुर्घटना की आशंका से चालक गाड़ी रोक देता है, उसी प्रकार धर्मसाधना का साधक अर्थ एवं काम की गाड़ी को रोक देगा । श्रावक सदा सजग रहेगा कि काम और अर्थ कहीं धर्म के मार्ग में बाधक तो नहीं हो रहे हैं । उसके लिए धार्मिक साधना का दृष्टिकोण मुख्य है, अर्थ और काम गौण है । गृहस्थ आनन्द ने इसी कारण अर्थ और काम पर रोक लगा दी थी ।

पिछले दिनों अंगारकर्म और वन कर्म पर चर्चा की गई । जब कहीं कोई नवीन नगर बसाना होता है तो उस जगह के समस्त वृक्षों को कटवाना और घास-फूस को जला देना पड़ता है । मगर व्रत की साधना को लेकर चलने वाले साधक के लिए ऐसे धंधे करना उचित नहीं है । वन के बड़े-बड़े वृक्ष जब काटे जाते हैं तो अनेक पशु-पक्षियों के घर-द्वार विनष्ट हो जाते हैं । यदि सहसा वृक्षों की कटाई हो तो पक्षी संभल नहीं पाते । उन पक्षियों का छोटा-मोटा पारिवारिक जीवन होता है। संभलने का अवसर न मिलने से उनके अंडे-बच्चे आदि सर्वनाश के ग्रास बन जाते हैं । कुछ पक्षी तो वृक्षों की कोटरों में ही घर बना कर रहते हैं। जब यकायक वृक्ष कटने लगते हैं तो उनके लिए प्रलय का-सा समय आ जाता है। वे बेहाल हो जाते हैं ।

यह तो वृक्ष काटने की बात हुई किन्तु जहां वृक्ष काट कर कोयला बनाया जाता है वहां के प्राणियों का तो कहना ही क्या । अतएव ऐसे निर्दयता पूर्ण कृत्य खरकर्म माने गए हैं ।

(३) साडी कम्मे (शकट कर्म)– इसका सम्बन्ध वन कर्म से है । गाड़ी आदि बना कर बेचने का धंधा करना शकटकर्म कहलाता है । अथवा गाड़ी चलाना सागडीकर्म है । श्रावक को यह धंधा भी नहीं करना चाहिए । यह भी महाहिंसा से युक्त कर्म है । इसके लिए वनस्पति का विशेष रूप से उच्छेद करना पड़ता है । जो गाड़ी, गाड़ा, रथ आदि बनाता है, वह बैलों और घोड़ों आदि की बाधा का भी कारण बनता है । उनके मारण, छेदन, त्रास और संताप का निमित्त होता है ।

गाड़ीवान के सामने दो बातें होती हैं । पशु पर दया और स्वामी की आज्ञा का पालन । परन्तु उसका अधिक लगाव और झुकाव मालिक की आज्ञा की ओर होता है, क्योंकि मालिक उसे आजीविका देता है । आज्ञा के उल्लंघन से वह रुष्ट होता है, उलाहना देता है । पशु मूक है । अत्याचार करने पर भी वह

प्रतीकार नहीं कर सकता, कुछ बिगाड़ नहीं सकता । अतएव पशु के प्रति दयालु होने पर भी उसे स्वामी की आज्ञा का पालन करने के लिए उसके प्रति क्रूरतापूर्ण व्यवहार करना पड़ता है । अतएव श्रावक ऐसी आजीविका नहीं करता जिससे पशुओं के प्रति निर्दयता का व्यवहार करना पड़े ।

कई लोग पशुओं की दौड़ की होड़ लगाते हैं और जो पशु दौड़ में विजयी होता है, उसके स्वामी को पुरस्कार मिलता है । घोड़ों की दौड़ आजकल भी होती है । किन्तु ऐसा करना उनकी जान के साथ खिलवाड़ करना है ।

मनुष्य अपनी उत्कंठा तथा कौतुहलवृत्ति का पोषण करने के लिए पशुओं को सताता है और अनर्थ दंड के पाप का भागी बनता है। स्मरण रखना चाहिए कि जहां आवश्यकता की पूर्ति नहीं है, वहां पशुओं के साथ किया जाने वाला दुर्व्यवहार अर्थदण्ड की सीमा से बाहर निकल कर अनर्थदण्ड की सीमा में चला जाता है ।

धर्म की साधना करने वाले मुमुक्षु को बेलगाम नहीं होना चाहिए । मुमुक्षु का दर्जा वही प्राप्त कर सकता है जो अर्थ और काम पर अंकुश लगाता है जिसने अर्थ और काम पर अंकुश लगाना सीखा ही नहीं है, जप, तप आदि साधना जिसके लिए गौण या नगण्य है, वह वास्तव में साधक नहीं कहा जा सकता । वह गिरता-गिरता कहां तक जा पहुँचेगा, नहीं कहा जा सकता ।

गुणों को छोड़ कर गुरु या परमात्मा की आराधना कितनी भी की जाय, बेकार है । ज्ञान, दर्शन और चरित्र कोई अलग देवता नहीं हैं । गुणी के बिना गुण नहीं होते और गुणों के बिना गुणी (द्रव्य) नहीं रह सकता । एक दूसरे के बिना दोनों के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती । जैसे–हाथ, पैर, पीठ, पेट आदि अंगोपांगों का समूह ही शरीर कहा जाता है, इनसे पृथक शरीर की कहीं सत्ता नहीं है और शरीर से पृथक् उसके अंग-उपांगों की भी सत्ता नहीं है, इसी प्रकार गुणों का समूह ही द्रव्य है और द्रव्य के अंश धर्म ही गुण हैं । परस्पर निरपेक्ष गुण या गुणी का अस्तित्व नहीं है ।

अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु सभी जीवद्रव्य हैं । इनकी उपासना, आराधना और भक्ति कर लेना ही पर्याप्त है । गुणों का साधन करने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार की भ्रान्ति किसी को हो सकती है । किन्तु भूलना नहीं चाहिए कि अर्हन्त आदि गुणों के कारण ही वन्दनीय हैं । वास्तव में हम गुणी के द्वारा गुणों को ही वन्दन करते हैं । गुणों को वन्दन करने का उद्देश्य यह है कि हमारे चित्त में गुणों की महिमा अंकित हो जाय और हम उनका लाभ ले सकें ।

जो व्यक्ति ज्ञान के बदले अज्ञान, कुदर्शन और कुचारित्र के पथ पर चल रहा है, उसकी गुरु सेवा, मुनिभक्ति और भगवदाराधना आदि सब व्यर्थ हैं । भले ही वह ऊपर-ऊपर से भक्ति का प्रदर्शन करता हो, तथापि यदि हिंसा, असत्य और मोह-ममता के मार्ग पर चल रहा है तो ऐसा ही समझना चाहिए कि उसने वास्तव में भक्ति नहीं की है । उसने भक्ति के रहस्य को समझा ही नहीं है । कहा भी है–

प्रभु तो नाम रसायण सेवे,
पण जो पथ्य, पलाय नहीं ।
तो भव-रोग कदीय न छूटे,
आत्म शान्ति ते पाय नहीं ।।

प्रभु का नाम अनमोल रसायन है । वस्तु-रसायन के सेवन का प्रभाव सीमित समय तक ही रहता है किन्तु नाम रसायन तो जन्म-जन्मान्तरों तक उपयोगी होता है । उसके सेवन से आत्मिक शक्तियाँ बलवती हो जाती हैं और अनादि काल की जन्म-मरण की विविध व्याधियाँ दूर हो जाती हैं ।

रसायन के सेवन के साथ यदि पथ्य का सेवन न किया जाय तो कोई लाभ नहीं होता । रसायन का सेवन निष्फल हो जाएगा । यही नहीं, कदाचित् वह अपथ्य विपरीत प्रभाव भी उत्पन्न कर सकता है । नाम-रसायन के सेवन के विषय में भी यही नियम लागू होता है । नाम-रसायन के सेवन के लिए अहिंसा आदि सदाचरण पथ्य हैं। इनका पालन किये बिना नाम-रटन वृथा है ।

सच्ची धर्मसाधना करने वाला मुमुक्ष धर्म के विरुद्ध आचरण की संभावना होते ही अपने ऊपर नियन्त्रण लगा लेता है । गलती उससे हो सकती है, अनुचित शब्द का प्रयोग भी हो सकता है, किन्तु अपनी गलती प्रतीत होते ही वह उसका समुचित परिमार्जन कर लेता है और ऐसा करने में उसे तनिक भी हिचक नहीं होती । मुमुक्षु का जीवन अत्यन्त स्पृहणीय और अभिनन्दनीय होता है । दूसरों पर उसके जीवन की ऐसी गहरी छाप लग जाती है कि वह सर्वत्र सम्मान पाता है । जीवन को सफल बनाने की कुंजी उसके हाथ लग जाती है ।

किन्तु यह तभी सम्भव है जब लोभवृत्ति पर अंकुश रखा जाय और कामना पर नियन्त्रण किया जाय। इतना कर लेने पर अन्यान्य गलत आचरण भी रुक जाते हैं, क्योंकि कामना ही मनुष्य को कुपथ में घसीट ले जाने वाली है और जब कामना पर काबू पा लिया जाता है तो सभी दुर्गुण दूर हो जाते हैं। एक उक्ति प्रसिद्ध है–

बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्,
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ।

भूख की अन्तर्ज्वाला से जो जल रहा है, वह करुणाहीन बन जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है । सर्पिणी १०८ अण्डे देती है परन्तु उन्हें खा जाती है । कुतिया भी भूख की मारी अपने बच्चे को निगल जाती है । सद्यःप्रसूता कुतिया को भोजन देने की प्रथा इसी कारण प्रचलित है । ऐसे प्राणी उपदेश के पात्र नहीं हैं क्योंकि असह्य भूख से प्रेरित हो कर ही वे ऐसा करते हैं । मगर जिस मनुष्य में इतना सामर्थ्य है कि अपनी भूख मिटा कर दूसरों को भी खिला दे, वह यदि करुणाहीनता का काम करता है तो यह स्थिति अत्यन्त दयनीय और शोचनीय है ।

जो मनुष्य स्थावर और त्रस जीवों के बचाव का ध्यान रखने वाला है, उससे क्या यह आशा की जा सकती है कि वह मनुष्यों के उत्पीड़न में निमित्त बनेगा ? वह जान-बूझ कर कदापि ऐसा नहीं करेगा कि किसी का जीवन या किसी की जीविका का उच्छेदन करके अपना स्वार्थ सिद्ध करे । जो भगवद्भक्तिपरायण है, उससे ऐसी आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि भगवान् की भक्ति का उद्देश्य अपने जीवन को सद्गुणों के सौरभ से सुरभित करना है, परमात्मा के गुणों को अपनी आत्मा में प्रकट करना है । परमात्मिक गुणों की अभिव्यक्ति सम्यक् चारित्र के द्वारा ही संभव है अतएव भगवद् भक्त पुरुष सम्यक् चारित्र की आराधना अवश्य करेगा ।

सम्यक् चारित्र के दो रूप हैं–संयम और तप । संयम नवीन कर्मों के आस्रव बंध को रोकता है और तप पूर्व संचित कर्मों को क्षय करता है । मुक्ति प्राप्त करने के लिए इन दोनों की अनिवार्य आवश्यकता है । किसी सरोवर को सुखाने के लिए दो काम करने पड़ते हैं–नये आने वाले पानी को रोकना और पहले के संचित को उलीचना । इन उपायों से सरोवर रिक्त हो जाता है । इसी प्रकार आत्मा को कर्म-रहित बनाने के लिए भी दो उपाय करने पड़ते हैं–संयम की आराधना करके नवीन कर्मों के बन्ध को रोक देना पड़ता है और तप के द्वारा पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा करनी पड़ती है । इन दोनों उपायों से आत्मा पूर्ण निष्कर्म अवस्था को प्राप्त कर लेती है ।

इन्द्रिय और मन की वृत्तियों पर नियन्त्रण करके पाप के खुले द्वार को रोकना संयम कहलाता है । यह संयम धर्म भी दो प्रकार का है–समस्त पापों का निरोध श्रमण धर्म अथवा सर्वविरति संयम कहलाता है और देशतः पापों का निरोध देशविरति संयम ।

'अकरणान्मन्द करणं श्रेयः' अर्थात् कुछ भी न करने की अपेक्षा थोड़ा करना अच्छा है, इस कहावत के अनुसार पापों को सीमित रूप में लाकर जीवन को पवित्र बनाने वाला उससे अच्छा है जो पापों को बिल्कुल नहीं छोड़ता ।

मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसा, असत्य और चोरी आदि पापों का त्याग करना, इन्हें दूसरों से नहीं करवाना और इन पापों को करने वाले का अनुमोदन न करना पूर्ण सामायिक का आदर्श है । जो सत्वशाली महापुरुष इस आदर्श तक पहुँच सकें, वे धन्य हैं । जो नहीं पहुँच सकें, उन्हें उसकी ओर बढ़ना चाहिए । इस आदर्श की ओर जितने भी कदम आगे बढ़ सकें, अच्छा ही है । कोई व्यक्ति यदि ऐसा सोचता है कि मन स्थिर नहीं रहता, अतएव माला फेरना छोड़ देना चाहिए, यह सही दिशा नहीं है । ऐसा करने वाला कौन-सा भला काम करता है ? मन स्थिर नहीं रहता तो स्थिर रखने का प्रयत्न करना चाहिए । असफल होने के पश्चात् पुनः सफलता के लिए उत्साहित होना चाहिए न कि माला को खूँटी पर टांग देना चाहिए । साधना के समय मन इधर-उधर दौड़ता है तो उसे शनैः शनैः रोकने का प्रयत्न करना चाहिए, किन्तु काया और वचन जो वश में हैं, उन्हें भी क्यों चपलता युक्त बनाते हो ? उन्हें तो एकाग्र रखो, और मन को काबू में करने का प्रयत्न करो । यदि काया और वाणी सम्बन्धी अंकुश भी छोड़ दिया गया तो घाटे का सौदा होगा । यह सत्य है कि मन अत्यन्त चपल है, हठीला है और शीघ्र काबू में नहीं आता । किन्तु उस पर काबू पाना असंभव नहीं है । बार-बार प्रयत्न करने से अन्ततः उस पर काबू पाया जा सकता है । किसी उच्च्य स्थान पर पहुँचने के लिए एक-एक कदम ही आगे बढ़ना पड़ता है । आपका मन जो बेलगाम घोड़े की तरह दौड़ भाग कर रहा है, उसे काबू में लाने का यही उपाय है । साधक को सजग रह कर उसका मोड़ बदलना चाहिए ।

आंख की पुतली जैसे ऊपर-नीचे होती रहती है वैसे ही मन भी दौड़ता रहता है और कहीं मोह की सहायता उसे मिल जाय तब तो कहना ही क्या है ? वह बहुत गड़बड़ा जाता है । मगर गड़बड़ाये मन को भी काबू में लाया जा सकता है ।

मानव-जीवन में मन का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है । वह साधना का प्रधान आधार है, क्योंकि वही उत्थान एवं पतन का कारण है । कहा भी है–

मनः एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

बन्ध और मोक्ष का प्रधान कारण मन ही है । जो मन को जीत लेता है, इन्द्रियां उसकी दासी बन जाती हैं । अतएव मनोविजय के लिए सतत प्रयत्न करना चाहिए । धर्म-शिक्षा या अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा मन को वशीभूत किया जाता है ।

कभी-कभी दीर्घकाल तक कठिन साधना करने वालों को भी मन विचलित कर देता है और साधना से डिगा देता है । सिंह गुफावासी मुनि की साधना मामूली नहीं थी । मगर उनका मन मचल गया । स्थूलभद्र के प्रति ईर्ष्या उसने जगाई और उनके समकक्ष प्रतिष्ठा पाने की लोभ वृत्ति उत्पन्न कर दी । मुनि असावधान होकर उसके चक्कर में आ गए । रूपकोषा के द्वार पर पहुँचे और उसे सन्तुष्ट करने के लिए रत्नकंबल प्राप्त करने को चल दिए । व्रत-नियमों की साधना को भूल गए । वह साध्य अर्थात् काम विजय को सिद्ध करने के संकल्प से चले थे परन्तु साधन उलटा हो गया । रत्नकंबल को वह साधन मान बैठे ।

नेपाल की दुर्गम घाटियों को पार करके वे नेपाल की राजधानी तक पहुँच गए । त्यागी और तपस्वी मुनि के आगमन को देख नेपाल-नरेश ने अपने को सौभाग्यशाली मान कर उनका सम्मान किया । माना कि घर बैठे गंगा आ गई है, प्रांगण में कल्पवृक्ष उग आया है । मुनि अर्धनग्न स्थिति में वहाँ पहुँचे, अतएव उनके प्रति राजा का आदरभाव अधिक जगा । नेपाल नरेश ने शिष्टाचार का अनुसरण करते हुए कहा–"भगवन् ! आदेश दीजिए आपकी क्या सेवा की जाय ?"

मुनिजी 'सोऽहम्' का नहीं प्रत्युत रत्नकंबल का जप करते हुए वहां पहुँचे थे, अतएव राजा के कहने पर उन्होंने रत्नकंबल की ही मांग की ।

रत्नकंबल इधर-उधर लुटाये जा रहे थे, तो मुनि की मांग की पूर्ति करना क्या बड़ी बात थी ? एक सुन्दर रत्न-जटित कंबल लाकर राजपुरुष ने मुनि को अर्पित किया। मुनि के सन्तोष और उल्लास का पार न रहा । तपश्चरण से जन्म-जन्मान्तर में सिद्धि प्राप्त होती है परन्तु इन मुनि को अपने तप की सिद्धि तत्काल प्राप्त हो गई। मुनि रत्नकंबल पा कर मानो कृतार्थ हो गए । अत्यन्त प्रसन्नता के साथ वे तुरन्त पाटलीपुत्र लौटने लगे ।

भगवान् का प्रीतिभाजन बनने के लिए आत्मबल चाहिए । दैवी और दानवी बाधाओं से न डरने वाले दृढ़-संकल्प भक्त पर भगवान् प्रसन्न होते हैं । कमजोरों पर वे भी प्रसन्न नहीं होते ।

मुनि को रत्नकंबल क्या मिला मानो अपनी समग्र साधना का अभीष्ट फल मिल गया । बड़े जतन से उसे संभाले वे पाटलीपुत्र की ओर तेजी से बढ़ रहे थे । होनहार टाले नहीं टलती । मनुष्य क्या सोचता है और क्या हो जाता है ? भवितव्यता के आगे समस्त मनोरथ एक ओर धरे रह जाते हैं । मुनि तेज विहार करते

हुए चले जा रहे थे कि मार्ग में लुटेरों से भेंट हो गई। उन्होंने रास्ता रोक कर कड़कते स्वर में पूछा–क्या है तुम्हारे पास ?

अपरिग्रही मुनि को चोरों ओर लुटेरों से कोई भय नहीं होता, किन्तु सिंह गुफावासी मुनि इस समय अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर चुके थे। उनके पास रत्नकंबल के रूप में परिग्रह था। अतएव लुटेरों को सामने देख कर उनका हृदय धड़कने लगा। पहली बार उन्हें आभास हुआ कि परिग्रह किस प्रकार भय एवं मानसिक क्लेश को उत्पन्न करता है। सिंह के भय को वीरतापूर्वक जीत लेने वाला मुनि रत्नकंबल छिन जाने के भय से कातर हो उठा। क्षण भर के लिए उनके मन में तीव्र ग्लानि उपजी और उन्होंने दबे स्वर में कहा–मैं तो साधु हूँ।

मगर चोर और लुटेरे साधु-असाधु में भेद नहीं करते। इस सम्बन्ध में वे समभावी होते हैं। जिसके पास मूल्यवान् वस्तु हो वे सभी उनके लिए समान हैं।

लुटेरों ने रत्नकंबल छीन लिया। उस समय मुनि के मन में कैसे-कैसे विचार उत्पन्न हुए होंगे, यह तो भुक्तभोगी ही समझ सकता है। मुनि को ऐसा लगा जैसे उनका सर्वस्व छिन गया हो।

संसार चक्र अत्यन्त विषम है। यहां क्या अच्छा और क्या बुरा, यही निर्णय करना कठिन है। एक स्थिति में जो वस्तु सुख का कारण होती है, दूसरी स्थिति में वही दुःख का कारण सिद्ध होती है। जिन पुद्‌गलमय पदार्थों को आप चोटी से एड़ी तक पसीना बहा कर प्राप्त करते हैं, बड़े ज़तन से प्राणों के समान जिन की रक्षा करते हैं, वही जब चले जाते हैं तो मनुष्य की क्या दशा होती है ? और पौद्‌गलिक पदार्थ सदा कब ठहरने वाले हैं ? वे तो जाने के लिए ही आते हैं। फिर भी खेद का विषय है कि मूढ़ मानव उन्हीं के पीछे अपना जीवन नष्ट कर देता है और उनके मोह में फंस कर धर्म और नीति को विसर जाता है। किसी ने यथार्थ ही कहा है–

न जाने संसारे किममृतमयं किं विषमयम् ?

इस संसार में क्या अमृत और क्या विष है, यह निर्णय करना ही कठिन है। जिसे लोग अमृत समझ कर ग्रहण करते हैं, वह अन्त में विष साबित होता है और जिसे विष समझ कर त्यागते हैं वही अमृत प्रमाणित होता है। ज्ञानी पुरुष भोगोपभोग की सामग्री को किंपाल फल के समान कहते हैं तो अज्ञानी उसे सुधा समझते हैं।

रत्नकंबल पाकर लुटेरे अत्यन्त प्रसन्न हुए और मुनि के मन पर विषाद की गहरी रेखा खिंच गई। एक की प्रसन्नता दूसरे की अप्रसन्नता का कारण बनती है और दूसरे की अप्रसन्नता से किसी को प्रसन्नता प्राप्त होती है। धिक्कार है इस संसार को, धिक्कार है मनुष्य की मूढ़ता को, जिसने तत्व पा लिया है, मर्म को समझ लिया है, वह ऐसी बालचेष्टा नहीं करता। वह आत्मिक वैभव की वृद्धि में ही अपना कल्याण मानता है और इहलोक-परलोक सम्बन्धी कल्याण का भागी बनता है।

[६०]

कर्मादान–एक विवेचन

संसार में अनन्तानन्त जीव हैं और उन सब की पृथक्-पृथक् सत्ता है । सभी संसारी जीव कर्मोदय के अनुसार शरीर धारण करते हैं, जीवन व्यतीत करते हैं और अन्त में मरण के शरण हो जाते हैं । इन अनन्तानन्त प्राणियों में से बहुत कम को विवेक शक्ति प्राप्त होती है, थोड़े से जीव ही कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को पहचान पाते हैं । धर्म-अधर्म का ज्ञान अधिकांश को नहीं है । पूर्व जन्म के सुकृत के फलस्वरूप विवेक का लाभ प्राप्त कर सकने वाले बहुत ही कम प्राणी हैं । विरले ही जीवों को ज्ञान प्राप्त होता है और उनमें से भी किसी-किसी को ही ज्ञान के फलविरति-की प्राप्ति होती है । जीवन को पतन के मार्ग पर ले जाने वाले साधनों से यदि विरति उत्पन्न न हुई तो प्राप्त हुआ विपुल ज्ञान भी निष्फल है, क्योंकि कहा है–

नाणस्स फलं विरई ।
(ज्ञानस्य फलं विरतिः)

ज्ञान की सफलता त्याग में है । जिन पदार्थों और जिन आन्तरिक विकारों को हम हेय समझते हैं, अकल्याणकर मानते हैं और घोर दुःख का कारण मानते हैं उनका भी यदि त्याग नहीं कर सकते तो वह ज्ञान किस मर्ज की दवा है ? उसका क्या फल मिला ? ऐसे ज्ञान को महापुरुष ज्ञान ही नहीं मानते । सर्प को सामने आते देख कौन ज्ञानवान्-समझदार-मनुष्य बचने के लिए दूर नहीं भाग जाता ? केवल नासमझ बालक ही सर्प को देख कर भी नहीं हटता है इसी प्रकार विषय रूपी विषधर से जो विमुख नहीं होता, समझना चाहिए कि वह समझदार नहीं, नासमझ है । उसे वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है । अतएव सच्चा ज्ञानी वही है जो विरमण करने योग्य पदार्थों एवं भावों से विरत हो जाता है और रमण करने योग्य सद्भावों में रमण करता है ।

इसके विरुद्ध यदि रमण करने योग्य कार्यों एवं भावों से ही विरमण कर लें तो यह विरति कैसी ? मान से विरत होने के बदले यदि विनय से, क्रोध के बदले क्षमा से, हिंसा के बदले अहिंसा से और लोभ के बदले सन्तोष से विरत हो तो यह मिथ्या विरति है । साधक को वि-भाव से विरति करनी चाहिए, आत्म-स्वरूप में रमण और परपदार्थों से विरमण करना चाहिए । 'स्व' का परित्याग करके 'पर' में रमण करना ही समस्त दुःखों का मूल है । अतएव साधक को निज गुणों में रति करके परगुणों से विरति करनी चाहिए । इससे उलटी प्रवृत्ति रही तो आत्मा सदा जन्म-मरण के विषम चक्र में ही भटकती रहेगी । उसका त्राण नहीं हो सकेगा ।

परम ज्ञानी और सच्चा साधक वही है जो हेय और उपादेय को भली-भांति समझ कर हेय का त्याग करता है और उपादेय को ग्रहण करता है । ज्ञान और विश्वास अनुकूल या समीचीन हो कर परिपुष्ट हो जाएं, यही विरति है । परिपक्व दशा और अनुकूल मौसम होने पर वृक्ष में फल लगते हैं । ऐसे ही ज्ञान का परिपाक होने पर विरति की प्राप्ति होती है । हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह से अलग होना विरति है । स्मरण रखना चाहिए कि साधारणतया पहले बाह्य पाप कर्मों से विरति होती है, तत्पश्चात् अन्तरंग पापों से विरति हो जाती है । महर्षियों ने हिंसा, झूठ, चोरी आदि बाह्य पापों को त्यागने का महत्व इसी कारण दर्शाया है । जो मनुष्य इनका त्याग कर देता है, उसके अन्तरंग पाप, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह आदि शनैः शनैः शान्त हो जाते हैं । कारण यह है कि क्रोध आदि आन्तरिक पाप हिंसा आदि बाह्य पापों के कारण ही बढ़ते हैं, अतः जब बाह्य पाप घट जाते हैं तो आन्तरिक पाप भी स्वतः घट जाते हैं ।

कोई हमारी जमीन या अन्य वस्तु बलपूर्वक छीन लेता है या शरीर पर आघात करता है तो क्रोध उत्पन्न होता है । ऐसी स्थिति में जो जमीन का त्याग कर देता है उसके क्रोध का एक कारण कम हो जाता है । इस प्रकार जितना क्षेत्र बाह्य पापों का घटा उतना ही कषायों के विस्तार का क्षेत्र घटा ।

जो शरीर के प्रति ममतावान् है उसे शरीर के प्रतिकूल आचरण करने पर रोष उत्पन्न होता है, किन्तु जिसने शरीर को पर-पदार्थ समझ लिया है और जिसे उसके प्रति किंचित भी ममता नहीं रह गई है वह शरीर पर घोर से घोर आघात लगने पर भी रुष्ट नहीं होता । ऐसे अनेक महर्षियों की पुण्यगाथाएं हमारे शास्त्रों में विद्यमान हैं जिन्होंने भीषण शारीरिक आघातों के होने पर भी अखण्ड समभाव रखा और लेश मात्र भी रोष का उन्मेष नहीं होने दिया । गजसुकुमार के शरीर की वेदना क्या सामान्य थी ? स्कंधक मुनि का स्मरण क्या हमारे रोंगटे नहीं खड़े कर देता ? मेतार्य

मुनि को क्या कम आघात लगा था ? फिर भी ये प्रातःस्मरणीय मुनिराज क्षमा के प्रशान्त सागर में ही अवगाहन करते रहे । क्रोध की एक भी चिनगारी उनके हृदय में उत्पन्न नहीं हुई । इसका क्या कारण था ? यही कि वे अपने शरीर को भी अपना नहीं मानते थे । वे समझ चुके थे कि इस नाशशील पौद्गलिक शरीर का मेरी अविनश्वर चिन्मय आत्मा के साथ कोई साम्य नहीं है । इसी कारण वे शारीरिक यातना के समय भी समभाव में विचरण करते रहे और आत्मकल्याण के भागी बने ।

साधारण संसारी प्राणी लोभ का दास है । वह भूमि और धन आदि के संग्रह की वृद्धि के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। उसने सभी द्वार खोल रखे हैं । व्यवसाय में मुनाफा होगा तो फूला नहीं समाएगा । नवीन मकान बनवाएगा तो पड़ौसी की दो-चार अंगुल जमीन दबाना चाहेगा । इस प्रकार जिन्होंने अंकुश नहीं लगाया है, वे बाह्य वस्तुओं का विस्तार करेंगे और उसी में आनन्द मानेंगे । उनके प्रत्येक व्यवहार, वचन और विचार से लोभ का निर्झर ही प्रवाहित होगा ।

जो व्यापारी या दुकानदार है, उसे खेत या जमीन का लालच नहीं होगा, क्योंकि उस ओर उसका आकर्षण नहीं है । अगर कोई गृहस्थ व्यापार भी करता है, कृषि भी करता है, मोटर-सर्विस और सिनेमा भी चलाता है तो चारों दिशाओं में उसके लालच का विस्तार होगा । लालच में पड़कर वह असत्य भाषण करेगा, अदत्त का ग्रहण करेगा और न जाने कौन-कौन से पाप करेगा । पाप का बाप लोभ और पाप की मां कुमति है । समस्त पापों को अंकुरित करना, जन्म देना और विस्तार करना लोभ का काम है, किन्तु कुमति का सहयोग न हो तो पापों का विस्तार नहीं हो सकता । पाप का विषैला बीज कुमति रूपी क्षेत्र में ही फलता-फूलता है ।

सन्तोष के बिना शान्ति और सुख नहीं मिलता और विरतिभाव के बिना सन्तोष नहीं मिलता । लोभ-लालच को जीतने का उपाय सन्तोष ही है । 'लोहं संतोसओ जिणे' अर्थात् लोभ को सन्तोष से जीतना चाहिए, यह अनुभवी महापुरुषों का वचन है ।

ज्ञान अपने आप में अत्यन्त उपयोगी सद्गुण है किन्तु उसकी उपयोगिता विरतिभाव प्राप्त करने में है । जितने भी अध्यात्म-मार्ग के पथिक महापुरुष हुए हैं, उन्होंने हिंसा, कुशील आदि से विमुख हो कर कषायों का भी निग्रह किया । ये आन्तरिक पाप शीघ्र पकड़ में नहीं आते । बिजली को पकड़ने के लिए विशिष्ट साधन का उपयोग करना होता है । उससे बचने के लिए रबर, लकड़ी आदि का सहारा लेना पड़ता है । इसी प्रकार क्रोधादि रूप बिजली से बचने के लिए विरतिभाव का आश्रय लेना चाहिए ।

जो विवेकशील साधक विरतिभाव के बाधक कारणों से बचता है, वही साधना में अग्रसर हो सकता है । विरति के बाधक कारण अतिशय लोभ, मोह आदि विकार हैं और उन विकारों से उत्पन्न होने वाले महान् आरम्भ-परिग्रह हैं । इस सिलसिले में कर्मादानों की चर्चा चल रही है । तीन कर्मादानों का विवेचन पहले किया जा चुका है ।

हिमालय के दुर्गम मार्गों में साधक भले ही न गड़बड़ाए किन्तु प्रमाद और कषाय यदि उसके जीवन में प्रवेश कर जावें और वह उनका शिकार हो जाए तो गड़बड़ पैदा हुए बिना नहीं रहती । ऐसी स्थिति में उसे कोई नवीन सफलता नहीं प्राप्त हो सकती, यही नहीं वरन् पूर्व प्राप्त साधना की सम्पत्ति भी वह गंवा बैठता है। किसी धनवान अथवा अर्थी द्वारा कठिन परिश्रम करके प्राप्त किया हुआ धन यदि चोर चुरा ले या गुम हो जाय तो उसे कितनी मार्मिक वेदना होती है ? वह व्यवहार में बहुत संभल कर चलता है, फिर भी कदाचित् असावधान हो जाता है तो भयानक हानि उठाता है । इस प्रकार जब थोड़ी-सी असावधानी भी व्यवहार में घातक है तो आत्म साधक के जीवन की हानि कितनी बड़ी हानि कहलाएगी ?

एक आदमी प्रवास का घोर कष्ट उठाकर और रात-दिन एक करके, कठिन परिश्रम करके, धन उपार्जित करके ला रहा हो और मार्ग में लुट जाए तो उसके हृदय में तीव्र विषाद होगा । बाल-बच्चों वाला होगा तो उसे गृहस्थी की गाड़ी चलाने में कष्ट होगा । अगर वह कोई भिक्षुक है और उसने दार-परिग्रह नहीं किया है तो भी माल लुट जाने के दुःख से वह बच नहीं सकता ।

सिंह गुफावासी मुनि का रत्नकंबल लुट गया तो उनको बहुत दुःख हुआ । उस रत्नकंबल के साथ उनकी कई भावनाएं जुड़ी हुई थीं । अतएव उनके हृदय में कितनी व्याकुलता उत्पन्न हुई होगी, इसका अनुमान कोई भुक्तभोगी ही कर सकता है । इस मर्मवेधिनी चोट से उन्हें जो आत्मग्लानि हुई उसे भगवान् सर्वज्ञ ही जान सकते हैं। मुनि के मन ने कहा–'रूपकोषा कंबल की प्रतीक्षा कर रही होगी । उसके समक्ष मैंने बड़े दर्प के साथ अपने पुरुषार्थ की डींग मारी थी । वह मेरी राह देख रही होगी। मैं उसके सामने खाली हाथ कैसे जाऊंगा ? रत्नकंबल मांगने पर उसे क्या उत्तर दूंगा ? मार्ग में लुट जाने की बात पर क्या उसे विश्वास होगा ? क्या यह स्थिति मेरे लिए अपमानजनक नहीं है ? तो अब क्या करना चाहिए ?'

चिन्ता में व्यग्र मुनि कुछ समय तक कोई निर्णय नहीं कर सके । भांति-भांति के विचार चित्त में उत्पन्न हुए और विनष्ट हुए । वह असमंजस में पड़ गए । संयम की विशिष्ट साधना के उद्देश्य से निकले साधक की ऐसी दयनीय दशा ! मन कितना प्रबल है । वह मनुष्य को कहां से कहां ले जाकर गिरा देता है ।

मुनि के मन में विचारों की आंधी आ रही थी । वह अपनी पद-मर्यादा को विस्मृत कर चुके थे । आखिर उन्होंने निश्चय किया–'मैं रूपकोषा के सामने खाली हाथ नहीं जा सकता । प्राण जाएं तो जाएं पर मैं खाली हाथ नहीं जाऊंगा । खाली हाथ जाने में पुरुषत्व नहीं, प्रतिष्ठा नहीं, मानवता भी नहीं है ।'

सिंह गुफावासी मुनि के सामने अपनी शान और मान-मर्यादा का सवाल था। शान के सामने संयम परास्त हो रहा था । किन्तु जब उन्होंने पुनः रत्नकंबल लाने का निश्चय किया, तभी मन में एक नयां प्रश्न उत्पन्न हुआ । प्रश्न था–नेपाल-नरेश दुबारा कम्बल देंगे या नहीं ?

अर्थ की समस्या उपस्थित होती है तो मनुष्य संकोच और लिहाज को भी तिलांजलि दे देता है । धार्मिक लाभ लेने वाले भी तर्क-वितर्क करके धर्म-मार्ग से विमुख हो जाते हैं । शादी, विवाह या आर्थिक लाभ का काम हुआ तो कोई किसी का साथ नहीं खोजता । दुकान या कारखाने का मुहूर्त्त करते समय साथी नहीं ढूंढ़ा जाता, किन्तु धार्मिक कार्य के लिए एक को कहीं जाना पड़े तो साथी चाहिए ।

मुनि आत्मभाव से बाहर निकल कर अनात्मभाव में रमण कर रहे थे । कम्बल क्या लुटा मानों उनके जीवन का सर्वस्व लुट गया । उनकी भविष्य सम्बन्धी अनेक मनोहर कल्पनाओं का भवन ढह गया । उनके मन में चिर काल तक द्वन्द्व की स्थिति बनी रही । वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहे । अन्त में एषणा की विजय हुई । भटके मन ने आदेश दिया–'प्रयत्न करो, सफलता मिले चाहे न मिले । पुरुष का काम पुरुषार्थ करना है । पुरुषार्थ करने वाले को अन्त में सफलता प्राप्त होती ही है। निराश होकर बैठ जाना तो असफलता की विजय स्वीकार करना है । यह पुरुषत्व का अपमान है । अतएव जिस कार्य में हाथ डाला है उसे सिद्ध करके ही दम लेना चाहिए ।'

मन का आदेश मिलने पर पैरों को लाचार होकर पीछे की ओर बढ़ना पड़ा। वे वापिस नेपाल-नरेश के पास पहुँचने को मुड़ गए । चलते-चलते राज-दरबार में पहुँचे ।

लज्जा और संकोच ने पहले तो मुनि के मुख पर ताला जड़ दिया । उनका मन आत्मग्लानि से भर गया । यद्यपि मुनि जीवन याचनामय होता है । उसकी समस्त आवश्यकताएं याचना से ही पूर्ण होती हैं–

'सव्वं' से जाइअं होइ, नत्थि किंचि अजाइयं ।

साधु के पास कोई उपकरण ऐसा नहीं होता जो अयाचित हो । याचना करने में उसे दैन्य का अनुभव भी नहीं होता—और नहीं होना चाहिए । किन्तु यहां तो बात ही दूसरी थी । सिंह गुफावासी मुनि को संयम-जीवन के निर्वाह के लिए रत्नकंबल की आवश्यकता नहीं थी । वह कम्बल उनके संयम में सहायक नहीं था । यही नहीं, वरन् बाधक था । इसी कारण मुनि लज्जा और संकोच से धरती में गड़े जा रहे थे । राजा के समक्ष जाकर भी मुनि का मुंह सहसा खुल नहीं सका । वह थोड़ी देर मौन रहे ।

मुनि को दूसरी बार रत्न कम्बल के लिए आया देख दरबारियों को भी विस्मय हुआ । किसी ने सोचा—'हो न हो मुनि संग्रह के शिकार हैं ।'

किसी ने कहा—'क्या रत्नकम्बल बेच कर पूंजी इकट्ठी करने की सोची है ?'

तीसरा बोला—'वास्तव में यह साधु भी है या नहीं । साधु का वेश धारण करके कोई ठग तो नहीं है ।'

इस प्रकार नाना प्रकार की टीकाएं होने लगीं । जितने मुंह उतनी बातें । मुनि चुपचाप उन्हें सुनते रहे । अन्त में उन्होंने अपनी करुण कहानी राजा को सुनाई। राजा का हृदय द्रवित हुआ और पुनः उन्हें रत्नकंबल मिल गया ।

रत्नकंबल पाकर मुनि को ऐसा हर्ष हुआ जैसे सिद्धि प्राप्त हो गई हो। वह तत्काल वापिस लौट पड़े । इस बार मुनि ने अत्यन्त सावधानी और सतर्कता के साथ यात्रा की और वे निर्विघ्न पाटलीपुर आकर रूपकोषा के भवन में प्रविष्ट हुए । अनेकानेक कष्ट सहन करने के पश्चात् प्राप्त इस सफलता पर वे अत्यन्त प्रसन्न थे । इतने प्रसन्न जैसे शत्रु का दुर्गम दुर्ग जीत लेने पर कोई सेनापति फूला नहीं समाता हो।

नेपाल नरेश प्रत्येक व्यक्ति को सन्देह की दृष्टि से नहीं देखते थे । उनका मन्तव्य था कि संसार के सब मनुष्य समान नहीं हैं अतएव सब के साथ एक-सा व्यवहार करना उचित नहीं है । यही कारण था कि मुनि को दूसरी बार कम्बल की याचना करते देख कर दरबारी लोग जब तरह-तरह की बातें कर रहे थे, तब स्वयं नरेश ने मौन ही धारण किया । उन्होंने मुनि के चेहरे को पढ़ने का प्रयत्न किया और उनका कथन यथार्थ पाया । मुनि ने कहा—"मैं कन्धे पर रत्नकंबल लटकाकर जा रहा था कि लुटेरे आ धमके और ले गए ? मेरी इष्ट सिद्धि नहीं हुई, अतएव दूसरी बार आया हूं ।"

नेपाल नरेश ने मुनि के कथन पर विश्वास किया और दूसरा रत्नकंबल प्रदान करने के साथ इस बार सावधानी बरतने की सूचना भी दी । नरेश की सूचना के

अनुसार मुनि ने इस बार बाँस में कम्बल को फिट कर लिया । बाँस को लाठी की तरह लेकर उन्होंने जंगली रास्ते को पार किया ।

रुपये और नोट कितने आए और चले गए । कमरे में तिजोरी के अन्दर रकम बन्द होने पर भी द्वार पर पहरेदार न हो तो धनी मनुष्य को चिन्ता के कारण निद्रा नहीं आती । अगर तिजोरी में हीरा-मोती हुए तब तो सुरक्षा का जबर्दस्त प्रबन्ध करना पड़ता है, क्योंकि जवाहरात दुर्लभ हैं और इसी कारण विशेष मूल्यवान् हैं । कौड़ियों की रक्षा के लिए किसी को विशेष चिन्ता नहीं करनी पड़ती । परन्तु महावीर स्वामी कहते हैं–"मानव ! तनिक विचार तो कर कि ये पौद्गलिक रत्न अधिक मूल्यवान् हैं अथवा समयग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप आत्मिक रत्न अधिक मूल्यवान हैं ? दोनों प्रकार के रत्नों में कौन अधिक दुर्लभ है ? कौन अधिक हितकारी और सुखकारी है ? किनसे आत्मा को निराकुलता और शान्ति प्राप्त होती है ?"

पार्थिव रत्नों से क्या मनुष्य सुखी हो सकता है ? वे तो चिन्ता, व्याकुलता, अतृप्ति और शोक-सन्ताप के ही कारण होते हैं । उनसे लेश मात्र भी आत्मा का हित नहीं होता । इन भौतिक रत्नों की चकाचौंध से अंधा होकर मनुष्य अपने स्वरूप को देखने और पहचानने में भी असमर्थ बन जाता है । शरीर में जब बाधा उत्पन्न होती है तो हीरा और मोती उसका निवारण नहीं कर सकते । उदर में भीख की ज्वाला जलती है तो उन्हें खा कर तृप्ति प्राप्त नहीं की जा सकती । जब अजेय यम का आक्रमण होता है और शरीर को त्याग कर जाने की तैयारी होती है तब जवाहरात के पहाड़ भी आड़े नहीं आते । मौत को हीरा-मोतियों की घूस देकर प्राणों की रक्षा नहीं की जा सकती । परभव में उन्हें साथ भी नहीं ले जाया जा सकता ।

आखिर ये जवाहरात किस मर्ज की दवा हैं । इनकी प्राप्ति होने पर मान आदि कषायों का पोषण अवश्य होता है जिससे आत्मा अधोगति का अधिकारी बनता है ।

सम्यग्दर्शन आदि भाव-रत्न आत्मा की निज सम्पत्ति हैं । इनसे आत्मा को हित और सुख की प्राप्ति होती है । इनकी अनुपम आभा से आत्मा दैदीप्यमान हो उठता है और उसका समस्त अज्ञानान्धकार सदा के लिए विलीन हो जाता है । ये वे रत्न हैं जो आत्मा को सदा के लिए अजर, अमर, अव्याबाध और तृप्त बना देते हैं । इनके सामने काल की दाल नहीं गलती । रोग को पास आने का योग नहीं मिलता । यह अक्षय सम्पत्ति है । अतीव-अतीव पुण्य के योग से इसकी प्राप्ति होती

है । इन आत्मिक रत्नों की तुलना में हीरा, पन्ना, माणिक, नीलम आदि पाषाण के टुकड़ों से अधिक कुछ भी नहीं हैं ।

तथ्य यही है फिर भी मूढ धी मनुष्य पत्थर के टुकड़ों को रत्न मान कर उनकी सुरक्षा के लिए रात-दिन व्यग्र रहता है और असली रत्नों की, सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र की उपेक्षा करता है । कितनी करुणास्पद स्थिति है, नादान मानव की ।

आत्मदेव ज्ञान, दर्शन और चारित्र का धन लेकर चला है तो सैकड़ों बार लुटा है, मगर एक बार ठगा कर जो फिर धोखा नहीं खाता वही समझदार व्यक्ति है। भगवान् कहते हैं–"संसार रूप वन में काम, क्रोध आदि लुटेरे तेरे मूल्यवान् धन दर्शन चारित्र को न लूट लें, सचेत रहना । इस रत्नकंबल को संभाल कर रखना ताकि संसार से पार पहुँच सको । ऐसा करने से ही उभय लोक में कल्याण होगा।"

[६१]

कर्मादान-विविध रूप

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं ।

जैसे आपको अपना जीवन प्रिय और मरण अप्रिय है, उसी प्रकार संसार के सब प्राणियों को जीवन प्रिय और मरण अप्रिय है । मरना कौन चाहता है ? किन्तु बहिर्दृष्टि लोग स्वार्थ के वशीभूत होकर इस अनुभव सिद्ध सत्य को भी विस्मृत कर देते हैं और जो अपने लिए चाहते हैं, वह अन्य प्राणियों के लिए नहीं चाहते । वे अपने स्वल्प सुख के लिए दूसरों को दुःख के दावानल में झोंक देने में संकोच नहीं करते । इस विषम दृष्टि के कारण ही मनुष्य की सामाजिक और धार्मिक दोनों दृष्टियों से घोर हानि हो रही है । आज विश्व में जो भीषण संघर्ष चल रहे हैं, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ टकरा रहा है, एक वर्ग दूसरे वर्ग को अपना शत्रु समझ कर व्यवहार कर रहा है, और एक-दूसरे को निगल जाने की चेष्टा कर रहा है, वह सब इसी विषम दृष्टि का परिणाम है ।

जब तक यह विषमभाव दूर न हो जाय और प्राणि मात्र के प्रति समभाव जागृत न हो जाय तब तक संसार का कोई भी वाद, चाहे वह समाजवाद हो, साम्यवाद हो, पूंजीवाद हो या सर्वोदयवाद हो, जगत् का त्राण नहीं कर सकता शान्ति की प्रतिष्ठा नहीं कर सकता ।

अब तक संसार में शान्ति स्थापना के अनेकानेक प्रयास हुए हैं, अनेक वाद प्रचलित हुए हैं, मगर उनसे समस्या सुलझी नहीं, उलझी भले हो । समस्या का स्थायी समाधान भारतीय धर्मों में मिलता है और जैनधर्म उनमें प्रमुख है जो इस समस्या पर सांगोपांग विश्लेषण हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है । राजनीतिक वाद आजमाए जा चुके हैं और असफल सिद्ध हुए हैं । हम विश्व के सूत्रधारों को आह्वान करना चाहते हैं कि एक बार धार्मिक आधार पर इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया जाय ।

न्याय नीति का तकाजा है कि जो सबल है वह निर्बल का सहायक बने, शोषणकर्त्ता नहीं । इसी आधार पर शान्ति टिक सकती है, अन्यथा नहीं । जगत् में अनेक प्रकार के प्राणी हैं । उनमें त्रस अर्थात् जंगम् भी हैं और स्थावर भी । भगवान् महावीर ने उन सबके प्रति मैत्री और करुणाभाव धारण करने का उपदेश दिया है। जैसे सन्तति प्रेमी पिता छोटे, बड़े, होशियार, मन्दबुद्धि आदि सभी बच्चों को प्यार करता है, उसी प्रकार विवेकशील साधक के लिए सभी जीव-जन्तु संरक्षणीय हैं ।

यह सत्य है कि गृहस्थ विविध प्रकार की गार्हस्थिक आवश्यकताओं से बंधा हुआ है, फिर भी वह सम्पूर्ण नहीं तो आंशिक रूप में हिंसा से विरत हो ही सकता है । निरर्थक हिंसा का त्याग कर देने पर भी उसके किसी कार्य में बाधा उपस्थित नहीं होती और बहुत से पाप से बचाव हो सकता है । धीरे-धीरे वह पूर्ण त्याग के स्थान पर भी पहुँच सकता है । किन्तु जब तक यह स्थिति नहीं आती है, उसे मन्जिल तय करना है । चल और अचल सभी जीवों की रक्षा का लक्ष्य उसके सामने रहना चाहिए । अपूर्ण त्याग से पूर्ण त्याग तक पहुँचना उसका ध्येय होता है। वह कौटुम्बिक व्यवहार में भी कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक करके प्रवृत्ति करता है और अपने व्रतों के पालन का ध्यान रखता है ।

उसकी आजीविका किस प्रकार की होती है या होनी चाहिए इसका विवेचन करते हुए तीन कर्मादानों का निरूपण किया जा चुका है । इंगालकम्मे, वणकम्मे, और साडीकम्मे के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है , खर-कर्म होने के कारण श्रावक के लिए ये निषिद्ध हैं ।

(४) भाड़ीकम्मे (भाटी कर्म)–यह चौथा कर्मादान है । बैल, हाथी, ऊंट, घोड़ा, गधा, खच्चर, आदि जानवरों के द्वारा भाड़ा कमाना या आजीविका निर्वाह के लिए इन्हें भाड़े पर चलाना भाड़ीकम्मे कर्मादान कहलाता है । जब इन पशुओं के द्वारा भाड़ा कमाने का लक्ष्य होता है तो इनके संरक्षण और सुख-सुविधा की बात गौण हो जाती है । भाड़े का लोभी स्टेशन से बस्ती तक चलने वाले तांगे-घोड़े को दूर-दूर ग्रामों तक ले जाने को तैयार हो जाता है और शीघ्र से शीघ्र मंजिल तय करने के लिए उसे कोड़ों से पीटता और भागने की शक्ति न होने पर भी भागने को बाध्य करता है । जिसके पैर जवाब दे चुके हों, जिसको अपने शरीर का भार वहन करना भी कठिन हो रहा हो, जो चलते-चलते हांफ गया हो, ऐसे जानवर पर भार लाद कर जब मार-मार कर चलाया और दौड़ाया जाता है, तब उसको कितनी व्यथा होती होगी ? ऐसा व्यवहार अत्यन्त क्रूरतापूर्ण है किन्तु भाड़े की आजीविका करने वाला शायद ही इससे बच सकता है । आते हुए पैसे को ठोकर मार कर जानवर की सुख-सुविधा का विचार करने वाले विरले ही मिलेंगे । सामान्य

व्यक्ति, जिसने सम्यग्दृष्टि प्राप्त नहीं की है, ऐसा कार्य करे तो समझ में आ सकता है, क्योंकि उसमें करुणाभाव का अभाव होता है मगर सम्यग्दृष्टि श्रावक ऐसा नहीं करेगा । अगर करता है तो उसका व्रत सुरक्षित नहीं रह सकता । अतएव व्रती श्रावक को भाड़े की इस प्रकार की आजीविका नहीं करनी चाहिए ।

जीवन-निर्वाह के लिए बड़े पाप करने की क्या आवश्यकता है ? जिसने परिग्रह का परिमाण कर लिया है, और अपनी आवश्यकताओं को सीमित कर लिया है, वह अल्पारंभ से ही अपना काम चला सकता है । उसके जीवन-व्यवहार के लिए घोर पाप की आवश्यकता ही नहीं होती ।

आज बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी आदि की संख्या कम हो गई है । यंत्रों द्वारा चलने वाली गाड़ियों ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया है । कुछ लोगों की ऐसी दृष्टि है कि मोटर में चलने से पाप नहीं होता । तांगे की अपेक्षा मोटर की सवारी को लोग अच्छा समझते हैं। उसमें धन की और समय की बचत समझते हैं । शान भी उसमें मानते हैं। मोटर में बैठ कर बाजार से निकलने वाला व्यक्ति पैदल चलने वालों को अवज्ञा भरी दृष्टि से देखता है और अपने को उनसे ऊंचा समझता है । इससे उसके मान रूपी कषाय को पुष्टि मिलती है। वह अहंकार में चूर हो जाता है ।

महावीर स्वामी के भक्त प्रत्येक कार्य के औचित्य-अनौचित्य को हिंसा-अहिंसा की तुला पर तौलते हैं । उनकी कसौटी सर्वसाधारण की कसौटी से भिन्न प्रकार की होती है । पुराने लोग छह माह की राह के बदले वर्ष भर की राह चलने को कहते थे, क्योंकि उनका लक्ष्य पशुओं की हिंसा से बचने का रहता था । समय और शक्ति भले अधिक लग जाय किन्तु धार्मिक दृष्टि से हिंसा से बचाव हो, यह उनका आधारभूत विचार होता था ।

व्रती साधक न स्वयं हिंसा करता है और न ऐसा कोई कार्य करता है जिससे परोक्ष रूप में हिंसा को प्रोत्साहन मिलता हो । बहुत-से लोग आज ऐसे मिलेंगे जो स्वयं बड़े-बड़े यंत्रों को भले न चलाते हों किन्तु उन यंत्रों वाले कारखानों में निर्मित वस्तुओं का उपयोग करते हैं । यह उन कारखानों को प्रोत्साहन देना है । आज हिंसा-अहिंसा का विचार नहीं किया जाता सिर्फ सस्तापन और सौन्दर्य देखा जाता है । शीघ्रता और सुविधा का ही विचार किया जाता है । परिणाम यह हुआ है कि बैलों और घोड़ों को कोई नहीं पूछता । उनकी संख्या कम होती जा रही है और मोटरों की संख्या बढ़ रही है । मोटर जल्दी दौड़ती है और दौड़ती-दौड़ती थकती नहीं है। इससे जानवरों की उपयोगिता कम हो गई है और जब किसी वस्तु की उपयोगिता कम हो जाती है तो उसकी रक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। लाभ

को आशा कम होने से भैंस के पाड़े पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता जितना पाड़ी पर दिया जाता है। पाड़े को बोझ समझ कर लोग उससे पिण्ड छुड़ा लेते हैं ।

रेल और मोटर का उपयोग करने में हिंसा कम दीखती है परन्तु क्या यह बैलों और घोड़ों आदि पर दया है ? दीखने में ऐसा लगता है कि हिंसा नहीं है किन्तु इन यांत्रिक सवारियों से कितने मनुष्य, पशु, कुत्ते पक्षी आदि मरते हैं, इस बात का विचार करने वाले कितने हैं ? जिस सवारी में जानवर जोता जाता है, उससे हिंसा की संभावना बहुत कम रहती है । विषम परिस्थिति में अथवा किसी दूसरे जानवर के सामने आ जाने पर जुता हुआ जानवर अपनी गति धीमी कर लेता है और दुर्घटना को या हिंसा को बचा लेता है । यह बात वेग के साथ दौड़ने वाली गाड़ियों में कैसे संभव हो सकती है ? ये वेगवान् गति वाली गाड़ियां महारम्भ और महाहिंसा की जननी हैं । व्रती श्रावक सदैव अपने विवेक की तराजू पर तोलेगा कि किस कार्य से महारंभ होता है और कौनसा कार्य अल्प आरंभ वाला है ? वह महारंभ के कार्य को कदापि नहीं करेगा । भाड़ीकम्मे घोर हिंसा का कारण होने से महारंभ है और इसी कारण श्रावक इसे नहीं अपनाता ।

(५) फोड़ीकम्मे (स्फोट कर्म)–इसका अर्थ है भूमि को फोड़ना । वैज्ञानिक साधनों द्वारा सुरंग आदि लगा कर भूमि का भारी भाग फोड़ दिया जाता है। कुदाली, फावड़ा आदि से जमीन फोड़ने से भी त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा होती है । पड़ती जमीन में जीव-जन्तु निर्भय होकर आश्रय लेते हैं ? उसी प्रकार जैसे कमरे में सफाई न हो तो कीड़े-मकोड़े, दीमक आदि अपना अड्डा जमा लेते हैं । ऐसे स्थानों को सुरक्षित, भय-वर्जित तथा मनुष्यों के संचार से रहित समझ कर वे वहां आवास करने लगते हैं । दरारों में, जमीन के नीचे, पत्थरों की आड़ में हजारों जीव-जन्तु शरण लिए रहते हैं । ऐसी स्थिति में सुरंग लगाने वाले कहां तक जीव-जन्तुओं की रक्षा कर सकेंगे । जहां भूमि फोड़ी गई और मिट्टी डाली गई, दोनों स्थानों के जीवों की रक्षा संभव नहीं है । अतएव भूमि को फोड़ने का धंधा करना विशेष हिंसा कारक होने से कर्मादान में गिना गया है ।

व्यापार-धंधे में सामाजिक दृष्टिकोण को भी प्राचीन काल में महत्व दिया जाता था । यहां भी उस दृष्टिकोण से विचार किया जा सकता है । प्राचीन समाजिक व्यवस्था में अमुक-अमुक वर्गों में अमुक-अमुक धंधों का बंटवारा किया गया था । इस बंटवारे के कई लाभ थे । प्रथम तो जिस वर्ग का जो धंधा हो उसे वही वर्ग करे तो बेकारी की संभावना कम रहती है । एक वर्ग के लोगों का काम दूसरे वर्ग के लोग हथिया लें तो पहले वर्ग में बेकारी फैलती है । स्मृतियों में इस दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया गया है ।

इस व्यवस्था का दूसरा लाभ है वर्ग संघर्ष न होना । ब्राह्मण अध्यापन कार्य करे, अन्य आजीविका न करे, व्यापार-वाणिज्य में हाथ न डाले तो पारस्परिक संघर्ष नहीं होगा ।

सभी वर्ग अपना-अपना पैत्रिक धंधा करें तो समाज में शान्ति बनी रहती है और उनके पारस्परिक व्यवहार में मधुरता रहती है । श्रीमन्त वैश्य, खान खोदने का भी काम अपने हाथ में ले लें तो खान खोदने का धंधा करने वाले वर्ग के साथ उनका सम्बन्ध मधुर नहीं रह सकता ।

तीसरा लाभ यह है कि पितृ परम्परा से चले आए धंधे को अपनाने से धंधे सम्बन्धी कौशल की वृद्धि होती है । लुहार का लड़का बचपन से ही अपने घर के धंधे को देखता-देखता और अभ्यास करता-करता उसमें विशेष कुशल बन जाता है । वणिक् पुत्र अगर उस धंधे को अपना ले तो उतना निष्णात् नहीं हो सकता ।

अल्प भोगी श्रावक बिना कटुता के महावीर के मार्ग पर चल कर इहलोक-परलोक सम्बन्धी लाभ प्राप्त कर सकता है । किन्तु जो तृष्णा और लोभ की अधिकता से ग्रस्त है और अर्थ को अनर्थ न समझ कर उसी को एकमात्र परमार्थ मानता है वह वीतराग के उपदेश पर किस प्रकार चल सकता है ?

प्रजापति लम्बकर्ण (गधा) पर भांड या अन्न लाद कर ले जा रहा हो और लम्बकर्ण को कहीं रास्ते में श्मशान की राख दीख जाय तो वह प्रजापति की हानि की चिन्ता नहीं करके एक बार उसमें लोट कर खेल कर ही देगा ।

अरे उस गधे को क्या हंसते हो, अपने को हंसो जो वीतराग के उपासक और वीतरागवाणी के भक्त कहलाते हुए भी विषय-कषाय की राख में लोट लगा रहे हो ।

उत्तम जाति का अश्व कदापि ऐसा नहीं करता । जो मानव मखमल के गद्दे रूपी स्वरूप-शय्या में रमण न करके विषय-कषाय की राख में लोटता है, वह महिमा का पात्र नहीं होता, प्रशंसनीय नहीं गिना जाता । मोहान्ध मानव मोह की तीव्रता के कारण अश्व का भाव भुला कर लम्बकर्ण (गर्दभ) के भाव में आ जाता है । ऐसा मोहान्ध पुरुष सम्यग्ज्ञान के प्रकाश (सर्चलाइट) से या सत्संगति से ही सुधर सकता है ।

आत्मानन्द रूपी लोकोत्तर सुधारस का पान करने वाले सिंहगुफावासी मुनि ने लौकेषणा के चक्कर में पड़ कर अपनी महान् साधना को बर्बाद कर दिया । वे कम्बल लेकर और पाटलीपुत्र पहुँच कर अपनी सफलता पर प्रसन्न हो रहे हैं । जातीय स्वभाव के कारण गधा राख में लोट-पोट होता है । विषय की ओर हीन प्रवृत्ति

प्रवृत्ति होने से मानव की भी ऐसी ही स्थिति हो जाती है । वह भी अपने पतन में आनन्द मानता है ।

पाटलीपुत्र में मुनि की प्रतीक्षा की जा रही थी । जब वे नगर में पहुँचे तो रूपकोषा ने प्रश्न किया–"रत्नकम्बल कहां है ?"

मुनि ने बांस की लाठी में से रत्नकंबल निकाला जैसे म्यान में से तलवार निकाली जाती है ।

रूपकोषा ने मन ही मन विचार किया–"मुनि है शूरवीर, सिर्फ मोड़ की आवश्यकता है । जिस मनुष्य में अपने ध्येय को पूर्ण करने की लगन होती है, साहस होता है, उसका मोड़ बदल देना ही पर्याप्त है । उसके पीछे लकड़ी लेकर हर समय चलने की आवश्यकता नहीं होती । लगन वाले व्यक्ति को अगर अच्छे मार्ग पर लगा दिया जाए तो वह अवश्य ही सराहनीय सफलता प्राप्त कर लेता है । इसके विपरीत जिसमें लगन का सर्वथा अभाव है, जो कर्तृत्वशक्ति से हीन हो वह साधना के मार्ग को पार नहीं कर सकता। उसे किसी भी महान् कार्य में सफलता नहीं मिलती।"

धर्ममार्ग, अध्यात्ममार्ग या साधनामार्ग में अकर्मण्य व्यक्ति आ जाय तो क्या करेगा ? पकड़ मजबूत हो और चलन अच्छा हो तो मनुष्य सब कुछ कर सकता है।

तथ्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य में शक्ति का अक्षय भंडार भरा है और वह शक्ति छलक-छलक कर बाहर आकर प्रकट होती है । किन्तु मनुष्य के जैसे संस्कार होते हैं, जैसे विचार होते हैं, उसी प्रकार के कार्यों में वह शक्ति लगती है। कुसंस्कारी और मलिन विचारों वाले मनुष्य की शक्ति गलत कामों में खर्च होती है। वही व्यक्ति जब सन्मार्ग पर आ जाता है, उसके विचार विशुद्ध हो जाते हैं तो सही काम में उसकी शक्ति का सदुपयोग होने लगता है । भगवान् महावीर ने फर्माया है–

जे कम्मे सूरा,
ते धम्मे सूरा ।

जो कर्म करने में शूरवीर होते हैं, वे धर्म करने में भी शूरवीर होते हैं ।

जिसमें साहस नहीं, पुरुषार्थ नहीं, लगन और स्फूर्ति नहीं और संकटों से जूझ कर, आग से खेल कर, प्राणों को हथेली में लेकर अपने अभीष्ट को प्राप्त करने की क्षमता नहीं, जो बुझा हुआ है, वह किसी भी क्षेत्र में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त नहीं कर सकता । जिस तलवार की धार तीखी है वह अपना काम करेगी ही, चाहे उससे आत्मवध किया जाय अथवा आत्मरक्षा की जाय । इसी प्रकार जो पुरुष

वीर हैं वह कर्म के मार्ग में अवतीर्ण होगा तो वहां महान् कर्म करेगा और धर्म के मार्ग में आएगा तो वहां भी उल्लेखनीय कार्य किये बिना नहीं रहेगा ।

रूपकोषा ने समझ लिया कि मुनि में लगन है, साहस है, पराक्रमशीलता है, जीवट है । इन्हें सिर्फ सही दिशा में मोड़ने की आवश्यकता है । जिस समय इनकी प्रवृत्ति सही मार्ग पर हो जाएगी, उसी समय ये साधना में भी कमाल कर दिखलाएंगे।

रूपकोषा ने मुनि को ठीक रास्ते पर लाने की योजना गढ़ ली परन्तु मुख से कुछ नहीं कहा । उसने कम्बल देख कर उसकी अत्यन्त सराहना की । मुनि अपने को कृतार्थ समझने लगे और अपनी सफलता पर गर्व अनुभव करने लगे ।

रूपकोषा स्नानागार में जाकर जब स्नान करके लौटी तो रत्नकम्बल को उठा कर उससे अपने पैर पोंछने लगी । यह देख कर मुनि के विस्मय की सीमा नहीं रही । और फिर उसने पैर पोंछ कर उसे एक कोने में फेंक दिया । कम्बल की इस दुर्गति को देख कर तपस्वी के भीतर का नाग (क्रोध) जग उठा । उसे रूपकोषा का यह व्यवहार अत्यन्त ही अयोग्य प्रतीत हुआ । कम्बल के साथ मुनि की आत्मीयता इतनी गहरी हो गई थी कि कम्बल का यह अपमान उन्हें अपना ही घोर अपमान प्रतीत हुआ ।

मुनि सोचने लगे–'मैं समझता था कि रूपकोषा बुद्धिमती तथा चतुर है । वह व्यवहारकुशल है । किन्तु ऐसा समझ कर मैंने भयानक भूल की है । अरे ! यह तो फूहड़ है, विवेक विहीन है, असभ्य है ।' जब उनसे न रहा गया तो बोले–"क्या तुमने नशा किया है या तुम्हारा सिर फिर गया है ! यह टाट का टुकड़ा है या रत्नजटित कम्बल ? क्या समझा है इसे तुमने ? जिस कम्बल को प्राप्त करने के लिए मैंने लम्बा प्रवास किया, जंगलों की खाक छानी, अनेक संकट सहे और नेपाल नरेश के सामने जाकर दो बार हाथ फैलाये, जिसके लिए मैंने अपना सर्वस्व निछावर कर दिया, उस कम्बल की तुम्हारे द्वारा ऐसी दुर्गति की गई ? यह कम्बल का नहीं मेरा अपमान है, मेरी सद्भावना को ठोकर लगाना है! कृतज्ञता के बदले ऐसी कृतघ्नता!"

रूपकोषा ने समझ लिया कि मुनि के कायाकल्प का यही उपयुक्त अवसर है।

आगे का वृत्तान्त यथावसर सुनाया जायगा । परन्तु जिनवाणी के अनुसार हमें भी अपना कायाकल्प करना है । जो भव्यजन जिनवाणी का अनुसरण करके अपना जीवनकल्प करेंगे, और जिनवाणी के अनुकूल व्यवहार बनाएंगे वही उभयलोक में कल्याण के भागी होंगे ।

---

[६२]

कर्मादान के भेद

आचारांग सूत्र में अन्यान्य जीवों की रक्षा के समान तेजस्काय के जीवों की भी रक्षा का विधान किया गया है । तेजस्काय के जीवों की मान्यता जैन-दर्शन की असाधारण मान्यता है । वनस्पतिकाय की सजीवता का तो औरों को भी आभास मिला था मगर उन्हें तेजस्काय के जीवों का पता नहीं चला । तेजस्काय के जीवों का परिज्ञान दिव्य-दृष्टि सम्पन्न जैन महर्षियों को ही हुआ ।

तेजस्काय के जीव एकेन्द्रिय होने पर भी वायुकाय के समान संचरणशील हैं। अतएव स्थावर होने पर भी उनकी गणना गति की अपेक्षा से त्रस जीवों में की गई है ।

अध्यात्ममार्ग का साधक अहिंसा के पथ पर चलता है तथा भावहिंसा और द्रव्यहिंसा दोनों से बचता रहता है। अध्यात्ममार्ग के साधक दो प्रकार के होते हैं— अनगार और गृहस्थ । जहाँ तक त्रस जीवों की हिंसा के त्याग का प्रश्न है, दोनों उसके त्यागी होते हैं, अलबत्ता गृहस्थ उसमें कुछ अपवाद रखता है । वह संकल्पी हिंसा का ही त्याग करता है, आरंभी हिंसा का त्याग नहीं कर पाता; जबकि गृहत्यागी मुनि दोनों प्रकार की हिंसा के तीन करण और तीन योग से त्यागी होते हैं । यद्यपि गृहस्थ श्रावक भी सब प्रकार की हिंसा को त्याज्य मानता है और उससे यथासंभव बचने का प्रयत्न भी करता है, मगर लाचारी के कारण वह सम्पूर्ण त्याग नहीं सकता। लापरवाही उपेक्षा या अश्रद्धा के कारण वह त्याग न करता हो, ऐसी बात नहीं है । श्रावक का लक्ष्य अपनी समस्त वृत्तियों पर अंकुश रखने का ही होता है ।

अपनी वृत्तियों को नियन्त्रित करने के लिए श्रावक भोग-उपभोग के समस्त साधनों की भी एक सीमा निर्धारित कर लेता है । अभी इसी व्रत का विवेचन चल रहा है । इसी विवेचन के प्रकरण में कर्मादानों का उल्लेख किया गया है और भाड़ी कम्मे तथा फोड़ीकम्मे के सम्बन्ध में कल कहा जा चुका है । इन कर्मों से स्थावर

जीवों के साथ त्रस जीवों का भी प्रचुरता के साथ घात होता है । कुआँ, खदान आदि खोदने में अनेकानेक जन्तुओं का विघात हो जाता है । हल, कुदाल आदि से साधारण जन्तु यों ही धक्का लगने से मर जाते हैं । कभी-कभी बड़े जीव भी चपेट में आ जाते हैं । अतएव भूमि को फोड़ने का धंधा करना श्रावकोचित कार्य नहीं है। वह व्यावहारिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से अप्रशस्त माना जाता है।

कुछ आचार्यों ने स्फोट कर्म की व्याख्या करते हुए बारीक कदम उठाया है और चना आदि से दाल बनाना भी इसमें शामिल कर दिया है । इस व्यवस्था के अनुसार इसका क्षेत्र व्यापक हो जाता है । किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि कर्मादानों के त्याग का सम्बन्ध गृहस्थ श्रावकों के साथ है । इसके अतिरिक्त कर्मादान वही होता है जिसमें महान् आरंभ होता हो । अगर दाल बनाना भी कर्मादान में परिगणित कर लिया जाय तो इसी कोटि के अन्यान्य कार्यों को भी कर्मादान गिनना होगा और ऐसी स्थिति में गृहस्थी के अनेक अनिवार्य दैनिक कार्य भी महारंभी-कर्मादान मान्य करने पड़ेंगे । व्रत न पालन करने का एक कारण भय की भावना है । लोग व्रतों को अंगीकार करने से डरते हैं । सोचते हैं न जाने इस व्रत का पालन हो सकेगा या नहीं ? व्रत धारण न करने की अवस्था में मनुष्य उन्मुक्त रहता है, व्रत ग्रहण करते ही बन्धन में आना पड़ता है । इसी भय से कई लोग व्रत अंगीकार करने से बचना चाहते हैं । ऐसी स्थिति में गृहस्थी के सामान्य कार्यों को भी अगर श्रावक के लिए कर्मादान कह कर त्याज्य ठहरा दिया जाय तो ठीक नहीं होगा । शास्त्र में वर्णन आता है कि सकडाल पुत्र के ५०० बरतनों की दुकाने थीं वह कुम्हार का काम करते हुए भी श्रावक था । ढंक नामक एक प्रजापति (कुम्हार) भी अच्छा श्रावक हो गया है, जिसने सुदर्शना साध्वी की श्रद्धा शुद्ध की । वह मिट्टी के बरतनों की दुकान करता था और उन्हें पकाता भी था ।

सुदर्शना एक प्रमुख साध्वी थी । जब जमालि सिद्धान्त विरुद्ध प्ररूपण और श्रद्धा के कारण भगवान् महावीर के साधुसंघ से पृथक् होने लगे तो सुदर्शना ने भी जमालि का अनुसरण किया । उनका कथन यह था कि कोई भी कार्य जब तक 'किया जा रहा है' तब तक उसे 'किया' नहीं कहा जा सकता । जब कार्य 'किया जा चुके' तभी उसे 'किया' कहना चाहिए । 'क्रियमाण' को 'कृत' कहना मिथ्या है ।

भगवान् महावीर के मतानुसार क्रियमाण कार्य को भी कदाचित् कृत कहा जा सकता है । बात यह है कि हम स्थूल दृष्टि से जिसे एक कार्य कहते हैं, वास्तव में वह अनेकानेक छोटे-छोटे कार्यों का समूह होता है । उदाहरणार्थ जुलाहा वस्त्र बनाता है तो हम वस्त्र बनाने को एक कार्य समझते हैं, परन्तु वह एक ही कार्य नहीं

है। ताना-वाना बनाना, फिर उसमें एक-एक तार (डोरा) डालते रहना आदि सब मिल कर अनेक क्रियाओं से एक कार्य की निष्पत्ति होती है। जुलाहे ने जब एक तार डाला तब वस्त्र को यदि नहीं बना कहा जाय तो दूसरा, तीसरा और चौथा तार डालने पर भी नहीं बना ही कहा जाएगा। इसी प्रकार अन्तिम तार डालने पर भी उसे बना हुआ नहीं कह सकते। जैसा पहला तार वैसा ही अन्तिम तार है। पहला तार एक होता है तो अन्तिम तार भी एक ही होता है। अगर एक तार से वस्त्र बना हुआ नहीं कहलाता तो अन्त में भी बना हुआ नहीं कहा जा सकेगा। अतएव यही मानना उचित है कि जब वस्त्र बन रहा है तो डाले हुए तारों की अपेक्षा उसे बना हुआ कहा जा सकता है।

मगर जमालि की समझ में यह बात नहीं आई। सुदर्शना साध्वी भी उसके चक्कर में आ गई। सुदर्शना की साथिनी अन्य कई साध्वियों ने भी उसका साथ दिया।

देखा जाता है कि कभी-कभी बड़ी शक्तियां जिस कार्य में असफल सिद्ध हो जाती हैं, छोटी शक्ति उसे सम्पन्न करने में सफल हो जाती है।

मध्यान्ह का समय था। कुंभकार ढंक घड़े पर थप्पियां लगा रहा था। कुछ दूरी पर बैठी साध्वियां स्वाध्याय कर रही थीं। ढंक को पता चल गया कि ये साध्वियां भगवान् महावीर के वचनों पर विश्वास नहीं करतीं और जमालि के मत को मानती हैं। उसने सोचा—'संघ में अनैक्य होने से शासन को धक्का लगता है। तीर्थंकर का शासन संघ के सहारे ही चलता है और शासन चलता है तो अनेक भव्य जीव उसका आश्रय लेकर अपना आत्मकल्याण करते हैं। अतएव शासन की उन्नति के लिए संघ को समर्थ होना चाहिए। संघ की अनेकता को मिटाने का प्रयास करना प्रत्येक शासनभक्त का प्रथम कर्तव्य है। इसके अतिरिक्त ये साध्वियां मिथ्यात्व के चक्कर में पड़ी हैं। अतः इनका उद्धार करना भी महान् लाभ है।'

इस प्रकार की प्रशस्त भावना कुंभकार के हृदय में उत्पन्न हुई। भावना ने प्रेरणा पैदा की और प्रेरणा ने युक्ति सुझाई। हृदय का बल उसके पास था। तर्कबल उसे प्राप्त नहीं था। तर्क के लिए उर्वर मस्तिष्क चाहिए। मगर तर्कबल की अपेक्षा भावना का बल प्रबल होता है।

कुम्भकार ने साध्वी की एक चादर के छोर पर आग की एक चिनगारी डाल दी। चिनगारी ने अपना कार्य आरम्भ किया। वह चादर को जलाने लगी। चद्दर का एक कोना जल गया साध्वियों ने चादर जलते देखकर कुम्भकार से कहा-"देवानु-प्रिय। तुमने यह चादर जला दिया?"

कुम्भकार को अपनी बात कहने का मौका मिला। उसने कहा—"बड़े विस्मय की बात है कि आप क्रियमाण कार्य को कृत कहना मिथ्या समझती हैं और जलते हुए चादर के एक छोर को 'चादर जला दिया' कहती हैं। आपके मन्तव्य के अनुसार तो चादर जली नहीं है। फिर आप मिथ्या भाषण कैसे करती हैं ?"

साध्वियां समझ गईं। इस युक्ति से उन्हें अपने भ्रम का पता चल गया।

सुदर्शना ने कहा—"भव्य ! हम आपके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हैं। आपने हमारी मिथ्या धारणा में संशोधन कर दिया है। अब तक हमने असत्य की श्रद्धा और प्ररूपणा की है, उसके लिए प्रायश्चित लेना होगा। भगवान् के श्रीचरणों में जाकर क्षमायाचना करनी होगी।"

आत्म-शुद्धि के लिए सरलता की अत्यन्त आवश्यकता है। जिस साधक का हृदय सरल है, वह कदाचित् उन्मार्ग पर भी चला जाय तो शीघ्र सन्मार्ग पर आ सकता है। इसके विपरीत वक्र हृदय साधक शीघ्र समझता नहीं और कदाचित् समझ जाय तो भी अपने को न समझा हुआ प्रकट करता है। उसके हृदय में कपट होता है, जिसके कारण उसकी बाह्य क्रियाएं सफल नहीं हो पातीं। भगवान् कहते हैं—

सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।

जिसके अन्तःकरण में ऋजुता है, उसीका हृदय पवित्र है और जिसका हृदय पवित्र होता है वही वास्तव में धर्मात्मा है। साध्वी सुदर्शना के हृदय में सरलता थी। हजार साध्वियां उसके नेतृत्व में थीं। वह विदुषी और कार्यशीला थी। उसने गुरु के निकट जाकर निवेदन किया—"हमारी विचार-सरणी अशुद्ध थी। अब हमें अपनी मिथ्या धारणा का परिज्ञान हुआ है। हम आपके चरणों में नमस्कार करती हैं। समुचित प्रायश्चित देकर हमारी आत्मा की शुद्धि कीजिए।"

इस प्रकार एक सामान्य व्रती श्रावक, साध्वी समूह के लिए प्रेरणास्रोत बन गया। उसमें तर्कबल नहीं था। तर्क करने से जय-पराजय की भावना का उदय हो सकता है और सत्य तत्व के निर्णय में कई बार वह बाधक बन जाता है। श्रावक ने युक्तिबल से काम लिया और अहंकार को आड़े नहीं आने दिया, अतएव सफलता शीघ्र मिल गई। किसी कवि ने ठीक कहा है—

'फिलसफी की बहस के अन्दर खुदा मिलता नहीं।
डोर को सुलझा रहा हूं और सिरा मिलता नहीं।'

उच्चकुल, जाति या भौतिक वैभव काम नहीं आएगा । पवित्र हृदय से की गई करणी ही काम आएगी और करणी के अनुसार ही सुगति मिलेगी । धर्म क्रिया करने से व्यावहारिक जीवन में कुछ गंवाना नहीं पड़ता, बल्कि वह भी अत्यन्त सुख-शान्तिदायक बन जाता है । व्रतों की सीमाएं इस प्रकार निर्धारित की गई हैं कि प्रत्येक वर्ग अपने जीवन-व्यवहार को भलीभांति निभाता हुआ भी उनका पालन कर सकता है और अपनी आत्मा को कर्म के बोझ से हल्का बना सकता है । जो समस्त सांसारिक व्यवहारों से मुक्त होकर पूर्ण रूप से व्रतों का पालन करना चाहता है, वह अपनी आत्मा का कल्याण शीघ्र कर सकेगा । किन्तु जो इतना करने में समर्थ नहीं है वह भी एक सीमा बाँध कर व्रती बन सकता है ।

प्रजापति ढंक यद्यपि कुंभकार की आजीविका करता था तथापि वह सन्तोषी था । उसने अपने भोगोपभोग की मर्यादा कर ली थी और इच्छाओं को सीमित कर लिया था ।

त्रिकालवेत्ता मुनि होने के कारण भगवान् महावीर स्वामी के सामने सभी बातें हस्तामलकवत् हों, इसमें आश्चर्य की बात नहीं है । जमीन फोड़ने के साथ दिल फोड़ने का काम भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं था । बहुत-से काम ऐसे होते हैं जिनमें ऊपरी दृष्टि से महारंभ नहीं दिखाई देता, बल्कि विशेष आरंभ भी मालूम नहीं होता, तथापि उन्हें यदि सजगता एवं निर्लोभ भाव से नहीं किया जाय तो वह महारंभ का रूप ले लेते हैं । उदाहरण के लिए वकालत के धंधे को ही लीजिए । इस धन्धे में विशेष आरम्भ-समारम्भ नहीं मालूम होता । शुद्ध न्याय की प्राप्ति कराने में सहायता देना वकील का कार्य है । किन्तु यदि कोई वकील सत्य-असत्य की परवाह न करके केवल आर्थिक लाभ के लिए असत्य को सत्य और सत्य को असत्य सिद्ध करता है और जान-बूझ कर निरपराध को दण्डित कराता है तो वह अपने धन्धे का दुरुपयोग करके महान् आरम्भ का, पाप का कार्य करता है। यह दिल फोड़ने वाला कार्य है।

इसी प्रकार जुआ खेलने में भी प्रत्यक्ष आरम्भ दिखाई न देने पर भी घोर आरम्भ समझना चाहिए । द्यूत सात कुव्यसनों में गिना गया है । यह श्रावक के योग्य कार्य नहीं है ।

इस अपेक्षा से हल और कुदाली चलाने वाला छोटी हिंसा करता है—बाह्य हिंसा करता है । किन्तु वचनों द्वारा हृदय फोड़ने वाला दो-चार की नहीं, हजारों की हिंसा भी कर सकता है । अतः हर कार्य में विवेक की आवश्यकता है । सच्चा व्रती साधक वह है जो हाथों-पैरों के साथ अपनी वाणी और इन्द्रियों को भी वश में रखता

रखता है । ऐसा साधक ही अहिंसा सत्य आदि का निर्वाह करके आदर्श-जीवन व्यतीत कर सकेगा ।

साधक के लिए आवश्यक है कि वह जीवन के आन्तरिक रूप (विचार) और बाह्य रूप (आचार-व्यवहार) को एक-सा संयममय बनाए रखे । जैसी उत्तमता वह बाहरी व्यवहार में दिखलाता है वैसी ही उसके अन्तःकरण में होनी चाहिए। बड़े से बड़ा प्रलोभन होने पर भी उसे फिसलना नहीं चाहिए ।

जो मनुष्य भोगोपभोग में संयम नहीं रखता वह प्रलोभनों का सामना नहीं कर सकता । प्रलोभन उसे डिगा देते हैं और कर्तव्य से च्युत कर देते हैं । उसकी साधना विफल हो जाती है । भगवान् महावीर ने ऐसी सुन्दर आचार-नीति का उपदेश दिया है कि जिससे जीवन के लिए आवश्यक कोई कार्य भी न रुके और आत्मा बन्ध से लिप्त भी न हो ।

दूसरों का सफाया कर दो, सर्वस्व लूट लो, इत्यादि विचार दूसरों ने लोगों के समक्ष रखे और भय एवं हिंसा के आश्रय से पापों को मिटाने का प्रयत्न किया किन्तु महावीर स्वामी ने कहा-यह गलत तरीका है । हिंसा से हिंसा नहीं मिटाई जा सकती, पाप के द्वारा पाप का उन्मूलन नहीं हो सकता । रक्त से रंजित वस्त्र को रक्त से धोकर स्वच्छ नहीं किया जा सकता । जिस बुराई को मिटाना चाहते हो उसी का आश्रय लेते हो, यह तो उस बुराई को मिटाना नहीं है बल्कि उसकी परम्परा को चालू रखना है । हिंसा, परिग्रह, भ्रष्टाचार और बेईमानी को मिटाना चाहते हो और उन्हीं का सहारा पकड़ते हो, यह उलटी बात है ।

श्रीमन्तों को गोली मार दो और उनका धन लूट लो, क्योंकि ऐसा करने से गरीबों की गरीबी मिट जाएगी और मुनाफाखोरों का अन्त हो जाएगा । यह साम्यवादियों की धारणा है और यही साम्यवाद का मूल आधार है । वे लोग वर्ग-संघर्ष को उत्तेजना देकर अशान्ति उत्पन्न करने में विश्वास करते हैं । मगर क्या ये तरीके सही हैं ? अशान्ति के द्वारा शान्ति स्थापित नहीं की जा सकती । चिन्तन करने पर ये तरीके सही नहीं मालूम होंगे । एक से छीन कर दूसरे को देने से क्या मुनाफा कमाने की वृत्ति का अन्त आ जाएगा ? ऐसा करने से वैर-विरोध मिट जाएगा ? नहीं, इससे तो एक के बदले दूसरी बुराई पैदा होती रहेगी और बुराइयों का तांता लग जाएगा ।

समाज में जो आर्थिक विषमता है, उसे मिटाने के लिए ऊपर से थोपा हुआ कोई भी हल कामयाब नहीं हो सकता। न तो लूटपाट के द्वारा उसे दूर किया जा सकता है और न कानून की सहायता से ही। आज शासन की ओर से

मुनाफाखोरी के उन्मूलन के लिए अनगिनत कानून बनाये जा रहे हैं और अध्यादेश पर अध्यादेश जारी किये जा रहे हैं। मगर ऐसा करने का परिणाम क्या आ रहा है? कानूनों की वृद्धि के साथ अप्रामाणिकता की वृद्धि हो रही है, भ्रष्टाचार बढ़ता जाता है, लोग कानून से बचने के लिए बेईमानी का नया तरीका खोज लेते हैं। ऊपर से कोई चीज लादने का इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा फल निकल भी नहीं सकता।

भगवान् महावीर ने मानव-मन की गहराई की थाह ली थी। उनकी दूरदर्शिता असाधारण थी। ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के उत्थान की जो विधि उन्होंने बतलाई थी, वही आज भी उपयोगी हो सकती है और कहना तो यह चाहिए कि उसके अतिरिक्त दूसरी कोई विधि संभव नहीं हो सकती। उनके द्वारा जिन नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, वे चिर पुरातन होने पर भी सदा नूतन रहेंगे। वे देश और काल की परिधि में बंधे हुए नहीं हैं। शाश्वत सत्य के रूप में वे आज भी हमारे लिए प्रेरणा के प्रबल स्रोत हैं।

हिंसा और असत्य आदि के निवारण के लिए भगवान् महावीर ने जहां एक-एक व्रत का विधान किया, वहाँ आर्थिक बुराई से बचने के लिए एक नहीं, तीन व्रतों का प्रतिपादन किया है। परिग्रह परिमाण, भोगोपभोग परिमाण और अनर्थदण्ड त्याग, ये तीन गृहस्थ के व्रत एक-दूसरे के पूरक और सहायक हैं। गृहस्थ को चाहिए कि वह अपनी इच्छाओं के अनन्त प्रसार को रोक दे और उन्हें सीमित कर ले। ऐसा करने के लिए उसे भोग और उपभोग की सामग्री की मर्यादा करनी होगी। इसके बिना इच्छाएं सीमा में नहीं रहेंगी। इन दोनों व्रतों के यथावत् पालन के लिए निरर्थक वस्तुओं के संग्रह से और निरर्थक पापों से बचना भी आवश्यक होगा।

भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित इन व्रतों का आश्रय लिया जाय तो विश्व की अधिकांश समस्याएं बड़े सुन्दर ढंग से और स्थायी रूप से सुलझ सकती हैं। इस विधान में ऊपर से कोई चीज थोपी नहीं जाती वरन् हृदय में परिवर्तन किया जाता है। अतएव यह विधान ठोस और स्थायी है।

भगवान् महावीर के तत्त्वज्ञान का प्रधान साध्य समभाव है। समभाव की साधना पर उन्होंने बहुत बल दिया है। इस साधना की विशेषता यह है कि इससे व्यक्तिगत जीवन अत्यन्त उच्च, उदार, शान्त और सात्विक बनता है। साथ ही समाज में समता और शान्ति आती है। व्यक्तियों का समूह ही समाज है और व्यक्तियों के जीवन में जब सुधार हो जाता है तो समाज स्वयं सुधर जाता है।

जीवन को उन्नत बनाने के लिए दुर्वृत्तियों पर अंकुश होना आवश्यक है। साथ ही प्रत्येक को दूसरे का जीवन बनाने में निमित्त भूत बनना चाहिए। जीवन में

अनिष्ट और कटु प्रसंग आते हैं और आते रहेंगे, ये 'पर' घर के निमित्त हैं, इनमें बहना नहीं चाहिए । ऐसे अवसरों पर संयमशीलता से काम लेना ही उचित है । असंयमशील बनने से अधःपतन होता है ।

सिंहगुफावासी मुनि संयम की परिधि से बाहर निकले तो उनकी साधना दूषित हुई । रूपकोषा ने जब रत्नकम्बल पैर पोंछ कर एक तरफ फेंक दिया तो मुनि ने इसे अपना घोर अपमान समझा और रूपकोषा को फूहड़ समझा । वे सोचने लगे–'कितने परिश्रम से कंबल प्राप्त किया गया था और इसकी यह दुर्दशा हुई ।' उनके मन का नाग फुफकारने लगा। राह पर पड़ा सर्प यदि जग जाय तो राही को आगे नहीं बढ़ने देता । तपस्वी इसे सहन नहीं कर सके और बोल उठे–"रूपकोषा ! मैंने तेरी चतुराई की अनेक कथाएं सुनी थीं । समझता था कि तू विवेकशीला है, व्यवहारकुशल है । किन्तु मेरा सुनना और समझना सब मिथ्या सिद्ध हुआ । कल्पना नहीं की थी कि तेरे भीतर अविवेक का इतना अतिरेक है। क्या तेरी बुद्धि मारी गई है? तुझे क्या पता है कि इस कम्बल के लिए मैंने कितना कष्ट सहन किया है ! कितनी मेहनत और कठिनाई से यह बहुमूल्य और दुर्लभ वस्तु प्राप्त की है । मगर तूने इसका इस प्रकार दुरुपयोग किया। मैं समझ गया–तेरे पास रूप है, गुण नहीं है । कहा भी है–

ना चम्पा ना मोगरा, रे भंवरी ! मत भूल ।
रूप सदा गुण बाहिरा, रोहीड़ा का फूल ।।

रोहीड़ा की लकड़ी काम में आती है पर उसके फूल में सुगन्ध नहीं होती । पलाश का फूल भी ऐसा ही होता है । देखने में बहुत सुन्दर मगर सौरभहीन !"

रूपकोषा के प्रति मुनि के मन में जो आकर्षण था, वह कम हो गया । अनुराग में फीकापन आ गया । इधर रूपकोषा ने भी समझ लिया – 'अब उपयुक्त समय आ गया है मुनि को सन्मार्ग पर लाने का ।'

जमीन जब खूब तप जाती है और ऊपर से पानी गिरता है तब चतुर किसान बीज वपन करता है । उपयुक्त समय पर किया हुआ कार्य सफल होता है और उसके लिए अधिक प्रयास भी नहीं करना पड़ता । अनुपयुक्त समय पर कार्य करने से प्रयास वृथा हो जाता है ।

रूपकोषा की एक मात्र अभिलाषा मुनि को संयमनिष्ठ बनाने की थी । उनके मन में जो अभिमान का विष घुल गया था, उसे वह निकाल फेंकना चाहती थी । अब तक की घटनाएं उसी की भूमिका थी ।

संयम से च्युत होते हुए साधक को धर्म में स्थिर करना सम्यक्त्वी का एक आचार माना गया है । इस आचार का पालन करने वाला अपने और दूसरे के कल्याण का कारण दनता है ।

---

[६३]

कर्मादान के रूप

वीतराग प्रभु ने संसार के जीवों को कल्याण का सर्वोत्तम मार्ग बतलाया है। वह मार्ग ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप है । वस्तुस्वरूप को यथार्थ रूप में समझना, उस पर पूर्ण आस्था करना और फिर उसके अनुसार आचरण करना–यही आत्मशुद्धि का सही मार्ग है ।

कई लोग अकेले ज्ञान से ही निश्रेयस की प्राप्ति होने की कल्पना करते हैं। उनका कथन है कि तत्व के ज्ञान से मुक्ति प्राप्त हो जाती है, आचरण की कोई आवश्यकता नहीं । किन्तु यह मान्यता अत्यन्त भ्रमपूर्ण है और हमारा दैनिक अनुभव भी इसका विरोधी है । ज्ञान मात्र से किसी भी कार्य में चाहे वह लौकिक हो या लोकोत्तर सफलता प्राप्त होती नहीं देखी जाती । औषध के ज्ञान मात्र से रोग का अन्त नहीं आता । भोजन देख लेने से भूख नहीं मिटती और किसी यन्त्र को बनाने के ज्ञान मात्र से यन्त्र नहीं बन सकता । ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि शुद्ध आत्मस्वरूप के ज्ञान मात्र से सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती ।

हेय और उपादेय का ज्ञान आवश्यक है किन्तु उस ज्ञान को क्रियान्वित करने की भी अनिवार्य आवश्यकता है । हेय जिसे समझा, उसका त्याग करना चाहिए और उपादेय का उपादान अर्थात ग्रहण करना चाहिए । यही ज्ञान की सार्थकता है । जान लिया किन्तु तदनुसार आचरण नहीं किया तो ज्ञान निरर्थक है । कहा भी है–

ज्ञानं भारः क्रियां विना ।

आचारविहीन ज्ञान भारभूत है । उससे कोई लाभ नहीं होता । सर्प को सामने आता जान कर भी जो उससे बचने का प्रयत्न नहीं करता है, उसका जानना किस काम का ? ज्ञानी पुरुषों का कथन तो यह है कि जिस ज्ञान के फलस्वरूप आचरण न बन सके, वह ज्ञान वास्तव में ज्ञान ही नहीं है । सच्चा ज्ञान वही है

जो आचरण को उत्पन्न कर सके । निष्फल ज्ञान वस्तुतः अज्ञान की कोटि में ही गिनने योग्य है ।

इसी दृष्टिकोण को सामने रख कर भगवान् महावीर ने ज्ञान और चारित्र दोनों को मोक्ष का अनिवार्य कारण कहा है । जहाँ तक ज्ञान का प्रश्न है, मुनि और गृहस्थ दोनों समान रूप से उसकी साधना कर सकते हैं, मगर चारित्र के सम्बन्ध में यह संभव नहीं है । इस कारण चारित्र दो रूपों में विभक्त कर दिया गया है—मुनि धर्म और श्रावक धर्म । दोनों को अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार और शक्ति के अनुसार अपने-अपने धर्म का पालन करना चाहिए । इस विषय में पहले प्रकाश डाला जा चुका है ।

गृहस्थों के सामने आनन्द श्रावक का जीवन आदर्श रूप है । उसका विवेचन एक प्रकार से गृहस्थ चारित्र का विवेचन है । भगवान् ने उसे धर्म देशना दी। उसे बोध प्राप्त हुआ और फिर उसने श्रावक धर्म को अंगीकार किया । इसी प्रकरण को लेकर कर्मादानों का विवेचन चल रहा है । पांच कर्मादानों के विषय में प्रकाश डाला जा चुका है, अब छठे कर्मादान पर विचार करें ।

(६) दंतवाणिज्जे (दन्त वाणिज्य)— दातों का व्यापार करना दन्त वाणिज्य कहलाता है । पहले बतलाया जा चुका है कि वस्तु का उत्पादन न करके उसे खरीदना और खरीद कर बेचना वाणिज्य कहलाता है । दांतों के व्यापार का हिंसा से गहरा सम्बन्ध है । कोई व्यापारी हाथी आदि के दांतों को खरीदने के लिए लोगों को पेशगी रकम देता है । पेशगी रकम लेने वाले दांत प्राप्त करने के लिए हाथी आदि का वध करते हैं और दांत लाकर व्यापारी को देते हैं । ऐसी स्थिति में वह व्यापारी दंत वाणिज्य नामक कर्मादान के पाप का भागी होता है ।

दांत साधारणतः—अचित्त वस्तु दीख पड़ती है किन्तु दीर्घ दृष्टि महर्षियों ने विचार किया और कहा—दांत अचित्त हैं, इस विचार से हे मानव ! तू भ्रम में न पड़। थोड़ा आगे का भी विचार कर । जब दांतों का संग्रह और उपयोग अधिक परिमाण में होगा तो वे आएंगे कहां से ? आखिर उनके लिए हाथियों की हत्या करनी पड़ेगी या जीवित हाथियों के दांत उखाड़े जाएंगे । दांत उखाड़ने में हाथी को कितनी पीड़ा होती है, यह तो भुक्तभोगी ही जान सकते हैं । खुराक के लालच में पड़ कर और स्पर्शनेन्द्रिय सम्दन्धी भोग के आकर्षण में पड़ कर हाथी पकड़ में आ जाते हैं । सांभर आदि पशुओं के सींगों के लिए उनकी हत्या की जाती है ।

हाथी को पकड़ने के लिए अनेक तरीके काम में लाए जाते हैं । कहते हैं—एक बड़ा-सा गड्ढा खोद कर उस पर बांसों की एक जाली-सी बिछा दी जाती

है। उस पर हाथी को लुभाने के लिए कृत्रिम हथिनी बना कर खड़ी कर दी जाती है अथवा कोई खाद्य पदार्थ रख दिया जाता है । हथिनी अथवा खाद्य वस्तु को देख कर हाथी प्रलोभन में पड़ कर उस पर चला जाता है और गड्ढे में गिर जाता है । गड्ढे में गिरने के बाद उसे कई दिनों तक भूखा-प्यासा रखा जाता है । तत्पश्चात् थोड़ी-थोड़ी खुराक दे कर उसे वशीभूत किया जाता है ।

बीहड़ वनों में प्रकृति की असीम सम्पदा बिखरी पड़ी है । अपनी बढ़ी-चढ़ी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव वनों पर भी आक्रमण करता है और उस सम्पदा को लूटता है । जब वन्य सम्पदा लुट जाती है और पशुओं को पर्याप्त खुराक नहीं मिलती तब वे खेतों की ओर बढ़ते हैं । अगर मनुष्य वनों को पशुओं के लिए छोड़ दे तो उन्हें खेतों को उजाड़ने की आवश्यकता ही न हो ।

किन्तु मानव तो यही समझता है कि सारी धरती का पट्टा ईश्वर ने उसी को लिख कर दे दिया है । मनुष्य के अतिरिक्त मानों अन्य किसी प्राणी को जीवित रहने का अधिकार ही नहीं है, कैसी संकीर्ण भावना है। कितनी अधम स्वार्थान्धता है ।

जो मनुष्य हाथी के दांतों का उपयोग करने के लिए बड़े-बड़े हाथियों का वध करता है और उस वध के परिणामस्वरूप तैयार होने वाले चूड़ों को सुहाग का चिन्ह समझता है, उस मनुष्य से यह आशा कैसे की जाय कि वह जानवरों के प्रति न्याय करेगा । उनके अधिकारों का अपहरण नहीं करेगा ?

हाथीदांत की अनेक वस्तुएं बनती हैं । पहले उसकी चूड़ियां पहनी जाती थीं। आजकल भी राजस्थान में बाहुओं पर आभूषण के रूप में हाथीदांत पहनने का रिवाज है । वह मंगल सूचक माना जाता है । मगर आम तौर पर अब प्लास्टिक की चूड़ियों ने हाथीदांत का स्थान ले लिया है । हाथीदांत के चूड़ों का प्रचलन बन्द करने के लिए साधकों को बड़ी प्रेरणा देनी पड़ी थी ।

आनन्द के समय में दन्त वाणिज्य बहुत होता था, अतएव इसको रोकने के लिए भगवान् महावीर स्वामी को इसके त्याग का खास तौर से उपदेश देने की आवश्यकता हुई । दांतों को प्राप्त करने के लिए हिंसा तो होती ही है, अगर संभाल कर न रखा जाय तो उनमें त्रस जीवों की उत्पत्ति भी हो जाती है और फिर उनकी हिंसा का भी प्रसंग उपस्थित होता है । इस प्रकार हिंसा जनक होने के कारण दन्तवाणिज्य कर्मादानों में परिगणित किया गया है । यह वाणिज्य व्रतधारी श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है ।

(७) लक्ख वाणिज्जे (लाक्षा वाणिज्य)–लाख का व्यापार करना लाक्षावाणिज्य कहलाता है, इस व्यापार में लाखों जीवों की हिंसा होती है । गोंद वृक्ष का रस है, चपड़ी श्लेष्क (चिपकाने वाली या जोड़ने वाली) वस्तु है । रबड़ भी ऐसी वस्तु है । इन चीजों में चिपक कर जीव-जन्तु प्राणों से हाथ धो बैठते हैं । अतएव लाख का व्यापार श्रावक के लिए त्याज्य है ।

इन कर्मादानों में हिंसा की बहुलता की दृष्टि रखी गई है । अतएव दांत या लाख के वाणिज्य के समान जिन अन्य वस्तुओं के व्यापार से प्रचुर हिंसा होती है, उन्हें भी यथायोग्य इन्हीं वाणिज्यों में शुमार कर लेना चाहिए और उनके व्यापार से भी बचना चाहिए ।

बारूद भी इसी प्रकार की हिंसाकारक वस्तु है । उसकी बनी अनेक वस्तुओं से बहुत हिंसा होती है । बारूद से दुकानों और घरों के जल जाने की घटनाएं प्रायः पढ़ने-सुनने में आती ही रहती हैं । जिन दुकानों में बारूद की बनी वस्तुओं का विक्रय होता है, उनमें जब कभी विस्फोट हो जाता है तो आस-पास की दुकानें, मकान और मनुष्य तक जल कर भस्म हो जाते हैं । अतएव हिंसाकारी पदार्थों के व्यापार से श्रावक को सदैव बचते रहना चाहिए । ऐसे धंधे करके मनुष्य जो धन एकत्र करता है, वह धन नहीं विष है, जो घोर अनर्थ का कारण है ।

कई दुकानदार सार्वजनिक उपयोग की अनेक वस्तुएं अपनी दुकान में रखते हैं और फटाके भी बेचने के लिए रख लेते हैं । सोचने की बात है कि भला फटाकों से वे कितना धन संचित कर लेंगे ? वास्तव में इस प्रकार के व्यापार से लाभ कम और हानि अधिक होती है । सामाजिक और राष्ट्रीय हानि भी इससे कम नहीं है । प्रतिवर्ष दीपावली आदि के अवसरों पर न जाने कितने रुपयों की बारूद फटाके आदि के रूप में भस्म कर दी जाती है । करोड़ों का स्वाहा हो जाता है। लाभ तो कुछ होना नहीं, हानि ही हानि होती है । करोड़ों की सम्पत्ति नष्ट होती है और सैकड़ों बालक जल जाते और जल कर मर जाते हैं । एक ओर शिकायत की जाती है कि देश की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है और दूसरी ओर इतनी बड़ी धनराशि एक खतरनाक और हत्याकारी मनोरंजन के लिए नष्ट कर दी जाती है । फटाके बनाने में जो सम्पदा स्वाहा होती है, उसे अच्छे कार्य में लगाया जाय तो देश का भला हो सकता है ।

किन्तु खेद की बात है कि आजकल त्यौहारों में दामाद को सौगात में मिष्ठान्न के साथ फटाके भी भेज दिये जाते हैं । क्या जमाई के सम्मान करने का यह अच्छा तरीका है ? किन्तु कौन इस पर विचार करे ? आज लोगों का विवेकदीपक बुझ रहा है । बुद्धि पर पर्दा पड़ रहा है ।

धर्म एकान्त मंगलमय है । आत्मा, समाज, देश तथा अखिल विश्व का कल्याणकर्ता और त्राता है । मगर आज धर्म की ज्योति मंद हो रही है । लोग धर्म के वास्तविक मर्म को समझने का प्रयत्न नहीं करते और जो थोड़ा-बहुत समझते हैं, उसे आचरण में नहीं लाते । उनका खयाल है कि धर्म के आचरण से उनके लौकिक कार्यों में बाधा उत्पन्न होगी, मगर यह धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है । धर्म लोक व्यवहार का विरोधी नहीं है प्रत्युत उसे सही दिशा देने का प्रयत्न करता है । उसे हितकर और सुखकर बनाता है ।

विवेक से काम लिया जाय तो कौतुहल, श्रृंगार, सजावट और दिलबहलाव के लिए की जाने वाली निरर्थक हिंसा से मनुष्य सहज ही बच सकता है । ऐसा करके वह अनेक अनर्थों से बचेगा और राष्ट्र का हित करने में भी अपना योगदान कर सकेगा । फटाकों के बदले बच्चों को यदि दूसरे खिलौने दे दिये जाएं तो क्या उनका मनोरंजन नहीं होगा ? फटाकों से बच्चों को कोई शिक्षा नहीं मिलती । जीवन-निर्माण में भी कोई सहायता नहीं मिलती । उनकी बुद्धि का विकास नहीं होता। उलटे उनके झुलस जाने या जल जाने का खतरा रहता है । समझदार माता-पिता अपने बालकों को संकट में डालने का कार्य नहीं करते । किस उम्र के बालक को कौनसा खिलौना देना चाहिए जिससे उसका बौद्धिक विकास हो सके, इस बात को भली-भाति समझ कर जो माता-पिता विवेक से काम लेते हैं, वे ही अपनी सन्तान के सच्चे हितैषी हैं । मगर यहां तो बच्चे और नौजवान सभी एक घाट पानी पीते हैं । छोटे बच्चे तो साधारण और छोटे फटाके ही छोड़ते हैं मगर समझदार नौजवान बड़े-बड़े फटाके छोड़ कर आनन्द का अनुभव करते हैं । अगर बड़े-बूढ़े लोग सभी दृष्टियों से हानिकारक ऐसी वस्तुओं का इस्तेमाल करना छोड़ दें तो समाज के गलत रिवाज बड़ी सरलता से खत्म हो सकते हैं ।

आज शासन का रवैया भी अजीब-सा है । एक ओर शासन के सूत्रधार बचत-योजना का निर्माण और प्रचार करते हैं और लोगों को चीजों के व्यर्थ उपयोग से बचने का उपदेश देते हैं, और दूसरी ओर फटाके जैसी चीजों के निर्माण की अनुमति देते हैं और उनके लिए बारूद सुलभ करते हैं । करोड़ों की सम्पत्ति इन फटाकों के रूप में राख बन जाती है और उसके विषैले धुंए से सारा वातावरण विषाक्त बन जाता है । सरकार क्यों इस ओर ध्यान नहीं देती—यह आश्चर्य की बात है ।

दिवाली और होली जैसे त्योहारों पर लोग विशेष रूप से मदिरापान करते हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले गांधीजी ने मदिरापान बन्द करने के लिए प्रचार और

आन्दोलन किया था, किन्तु अब देश स्वतन्त्र हो गया है और गांधीजी के अनुयायियों के ही हाथ में सत्ता है फिर भी वह बन्द नहीं हो रहा । क्योंकि मद्यनिषेध से सरकार की आय में कमी होगी और मद्यपान करने वाले लोग रुष्ट हो जाएंगे तो 'वोट' नहीं देंगे, इस भय से सरकार अब इस ओर ध्यान नहीं देती । कहावत है –'चोरां कुतियां मिल गये, पहरा किसका देय ।'

देश राजनीतिक दृष्टि से स्वाधीन हुआ तो भारतीय नेताओं ने प्रजातन्त्र की पद्धति पसन्द की । इस पद्धति में प्रजा के नुमाइंदों के हाथ में शासन रहता है । यह पद्धति अन्यान्य शासन पद्धतियों से उत्तम मानी गई है मगर इसकी सफलता के लिए प्रजा का सुशिक्षित और योग्य होना भी आवश्यक है । जब तक जनसाधारण में नैतिक भावना उच्चकोटि की न हो, आदर्शों और सिद्धान्तों की समझ न हो और व्यापक राष्ट्रहित को व्यक्तिगत हित से ऊपर समझने की प्रवृत्ति न हो तो तब तक इस शासन पद्धति की सफलता संदिग्ध ही रहती है । आज देश में प्रजातन्त्र के प्रति जो अनास्था उत्पन्न हो रही है, उसका कारण यही है कि अशिक्षित जनता से वोट प्राप्त करने के लिए उसको नाराज नहीं किया जा सकता और उसमें घुसी हुई मदिरापान जैसी बुराइयों के विरुद्ध कदम उठाने का भी साहस नहीं किया जा सकता। इससे देश को हानि पहुँचती है । बालक कितना ही रुष्ट क्यों न हो, माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वह उसे कुमार्ग पर जाने से रोके ।

राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए लम्बे काल तक संघर्ष चलता रहा । इस संघर्ष में भाग लेने वालों ने लाठियों की मार झेली, गोलियां खाईं, कारावास के कष्ट सहन किए, कइयों ने अपना सर्वस्व होम दिया । ये सब प्रतिकूल उपसर्ग थे, जिन्हें उन्होंने शान्ति के साथ सहन किया । किन्तु जब संघर्ष के फलस्वरूप स्वतन्त्रता प्राप्त हुई और इन योद्धाओं को शासन सत्ता मिली तो उनमें से कइयों का अधःपतन हो गया, कई भ्रष्टाचार में लिप्त हो गए और स्वार्थ साधने लगे । इस प्रकार अनुकूल उपसर्ग को वे नहीं सहन कर सके ।

सिंह की गुफा में तपस्या करने वाले मुनिराज की भी यही स्थिति हुई । प्रतिकूल परीषह को जीतने में तो वे समर्थ सिद्ध हुए मगर अनुकूल परीषह आते ही विचलित हो गए । अपनी मर्यादा से बाहर होकर रत्नकम्बल लेने के लिए वे नेपाल पहुँचे । रास्ते में कम्बल लुट गया तो दूसरी बार याचना करने में भी उन्होंने संकोच नहीं किया । कठिन यात्रा करके वे पाटलीपुत्र पहुँचे और मन ही मन अपने पुरुषार्थ को स्वयं सराहने लगे । मगर रूपकोषा ने क्षण भर में सारा गुड़ गोबर कर दिया । उसने रत्नकंबल से पैर पौंछ कर उसे यों फैंक दिया मानों वह कोई फटा हुआ

चिथड़ा या पुराना टाट का टुकड़ा हो । यह देख कर मुनि को आवेश आ जाना स्वाभाविक ही था । उन्होंने कहा–"रूपकोषा ! तू अत्यन्त ही नादान है ।"

रूपकोषा बोली–"महाराज ! मैंने क्या नादानी की है ?"

मुनि–"मूल्यवान् रत्नकंबल का क्या यही उपयोग है ?"

रूपकोषा–"तो आपका अभिप्राय यह है कि जो वस्तु मूल्यवान हो उस का उपयोग साधारण काम में नहीं करना चाहिए ?"

मुनि–"इस बात को तो बच्चा-बच्चा समझता है। क्या तुम नहीं समझती ?"

रूपकोषा–"मैं तो बखूबी समझती हूँ पर आप ही इस बात को नहीं समझते। आश्चर्य है कि जो बात मुझे समझाना चाहते हैं उसे आप स्वयं नहीं समझते । आप 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' की कहावत चरितार्थ कर रहे हैं ।"

मुनि–"सो कैसे ? मैंने किस वस्तु का दुरुपयोग किया है ?"

रूपकोषा–"मोह के उदय से आपकी विवेकशक्ति सो गई है, इसी कारण आप समझ नहीं पा रहे हैं ।"

मुनि–"क्यों पहेली बुझा रही है ।"

रूपकोषा–"पहेली नहीं बुझा रही महाराज ! आपके हृदय की आग बुझा रही हूँ । मूल्यवान् रत्नकंबल से पैर पौंछना आप नादानी समझते हैं परन्तु रत्नकंबल अधिक मूल्यवान् है अथवा संयम–रत्न अधिक मूल्यवान् है ? रत्नकंबल तो सोने-चांदी के टुकड़ों से खरीदा जा सकता है मगर संयमरत्न तो अनमोल है । तीन लोक का ऐश्वर्य दे कर भी संयम नहीं खरीदा जा सकता । क्या उसका उपयोग आपने अधम काम के लिए नहीं किया है ?"

रूपकोषा के वचनों का बाण लक्ष्य पर लगा । मुनि के अज्ञान का पर्दा हट गया । मोह का अंधकार सहसा विलीन हो गया । भ्रम भाग गया । वे रूपकोषा की ओर विस्मयपूर्ण दृष्टि से देखने लगे । पहले की और अब की दृष्टि में आकाश-पाताल जितना अन्तर था, अब तक उन्होंने रूपकोषा के जिस रूप को देखा था, यह रूप उससे एकदम निराला था । उसमें घोर मादकता थी; इसमें पावनी शक्ति थी । वह रूप मार्ग भुलाने वाला था, यह मार्ग बतलाने वाला था, उस रूप ने उनमें आत्मविस्मृति उत्पन्न कर दी थी, पर इसने स्वरूप की स्मृति जागृत कर दी ।

वास्तव में पदार्थ तो अपने स्वरूप में जैसे हैं, वैसे ही हैं, परन्तु उन्हें देखने वालों की वृत्ति विभिन्न प्रकार की होती है । दो मनुष्य एक ही वस्तु को देखते हैं

मगर एक अपनी दृष्टि का विष उसमें मिला देता है और दूसरा उसे दृष्टि के अमृत से पूत बना देता है । "यथा दृष्टिस्तथा सृष्टिः" की उक्ति वास्तव में सत्य है ।

मुनि ने पहले भी रूपकोषा के मुखमण्डल को देखा था और अब भी देख रहे थे । मगर इस समय की उनकी दृष्टि में अनेक सात्विक भाव भरे हुए थे । वह सोचने लगे रूपकोषा वेश्या नहीं महान् शिक्षिका है, संयम और आत्मा की संरक्षिका है। वास्तव में मैं भान भूल गया था, पथभ्रष्ट हो गया था । रूपकोषा ने मुझे अधःपतन के गर्त से उबार लिया है । मैं अपने संयम रूप चिन्तामणि को गंवाने पर उतारू हो रहा था । कृतज्ञ हूं इस देवी का जिसने स्थिरीकरण आचार का अवलम्बन लेकर मुझे पाप से बचा लिया ।

इस प्रसंग से रूपकोषा ने मुनि का मन बदल दिया । उन्होंने कहा–"मैं रूपकोषा पर रोष कर रहा था मगर असली रोष का भाजन तो मैं स्वयं हूँ, जो संयम को मलिन कर रहा हूँ ।"

बन्धुओ ! जो बड़े-बड़े प्रलोभन के सामने भी अपने संयम को स्थिर रखते हैं वे महापुरुष धन्य हैं और उन्हीं का इस लोक और परलोक में कल्याण होता है ।

---

[६४]

धर्म और कानून का राज्य

'सव्व जगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहिअं ।'

भगवान् महावीर ने उस समय धर्मदेशना प्रारम्भ की जब वे चार घनघातिया कर्मों का क्षय करके सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग और कृतकृत्य हो चुके थे । अतएव सहज ही यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि उनके लिये धर्मदेशना देने का प्रयोजन क्या था ? जब वे पूर्ण वीतराग थे, जो कुछ प्राप्त करना था, उसे प्राप्त कर चुके थे, तब देशना देने में उनकी प्रवृत्ति क्यों हुई ?

कर्मशास्त्र की दृष्टि से तो कहा जा सकता है कि भगवान् कृतार्थ होने पर भी तीर्थंकर नामकर्म के उदय को वेदन करने के लिए धर्मदेशना देते हैं । धर्मदेशना देने से ही तीर्थकर प्रकृति की निर्जरा होती है । यह धर्मदेशना का कारण है । किन्तु दूसरी दृष्टि से भगवान् की धर्मदेशना का लक्ष्य है जीव मात्र की रक्षा । सम्पूर्ण जगत् के जीवों का रक्षण ही तीर्थंकर के प्रवचन का परम लक्ष्य है । यहां जीवों में किसी प्रकार का भेद नहीं रखा गया है । भगवान् की देशना में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं है, संकीर्णभाव नहीं है । ऐसा नहीं है कि वे मनुष्य जाति की रक्षा का उपदेश दें और मनुष्येतर प्राणियों की उपेक्षा करें । शास्त्र में रक्षण और दया इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है । वास्तव में रक्षा या दया की भावना समग्रता को लेकर ही चल सकती है । लंगड़ी दया सच्ची दया नहीं कहला सकती ।

किसी मनुष्य के चार लड़के हैं । यदि वह सन्ततिप्रेमी है तो चारों पर उसका समान स्नेह होता है । जो पिता पक्षपात से काम लेता है, किसी सन्तान पर स्नेह रखता है और किसी पर नहीं, उसे आदर्श पिता नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकार जो मनुष्यों और कतिपय अन्य प्राणियों की रक्षा एवं दया का ही लक्ष्य रखता

है वह पूर्ण दयालु नहीं कहा जा सकता । भगवान् का त्रस और स्थावर सभी जीवों पर एक-सा समभाव था ।

प्राणीमात्र की रक्षा वही साधक कर सकता है जो अपने मूल और उत्तर गुणों की सावधानी के साथ रक्षा करता है । आत्मा अपने स्वभाव से गिर न जाय, स्वरूप में रमण को छोड़ कर परभावों में रमण न करने लगे, इसके लिए जागृत रहना, यह स्वदया है । जो "परदया" के साथ स्वदया का भी पालन करता है, वही अपनी आत्मा को बन्धदशा से मुक्त करके निर्बन्ध दशा की ओर ले जाता है । यही प्रवचन का उद्देश्य है ।

महारंभ की बात बतला कर प्राणियों की रक्षा की गई, इसके लिए प्रभु की वाणी निमित्तभूत हुई । द्रव्य प्राणियों की रक्षा की, यह द्रव्यदया है । आत्मा में तृष्णा कम हो गई, परिग्रह को बढ़ाने के लिए हृदय में होने वाली उथल-पुथल मिट गई, यह भावदया है ।

दारू बनाने वाले को अगर दारू बनाने का त्याग करा दिया जाय तो उसे आर्थिक हानि होगी, मगर दारू के उपयोग करने वाले को और बेचने वाले को लाभ भी होगा । मानव-जीवन इतना तुच्छ नहीं है कि दो पैसे पैदा करने के लिए दुर्व्यसन और हिंसा की वस्तु बेची जाय । थोड़े से पैसों के लिए आत्मा को पाप से मलिन एवं कर्मों से भारी बनाना कदापि विवेकशीलता नहीं है । मनुष्य को कम से कम अपनी आत्मा पर तो दया करनी ही चाहिए और इसके लिए आवश्यक है कि उसे पापों से बचाया जाय । पापों से बचने के लिए ही भोगोपभोग की मर्यादा की जाती है । भोगोपभोग परिमाण व्रत के विवेचन में कर्मादानों का कथन चल रहा है। दन्तवाणिज्य और लाक्षावाणिज्य के विषय में कहा जा चुका है अब आगे रसवाणिज्य पर विचार करना है ।

(८) रसवाणिज्जे (रसवाणिज्य)–रस शब्द के अनेक आशय ग्रहण किये जा सकते हैं परन्तु कर्मादान के प्रकरण में मदिरा, मधु और चर्बी आदि को ही प्रमुख समझना चाहिए । इन पदार्थों के सेवन से द्रव्य और भावहिंसा होती है, अतएव इनका व्यापार भी घोर हिंसा का कारण है ।

'रसवाणिज्य' में जो रस शब्द है उससे षट् रस वाला अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए । यह अर्थ लिया जाय तो समस्त खाद्य पदार्थों का व्यापार करना कर्मादान में गर्भित हो जाएगा, जो सर्वथा व्यवहार विरुद्ध होगा ।

कई आचार्य घी-दूध के विक्रय को भी रसवाणिज्य कहते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष में प्राचीन काल में दूध, घृत का बेचना निन्दनीय समझा जाता था। मनुस्मृतिकार ने तो यहां तक कह दिया है ?

त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः सीरविक्रयात् । अर्थात् कोई ब्राह्मण यदि दूध बेचता है तो वह तीन दिनों में ब्राह्मण नहीं रहता शूद्र हो जाता है ।

यद्यपि मनुस्मृति में सिर्फ ब्राह्मण के लिए ऐसा कहा गया है फिर भी इससे दुग्ध विक्रय गर्हित है, यह आभास तो मिलता ही है । तब श्रावक दूध कैसे बेच सकता है ? यह विचारणीय है । क्योंकि श्रावक का दर्जा ब्राह्मण से निम्न नहीं हो सकता । भारत की साधारण जनता भी दूध बेचना नफरत की निगाह से देखती आ रही है । लोग दूध बेचना पूत बेचना समझते थे । छाछ बेचना तो भारत में कलंक की बात गिनी जाती थी ।

जैसे जैनाचार्यों ने श्रावक के कर्मों का विवेचन किया है, और पर्याप्त ऊहापोह किया है, उसी प्रकार वैदिक स्मृतियों में ब्राह्मणों के कर्मों का भी विवेचन किया गया है ।

किन्तु पुर्वकालीन जीवन व्यवस्था में और वर्तमानकालीन व्यवस्था में बहुत अन्तर पड़ गया है । परिस्थितियां एकदम भिन्न प्रकार की हो गई हैं ।

आज पैसा देने पर भी शुद्ध वस्तु का मिलना कठिन हो गया है । दूध, घी तथा अन्य खाद्य पदार्थों में मिलावट की जाती है, सरकार की ओर से मिलावट को रोकने के लिए तथा मिलावट करने वालों को दण्डित करने के लिए अलग से पदाधिकारी नियुक्त किये जाते हैं । उन पर प्रचुर धन व्यय किया जाता है मगर आज के जीवन में इतनी अधिक अप्रामाणिकता प्रवेश कर गई है कि सरकार का कोई भी प्रयास सफल नहीं हो पा रहा । अप्रामाणिकता पर नियन्त्रण करने के लिए नियुक्त बहुत से पदाधिकारी स्वयं अप्रामाणिकता में सम्मिलित हो जाते हैं । वे रिश्वत लेकर अप्रामाणिकता में सहायक बन जाते हैं और धड़ल्ले के साथ सब प्रकार की बेईमानी होती रहती है । जैसे-जैसे इलाज किया जाता है वैसे-वैसे बीमारी भी बढ़ती जाती है । कहा भी है 'मर्ज बढ़ता गया ज्यूं-ज्यूं दवा की' । यह कुचक्र कहां जाकर समाप्त होगा, नहीं कहा जा सकता । शासन की ओर से नवीन-नवीन नियम और कानून बनाये जाएं और लोग नये-नये रास्ते खोजते जाएं तो देश किस अधःपतन के गड्ढे में गिरेगा, भगवान् ही जाने ।

सचमुच में समाज का सुधार कानून के बल पर नहीं हो सकता । दण्ड का भय अनैतिकता का उन्मूलन नहीं कर सकता । यह बात अब तक की स्थिति से

स्पष्ट समझ में आ जानी चाहिए । अब तक के कानूनों ने अनैतिकता और अप्रामाणिकता को रोकने के बदले उन्हें बढ़ावा ही दिया है और भविष्य में भी ऐसा ही होने की संभावना है ।

तो फिर अनैतिकता का अन्त किस प्रकार किया जाय ? क्या यह उचित होगा कि इस सम्बन्ध के सब कानून समाप्त कर दिये जाएं और लोगों को पूरी स्वतन्त्रता दे दी जाय कि वे जो चाहें, करें, सरकार उन्हें नहीं रोकेगी । मगर ऐसा करने की भी आवश्यकता नहीं और यह अभीष्ट भी नहीं हो सकता, आवश्यकता इस बात की है कि जनता के मानस में धर्म और नीति के प्रति आस्था उत्पन्न की जाय। धर्म और नीति के प्रति जब आस्था उत्पन्न हो जाएगी, तब निश्चय ही लोगों के हृदय में परिवर्तन होगा और हृदय में परिवर्तन होने से अनैतिकता और अप्रामाणिकता का अधिकांश में अन्त आ सकेगा । जो शासन धर्मनिरपेक्ष नहीं, धर्मसापेक्ष होगा वही प्रजा के जीवन में निर्मल उदात्त और पवित्र भावनाएं जागृत कर सकेगा ।

सूखते हुए वृक्ष को हरा-भरा रखने के लिए जैसे पत्तों पर पानी छिड़कना असफल प्रयास है, उसी प्रकार प्रजा में बढ़ती हुई अप्रामाणिकता को रोकने के लिए कानूनों का निर्माण करना भी निरर्थक है । वृक्ष को हरा-भरा रखने के लिए उसकी जड़ों में पानी सींचने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जन-साधारण के जीवन को शुद्ध और नीतिमय बनाये रखने के लिए उसमें धर्मभाव जागृत करना उपयोगी है । धर्मभाव से जीवन में जो परिवर्तन होता है वह स्थायी और ठोस होता है । दण्ड के भय में यह सामर्थ्य नहीं है ।

इसी कारण भगवान् महावीर ने दण्डविधान का नहीं, प्रेम का, धर्म का मार्ग बतलाया है । उन्होंने मनुष्य के हृदय को परिवर्तित कर देने पर जोर दिया है । विचार को सम्यक् बना देने अर्थात् सही दिशा देने की आवश्यकता दर्शायी है । विचार की शुद्धि होने पर आचार अपने आप ही शुद्ध हो जाता है ।

धर्मशास्त्र का राज्य मन पर और कानून का राज्य तन पर होता है ।

गांधीजी ने अपने जीवनकाल में शराबबन्दी पर बहुत जोर दिया था । मगर वर्तमान शासन व्यापक रूप में मद्यनिषेध करने में हिचक रहा है । किसी-किसी प्रान्त में मद्यनिषेध का कानून बना भी तो पूरी तरह सफल नहीं हो सका । कानून के साथ जनता में धर्मभावना उत्पन्न किये बिना सफलता प्राप्त होना शायद ही संभव हो सके।

महुआ, खजूर, चावल, ताड़ी, गुड़ आदि चीजों को मद्य बनाने के लिए सड़ाया जाता है । जीव-जन्तुओं की उत्पत्ति होने पर ही उसमें सड़ांद पैदा होती है।

इससे स्पष्ट है कि इसमें जीव-जन्तुओं की उत्पत्ति अनिवार्य है । हर तरह की शराब में चीजों को सड़ाना आवश्यक होता है । अतएव मदिरा बनाना, बेचना और पीना, सभी घोर पाप का कारण है ।

मदिरा पीने से क्या-क्या हानियां होती हैं, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। वे हानियां इतनी प्रकट हैं कि प्रत्येक मनुष्य उनसे परिचित है । मदिरा बुद्धि को, बल को एवं कीर्ति को नष्ट कर देती है–

बुद्धिं लुम्पति यद्द्रव्यं मदकारितदुच्यते ।

बुद्धि का विनाश या लोप करने वाली जितनी चीजें हैं, वे सब मदिरा श्रेणी में गिनी जाती हैं । क्योंकि उनका परिणाम लगभग एक-सा होता है ।

जिसका उपयोग निषिद्ध हो, जिसका उपयोग अत्यन्त हानिकारक हो, जीवन को बर्बाद करने वाला हो और जिसको लोग घृणा की दृष्टि से देखते हों, उसका वाणिज्य क्यों किया जाय ? अपने और अपने परिवार की उदर पूर्ति के लिए दूसरे लोगों के जीवन को नष्ट करने में सहायक होना समझदार मनुष्य का काम नहीं है । जिस मदिरापान से हजारों का जीवन भयानक अभिशाप बन जाता है, हजारों परिवार नष्ट हो जाते हैं और दुर्गति को प्राप्त होते हैं, उसका व्यापार भले आदमी के लिए कैसे उचित है । श्रावक ऐसा व्यापार कदापि नहीं करेगा । उदरपूर्ति के साधनों की कमी नहीं है । वह कोई भी अन्य धंधा करके अपना निर्वाह कर लेगा, गरीबी में जीवन व्यतीत कर लेगा, परन्तु ऐसे विनाशकारी पदार्थों के व्यापार में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सम्मिलित नहीं होगा ।

इस प्रकार के खरकर्म करने से बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार की हानियां होती हैं, अतएव वीतराग भगवान् की वाणी के अमृत का आस्वादन करने वाला श्रावक इस रस-वाणिज्य से अवश्य दूर रहेगा । उसे तो परम श्रेयोमय प्रशम का लोकोत्तर रस प्रवाहित करना है, अनन्त जन्मों का लाभकारी वाणिज्य करना है । वह अपने परिवार, ग्राम, नगर और देश में उपशम को वितरण करेगा और अपने तथा दूसरों के कल्याण में सहायक बनेगा ।

आनन्द जब भगवान् महावीर के निकट व्रत ग्रहण करके घर पहुँचा तो उसने तुरन्त ही अपनी धर्मपत्नी शिवानन्दा को भी व्रत ग्रहण करने को भेजा । ऐसे अनेक श्रावकों ने ज्ञान और उपशम का वितरण किया है । उन्होंने गृहस्थी में रहकर मदिरा-रस न पिला कर ज्ञान का रस पिलाया । और अपना भी कल्याण किया ।

भंग भी मदिरा की छोटी बहिन है । नासमझ लोग ज्ञान और उपशम का रस नहीं पिला कर उत्सवों के अवसर पर उन्मत्त बनाने वाला रस पिलाते हैं । मदिरा जैसी नशीली वस्तुएं थोड़ी-सी तरी पहुँचा कर भीतर का रस चूस लेती हैं । मजदूरों और पिछड़े वर्ग के लोगों की स्थिति इसी कारण खराब होती है कि वे शराब जैसी चीजों का उपयोग करते हैं । इन मादक पदार्थों के चंगुल में पड़ कर वे अपने सारे परिवार को विनाश की ओर ले जाते हैं । पहले तो लोग कुतूहल से प्रेरित होकर नशीली चीज का सेवन करते हैं, मगर धीरे-धीरे वह अपने अधीन बना लेती है । अतएव समझदार मनुष्य किसी के आग्रह से अथवा कुतूहल से भी मादक द्रव्य के सेवन की शुरुआत नहीं करे ।

भगवान् महावीर ने कहा–"हे मानव ! तुझे जो बुद्धि मिली है वह नष्ट करने के लिए नहीं । अतएव तू ऐसा रस ले और दे कि जिससे तेरा तथा समाज का कल्याण हो ।"

मुनि स्थूलभद्र ने स्वयं ज्ञान का अमीरस प्राप्त करके वेश्या को दिया । उस रस के आस्वादन से वेश्या का वेश्यापन जाता रहा । उसमें श्राविका के रूप का प्रादुर्भाव हुआ । अब वही वेश्या अपने काम-रस को त्याग कर भूले-भटके तपस्वी को सन्मार्ग पर ला रही है । उसने ऐसे अद्‌भुत कौशल के साथ तपस्वी के जीवन में परिवर्तन किया कि तपस्वी भी दंग रह गया । तपस्वी जब होश में आए तो बोले–"रूपकोषे ! तू ने मुझे तार दिया । मोह और अज्ञान का अन्धकार मेरी दृष्टि के सामने छा गया था और उसमें मेरा चित्त भटक गया था । तू ने आलोक-पुंज बन कर सच्ची राह दिखला दी । तू ने चिकित्सक की तरह मेरे मन की व्याधि को दूर कर दिया । अब मेरे मन का मल धुल गया है । तेरे उपकार से मैं धन्य हो गया । मेरे गिरते जीवन को तू ने बचा लिया । मैं नहीं समझ पाया कि महामुनि स्थूलभद्र ने यहां क्या साधना की थी ? चतुर चिकित्सक पहले विरेचन की दवा देकर फिर रोगनाशक दवा देता है, इसी प्रकार तू ने पहले मुझे भटका कर बाद में औषध दी है ।"

इस प्रकार तपस्वी ने रूपकोषा के प्रति कृतज्ञता प्रकट की, रूपकोषा ने उत्तर में कहा–"मुनिवर ! मैंने अपने कर्त्तव्य का पालन किया है, इससे अधिक कुछ भी नहीं किया । महामुनि स्थूलभद्र ने ही मुझे यह सीख दी थी । उसी का यह परिणाम है । इसमें मेरी किंचित् भी बड़ाई नहीं है । स्थूलभद्र ने मेरे जीवन को मोड़ दिया और उन्होंने ही मुझे सेवा करने का यह तरीका सिखलाया है । उन्हीं के शुभ समागम से मैंने धर्म का मंगलमय पथ पाया है और मैं श्राविका धर्म का पालन कर

रही हूँ। व्यवहार में महाजन का बच्चा यदि जान-बूझ कर ऐसा लेन-देन करे जिससे आर्थिक हानि हो तो उसका पिता नाराज होता है, उसी प्रकार मेरी माता मुझसे अप्रसन्न है। किसी ने कहा है–'सलज्जा गणिका नष्टा' अर्थात् वेश्या यदि लज्जा करे तो बर्बाद हो जाती है। परन्तु मेरा जीवन अब बदल चुका है। माता असन्तुष्ट है मैं उसे भी राह पर लाने का प्रयत्न कर रही हूँ। मुझे सन्तोष और प्रसन्नता है कि आपको अपनी पदमर्यादा का भान हो गया।"

जिन्होंने ज्ञान का रस पिया हो वही दूसरों को सुधारने के लिए प्रयत्नशील होता है। देवेन्द्र के प्रयत्न से भी वह धर्म से विचलित नहीं होता, साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या ?

इसके लिए प्रत्येक साधनापरायण व्यक्ति को चार बातें ध्यान में रखनी चाहिये–(१) स्थिर आसन (२) स्थिर दृष्टि (३) मित भाषण और (४) सद्विचार में निरन्तर रमणता। इन चार बातों पर ध्यान रखने वाला लोक–परलोक में लाभ का भागी होता है।

रूपकोषा धर्म के मार्ग पर चलने लगी। वह श्राविका के योग्य सभी व्यवहार कर रही थी। सामायिक आदि आवश्यकों का अनुष्ठान करती थी। जब वेश्या के समान गन्दा जीवन व्यतीत करने वाली अपना जीवन सुधार सकती है तो साधारण मनुष्य के लिए धर्म मार्ग पर चलना कौन कठिन बात है। काली मैली दीवार चूना (सफेदी) का हाथ फेरने से चमक उठती है तो क्या मलिन मन निर्मल नहीं हो सकता ? दीपावली के अवसर पर मकान की सफाई की जाती है तो मन की भी सफाई करनी चाहिये। मन की सफाई से आत्मिक गुण उज्ज्वल होते हैं और जीवन पावन बन जाता है। यही कल्याण का मार्ग है।

---

[६५]

मादक वस्तु व्यापार

श्रुति मुक्ति के प्रमुख अंगों में से एक है । मनुष्य का जीवन प्राप्त हो जाने पर भी यदि ज्ञानी महापुरुषों की अनुभवपूत वाणी को श्रवण करने का अवसर न मिले तो वह निरर्थक हो जाता है । जिन महापुरुषों ने दीर्घकाल पर्यन्त एकान्त शान्त जीवनयापन करते हुए तत्व का चिन्तन-मनन किया है, उनकी वाणी के श्रवण का लाभ जीवन के महान् लाभों में से एक है ।

प्रश्न हो सकता है कि वह श्रुति कौन-सी है जो मुक्ति का अंग है ? धर्म और साधना के नाम पर प्रतिदिन हजारों बातें सुनते आ रहे हैं । मुक्ति एक है और उसके उपदेशक अनेक हैं। उनके उपदेशों में भी समानता नहीं है। ऐसी स्थिति में किसका उपदेश सुना जाये ? किसे मान्य किया जाये ? क्या साधना के नाम पर सुनी जाने वाली सभी बातें श्रुति हैं ?

कर्णगोचर होने वाले सभी शब्द श्रुति नहीं हैं। कानों वाले सभी प्राणी सुनते हैं। सुनने के अनन्तर श्रुत शब्द लम्बे समय तक दिमाग में चक्कर खाता रहता है। श्रोता उसके अभिप्राय को अवधारण करता है। किन्तु यदि श्रोता संज्ञावान न हो तो उसका श्रवण व्यर्थ जाता है । कई प्राणी ऐसे भी हैं जो श्रोत्र इन्द्रिय से युक्त होते हैं किन्तु अमनस्क होते हैं। उनमें मन नामक करण नहीं होता जिसके आश्रय से विशिष्ट चिन्तन-मनन किया जाता है। वे शब्दों को सुनकर भी लाभ नहीं उठा सकते। कुछ प्राणी ऐसे हैं जो श्रोत्रेन्द्रिय और मन दोनों से सम्पन्न होते हैं किन्तु उनका मन विशेष रूप से पुष्ट नहीं होता। उन्हें भी श्रवण का पुरा लाभ नहीं होता। पुष्ट मन वालों में भी कोई-कोई मलीन या मिथ्यात्वग्रस्त मन वाले होते हैं । वे शब्दों को सुनते हैं, समझते हैं और उन पर मनन भी करते हैं। परन्तु उनकी मनन धारा का प्रवाह विपरीत दिशा में बहता है, अतएव वे कल्याणकर विचार न करके अकल्याणकारी विचारों को ही स्थान देते हैं। उनको भी श्रुति का यथार्थ लाभ नहीं मिलता।

श्रुति दो प्रकार की है– अपरा और परा। ऊपर जिस श्रुति के विषय में कहा गया है वह सब अपरा श्रुति कहलाती है। यह सामान्य श्रुति है जो व्यावहारिक प्रयोजन की पूर्त्ति करती है। परा श्रुति पारमार्थिक श्रुाति है जिसके द्वारा मानव अपनी आत्मा को ऊपर उठाता है। उससे आत्मा को अपने स्वरूप का बोध होता है, तप, क्षमा, अहिंसा आदि सद्‌गुणों की भावना जागृत होती है और क्रोध, मान, माया, लोभ, हिंसा आदि की भावना दूर भागती है। इसी परा श्रुति को ज्ञानी पुरुष मुक्ति का अंग मानते हैं। यह श्रुति सर्वसाधारण को दुर्लभ है।

संसार के अनन्त-अनन्त जीवों में से बिरले ही कोई परा श्रुति का संयोग पाते हैं और उनमें से भी कोई-कोई ही ग्रहण करने में समर्थ होते हैं। ग्रहण करने वालों में से भी कोई विरले मानव ही उसे परिणत करने में समर्थ होते हैं।

भूमि में डाले गये सभी बीज अंकुरित नहीं होते। इसमें किसान का क्या दोष है? कदाचित् समस्त बीज भी नष्ट हो जायँ तो भी किसान क्या करे ? बीजों के अंकुरित होने में कई कारणों की आवश्यकता होती है। उनमें से कोई एक न हुआ तो बीज अंकुरित नहीं होता। इसी प्रकार व्याख्याता ज्ञानीजनों के वचनों को श्रवण कराता है। मगर श्रवण करने वालों की मनोदशा अनुकूल न होगी तो श्रवण सार्थक नहीं हो सकेगा। जिनका भाग्य ऊंचा है या जो उच्चकोटि के पुण्यानुबन्धी पुण्य से युक्त हैं और जिनकी आत्मा सम्यक्त्व से उज्ज्वल है या जिनका मिथ्यात्वभाव शिथिल पड़ गया है, वही मनुष्य श्रुति से वास्तविक लाभ उठा सकते हैं।

गृहस्थ आनन्द ने वीतराग की वाणी श्रवण की, ग्रहण की और उसका परिणमन किया। उसी का प्रसंग यहां चल रहा है। भोगोपभोग व्रत के कर्म विषयक अतिचारों का जिन्हें कर्मादान कहते हैं, विवेचन चल रहा है। कल रसवाणिज्य के विषय में कहा गया था।

मद्य का व्यवसाय करना खर-कर्म है। पूर्वकाल में मद्य का उपयोग कम होता था। उस समय की प्रजा में भोग की लालसा कम थी। अतएव भोग्य पदार्थों का भी आज की तरह प्रचुर मात्रा में आविष्कार नहीं हुआ था। उस समय के लोग बहुत सादगी के साथ जीवन व्यतीत करते थे । और स्वल्प सन्तोषी होने के कारण सुखी और शान्त थे। आज वह बात नहीं है। भाँति-भाँति की मदिराएं तो आजकल बनती और बिकती ही हैं, अन्य पदार्थों में, विशेषतः दवाइयों में भी उनका सम्मिश्रण होता है। एलोपैथिक दवाएं, जो द्रव रूप में होती हैं, उनमें प्रायः मदिरा का संयोग पाया जाता है, जो लोग मदिरापान के त्यागी है उन्हें विचार करना चाहिये कि ऐसी दवाओं का सेवन कैसे कर सकते हैं ?

बहुत-से लोग लोभ-लालच में पड़ कर मदिरा बनाते या बेचते हैं। वे समझते हैं कि इस व्यापार में हमें बहुत अच्छा मुनाफा मिलता है। किन्तु ज्ञानीजन कहते हैं–तूने पैसा इकट्ठा कर लिया है और ऐसा करके, फूला नहीं समा रहा, यह सब तो ठीक है, मगर थोड़ा इस बात पर भी विचार कर कि तूने कर्म का भार अपनी आत्मा पर कितना बढ़ा लिया है ? जब इन कर्मों का उदय आयेगा और प्रगाढ़ दुःख-वेदना का अनुभव करना पड़ेगा, उस समय क्या वह पैसे काम आयेंगे ? उस धन से दुःख को कैसे दूर किया जा सकेगा ? पैसा परभव में साथ जा सकेगा ?

डालडा तेल का निर्माता छुरी चलाता नहीं दीख पड़ता, मगर वह प्रचार करता है–हम देश की महान् सेवा कर रहे हैं। यह वनस्पति का घी है, पौष्टिक वस्तु है। लोग इसका अधिक सेवन करेंगे तो दूध की बचत होगी और बच्चों को दूध अधिक सुलभ किया जा सकेगा ।

इस प्रकार जनता के जीवन के साथ खिलवाड़ की जाती है और उसे देश-सेवा का जामा पहनाया जाता है। डालडा का तो उदाहरण के तौर पर ही उल्लेख किया गया है। आज ऐसी अनगिनत चीजें चल पड़ी हैं जो मनुष्य के स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त हानिकारक हैं मगर उनके निर्माता लुभावने विज्ञापन करते हैं और जनता उनके चक्कर में आ जाती है। इनके बनाने में अपरिमित जीवों की हिंसा होती है, परन्तु इस ओर किसी का ध्यान नहीं जाता।

मद्यपान पर आज कोई अंकुश नहीं है। बहुत-से अच्छे और धार्मिक संस्कार वाले घरों के नवयुवक भी बुरी संगति में पड़ कर भूले-भटके इस महा अनर्थकारी एवं जिन्दगी को बर्वाद कर देने वाली मदिरा के शिकर हो जाते हैं। इस ओर विवेकशील जनों का ध्यान आकर्षित होना चाहिये और अपनी संतान को मदिरा पीने की लत वालों दुर्व्यसनियों की संगति से दूर रखना चाहिये। जिस घर में मदिरा का प्रवेश एक बार हो जाता है, समझ लीजिये वह घर बर्बाद हो गया। उसके सुधरने और सम्भलने की आशा बहुत ही कम रह जाती है। अतएव महाहिंसा से निर्मित तथा शरीर और दिमाग को अत्यन्त हानि पहुंचाने वाली मदिरा जैसी मादक वस्तुओं का व्यापार और सेवन श्रावक के लिये वर्जनीय कहा गया है।

(७) विस वाणिज्जे (विष वाणिज्य)– विष का और विषैले पदार्थों का व्यापार करना विष वाणिज्य कहलाता है।

सोमिल, संखिया, गांजा, अफीम आदि अनेक प्रकार के विष होते हैं। ये सभी ऐसे पदार्थ हैं जो जीवन की पोषण शक्ति पर घात करते हैं और प्राण हानि भी करते हैं। ऐसी वस्तुओं का व्यापार अनेक दृष्टियों से वर्जनीय है। प्रथम तो यह

व्यापार लोकनिन्दित होने से किसी सद्गृहस्थ के योग्य नहीं है। दूसरे हिंसा आदि अनेक घोर अनर्थों का भी कारण है। इनके सेवन से सिवाय अनर्थ के कोई लाभ नहीं होता।

तमाखू भी विषैले पदार्थों में से एक है और आजकल अनेक रूपों में इसका उपयोग किया जा रहा है। तमाखू को लोग साधारण चीज या साधारण विष समझने लगे हैं किन्तु यह उनका भ्रम है। तमाखू का पानी अगर मच्छर या मक्खी पर छिड़क दिया जाये तो वे तड़फड़ा कर मर जाते हैं। यदि तमाखू न खाने वाला अकस्मात् तमाखू खा ले तो उसे चक्कर आने लगते हैं। उसका दिमाग घूमने लगता है और जब तक वमन न हो जाये तब तक उसे चैन नहीं पड़ता । क्या आपने कभी विचार किया है कि ऐसा क्यों होता है ?

वास्तव में मनुष्य का शरीर तमाखू को सहन नहीं करता। शरीर की प्रकृति से वह प्रतिकूल है। शारीरिक प्रकृति के विरुद्ध मनुष्य जब तमाखू का सेवन करता है तो शरीर की ओर से यह चेष्टा होती है कि वह उसे बाहर निकाल फेंके। इसी कारण वमन होता है। बीड़ी, सिगरेट, या हुक्का आदि के द्वारा जब तमाखू का सेवन किया जाता है तो शरीर पर दोहरा अत्याचार होता है। तमाखू और धुआँ दोनों शरीर के लिये हानिकारक हैं। जब कोई मनुष्य देखादेखी पहलेपहल बीड़ी-सिगरेट पीता है तब भी उसका मस्तक चकराता है और सिर में जोरदार पीड़ा होती है। किन्तु मनुष्य इतना विवेकहीन बन जाता है कि प्रकृति की ओर से मिलने वाली चेतावनी की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता और कष्ट सहन करके भी अपने शरीर में विष घुसेड़ता जाता है। धीरे-धीरे शरीर की वह प्रतिरोधक शक्ति क्षीण हो जाती है और मनुष्य उसे समझ नहीं पाता।

कई लोग तमाखू सूंघते हैं। ऐसा करने से उनके आसपास बैठने वालों को कितनी परेशानी होती है। इस प्रकार तमाखू का चूसना, पीना और सूंघना सभी शरीर के लिये भयानक हानिकारक हैं। आखिर जो जहर है वो लाभदायक कैसे हो सकता है ?

शरीर-विज्ञान के वेत्ताओं का कथन है कि जो बीमारियां अत्यन्त खतरनाक समझी जाती हैं, उनके अन्य कारणों में तमाखू का सेवन भी एक मुख्य कारण है। क्षय और कैंसर जैसी प्राणलेवा बीमारियां तमाखू के सेवन से उत्पन्न होती हैं। कैंसर कितनी भयंकर बीमारी है, यह कौन नहीं जानता ? चिकित्सा विज्ञान और शरीर विज्ञान के विकास के इस युग में भी कैंसर अब तक असाध्य बीमारी समझी जाती है। हजारों में से कोई भाग्यवान् बचे तो भले ही बच जाये अन्यथा कैंसर तो प्राण लेकर ही

पिण्ड छोड़ता है । अनुभवी लोगों का कथन है कि पचहत्तर प्रतिशत लोगों को तमाखू के सेवन से यह बीमारी उत्पन्न होती है ।

आखिर मनुष्य का विवेक इतना क्षीण कैसे हो गया है कि वह अपने जीवन और प्राणों की परवाह न करके जहरीले पदार्थों का सेवन करने पर उतारू हो गया है। अपने हाथों अपने पांव पर कुल्हाड़ा मारने वाला क्या बुद्धिमान कहा जा सकता है ? यह एक प्रकार का आत्मघात है ।

पाश्चात्य डाक्टरों ने तमाखू के सेवन से होने वाली हानियों का अनुभव किया है और लोगों को सावधान किया है। पर इस देश के लोग कब इस विनाशकारी चंगुल से छुटकारा पायेंगे ।

आपको शायद विदित हो कि तमाखू भारतीय वस्तु नहीं है। प्राचीनकाल में इसे भारतवासी जानते तक नहीं थे । यह विदेशों की जहरीली सौगात है और जब विदेशी लोग इसका परित्याग करने के लिये आवाज बुलन्द कर रहे हैं तब भारत में इसका प्रचार बढ़ता जा रहा है । आज सैकड़ों प्रकार की नयी-नयी छाप की बीड़ियां प्रचलित हो रही हैं ।

भारत के व्यापारी जनता के स्वास्थ्य की उपेक्षा करके प्रायः पैसा कमाने की वृत्ति रखते हैं । अन्य देशों में तो देश के लिये हानिकारक पदार्थों का विज्ञापन भी समाचार पत्रों में नहीं छापा जाता, मगर यहां ऐसे आकर्षक विज्ञापन छापे जाते हैं कि पढ़ने वाले का मन उसके सेवन के लिये ललचा जाये तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है ।

जो व्यापारी बीड़ी, जर्दा, सिगरेट, सूंघनी आदि का व्यापार करते हैं वे जहर फैलाने का धन्धा करते हैं । समझदार व्यापारी को इस धन्धे से बचना चाहिये ।

जनता का दुर्भाग्य है कि आज बीड़ी-सिगरेट आदि की बिक्री एक साधारण बात समझी जाती है । कोई वस्तु जब समाज में निन्दनीय नहीं गिनी जाती तो उसके विक्रय और ले जाने लाने आदि की खुली छूट मिल जाती है किन्तु ऐसे उदार हृदय लोग कम ही मिलेंगे जो इन विषैली वस्तुओं के विक्रय का त्याग करदें । जो ऐसा करेंगे वे कर्त्तव्यनिष्ठ समझे जायेंगे ।

दुर्बल हृदय मनुष्य प्रायः अनुकरणशील होता है। वह कमजोरी को जल्दी पकड़ लेता है । जिसकी विचारशक्ति प्रौढ़ है वह अन्धानुकरण नहीं करता । अपने विवेक की तराजू पर कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को तोलकर निर्णय करता है । वह जनता के लिये हानिकारक वस्तु बेच कर उसके साथ अन्याय और धोखा नहीं करता । देश और समाज के अहित में वह निमित्त नहीं बनता ।

जो चीज विष के नाम से अधिक प्रसिद्ध है या जो विष एकदम प्राणनाश करता है, उससे लोग भय खाते हैं, चौंकते हैं किन्तु तमाखू विष ऐसा विष है जो धीरे-धीरे जीवन को नष्ट करता है और जिनका जीवन नष्ट होता है उन्हें ठीक तरह पता नहीं चलता। इस कारण लोग उसके सेवन को बुरा नहीं समझते ।

अधिक से अधिक १०-१२ रोटियों से मनुष्य का पेट भर जाता है, मगर बीड़ी और सिगरेट पीते-पीते सन्तोष नहीं होता। कई लोग अनेक बंडल या पैकेट बीड़ी-सिगरेट के पीकर समाप्त कर देते हैं। मगर इस प्रकार तमाखू के सेवन से शरीर विषैला हो जाता है। वह बिच्छू का भी बाप बन जाता है ।

जिस मनुष्य का शरीर तमाखू के विष से विषैला हो जाता है उसका प्रभाव उसकी सन्तति के शरीर पर भी अवश्य पड़ता है। अतएव तमाखू का सेवन करना अपने ही शरीर को नष्ट करना नहीं है, बल्कि अपनी सन्तान के शरीर में भी विष घोलना है। अतएव सन्तान का मंगल चाहने वालों का कर्त्तव्य है कि वे इस बुराई से बचें और अपने तथा अपनी सन्तान के जीवन के लिये अभिशाप रूप न बनें।

कहते हैं संखिया का सेवन करने वाले पर बिच्छू का असर नहीं पड़ता, यहां तक कि सर्दी-जुकाम उसे नहीं होता। उसके लिये कोई दवा कारगर नहीं होती। उसका बीमार होना ही मानों अन्तिम समय का आगमन है। उसे कोई औषध नहीं बचा सकती।

यहां तक द्रव्य-विष के विषय में कहा गया है, जिससे प्रत्येक विवेकवान् गृहस्थ को बचना चाहिये। किन्तु पूर्ण त्यागी को तो भाव-विष से भी पूरी तरह बचने का निरन्तर प्रयास करना है। उनका जीवनत्याग एवं तपश्चरण से विशुद्ध होता है, अतएव वे द्रव्य-विष का ही सेवन नहीं करते, पर भाव-विष से भी मुक्त रहते हैं ।

काम-क्रोध आदि विकार भाव-विष कहलाते हैं। द्रव्य-विष जैसे शरीर को हानि पहुंचाता है, उसी प्रकार भाव-विष आत्मा को हानि पहुंचाता है। द्रव्य-विष से मृत्यु भी हो जाये तो एक बार होती है किन्तु भाव-विष पुनः-पुनः जन्म-मरण का कारण बनता है। द्रव्य-विष द्रव्य प्राणों का घात करता है जबकि भाव-विष आत्मा के ज्ञानादि भावप्राणों का विघातक होता है। आत्मा अनादि काल से अब तक जन्म-जरा-मरण की महावेदना से मुक्त नहीं हो सका, इसका एकमात्र कारण भाव-विष है। यह भाव-विष घोर दुःख रूप है और सभी अनर्थों का कारण है। अतएव द्रव्य-विष से भाव-विष कम गर्हित और अनर्थकारी नहीं है ।

जो साधक प्रमाद और मोह से ग्रस्त हो जाता है, वह भाव-विष का सेवन करता है। इस भाव-विष के प्रभाव से उसकी चेतना मूर्च्छित, सुप्त और जड़ीभूत हो जाती है।

विष का प्रभाव यदि फैलने लगे और अवरोध न किया जाये तो वह सारे शरीर को सड़ा कर विनष्ट कर देता है। भाव-विष इससे भी अधिक हानिकर होता है। यह अनेकानेक जीवनों को बर्बाद करके छोड़ता है। अतएव जिनको वीतराग देव की सुधामयी वाणी को श्रवण करने का अवसर प्राप्त हुआ है उन्हें विषय-कषाय के विष का संचार नहीं होने देना चाहिये। जब विष का संचार होने लगे तो विवेक रूपी अमृत से उसे शान्त कर देना चाहिये। ऐसा न किया गया तो निस्सन्देह आत्मा का विनाश हुए बिना नहीं रहेगा।

सिंहगुफावासी मुनि के मन में भाव-विष का संचार हुआ, पर वह विष फैलने से पहले ही शान्त कर दिया गया। रूपकोषा रूपी विषभिषक् का सुयोग उन्हें मिल गया। उसकी चिकित्सा से वह नष्ट हो गया।

रूपकोषा अपने पूर्वकालिक जीवन में वेश्यावृत्ति करती थी, फिर भी उसने मार्ग से च्युत होते हुए मुनि को स्थिर किया और संयम के पथ पर आरूढ़ किया। यह नारी जाति की शासन के प्रति सराहनीय सेवा है। शास्त्रों में इस प्रकार के अनेक आख्यान उपलब्ध हैं जिनसे नारी जाति की सेवा का पता लगता है। राजीमती की कथा से आप सब परिचित ही होंगे। उसने मुनि रथनेमि के भाव-विष का निवारण किया था। वास्तव में श्रमण संघ का यह रथ चारों चक्रों के उद्योग और सहयोग से ही चल रहा है। अतएव आज के श्रावकों और श्राविकाओं को भी अपना उत्तरदायित्व अनुभव करना चाहिये। संघ के प्रत्येक अंग को दूसरे अंगों के संयम में सहायक बनना चाहिये।

रूपकोषा ने समझाया—"महात्मन् ! यह संयम रूपी रत्नकम्बल बहुत कीमती है, यह अनमोल है और तीनों लोकों में इसकी बराबरी करने वाली अन्य कोई वस्तु नहीं है। महान्–महान् पुण्य का जब उदय होता है तब यह प्राप्त होता है। ऐसे महामूल्यवान् रत्न को आप भुला रहे हैं ।"

रूपकोषा के संबोधन का परिणाम यह हुआ कि विष का विस्तार नहीं हुआ और वह अमृत के रूप में बदल गया। विकार उत्पन्न होने पर यदि सुसंस्कार जागृत हो जाये तो यह विष की परिणति अमृत में होना है।

रूपकोषा से विदा लेकर मुनि अपने गुरुजी के पास जाने लगे। उनके मन में तीव्र इच्छा जागृत हुई कि अतिक्रम, व्यतिक्रम एवं अतिचार का संशोधन शीघ्र से शीघ्र

कर लिया जाये। ठोकर खाकर मुनि का भान जागृत हो गया था, अतएव गुरु सम्भूति विजय के चरणों में जाकर वे अतिचार की शुद्धि कर लेना चाहते थे। जैसे पैर में कांटा चुभ जाने पर मनुष्य को चैन नहीं पड़ता व वेदना का अनुभव करता है और शीघ्र से शीघ्र उसे निकाल डालना चाहता है, इसी प्रकार व्रत में अतिचार लग जाने पर सच्चा साधक तब तक चैन नहीं लेता जब तक अपने गुरु के समक्ष निवेदन कर प्रायश्चित न कर ले। वह अतिचार रूपी शल्य को प्रायश्चित द्वारा निकाल करके ही शान्ति पाता है। ऐसा करने वाला साधक ही निर्मल चरित्र का परिपालन कर सकता है ।

गुणवान् और संस्कार सम्पन्न व्यक्ति ही निष्कपट भाव से अपनी आलोचना कर सकता है। जिसके मन में संयमी होने का प्रदर्शन करने की भावना नहीं है वरन् जो आत्मा के उत्थान के लिये संयम का पालन करता है, वह संयम में आयी हुई मलीनता को क्षण भर भी सहन नहीं करेगा।

मुनि ने गुरु के चरणों में पहुंच कर निवेदन किया–"भगवन् ! आपकी इच्छा की अवहेलना करके मैंने अपना ही अनिष्ट किया। अनेक यातनाएं सहीं और अपनी आत्मा को मलिन किया है ।" इस प्रकार कह कर मुनि ने पूर्वोक्त घटना उन्हें सुनाई। उसमें से कुछ भी छिपाने का प्रयत्न नहीं किया। चिकित्सक के पास जाकर कोई रोगी यदि उससे बात छिपाता है, अपने दोष को साफ-साफ प्रकट नहीं करता तो अपना ही अनिष्ट करता है, इसी प्रकार जो साधक गुरु के निकट अपने दोष को ज्यों का त्यों नहीं प्रकाशित करता तो वह भी अपनी आत्मा का अनिष्ट करता है। उसकी आत्मा निर्मल नहीं हो पाती। उसे सच्चा साधक नहीं कहा जा सकता ।

सब वृत्तान्त सुनकर गुरुजी ने कहा–"वत्स ! तू शुद्ध है क्योंकि तूने अपना हृदय खोलकर सब बात स्पष्ट रूप से प्रकट कर दी है ।"

गुरु के इस कथन से शिष्य को आश्वासन मिला। उसने पुनः कहा–"आपने मुनिवर स्थूल भद्र को धन्य, धन्य, धन्य कहा था। मैंने इस कथन पर भ्रमवश शंका की थी। आपके कथन के मर्म को समझ नहीं सका था। अपने इस अनुचित कृत्य के लिये मैं क्षमाप्रार्थी हूं ।"

मुनि के अंतर से ध्वनि निकली–"वह महापुरुष वास्तव में धन्य है जो काम-राग को जीत लेता है ।"

राग को जीत कर जीवन को सफल बनाने से ही मनुष्य का यह लोक और परलोक कल्याणमय बनता है ।

---

[६६]

कुत्सित कर्म

अन्तर्दृष्टि से देखने पर साधक को अपना सत्य स्वरूप समझ में आता है। यों तो संसार के सभी नेत्रों वाले प्राणी देखते हैं, और मन वाले प्राणी सोच-विचार करते हैं, मगर यह सब देखना और सोचना तभी सार्थक होता है जब अपने सच्चे स्वरूप को समझ लिया जाय । अपने स्वरूप को समझ लेना सरल नहीं है । बड़े-बड़े वैज्ञानिक भौतिक पदार्थों के विषय में गहरी जानकारी प्राप्त कर लेते हैं किन्तु अपने आपको नहीं जान पाते और जब तक स्व-स्वरूप को नहीं जान पाया तब तक पर-पदार्थों का गहरे से गहरा ज्ञान भी निरर्थक है । इसी कारण भारत के ऋषि-मुनियों ने आत्मा को पहचानने की प्रबल प्रेरणा दी है । भगवान् महावीर ने तो यहां तक कह दिया है–

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ ।

जो एक आत्मा को जान लेता है, वह सभी को जान लेता है । आत्म ज्ञान हो जाने पर आत्मा परिपूर्ण चैतन्यमय प्रकाश से उद्भासित हो उठता है । उसके समक्ष अखिल विश्व हस्तामलकवत् हो जाता है । जगत् का कोई भी रहस्य उससे छिपा नहीं रहता । यह आत्मज्ञान का अपूर्व प्रभाव है ।

वैदिक ऋषियों की भी यही पुकार रही है । 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्योऽयमात्मा' यह उनके वचनों की बानगी है । वे कहते हैं–"अरे मानव ! यह आत्मा ही श्रवण करने योग्य है, मनन करने योग्य है और निदिध्यासन करने योग्य है ।"

इस प्रकार भारतीय तत्वज्ञान में आत्मज्ञान की आवश्यकता और महिमा का जो प्रतिपादन किया गया है, उसका एकमात्र हेतु यही है कि आत्मज्ञान से ही आत्मकल्याण सिद्ध किया जा सकता है । आत्मज्ञानहीन 'पर' विज्ञान से आत्मा का

प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । वह आत्मोन्नति और आत्मविकास में साधक नहीं होकर बाधक ही होता हे ।

आत्मज्ञान संसार में सर्वोपरि उपादेय है । आत्मज्ञान से ही आत्मा का अनन्त एवं अव्याबाध सुख प्रकट होता है । यह आत्मज्ञान साधना के बिना प्राप्त नहीं हो सकता । साधक स्व और पर को जान कर पर का त्याग कर देता है और स्व को ग्रहण करता है । स्व का परिज्ञान हो जाने पर वह समझने लगता है कि धन, तन, तनय, दारा, घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवार आदि को वह भ्रमवश स्व समझता था, वे तो 'पर' हैं । ज्ञान विवेक आदि आत्मिक गुण ही 'स्व' हैं ।

यस्यास्ति नैक्यं वपुषाऽपि सार्द्धम्, तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः ।
पृथक्कृते चर्मणि रोम कूपा–कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ।।

आत्मा की जब शरीर के साथ भी एकता नहीं है तो पुत्र, कलत्र और मित्रों के साथ एकता कैसे हो सकती है ? यदि शरीर की चमड़ी को पृथक् कर दिया जाय तो रोमकूप उसमें किस प्रकार रह सकते हैं ?

तात्पर्य यह है कि पुत्र कलत्र आदि का नाता इस शरीर के साथ है और जब शरीर ही आत्मा से भिन्न है तो पुत्र कलत्र आदि का आत्मा से नाता नहीं हो सकता । इस प्रकार का भेद ज्ञान जब उत्पन्न हो जाता है तब आत्मा में एक अपूर्व ज्योति जागृत होती है । उस समय ऐसा प्रतीत होता है मानों सिर पर लदा हुआ मनों (टनों) वजन का भार उतर गया है । आत्मा को अद्भुत शान्ति प्राप्त होती है । उसमें निराकुलता प्रकट हो जाती है ।

व्यवहारनय के कथन से जिन-जिन आचारों और व्यवहारों के द्वारा सुप्रवृत्ति–शुभप्रवृत्ति जागृत होती है, वे सब 'स्व' हैं । स्व का भान होने पर निज की ओर की प्रवृत्ति विस्तृत होती जाती है और पर की ओर का विस्तार संकुचित होता जाता है । ऐसे साधक को स्वरमण में अभूतपूर्व आनन्द की उपलब्धि होती है। उस आनन्द की तुलना में पर वस्तुओं से प्राप्त होने वाला सुख नीरस और तुच्छ प्रतीत होने लगता है ।

श्रावक आनन्द को भगवान् महावीर के समागम से आत्मा की अनुभूति उत्पन्न हुई । उसने श्रावक के व्रतों को अंगीकार किया बाह्य वस्तुओं की मर्यादा की। वह अन्तर्मुखी होने लगा । भगवान् ने उसे भोगोपभोग की विधि समझाते हुए कर्मादान की हेयता का उपदेश दिया । गृहस्थ का धनोपार्जन के बिना काम नहीं चलता, तथापि यह तो हो ही सकता है कि किन उपायों से वह धनोपार्जन करे और

किन उपायों से धनोपार्जन न करे, इस बात का विवेक रखकर श्रावकोचित उपायों का अवलम्बन करे और जो उपाय अनैतिक हैं, जो महारंभ रूप हैं, जिनमें महान् हिंसा होती है और जो लोकनिन्दित हैं, ऐसे उपायों से धनोपार्जन न करे । भगवान् महावीर ने आनन्द को बतलाया कि जिन उपायों से विशेष कर्म बन्ध और हिंसा हो वे त्याज्य हैं । साथ ही वे पदार्थ भी हेय हैं जो कर्म बन्ध और हिंसा के हेतु हैं । शराब, संखिया, तमाखू आदि पदार्थ त्याज्य पदार्थों में सर्वप्रथम गणना करने योग्य हैं । पेट्रोल और मिट्टी का तेल भी विष तुल्य ही है । ऐसे घातक पदार्थों का व्यापार करना निषिद्ध है ।

अभी कुछ दिन पूर्व समाचार मिला था कि किसी जगह जमीन में पेट्रोल गिर गया । उस पर बीड़ी का जलता हुआ टुकड़ा पड़ जाने से कइयों को हानि पहुँची । पेट्रोल या मिट्टी का तेल छिड़क कर आत्म-हत्या करने के समाचार तो अखबारों में छपते ही रहते हैं । इस प्रकार आज संखिया और शराब के कई भाई-बन्धु पैदा हो गये हैं । जिसने अपनी अभिलाषा को सीमित कर लिया है और जो संयमपूर्वक जीवन निभाना चाहता है, अल्प पाप से कुटुम्ब का पालन-पोषण करना चाहता है, वह ऐसे निषिद्ध कर्मों और पदार्थों को नहीं अपनाएगा । वह तो धर्म और नीति के साथ ही अपनी आजीविका उपार्जन कर लेगा । किन्तु जिसकी इच्छाएं सीमित नहीं हैं, स्वच्छन्द और निरंकुश हैं, जो नयी-नयी कोठियाँ और बंगले बनवाने के स्वप्न देखता रहता है, उसका इन निषिद्ध कर्मों से बचना कठिन है ।

वास्तव में श्रावक व्रत ग्रहण करने से जीवन का कोई कार्य नहीं रुकता फिर भी लोग व्रतों से डरते हैं । जब व्रतों की जानकारी रखने वाला भी व्रत ग्रहण से भयभीत होता है तो जो व्रतों के स्वरूप को समीचीन रूप से नहीं जानता वह भयभीत हो तो क्या आश्चर्य है !

लाखों व्यक्ति वीतरागों का उपदेश सुनते हैं मगर उनमें से सैकड़ों भी व्रतधारी नहीं बन पाये, इसका एक प्रधान कारण भय की भ्रमपूर्ण कल्पना ही है ।

आनन्द श्रावक ने व्रत धारण किये और पन्द्रह कर्मादानों का त्याग किया, फिर भी उसका संसार-व्यवहार बन्द नहीं हुआ । इस तथ्य को समझकर गृहस्थों को श्रावक के व्रतों से डरना नहीं चाहिये । इन कर्मादानों में से विष वाणिज्य का निरूपण किया जा चुका है । अब केश वाणिज्य के विषय में प्रकाश डाला जाता है ।

(१०) केस वाणिज्जे (केशवाणिज्य)–'केशवाणिज्य' शब्द से केशों का व्यापार करना जान पड़ता है परन्तु इसका वास्तविक अर्थ है–केश वाले प्राणियों का

व्यापार । किसी युग में दासों और दासियों के विक्रय की प्रथा प्रचलित थी । उस समय मनुष्यों को बेचा और खरीदा जाता था । मध्ययुग में कन्या विक्रय का रिवाज चालू हो गया । धनलोलुप लोग कन्या के बदले में कुछ रकम लिया करते थे, जिसे रीति के पैसे कहते थे । आज वर-विक्रय होने लगा है ।

जिसे बालिका के बदले रकम लेने का ख्याल हो वह भला बालिका का क्या हित सोच सकता है ? और जो अपनी अंगजात बालिका का ही हित-अहित नहीं सोचता वह अन्य प्राणियों का हिताहित सोचेगा, यह आशा रखना दुराशा मात्र ही है ।

लालच के वशीभूत होकर केश वाले भेड़ आदि पशुओं को बेचना भी केशवाणिज्य के अन्तर्गत है । जिसका एकमात्र लक्ष्य मुनाफा कमाना होगा वह इस बात का शायद ही विचार करेगा कि किसके हाथ बेचने से पशु को कष्ट होगा और किसको बेचने से वह आराम पाएगा । जो जानवरों को बेचने का धन्धा करता है और पशुओं के बाजार में ले जा कर उन्हें बेचता है वह उपयुक्त-अनुपयुक्त ग्राहक का विचार न करके अधिक से अधिक पैसा देने वालों को ही बेच देता है । अदल-बदल करने वाला कुछ हानि उठा कर बेच सकता है मगर लाभ उठाने की प्रवृत्ति वाला क्यों हानि सहन करेगा ? वह तो कसाइयों तक को भी बेच देगा ।

आशय यह है कि प्राणियों का विक्रय करना अनेक प्रकार के अनर्थों का कारण है । अतएव ऐसे अनर्थकारी व्यवसाय को व्रत धारण करने वाला श्रावक नहीं करता।

श्रावक ऐसा कोई कर्म नहीं करेगा जिससे उसके व्रतों में मलिनता उत्पन्न हो। वह व्रतबाधक व्यवसाय से दूर ही रहेगा और अपने कार्य से दूसरों के सामने सुन्दर आदर्श उपस्थित करेगा ।

व्रत ग्रहण करने वाले को अड़ौसी-पड़ौसी चार-चक्षु से देखने लगते हैं, अतएव श्रावक ऐसा धन्धा न करे जिससे लोकनिन्दा होती हो, शासन का अपवाद या अपयश होता हो और उसके व्रतों में बाधा उपस्थित होती हो ।

धर्म के सिद्धान्तों का वर्णन शास्त्रों में किया जाता है किन्तु उसका मूर्त्त एवं व्यावहारिक रूप उसके अनुयायियों के आचरण से ही प्रकट होता है । साधारण जनता सिद्धान्तों के निरूपण से अनभिज्ञ होती है, अतः वह उस धर्म के अनुयायियों से ही उस धर्म के विषय में अपना खयाल बनाती है । जिस धर्म के अनुयायी सदाचारपरायण, परोपकारी, और प्रामाणिक जीवनयापन करते हैं, उस धर्म को लोग

अच्छा मानते हैं और जिस धर्म को मानने वाले नीति एवं सदाचार से गिरे होते हैं उस धर्म के विषय में लोगों की धारणा अच्छी नहीं बनती ।

साधु-सन्त कितना ही सुन्दर उपदेश दें, धर्म की महिमा का बखान करें और वीतराग प्रणीत धर्म की उत्कृष्टता का प्रतिपादन करें, मगर जब तक गृहस्थों का एवं उसके अनुयायियों का व्यवहार अच्छा न होगा तब तक सर्वसाधारण को वीतराग धर्म की उत्कृष्टता का ख्याल नहीं आ सकता । अतएव अपने आचरण को श्रेष्ठ बनाना भी धर्म प्रभावना का एक अंग है । प्रत्येक गृहस्थ को यह अनुभव करना चाहिये कि वह जिनधर्म का प्रतिनिधि है और उसके व्यवहार से धर्म को नापा जाता है, अतएव ऐसा कोई कार्य उसके द्वारा न हो जिससे लोगों को उसकी और उसके द्वारा धर्म की आलोचना करने का अवसर प्राप्त हो ।

केश वाणिज्य में समस्त द्विपदों और चतुष्पदों का समावेश होता है । अतएव किसी भी जाति के पशु या पक्षी को बेच कर लाभ उठाना श्रावक के लिए निषिद्ध है ।

पूर्वोक्त पांच व्यवसायों के लिए 'वाणिज्य' शब्द का प्रयोग किया गया है, क्योंकि यहां उत्पादन नहीं किया जा रहा है, उत्पन्न वस्तु को खरीद कर बेचना ही वाणिज्य कहलाता है । यहां इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि पशुओं की अनावश्यक संख्या बढ़ जाने से, उनको सम्भाल सकने की स्थिति न होने से या ऐसे ही किसी दूसरे कारण से अपने पशु को बेच देना केश वाणिज्य नहीं कहलाएगा । केश वाणिज्य तभी होगा जब मुनाफा लेकर बेच देने की दृष्टि से ही कोई पशु-पक्षी खरीदा जाय और फिर मुनाफा लेकर बेचा जाय । श्रावक इस प्रकार का व्यापार नहीं करेगा ।

ऊन या बाल अधिक समय तक पड़े रहें तो उनमें कीड़े पड़ जाते हैं, अतएव उनका व्यापार भी निषिद्ध कहा जाता है ।

द्विपद और चतुष्पद का व्यापार करने वाला उनकी रक्षा का विचार नहीं करेगा । उनकी सुख-सुविधा के प्रति लापरवाह रहेगा और उन्हें कष्ट में डाल देगा । जो इस विचार को लोग ध्यान में रखेंगे वे बेकार पशुओं को बेचकर कत्ल की धार उतारने के पाप से बच जाएंगे ।

अजमेर की घटना है । किसी व्यक्ति का घोड़ा लंगड़ा हो गया । वह सवारी के काम का न रहा । घोड़े के स्वामी ने उसे गोली मार देने का इरादा किया, किन्तु रीयां वाले सेठ मगनलालजी को जब यह विदित हुआ तो उन्होंने पालन

करने के लिए उसे ले लिया और दयापूर्वक उसका पालन किया । वे अत्यन्त दयालु थे । श्रावक के हृदय में ऐसी दयालुता होनी चाहिये । जिसके अन्तःकरण में दया होती है वह अन्य व्रतों को भी निभा सकता है ।

(११) जंतपीलण कम्मे (यन्त्रपीड़न कर्म)–यन्त्र के द्वारा किसी सजीव वस्तु को पीलना यन्त्रपीड़न कर्म नामक कर्मादान है । घानी, चरखी, कोल्हू, चक्की आदि यन्त्र प्राचीन काल से इस देश में प्रचलित हैं । गन्नों को और तिल्ली, अलसी आदि के दानों को कोल्हू आदि में पीला जाता था, इस समय भी पीला जाता है । मगर इस युग में एक से एक बढ़कर दैत्याकार यन्त्रों का निर्माण हो चुका है, जिनमें मनों और टनों तिल आदि बात की बात में पीले जा सकते हैं । बोरे के बोरे तिल आदि यन्त्रों में उण्डेल दिये जाते हैं और उनका कचूमर निकाल दिया जाता है ।

आटे की चक्की चलाना शायद यन्त्रपीड़न कर्म न समझा जाता हो, मगर गम्भीरता से सोचने की बात है कि उससे कितनी हानि हो रही है, कितना पाप हो रहा है । जिन ग्रामों में अभी तक चक्की नहीं पहुँच पाई, वहां चक्की लगाने को लोग उत्सुक रहते हैं । चक्की लगने से तन को आराम, समय की बचत और पैसे की बचत समझी जाती है । किन्तु यह सब प्रतीत होने वाले लाभ ऊपरी दृष्टि से लाभ प्रतीत होते हैं । महात्मा गांधीजी बड़ी-बड़ी मशीनों के उपयोग के विरोधी थे । उनकी दृष्टि गहरी थी । वे दीर्घ दृष्टि से सोच-विचार करते थे । हमें भी गहराई से सोचना चाहिये । धार्मिक दृष्टि से इन यन्त्रों का प्रयोग करने से, घोर अयतना और इस कारण हिंसा होती है । इसके अतिरिक्त अन्य व्यावहारिक दृष्टियों से भी यन्त्रों का प्रयोग हानिकारक है । ये भीमकाय यन्त्र हजारों मनुष्यों द्वारा हाथों से किये जाने वाले कार्य को चटपट निपटा देते हैं । परिणाम यह होता है कि मनुष्यों में बेकारी फैलती है । उनकी आजीविका नष्ट हो जाती है । इस प्रकार मनुष्य बेकार होकर दुःखी जीवनयापन कर रहे हैं । इन यन्त्रों की बदौलत ही हजारों, लाखों मनुष्यों की आय गिने-चुने धनवानों की तिजोरियों में एकत्र होती है, जिससे आर्थिक विषमता बढ़ रही है और उस विषमता के कारण वर्ग-संघर्ष हो रहा है । इसी विषमता की खाई को पाटने के लिए साम्यवाद और समाजवाद जैसे आन्दोलन चल रहे हैं । यह सबसे बड़ा विषम चक्र है । एक ओर यन्त्रों का अधिक से अधिक प्रयोग करने की नीति को अपनाना और दूसरी ओर आर्थिक समता को स्थापित करने के मार्ग पर चलना परस्पर विरोधी नीतियां हैं । पर इसका विचार किसको है ? कम से कम इतना तो किया ही ज़ा सकता है कि देशवासियों की समस्त प्रकार की खाने योग्य वस्तुएं, जैसे–आटा, दाल, शक्कर तेल आदि, पीने योग्य वस्तुएं, जैसे–शरबत आदि एवं सूती, ऊनी, रेशमी वस्त्रादि में मिलों का उपयोग बन्द कर दिया जाय । वे सभी ग्रामोद्योग

एवं गांव के लोगों द्वारा हाथ से बनाने हेतु सुरक्षित एवं संरक्षित घोषित कर दिये जाय। इससे देशवासियों का स्वास्थ्य भी बिगड़ने से बचेगा और गांव टूट कर शहरों की ओर नहीं भागेंगे । इससे शहर भी प्रदूषण से मुक्त रहेंगे । इससे ऐसे अनेक लाभ हैं । हमारे पूर्वजों ने एक परम वैज्ञानिक ग्राम्यजीवन-पद्धति की जो नींव डाली थी उससे समस्त देशवासी सुखी एवं सम्पन्न थे । तनाव-मुक्त थे । विदेशी विचारों से प्रभावित होकर जब से हमने इस ग्राम्य-जीवन-पद्धति को तोड़ना प्रारम्भ किया तब से देशवासियों के दुखों की सीमा नहीं रही । यह एक सुविचारित हजारों वर्षों की अनुभूत वैज्ञानिक ग्राम्य जीवन-पद्धति को तोड़ने का कुफल है ।

जिन देशों में जनसंख्या कम है और कार्य करने के लिए मजदूर दुर्लभ हैं, वहां यन्त्रों का प्रयोग किया जाना समझ में आने योग्य है, किन्तु भारत जैसे जनसंख्या बहुल देश में छोटे-छोटे कामों के लिए, जैसे आटा पीसने, दालें बनाने, धान कूटने, गुड़, शक्कर बनाने, तेल, घी आदि के लिए भी यन्त्रों का उपयोग करना अत्यन्त अनुचित है । यह गरीबों के काम को समाप्त करने के समान है । उनकी रोजी-रोटी छीनकर उन्हें बेकार बनाना है ।

पहले महिलाएं हाथ से आटा पीसती थीं, स्वयं पानी लाती थीं और धान आदि कूटती थीं तो शरीरिक श्रम हो जाता था और उनका स्वास्थ्य अच्छा रहता था। आज ये सब काम मशीनों को सौंप दिये गये हैं । इनके बदले उनके पास अन्य कोई कार्य नहीं रह गया है । अतएव घरों में अधिकांश महिलाएं प्रमाद में जीवन व्यतीत करती हैं । जब सामने कोई काम नहीं होता तो अड़ौसी-पड़ौसी लोगों की निन्दा और विकथा में उनका समय व्यतीत होता है । इस प्रकार स्वास्थ्य, धर्म और धन सभी की हानि हो रही है ।

आम तौर पर देखा जाता है कि यन्त्रों से जो खाद्य पदार्थ तैयार होते हैं, उनका सत्त्व नष्ट हो जाता है । पदार्थों के पोषक तत्त्व को यन्त्र चूस लेते हैं । परिणामस्वरूप जनता का शारीरिक सामर्थ्य घटता जाता है, रोगों के आक्रमण का प्रतिरोध करने की शक्ति क्षीण होती जाती है । परिणाम यह होता है कि मदिरा, अंडे के रस तथा मछलियों के सत्त्व आदि से निर्मित दवाइयों का प्रचलन बढ़ता जाता है। लोग प्रत्यक्ष हिंसा को तो देख भी लेते हैं मगर परोक्ष हिंसा की इस लम्बी परम्परा को जो इन यन्त्रों के प्रयोग से होती है, बहुत ही कम सोच पाते हैं ।

धार्मिक दृष्टि से स्वयं यन्त्र चलाने वाला कृतपाप का भागी होता है । साझीदार समर्थन से पाप कराने के अधिकारी होते हैं और यन्त्र से तैयार होने वाले पदार्थों का उपयोग करने वाले अनुमोदना का पाप उपार्जन करते हैं । इन्हीं सब

प्रत्यक्ष और परोक्ष पापों को दृष्टि में रख कर भगवान् महावीर ने यन्त्रपीड़न कर्म को निषिद्ध कर्म माना है ।

सर्वविरति को अंगीकार करने वाले भोगोपभोग की वस्तुओं के उत्पादन से सर्वथा विरत होते हैं । और देशविरति का पालन करने वाले श्रावक मर्यादा के साथ महारंभ से बचते हुए उत्पादन करते हैं । अपने व्रतों में कदाचित् किसी प्रकार की स्खलना हो जाय तो उसकी आलोचना और प्रायश्चित करके उसके प्रभाव को निर्मूल करते हैं ।

सिंहगुफावासी मुनि के संयम में जो स्खलना हो गई थी, उसकी शुद्धि के लिए वे अपने गुरु के श्रीचरणों में उपस्थित हुए । उन्होंने अपने प्रमाद को अनुभव किया और प्रमाद जनित दोष की शुद्धि की । वीर पुरुष फिसल कर भी अपने को गिरने नहीं देता । निर्बल गिर कर चारों खाने चित्त हो जाता है ।

उधर मुनि शुद्धि करके आराधक बने, उन्होंने अपने आचार को निर्मल बनाया और इधर आचार्य संभूतिविजय को भी भाव-सेवा का लाभ मिला और उससे कर्म की निर्जरा हुई । दूसरे की साधना में सहायक बनने वाला भी महान सेवाव्रती होता है ।

संसार में प्राणियों की तीन श्रेणियां पाई जाती हैं–

(१) सारंभी, सपरिग्रही

(२) अनारंभी, अपरिग्रही

(३) अल्पारंभी, अल्पपरिग्रही ।

इनमें से श्रमण का जीवन दूसरी श्रेणी में आता है । श्रमण सब प्रकार के आरंभ और परिग्रह से रहित होता है ।

पाटलीपुत्र में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा तो साधुओं को भिक्षालाभ मिलने में अत्यन्त कष्ट होने लगा । गृहस्थों को अपना पेट भरना कठिन हो गया । ऐसी स्थिति में साधुओं को आहारदान देने की सूझे किसको ? भिक्षु-अतिथि आकर हैरान न करे इस विचार से गृहस्थ अपने घर के द्वार बन्द कर लेते थे । शास्त्रोक्त नियमों का पूरी तरह पालन करते हुए भिक्षा प्राप्त कर लेना बहुत कठिन था । 'अन्नाधीनं सकलं कर्मं' अर्थात् सभी काम अन्न पर निर्भर हैं, यह उक्ति प्रसिद्ध है । उदर की ज्वाला जब तक शान्त न हो जाय तब तक धर्मकार्य भी यथावत् नहीं होते । स्वाध्याय, आत्मचिन्तन, मनन-प्रवचन, धर्म जागरण, आराधन, ज्ञानाभ्यास आदि सत् कार्य अन्न के अधीन हैं ।

प्राचीन काल में शास्त्र लिपिबद्ध नहीं किये गये थे । भगवान् के अर्थ रूप प्रवचनों को गणधरों ने शास्त्रीय रूप दे करके व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया और

अपने शिष्यों को मौखिक रूप में उन्हें सिखाया । जिन्होंने सीखा उन्होंने अपने शिष्यों को भी मौखिक ही सिखाया । इस प्रकार शिष्य-प्रशिष्य की परम्परा चलती रही। इसी कारण भगवान् का वह उपदेश 'श्रुत' इस नाम से विख्यात हुआ । 'श्रुत' का अर्थ होता है—सुना हुआ ।

दुर्भिक्ष के समय में श्रुत को सीखने-सिखाने की व्यवस्था नहीं रही और अनेक श्रुतधर कालकवलित हो गए । इस कारण श्रुत का बहुत-सा भाग स्मृतिपथ से च्युत हो गया । जब दुर्भिक्ष का अन्त आया और सुभिक्ष हो गया तो संघ को एकत्र किया गया । संतों की मण्डली पटना में जमा हुई । आचार्य संभूतिविजय के नेतृत्व में ग्यारह अंगों तक को व्यवस्थित किया गया । बारहवें अंग दृष्टिवाद का कोई ज्ञाता उनमें नहीं रहा । विदित हुआ कि उसके ज्ञाता श्री भद्रबाहु हैं जो उस समय वहां उपस्थित नहीं थे । तब उन्हें बुलाने का उपक्रम किया गया जिससे द्वादशांगी पूर्णरूप में व्यवस्थित हो जाए ।

इससे आगे का वृत्तान्त यथासमय आप सुन सकेंगे । जो साधक चारित्र की आराधना करता हुआ श्रुत की आराधना करता है, उसका इहलोक और परलोक में परम कल्याण होता है ।

---

[६७]

कर्मादान-अमंगल कर्म

श्रमण भगवान् महावीर ने नानाविध सन्तापों से संतप्त संसारी जीवों के कल्याण के लिए, मोक्ष मार्ग का उपदेश दिया । वह मोक्ष मार्ग अनेक प्रकार से प्रतिपादित किया गया है । ज्ञान और क्रिया रूप से द्विविध मोक्ष मार्ग है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ऐसे तीन और सम्यग्दर्शन आदि तीन के साथ तप यों चार प्रकार से मोक्षमार्ग हैं । इस प्रकार शब्द और विवक्षा में भेद होने पर भी मूल तत्त्व में कोई भेद नहीं है, विसंगति नहीं है ।

ज्ञान और दर्शन में अभेद की विवक्षा करके 'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः' कहा जाता है । भेद विवक्षा करके 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्ग :' ऐसा कहा जाता है । यहां तप को चारित्र के अन्तर्गत कर लिया गया है । तप निर्जरा का प्रधान कारण है, अतएव उसका महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए जब पृथक् निर्देश किया जाता है तो शास्त्रकार कहते हैं–

नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा ।
एस मग्गोत्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ।।

अर्थात् सर्वज्ञ सर्वदर्शी जिनेन्द्र भगवान् ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मोक्ष का मार्ग कहा है ।

मोक्षमार्ग का निरूपण चाहे भेद विवक्षा से किया जाय, चाहे अभेद विवक्षा से, एक बात सुनिश्चित है और वह यह है कि सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त होना चाहिये। जिसने सम्यग्दर्शन पा लिया, समझना चाहिये कि उसने अपने जीवन में आध्यात्मिकता की नींव मजबूत करली । उसमें आत्मा पर से कर्मों का पर्दा हटा देने की शक्ति आ गई । उसकी भूमिका सुदृढ़ हो गई है ।

सम्यग्दर्शन का प्रभाव बड़ा ही विलक्षण है । जब तक सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता तब तक विपुल से विपुल ज्ञान और कठिन से कठिन क्रिया भी मोक्ष का कारण नहीं बनते । वह ज्ञान मिथ्या ज्ञान और चारित्र मिथ्या चारित्र होता है और वह संसार का ही कारण भूत है । मोक्ष की प्राप्ति में वह सहायक नहीं होता । जब आत्मा में सम्यग्दर्शन का अलौकिक सूर्य उदित होता है तब ज्ञान और चारित्र सम्यक् बन जाते हैं और वे आत्मा को मोक्ष की ओर प्रेरित करते हैं । सम्यग्दर्शन कदाचित् थोड़ी-सी देर के लिए अन्तर्मुहूर्त मात्र काल के लिए ही प्राप्त हो और फिर नष्ट हो जाय तो भी आत्मा पर ऐसी छाप अंकित हो जाती है कि उसे अर्द्धपुद्गलपरावर्त्तन काल में मोक्ष प्राप्त हो ही जाता है । सम्यग्दर्शन वह आलोक है जो आत्मा में व्याप्त मिथ्यात्व अन्धकार को नष्ट कर देता है और आत्मा को मुक्ति की सही दिशा और सही राह दिखलाता है ।

आनन्द ने सुदृष्टि प्राप्त करके सम्यक्त्व सामायिक, श्रुतसामायिक और देश विरति सामायिक प्राप्त की । उसकी बहिर्दृष्टि नष्ट हो गई वह अन्तर्मुखी हो गया । भगवान् उसे व्रती जीवन में आने वाली बाधाएं बतला रहे हैं जिनसे बचकर वह निर्मल रूप से व्रतों का पालन कर सके ।

सातवें व्रत का स्पष्टीकरण करते हुए वाणिज्य सम्बन्धी महाहिंसा से बचने का उपदेश दिया, बतलाया कि कोल्हू, चर्खी, चक्की, आदि यंत्रों को चलाने की आजीविका करना श्रावक के लिए उचित नहीं है क्योंकि यह महारम्भी कार्य है । यन्त्रों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के उपयोग से भी श्रावक यथासंभव अपने आपको बचावे तो यंत्रों को प्रोत्साहन न मिले और यन्त्र के प्रयोग से होने वाली अनेक हानियों से बचाव हो सके किन्तु आज की विषम स्थिति में इन यन्त्रों के कारण गृहस्थ अल्पारंभी से महारंभी बन जाता है । श्रावक को कम से कम महारंभ और महाहिंसा से तो बचना ही चाहिये । यदि वह महारंभ और तज्जनित महाहिंसा के कार्य करता रहा और लालच में पड़ा रहा तो वीतराग भगवान् का अनुयायी कहला कर भी उसने क्या लाभ प्राप्त किया ?

(१२) निल्लंछण कम्मे (निर्लछित कर्म)–जो पशुओं का पालन करता है उसको नर पशुओं के खस्सी करने एवं नाथने का काम भी पड़ जाता है । इस विषय में यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि श्रावक को ऐसा करने की आजीविका नहीं करनी चाहिये । ऐसे हल्के और हिंसाकारी कार्यों से वृत्ति चलाना श्रावक के लिए उचित एवं शोभास्पद नहीं है । जिन्होंने सुदृष्टि प्राप्त नहीं की है और जो विरति से दूर हैं, वे भले ही अज्ञानवश चाहें जैसे धन्धे करें परन्तु श्रावक ऐसा नहीं करे ।

पशुओं को पुरुषत्वहीन करने या नाथने के काम में कठोरता से दमन करना पड़ता है। क्योंकि यदि पशु पुरुषत्वहीन न किया जाय तो वह निरंकुश रहता है और मतवाला-सा होकर जल्दी से काबू में नहीं आता । फिर भी श्रावक ऐसा धंधा करे और इसे अपनी आजीविका का साधन बनावे, यह किसी प्रकार भी योग्य नहीं है ।

देश के दुर्भाग्य से आज ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि मनुष्यों को भी निलछित किया जा रहा है, सन्ततिप्रजनन के अयोग्य बनाया जा रहा है । पुरुष की नस का ऑपरेशन किया जाता है और स्त्री के गर्भाशय की थैली निकाल ली जाती है । इसी प्रकार के अन्यान्य उपाय भी किये जा रहे हैं । सन्ततिनिग्रह और परिवार नियोजन के नाम से सरकार इस सम्बन्ध में प्रबल आन्दोलन कर रही है और कैम्पों आदि का आयोजन कर रही है । यह सब बढ़ती हुई जनसंख्या को रोकने के लिए किया जा रहा है । गांधीजी के सामने जब यह समस्या उपस्थित हुई तो उन्होंने कृत्रिम उपायों को अपनाने का विरोध किया था और संयम के पालन पर जोर दिया था । उनकी दूरगामी दृष्टि ने समझ लिया था कि कृत्रिम उपायों से भले ही तात्कालिक लाभ कुछ हो जाय परन्तु भविष्य में इसके परिणाम अत्यन्त विनाशकारी होंगे । इससे दुराचार एवं असंयम को बढ़ावा मिलेगा । सदाचार की भावना एवं संयम रखने की वृत्ति समाप्त हो जाएगी ।

कितने दुःख की बात है कि जिस देश में भ्रूणहत्या या गर्भपात को घोर-तम पाप माना जाता था, उसी देश में आज गर्भपात को वैध रूप देने के प्रयत्न हो रहे हैं । इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि अहिंसा की हिमायत करता हुआ भी यह देश किस प्रकार घोर हिंसा की ओर बढ़ता जा रहा है ? देश की संस्कृति और सभ्यता का निर्दयता के साथ हनन करना जघन्य अपराध है ।

यदि कृत्रिम उपायों से गर्भ निरोध न किया जाय तो गर्भ के पश्चात् विवशता या अनिच्छा से ही सही, संयम का पालन करना पड़ता, परन्तु गर्भाधान न होने की हालत में इस संयम पालन की आवश्यकता ही कौन समझेगा ? धार्मिक दृष्टि से ऐसा करने में निज गुणों की हिंसा है । शारीरिक दृष्टि से होने वाली अनेक हानियां प्रत्यक्ष हैं । अतएव किसी भी विवेकवान व्यक्ति को ऐसा करना उचित नहीं। निलंछन कर्म १२ वां कर्मादान है ।

(१३) दवग्गिदावणिया-जंगल में चरागाह में अथवा खेत में आग लगा देना दवाग्निदापन नामक कर्मादान है । जिसके यहां पशुओं की संख्या अधिक होती है उसे लम्बा-चौड़ा चरागाह भी रखना पड़ता है । घास बढ़ने पर एवं उसे काट न सकने पर जला डालने की आवश्यकता पड़ती है । घास आदि के लिए जंगलों में

आग लगाई जाती है । सद्गृहस्थ को ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए । फसल बढ़ाने के लिए, अन्य किसी भी प्रयोजन से या जंगलों और मैदानों की सफाई के लिए व्यापक आग लगाना घोर हिंसा का कारण है, इससे असंख्य त्रस-स्थावर जीवों की घात होती है । घर में कचरा साफ करते समय आप देख सकते हैं कि किसी जीव की घात न हो जाय किन्तु जब जंगल में आग लगाई जाय तब कैसे देखा जा सकता है ? जीवों की यतना किस प्रकार हो सकती है ? उस सर्वग्रासी आग में सूखे के साथ गीले वृक्ष, पौधे आदि भी भस्म हो जाते हैं । कितने ही कीड़े-मकोड़े और पशु-पक्षी आग की भेंट हो जाते हैं । अतएव यह अतीव क्रूरता का कार्य है। मनुष्य थोड़े-से लाभ या सुविधा के लिए ऐसी हिंसा करके घोर पापकर्म का उपार्जन करता है । अगर श्रावक को घरू खेत की सफाई का काम करना पड़े तो भी वह अधिक से अधिक यतना से काम लेगा किन्तु आग लगाने का धन्धा तो किसी भी स्थिति में नहीं करेगा ।

बाहर की सारी वृत्तियां और समस्त व्यापार अहिंसा-सत्य को चमकाने के लिए हैं । जिस प्रवृत्ति से अहिंसा का तेज बढ़ता है वही प्रवृत्ति आदरणीय है । प्राणी मात्र को आत्मवत् समझने वाला कठोर तपस्या करने वाले के समान होता है। भूत (जीव) दया ही सच्ची प्रभु भक्ति है ।

किसी बादशाह के यहां एक विश्वासपात्र खोजा रहता था । बचपन से ही बादशाह के पास रहा और पला था । वहीं नौकरी करता रहा । जीवन अस्थिर और उम्र नदी के प्रवाह की तरह निरन्तर बहती जा रही है । धीरे-धीरे खोजा बूढ़ा हो गया। तब उसने सोचा-'जीवन की संध्या वेला आ पहुँची है । यह सूरज अब अस्त होने को ही है । बादशाह से अनुमति लेकर खुदा की कुछ इबादत कर लूं तो आगे की जिन्दगी सुधर जाय ।' उसने बादशाह के पास जाकर अदब के साथ अपनी हार्दिक भावना प्रकट की और कहा-"बादशाह सलामत, आपकी चाकरी करते-करते बूढ़ा हो गया हूँ । आपकी कृपा से यह जीवन आराम से बीता है मगर आगे की जिन्दगी के लिए भी कुछ कर लेना चाहिए । उसके लिए खुदा की चाकरी करनी होगी। आप आज्ञा दें तो कुछ करूं । मैं मक्का शरीफ की हज करने जाना चाहता हूँ ।"

बादशाह ने भले काम में रुकावट डालना ठीक नहीं समझा । अतः उसे इजाजत दे दी और उसकी मंशा पूरी करने को कुछ अशर्फियां भी दे दीं । खोजा ने सिर मुंडवा लिया । तीर्थयात्रा के समय कई नियमों का पालन करना पड़ता है । अगर उन नियमों का पालन न किया जाय तो तीर्थयात्रा निरर्थक समझी जाती है । जैसे किसी ने लिखा है-

तीरथ गया तीन जना, कामी कपटी चोर ।
गया पाप उतारवा, लाया दस टन और ।

वह नंगे पैरों बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ यात्रा के लिए रवाना हुआ । रास्ते में उसे एक पहुँचे हुए फकीर मिल गये । वे स्वतन्त्र विचार के पहुँचे हुए पुरुष थे । खोजा ने उन्हें सलाम किया । फकीर ने उसकी ओर देखा । खोजा ने कहा–"इबादत करने मक्का शरीफ जा रहा हूँ ।"

फकीर ने कहा–"अगर मक्का शरीफ की हज़ का फायदा यहीं मिल जाय तो ?"

खोजा बोला–"तब तो कहना ही क्या ! नेकी और पूछ-पूछ !"

फकीर ने उसे एक पेड़ के नीचे बैठने को कहा और सूचना दी कि बाहर की ओर से मन मोड़ लो और ध्यान लगाओ । खुदा को यहीं अन्तर्दृष्टि में लाने की कोशिश करो । अगर प्रेम की मस्ती में आ गए तो हज़ करने जाने की जरूरत नहीं होगी ।

खोजा श्रद्धा वाला व्यक्ति था । उसे फकीर के वचनों पर विश्वास आ गया । भूख-प्यास, खाना-पीना सब भूल गया और मस्त हो गया । उसकी मस्ती की बात बस्ती में फैल गई । लोगों ने कहा–कोई बड़े औलिया आए हैं । और वे उसके लिए दूध, फल आदि लाने लगे, मगर उसे परवाह नहीं है किसी चीज की । खाया, खाया, न खाया न सही । वह अलमस्त होकर ध्यान में लीन रहने लगा ।

बात फैलते-फैलते बादशाह के कानों तक जा पहुँची । नगर के बड़े-बड़े लोग उसके दर्शन के लिए जाने लगे । औलिया अपने स्वरूप में लीन रहने लगा । न उसे अपने शरीर का भान था, न मकान की चिन्ता थी । जैसे वह शरीर में रहता हुआ भी उससे अलग था ।

बादशाह ने सोचा–फकीर साहब के दीदार तो अवश्य करना चाहिए । अब तक वहां एक छोटी सी झौंपड़ी बन चुकी थी और उसमें दरवाजे की जगह एक टाटी लग गई थी । किसी ने फकीर को बादशाह के आने की खबर दी तो फकीर ने वह टाटी बन्द कर ली और पैर फैला दिए । जब बादशाह वहां पहुँचे तो टाटी को धकियाया गया मगर टाटी नहीं खुली । बाहर से आवाज दी गई–बादशाह सलामत पधारे हैं, दरवाजा खोलिए । मगर फकीर के लिए क्या गरीब क्या अमीर, सब बराबर हैं ।

जिसके हृदय से परिग्रहवृत्ति हटी नहीं है, लोभ-लालच गया नहीं है, जो आशा का दास है और पैसे को बड़ी चीज समझता है, वह धनवान के सामने

झुकता है, बादशाह की चापलूसी करता है । मगर जो पूरी तरह निस्पृह बन गया है और आत्मिक सम्पत्ति से सन्तुष्ट होकर बाह्य वैभव को कंकर-पत्थर की तरह समझता है, उसके लिए राजा-रंक में कोई भेद नहीं रहता । सच्चे साधु के विषय में भगवान् महावीर कहते हैं–

जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ ।

यह है जीता-जागता समभाव । इसे कहते हैं निस्पृहभावना । साधु जब धर्मदिशना करता है तो अमीर-गरीब का भेद नहीं करता । जैसे राजा को धर्मोपदेश करता है वैसे ही रंक को और जैसे रंक को वैसे ही राजा को । उसकी दृष्टि में सभी प्राणी समान हैं ।

जब उस फकीर ने बादशाह के आने की बात सुन करके भी झोंपड़ी का दरवाजा न खोला तो बादशाह ने छिद्र में से देखकर सलाम किया । राजा फकीर को देखकर पहचान गया कि यह तो वही खोजा है ।

बादशाह बोला–"मियां ! तुम तो मक्का गए थे ?"

फकीर ने उत्तर दिया–"जी हां, जब ज्ञान नहीं था पक्का !"

फिर बादशाह ने कहा–"मियां ! कब से पांव फैलाये ?"

फकीर ने कहा–"जब से हाथ सिकोड़े ।"

बादशाह–"क्या कुछ पाया ?"

फकीर–"जी हां, पहले मैं तेरे आता था, अब तू मेरे आया ।"

बादशाह–"हमें भी कुछ बता ।"

फकीर–"मत करना कोई खता । दान दे, सान्त्वना दे, झटका मत मार, अन्यथा तेरा सफाया हो जाएगा, कहा है–

"यों कर, यों कर, यों न कर, यों कीना यों होय ।
कहे ओलिया देखलो, खुदा न बाहर कोय ।।"

यह तत्त्व मुझे मिला है और मुझे आत्म-सन्तोष है कि मक्का शरीफ अब यहीं दीख रहा है ।"

तात्पर्य यह है कि जो साधक अन्तर्मुखी हो जाता है और अपने मन को अपनी आत्मा में ही लीन कर लेता है, उसे अपने अन्दर ही भगवत्स्वरूप के-दर्शन होने लगते हैं । अहिंसा और सत्य उसके जीवन में उतर आते हैं ।

खोजा को तत्त्व मिला कि किसी प्राणी को न सताना, किसी पर हुकूमत मत करना। यही धर्म का तत्त्व महावीर स्वामी ने भी बतलाया है। यह धर्मतत्व सदा काल था, है और रहेगा। इस तत्त्व को शास्त्र के माध्यम से ही समझाया जाता है। मनुष्य भाषा के माध्यम से ही अपने हृद्गत विचार दूसरों तक पहुँचाता है। महर्षियों के अनुभव जनित विचार एवं भाव, साहित्य-श्रुत के माध्यम से ही युगों-युगों से चले आ रहे हैं। अतएव महर्षियों के महत्व के समान श्रुत का भी महत्त्व है।

आचार्य संभूतिविजय ने श्रुत की रक्षा का संकल्प किया और अनेक श्रुतधर मुनियों के सहयोग से श्रुत का संकलन किया। फलस्वरूप ग्यारह अंग व्यवस्थित हो गए। जब दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग का प्रश्न उपस्थित हुआ तो महामुनि भद्रबाहु की ओर ध्यान आकर्षित हुआ। निश्चय किया गया कि श्री संघ की ओर से आचार्य भद्रबाहु को बुलाना चाहिये ताकि अपूर्ण कार्य पूर्ण हो सके।

भद्रबाहु स्वामी उस समय नेपाल में थे। चरण विहारी होते हुए भी जैन साधु बहुत दूर-दूर तक भ्रमण किया करते हैं। उसका परिभ्रमण अन्य अटन प्रिय लोगों के समान नहीं होता। दूसरे कई लोग साईकिल से भी विदेश यात्रा करते हैं। पर साधु की यात्रा निराली होती है। वे सम्बल के रूप में आटा मेवा या अन्य कोई वस्तु नहीं रखते। न कोई गाड़ी आदि साथ रखते, सन्निधि अर्थात् दूसरे दिन के लिए कोई भी भोजन-सामग्री रखना तो उनके लिए बहुत बड़ा दोष है। संग्रह करना गृहस्थों का काम है। साधु कल की चिन्ता नहीं करता। वह पक्षी के समान सर्वथा परिग्रह हीन होता है। वासी बचे न कुत्ता खाय, की कहावत साधु-जीवन में पूरी तरह चरितार्थ होती है।

आज विनिमय के साधनों की सुविधा होने से संग्रह करने की वृत्ति अधिक बढ़ गई है। धनवान या जमींदार व्यापारी स्टॉक पास रख करके अकाल न होने पर भी अकाल की सी स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। खाद्य पदार्थों का संग्रह करके जब दबा लिया जाता है तब लोगों को वे दुर्लभ हो जाते हैं और उनका भाव ऊंचा चढ़ जाता है। इसी उद्देश्य से व्यापारी संग्रह करता है और मुनाफा कमाता है। ऐसा करने से आज खाद्य समस्या बड़ी गम्भीर हो गई है और बहुत असन्तोष फैल रहा है। सरकार की ओर से इस संग्रहवृत्ति पर अंकुश लगाया जाता है, फिर भी वह रुक नहीं रही। अच्छे आदर्श व्यापारी को ऐसा नहीं करना चाहिये। अनुचित मुनाफा कमाना श्रावक को शोभा नहीं देता। यह व्यापार नीति के प्रतिकूल है। व्यापारी को अपने लाभ के साथ जनता की लाभ-हानि, सुविधा-असुविधा का भी विचार रखना चाहिये।

हां, तो भद्रबाहुस्वामी नेपाल की तराई में थे । दो साधु उन्हें बुलाने के लिए भेजे गए । दोनों सन्त उनके चरणों में जाकर प्रणत हुए । तत्पश्चात् उन्होंने निवेदन किया-"भगवन् ! संघ पाटलीपुत्र में एकत्र हुआ है और श्रुत के संकलन का कार्य किया जा रहा है । किन्तु आपके बिना श्रुत-संकलन पूर्ण रूप से सम्पन्न नहीं हो रहा है, अतएव आपकी वहां आवश्यकता अनुभव की जा रही है । आप अवश्य पधारें । संघ आपकी प्रतीक्षा कर रहा है ।"

आचार्य भद्रबाहु ने उत्तर दिया-"संघ का मैं अंग हूँ, सेवक हूँ । संघ का मुझ पर अपार उपकार है, किन्तु मैंने महाप्राण ध्यानयोग प्रारम्भ किया है । यह निवेदन आप संघ के समक्ष कर दीजिएगा ।"

महाप्राण ध्यान की क्या विधि है, क्या भूमिका, परिपाटी या स्वरूप है ? इसका उल्लेख देखने में नहीं आता, किन्तु 'महाप्राण' शब्द के आधार पर ही कुछ कल्पना की जा सकती है । जिस ध्यान के द्वारा प्राण को दीर्घ किया जाय प्राणवायु पर विजय प्राप्त की जाय, सम्भवतः वह महाप्राण ध्यान कहलाता हो ।

जैन परम्परा में हठ योग को प्रश्रय नहीं दिया गया है । अध्यात्म की प्रधानता होने से वहाँ राजयोग ही उपादेय माना गया है । वस्तुतः हठ योग रोग के उन्मूलन की दवा नहीं है, उससे रोग को सिर्फ दबाया जा सकता है । राज योग उस औषध के समान है जो रोग को समूल नष्ट कर देती है ।

तो आचार्य भद्रबाहु ने उत्तर दिया-"मैं इस समय पाटलीपुत्र के लिए प्रस्थान करने में असमर्थ हूँ, क्योंकि मैं महाप्राण ध्यान प्रारम्भ कर चुका हूँ । उसे अपूर्ण छोड़ देना उचित नहीं होगा, ऐसा श्री संघ को निवेदन करना ।"

आचार्य का उत्तर सुनकर सन्त निराश होकर लौट गए । पाटलीपुत्र पहुँच कर उन्होंने संघ के समक्ष बतलाया-"हम दोनों महामुनि भद्रबाहु की सेवा में पहुँचे । उनको संघ का आदेश कह सुनाया । उत्तर में उन्होंने निवेदन किया है कि वे महाप्राण आरम्भ कर चुके हैं । अतएव उपस्थित होने में असमर्थ हैं ।"

आचार्य सम्भूतिविजय ने महामुनि भद्रबाहु का उत्तर सुनकर संघ के साथ विचार-विमर्श किया । सोचा गया-"श्रुत की रक्षा शासन की रक्षा है । आज भगवान् तीर्थंकर या केवली हमारे समक्ष नहीं हैं । तीर्थंकर की देशना, जो श्रुत के रूप में ग्रथित की हुई है, हमारा सर्वस्व है, एकमात्र निधि है । उसके अभाव में शासन टिक नहीं सकेगा । वह छिन्न-भिन्न हो जाएगा । संघ श्रुत पर ही टिका है और भविष्य के संघ के लिए भी यही एकमात्र आधार रहेगा । उधर आचार्य भद्रबाहु ने ध्यान

योग आरम्भ किया है, यह बात भी हमें ध्यान में रखनी चाहिये । भद्रबाहु स्वामी ने नम्रतापूर्वक जो कहला भेजा है, उस पर विचार करना चाहिये और आवश्यक समझा जाय तो उसका प्रत्युत्तर भेजना चाहिये । मगर श्रुतरक्षा का कार्य अवश्य सम्पन्न करना है ।"

उपस्थित मुनियों ने इस पर विचार किया । उनकी दृष्टि में श्रुतरक्षा का कार्य सर्वोपरि था और यह उचित भी था । आप लोगों को भी श्रुत के संरक्षण और प्रचार की ओर ध्यान देना चाहिये । जो ऐसा करेंगे उनका इस लोक और परलोक में परम कल्याण होगा ।

---

[६८]

संघ की महिमा

जीवन में जब अध्यात्म की साधना की जाती है तो एक अद्‌भुत ही ज्योति अन्तर् में जागृत होती है । उस ज्योति के आलोक में आन्तरिक शक्तियां जगमगा उठती हैं । साधारण मानव जिस बात पर बाह्य दृष्टिकोण से विचार करता है, साधक आध्यात्मिक दृष्टि से उस पर विचार करता है । आध्यात्मिक मंच से किसी बात को कहने का रूप दूसरा ही होता है । व्यवहारवादी दृष्टि से अध्यात्मवादी दृष्टि सदा विलक्षण ही रही है । अध्यात्मवादी दृष्टि सदा विलक्षण रही है । अध्यात्मवादी का दृष्टिकोण व्यवहारवादी को अटपटा भले ही लगे मगर पारमार्थिक सत्य उसमें अवश्य निहित होता है ।

बाह्य दृष्टिकोण वाला घर की सजावट, शरीर के श्रृंगार और भोगोपभोग की सामग्री के अधिक से अधिक संचय पर ध्यान देता है और इसकी सफलता में अपने जीवन की सफलता समझता है, किन्तु आध्यात्मनिष्ठ साधक उन सब 'पर' पदार्थों को भार स्वरूप समझता है । सद्‌गुण ही उसके लिए परम आभूषण हैं और आत्मा की विकसित एक-एक शक्ति ही उसके लिए एक-एक चिन्तामणि रत्न है ।

बहिरात्माओं को यह सब स्वप्न जगत् में विचरण करने जैसा प्रतीत होगा । भौतिक दृष्टि के कारण ये बातें उसे विश्वसनीय नहीं प्रतीत होतीं । मगर इससे क्या? नेत्रहीन व्यक्ति यदि रूप के अस्तित्व को नहीं देख पाता तो क्या यह कहा जा सकता है कि रूप है ही नहीं ? इसी प्रकार अवास्तविक दृष्टि में जो सत्य सामने नहीं आता उसे असत्य नहीं कहा जा सकता ।

भौतिकवादी दृष्टिकोण वाला आभूषण, सजावट की सामग्री, आमोद-प्रमोद के साधन आदि जुटाने के लिए महारंभ करने से भी नहीं हिचकेगा । उसका एक ही दृष्टिकोण रहेगा कि जिन्दगी को सुखमय बनाने के लिए किन-किन उपायों का अवलम्बन किया जाय ? अगर उसके लिए मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियों की हत्या

करने की आवश्यकता होगी तो वह बेधड़क करेगा । यह कोरी कल्पना या सम्भावना नहीं, वास्तविक सत्य है । जब-तब समाचार-पत्रों से विदित होता है कि थोड़े से पैसों के लिए अमुक व्यक्ति की हत्या कर दी गई । आज इस देश के एक भाग में डकैतियों का जो दौर चल रहा है, यह क्या है ? भौतिक दृष्टि की प्रधानता का ही यह फल है । अभिप्राय यह है कि जिस की दृष्टि अध्यात्म की ओर आकर्षित नहीं हुई वह अपनी निरंकुश आवश्यकताओं की पूर्ति को ही महत्व देगा ।

मगर अध्यात्मवादी का दृष्टिकोण इससे एकदम विपरीत होता है प्रथम तो उसका जीवन इतना सरल सादा और संयमपूर्ण होता है कि उसकी जीवन यापन की आवश्यकताएं अत्यन्त कम हो जाती हैं और जो भी आवश्यकताएं होती हैं उनकी पूर्ति या तो आरंभ के बिना ही हो जाती है या अत्यल्प आरम्भ से । वह भूलकर भी महारम्भ की प्रवृत्ति नहीं करता । वह अपने स्वार्थ-साधन के लिए किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाता, बल्कि किसी को कष्ट में देखता है तो उसे कष्ट मुक्त करने का भरसक प्रयास करता है । उसकी इस उदार वृत्ति का लाभ उसे तो प्राप्त होता ही है, समाज को भी महान लाभ होता है । वह समाज के समक्ष एक स्पृहणीय आदर्श उपस्थित करता है और आस-पास वालों के जीवन को भी संयम की ओर मोड़ देता है ।

उस मनुष्य का ज्ञान और सम्यक्त्व, किस काम का जिससे स्वयं का और समाज का पाप न घटा ? ज्ञान भले ही अल्प हो मगर सार्थक वही है जिससे पाप घटे और संयमवृत्ति का पोषण हो । कोट्याधीश आनन्द श्रमणोपासक इसीलिए अपने को महा-कर्म बन्ध के पन्द्रह कारणों से निवृत्त कर रहा है ।

निर्लांछन कर्म और दवाग्निदावणया कर्म का विवरण पिछले दिनों किया जा चुका है । दावानल लगाने से भले ही समय और धन की बचत हो जाय किन्तु यह कर्म महा हिंसा का कारण है । परिग्रह को बूढ़े के हाथ की लाठी समझने वाला उसके अधिक चक्कर में नहीं पड़ेगा । सम्यग्दर्शन सम्पन्न व्यक्ति परिग्रह को बूढ़े की लाठी समझता है । वह उसे सहारा मात्र मानता है । अतः परिग्रह की वृद्धि के लिए महारंभ करके अपनी आत्मा को पतित करना स्वीकार नहीं करेगा । भगवती सूत्र में आग लगाने वाले और बुझाने वाले के लिए क्रिया का विचार चला तो कहा गया–

जंगल में चलते-चलते कोई दुर्मति आग लगा दे और दूसरा कोई उसे बुझावे तो आग लगाने वाला महारंभी और बुझाने वाला अल्पारंभी समझा जाना चाहिये ।

(१४) सरदह तलाय सोसणया कम्मे–जिस भूमि में जल हो उसमें कचरा मिट्टी आदि डालकर कई लोग उसे सुखा देते हैं । वह भूमि अधिक उपजाऊ है,

इस लालच में पड़कर तडाग (तालाब), सर व द्रह आदि जलाशयों को सुखाने का काम करता है तो समझना चाहिये कि वह महाहिंसा का काम कर रहा है। सर व द्रह वे जलाशय कहलाते हैं जो बिना खोदे प्राकृतिक रूप से स्वयं बन गए हैं। और खोद कर बनाये गये जलाशय को तालाब कहते हैं, जिनमें पाल बनाकर जल सचित किया जाता है। इन सभी प्रकार के जलाशयों को सुखाने का धंधा करना कर्मादान है।

सरों तथा तालाबों को पाट कर मानव जीवन-निर्वाह के अनिवार्य साधन जल का विनाश करेगा और जल काय के तथा उसके आश्रित असंख्य और अनन्त जीवों का हनन करेगा। अमर कोषकार अमरसिंह ने जल के सम्बन्ध में लिखा है–

'जीवानुजीवनं औषधम्।'

जल को संस्कृत भाषा में 'जीवन' कहा गया है। मनुष्य के पास सोना, चांदी, विशाल कोठी, सुन्दर और मूल्यवान फर्नीचर एवं खाने को मेवा मिष्ठान्न न हो तो भी वह जीवित रह सकता है। दुष्काल के समय खेजड़े की छाल, जंगली धान, भुरंट की रोटी, महुआ तथा इसी प्रकार की वस्तुएं खाकर मनुष्य पेट भर लेता है। परन्तु पानी और पवन के बिना जीवधारी का काम नहीं चल सकता, वह जीवित नहीं रह सकता। इस दृष्टि से पानी सोने से भी अधिक मूल्यवान है। प्यास से जिसका कंठ सूख गया है और प्राण कंठ में अटके हैं वह पानी के लिए सोने की डलियां फेंक देगा। इतने मूल्यवान पदार्थ जल का मानव को 'दुरुपयोग' नहीं करना चाहिये। लालच के वशीभूत होकर पानी को सुखाना तो स्व-पर दोनों के लिए हानिप्रद और घोर हिंसा का कारण है अतएव विवेकशील श्रावक ऐसे अनर्थकारी धंधे को कदापि नहीं अपना सकता।

(१५) **असतिजनपोसणया कम्मे**–कुछ गिरोह ऐसे होते हैं जो लड़कियों को उड़ा ले जाते हैं और उन्हें पाल-पोस कर व्यभिचार जैसे घृणित कर्म में लगा देते हैं। यह कितनी लज्जाजनक बात है। कई नीच व्यक्ति अपनी लड़की की शादी नहीं करते और उसे स्वतन्त्रतापूर्वक घूमने दिया जाता है। कई लोग व्यभिचारिणी स्त्रियों को रख कर अड्डे चलाते हैं। किन्तु इस प्रकार के असामाजिक, अनैतिक और अधार्मिक कार्यों द्वारा अर्थ-लाभ करना निकृष्ट और निन्दनीय कृत्य है। इससे द्रव्यहिंसा भी होती है और भावहिंसा भी। ऐसा करने वाले लोग सदाचार के भयानक शत्रु हैं, समाज के कोढ़ और पापों के प्रबल प्रचारक हैं। धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र तो एक स्वर से इस प्रकार के कुकृत्यों का विरोध करते ही हैं, पर सरकारी कानून भी इनके विरोधी हैं। संसार का कोई भी सत्पुरुष ऐसे नीच कर्म का समर्थन नहीं कर सकता।

इसी प्रकार हिंसक जन्तुओं का पालन करके उनसे जीव-वध करवा कर आजीविका चलाना भी अत्यन्त क्रूरतापूर्ण एवं निन्दनीय कर्म है। शिकारी बाज, कुत्ते आदि का पालन ऐसे ही पापकर्म के लिए किया जाता है । जो लोग घोर अज्ञानान्धकार में निमग्न हैं, जिन्हें धर्म और नीति का प्रकाश नहीं मिला है, जिन्हें संत-समागम का सुयोग भी प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे लोग यदि घोर कर्मबंधकारक ऐसे कर्म करें तो कदाचित् क्षम्य है, किन्तु सद्गृहस्थ इन कुकृत्यों में कैसे प्रवृत्त हो सकता है?

कई लोग 'असतिजनपोषण' में थोडा-सा फेरफार करके 'असंजतीजनपोषण' कर देते हैं और कहते हैं कि संयमी जनों अर्थात् साधुओं के अतिरिक्त किसी भी भूखे को रोटी देना पाप है । मगर यह व्याख्या प्रमाद या पक्षपात से प्रेरित है । यह साम्प्रदायिक आग्रह का परिणाम है । इस प्रकार की व्याख्या करने से दया, अनुकम्पा और करुणा भी पाप हो जाएगी । यह अर्थ दया-दान प्रधान जैन परम्परा से विपरीत है ।

पालतू कुत्ते को खाना देना पाप नहीं है । यहां हिंसा द्वारा कमाई करने की वृत्ति नहीं है । भूखे कुत्ते को या अन्य पीड़ित जीवों को अन्न आदि देना अनुकम्पा की प्रेरणा है । क्षुधा, पिपासा, अशान्ति और आर्त्ति मिटाने में जो अनुकम्पा की भावना होती है, वह पुण्य है । उसे कर्मादान में सम्मिलित नहीं समझना चाहिए । कर्मादानों का सम्बन्ध विशिष्ट पापकर्मों के साथ है ।

श्रुत का गंभीर और सम्यग्दृष्टिपूर्वक अध्ययन किया जाय तो इस प्रकार की गलतफहमी नहीं हो सकती । श्रुत हमारे लिए मार्गदर्शक हैं । उसी से कृत्य-अकृत्य का भेद ज्ञात होता है । अगर श्रुत रूपी निधि हमारे पास न होती तो इसके आधार के बिना हम हेय-उपादेय का विवेक कैसे करते ? जैसे नेत्रहीन पुरुष को वीहड़ वन में मार्ग नहीं मिलता और वह इधर-उधर ठोकरें खाता और टकराता है, वही दशा श्रुत ज्ञान के अभाव में हमारी होती । आध्यात्मिक जीवन को आलोकित करने वाले शास्त्र ही हैं । शास्त्र से आन्तरिक प्रकाश प्राप्त होता है । इसी कारण श्रुत का संरक्षण महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य माना गया है ।

आचार्य संभूतिविजय ने शास्त्ररक्षा के कार्य को महान् और शासन के अभ्युदय के लिए उसे अनिवार्य मान कर उसके संरक्षण की योजना की । जब बारहवें अंग दृष्टिवाद का प्रश्न उपस्थित हुआ तो भद्रबाहु स्वामी की ओर ध्यान गया। दूसरी बार फिर उनकी सेवा में मुनियों को भेजा गया । उन्होंने संघ का सन्देश उन्हें कह सुनाया । संघ ने इस बार मार्मिक शब्दों में सन्देश प्रेषित किया और भद्रबाहु से पुछवाया कि-संघ बड़ा है या ध्यान बड़ा है ?

बुद्धिमान को इशारा ही काफी होता है । महान ज्ञानी भद्रबाहु स्वामी ने संघ के संकेत को समझ लिया और यह भी जान लिया कि संघ मेरे पहले वाले उत्तर से सन्तुष्ट नहीं है । तब उन्हें विचार आया—इस समय ऐसा करना ही समुचित होगा कि संघ का अविनय भी न हो और मेरा भी आरब्ध कार्य सम्पन्न हो जाय । विश्राम कम करके यदि रात्रि का समय ध्यान में लगाया जाएगा तो शास्त्रवाचना और ध्यानयोग दोनों का सम्यक् प्रकार से निर्वाह हो जाएगा । इस प्रकार विचार करके भद्रबाहु ने मुनियों को उत्तर दिया—"संघ बड़ा है । भद्रबाहु संघ के आदेश को शिरोधार्य करता है । वह संघ की प्रत्येक आज्ञा का पालन करने को उद्यत है ।"

बन्धुओ ! बात के कहने-कहने में अन्तर होता है । एक ही बात एक ढंग से कहने पर श्रोता के चित्त पर उसका जो प्रभाव पड़ता है दूसरे ढंग से कहने पर उसी का प्रभाव दूसरा होता है । शिष्ट जन संयत भाषा का प्रयोग करते हैं । (१) मैं नहीं आ सकता और (२) क्षमा कीजिए, मैं आवश्यक कार्य से आने में असमर्थ हूँ । इन दो वाक्यों का प्रतिपाद्य विषय एक ही है, परन्तु शब्दावली में अन्तर है । शब्दावली के इस अन्तर में अशिष्टता और शिष्टता भी छिपी हुई है । संयत भाषा के प्रयोग से कार्य भी सिद्ध हो जाता है और विनम्रता एवं शिष्टता की भी रक्षा हो जाती है । गुरु अपने शिष्य को कह सकता है कि तुम्हें बोलने का भान नहीं है, मगर शिष्य यदि गुरु से कहे कि आपको विवेक नहीं है, तो यह अविनय और अशिष्टता होगी, वृद्ध पितामह से कहा जाय कि—बाबा साहब, हम आपकी सेवा में हैं अब आपको करने की आवश्यकता नहीं, हम सब कर लेंगे, तो इससे न केवल वृद्ध को अपितु अन्य सुनने वालों को भी अच्छा लगेगा, किसी के दिमाग में उत्तेजना नहीं होगी और काम भी चल जाएगा । तात्पर्य यह है कि विवेकशील व्यक्ति को शिष्टतापूर्ण नम्रताद्योतक और साथ ही अपनी पदमर्यादा को ध्यान में रखते हुए भाषा का समुचित प्रयोग करना चाहिए ।

आचार्य भद्रबाहु ने लोकोपचार विनय का आश्रय लिया । विनय सात प्रकार का है—(१) ज्ञानविनय (२) दर्शनविनय (३) चारित्रविनय (४) मनोविनय (५) वचन विनय (६) कायविनय और (७) लोकोपचार विनय । प्रारम्भ के तीन विनय साध्य हैं और उनके बाद के मनोविनय, वचन विनय और कायविनय उनके साधन हैं । सातवां उपचार विनय है । उन्होंने उपचार विनय की दृष्टि से सुखद शब्दावली का प्रयोग किया । वे बोले—"मेरा नम्र सुझाव है कि संघ यदि श्रुताभ्याभ्यास के लिये योग्य शिष्यों को यहीं भेज दे तो मैं श्रुताभ्यास करने वाले मुनियों को पर्याप्त समय दूंगा । इससे मैं अपने आरंभ किये हुए ध्यान योग का भी निर्वाह कर लूंगा और श्रुतसेवा की संघ की आज्ञा का भी निर्वाह कर लूंगा ।"

भद्रबाहु स्वामी अपने काल के महान सन्त थे, सन्तों में शिरोमणि थे। द्वादशांगी के ज्ञाता थे। फिर भी संघ के आदेश को उन्होंने टाला नहीं, क्योंकि संघ की सत्ता सर्वोपरि होती है। कोई व्यक्ति कितना ही महान क्यों न हो, वह संघ से बड़ा नहीं होता। उसे संघ के आदेश का अनुसरण करना ही चाहिए। आखिर महान होने पर भी वह संघ का ही एक अंग है। संघ से पृथक् व्यक्ति का क्या गौरव है ? इसीलिए शास्त्रों में संघ को बहुत ऊंचा स्थान दिया गया है, उसे भगवान् कहा गया है। आपको विदित होगा कि नन्दीसूत्र में सामान्य तीर्थंकरों की और भगवान् महावीर की स्तुति में जहां एक-एक गाथा लिखी गई है; वहां संघ की स्तुति में अनेक गाथाएं दी गई हैं और शास्त्रकार ने असाधारण भक्तिपूर्वक संघ की वन्दना की है। इससे जाना जा सकता है कि हमारे पुरातन महापुरुष संघ को कितना उच्च स्थान प्रदान करते थे। संघ को धर्म के क्षेत्र में सर्वोच्च स्थान मिलना सर्वथा समुचित है, क्योंकि तीर्थंकर भगवान् के शासन का वह आधार है। उसी में धर्म का व्यवहार्य रूप दृष्टिगोचर होता है। संघ धर्म का प्रवर्तक और संचालक है। यही कारण है कि धर्म की प्रवृत्ति के लिए तीर्थंकर भगवान् संघ की स्थापना करते हैं। संघ की सुरक्षा में धर्म की सुरक्षा और संघ की प्रतिष्ठा में धर्म की प्रतिष्ठा है।

ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि गुणों के धारक, साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका समूह को संघ कहते हैं। संख्या में छोटा हो या बड़ा, गुणों के कारण संघ बड़ा महनीय है। संघ का संगठन सुदृढ़ होता है तो संयम का पालन समीचीन रूप से होता है। संघ में भेद उत्पन्न होता है तो शासन का तेज मन्द हो जाता है और उसकी शक्ति कम हो जाती है। इसी कारण संघ में भेद उत्पन्न करना बड़े से बड़ा पाप माना गया है। 'संघे शक्तिः कलौ युगे' यह उक्ति प्रसिद्ध है जिसका आशय यह है कि विशेषतः कलियुग में संघ में ही शक्ति निहित होती है।

भद्रबाहु स्वामी संघ की महिमा से सुपरिचित थे। अतएव उन्होंने संघ को उचित आदर प्रदान किया।

मुनि युगल ने लौट कर संघ को भद्रबाहु का कथन सुनाया। श्रुतसभा उपस्थित थी। श्रुतज्ञान के अमरदीप को प्रज्वलित करने और प्रज्वलित रखने के लिए सन्त जन उद्यत थे।

अमरदीप हमारे हृदय में विद्यमान है। उसकी ज्योति को बढ़ाने की आवश्यकता है। वह अमरदीप श्रुतज्ञान का प्रदीप है जो केवल ज्ञान के भास्कर को उदित कर सकता है। यदि श्रुतज्ञान का दीपक न हो तो केवल ज्ञान का भास्कर किस प्रकार उदित हो सकता है ?

भद्रबाहु स्वामी के उत्तर को सुनकर संघ ने जो निर्णय किया, उसका दिग्दर्शन आगे कराया जाएगा ।

जो श्रुतज्ञान के भाव-दीपक को अपने अन्तर में प्रज्वलित करेंगे उन्हीं का दीपमालिका पर्व मनाना सार्थक होगा और उन्हीं का शाश्वत कल्याण होगा ।

इस विराट और विशाल सृष्टि में अनन्त-अनन्त पदार्थ विद्यमान हैं । अगर उनकी गणना का उपक्रम किया जाय तो अनन्त जन्म में भी गणना नहीं हो सकती। उन सबको जान लेना भी छद्मस्थ के सामर्थ्य से बाहर है । ऐसी स्थिति में वर्गीकरण की पद्धति को अपनाना ही आवश्यक है । प्रतिपादक अपनी विवक्षा के अनुसार विश्व के समस्त पदार्थों को कतिपय राशियों में विभक्त कर लेता है और फिर उन पर प्रकाश डालता है । उदाहरणार्थ जैन परम्परा में दार्शनिक दृष्टि से संसार के समस्त पदार्थों को षट् विभागों में विभक्त किया गया है जिन्हें षट् द्रव्य की संज्ञा दी गई है। इस विभाजन से समग्र विश्व का रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत हो जाता है अर्थात् हमें प्रतीत हो जाता है कि इस सृष्टि के मूल उपादान तत्त्व क्या-क्या और कौन-कौन से हैं ?

किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से जब वर्गीकरण किया जाता है तो मूल तत्त्वों की संख्या नौ निर्धारित की जाती है । अध्यात्म के क्षेत्र में इस प्रकार का वर्गीकरण ही अधिक उपयुक्त है । मगर इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार करने के लिए यह अवसर अनुकूल नहीं है । क्योंकि इस समय चारित्र का निरूपण चल रहा है, अतएव उसी के सम्बन्ध में प्रकाश डालना है । आचरण की दृष्टि से जगत् के पदार्थों को तीन भागों में बांटा गया है :

(१) हेय—त्याग करने योग्य,
(२) उपादेय—ग्रहण करने योग्य, और
(३) ज्ञेय—केवल जानने योग्य ।

संसार की सभी वस्तुएं इन तीन वर्गों में समाविष्ट हो जाती हैं । इसे यों भी कहा जा सकता है कि ज्ञेय पदार्थ हेय और उपादेय, इन दो भागों में बांटे जा सकते हैं ।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि सद्गुण उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य हैं । अगर ये सद्गुण सिर्फ ज्ञेय होकर ही रह जाएं तो इनका कोई उपयोग नहीं है । एक मनुष्य अहिंसा के मर्म को जानता है, उस पर घंटों प्रवचन कर सकता है, दूसरे के दिमाग में बिठा सकता है परन्तु उसे अपने जीवन में व्यवहृत नहीं करता तो इससे उसे क्या लाभ होने वाला है ? कुछ भी नहीं ।

जिस प्रकार अहिंसा आदि व्रत उपादेय हैं, उसी प्रकार उनके अतिचार त्यागने योग्य हैं। साधक का कर्त्तव्य है कि जब वह व्रतों को जान कर अंगीकार करे तो उनके अतिचारों को भी समझ ले और समझ कर उनसे बचता रहे। जैसे उपादेय वस्तु को जाने बिना उसका उपादान अर्थात् उसको ग्रहण नहीं किया जा सकता उसी प्रकार हेय वस्तु को जाने बिना उसका हार अर्थात् परिहार नहीं किया जा सकता। इसी कारण शास्त्र में अतिचारों के लिए 'जाणियव्वा न समायरियव्वा' ऐसा पाठ दिया गया है।

श्रावकधर्म और मुनिधर्म के सभी नियम और संवर, निर्जरा आदरणीय हैं। प्रत्येक व्यक्ति का धर्म के प्रति आदरभाव होना चाहिए और अतिचारों से बचना चाहिए।

आनन्द श्रावक यदि अणुव्रतों और शिक्षाव्रतों को मस्तिष्क तक ही रखता और आचरण में न लाता तो उसके जीवन का उत्थान न होता। वह व्रतों को समझता है और समझने के साथ अंगीकार भी करता है। वह व्रत के दूषणों को भी समझता और त्यागता है। व्रत के दोषों का त्याग किये बिना निर्मल व्रतपालन संभव नहीं है। आनन्द ने सातवें व्रत को ग्रहण करने के साथ पन्द्रह कर्मादानों का त्याग कर दिया, जिनका उल्लेख किया जा चुका है।

आठवां व्रत अनर्थदण्डत्याग है। जिसके बिना गृहस्थ का काम नहीं चलता, जो गृहस्थ जीवन में अनिवार्य है, ऐसी हिंसा का भले ही वह त्याग न कर सके, मगर निरर्थक हिंसा के पाप का त्याग तो उसे करना ही चाहिए। जिस हिंसा से किसी प्रयोजन की पूर्त्ति न होती हो, उसके भार से अपनी आत्मा को भारी एवं मलिन बनाये रखना बुद्धिमत्ता नहीं है। आनन्द ने अनर्थदण्ड का त्याग और संकल्प किया कि वह निरर्थक हिंसा एवं असत्य का व्यवहार नहीं करेगा। इस संकल्प की पूर्ति के लिए उसने इस व्रत के पांच अतिचारों का भी त्याग किया। अनर्थदण्ड विरमण व्रत के पांच अतिचार इस प्रकार हैं :-

(१) कन्दप्प (कन्दर्पकथा)-जैसे सत्यभामा को भामा और बलराम को राम कह दिया जाता है, उसी प्रकार यहां कन्दर्पकथा को कन्दर्प कहा गया है।

मनुष्य को निरर्थक पाप नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे आत्मा मलिन होती है और प्रयोजन कुछ सिद्ध नहीं होता। अनावश्यक कुतुहल के वशीभूत होकर, श्रृंगार के कारण अथवा दूसरों को प्रसन्न करने के लिए ऐसी बात करना कि जिससे भोग की प्रवृत्ति बढ़े या कामवासना जागृत हो तो वह बेमतलब पाप करना है। हिन्दी साहित्य की रीतिकालीन रचनाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि उस काल में

श्रीमन्तों–राजाओं, महाराजाओं, सामन्तों आदि का मनोरंजन करने के लिए कविगण कामवासनावर्द्धक काव्य लिखा करते थे । आज भी आत्मतत्त्व की बातों से राजी करने की क्षमता न होने से अपने श्रीमन्त स्वामियों को प्रसन्न करने के उद्देश्य से इंग्लेण्ड, अमेरिका, एशिया आदि देशों की महिलाओं का वर्णन तथा अन्य श्रृंगारिक वर्णन किया जाता है । ठकुरसुहाती करते हुए कहते हें–आपके अन्तःपुर के समान अन्तःपुर अन्यत्र कहीं नहीं देखा, आपके वैभव की सदृशता कोई नहीं कर सकता । इत्यादि बातें कह कर लोगों को प्रसन्न करते हैं ।

ऐसी कन्दर्प कथाओं या काम की वृद्धि करने वाली कथाओं या हास्य कथाओं में कुछ नमक-मिर्च लगाकर गढ़ना पड़ता है । और जब ऐसी बातों को अभिनय के साथ कहा जाता है तो वृद्ध एवं उदास व्यक्ति भी एक बार खिलखिला उठते हैं ।

प्रश्न उठता है–प्रसन्न करने से लाभ क्या हुआ ? श्रृंगार भाव या कामवासना को जागृत करने के लिए झूठ बोलने से कौनसा कार्य सिद्ध हुआ ? केवल थोड़ी देर का विकृत विनोद हुआ और लाभ कुछ भी नहीं मिला । ऐसी स्थिति में इस प्रकार की निरर्थक चेष्टाओं द्वारा आत्मा को कलुषित करने की क्या आवश्यकता है ?

आधुनिक युग में चित्रपटों का अत्यधिक प्रचार हो रहा है । मगर अधिकांश चित्रपट गंदी और अश्लील बातों एवं चेष्टाओं से परिपूर्ण होते हैं। इन चित्रपटों को देखते-देखते लोगों का मानस बहुत ही विकृत हो गया है। आज समाज में जितनी बुराइयां आई हैं उनमें से अधिकांश के लिए ये चित्रपट उत्तरदायी हैं । कोमलवय बालकों और नवयुवकों के समक्ष जब निर्लज्जतापूर्ण, अश्लील, मर्यादा को नष्ट करने वाले, वासनादिवर्द्धक घृणाजनक चित्र उपस्थित किये जाते हैं तब कैसे आशा की जा सकती है कि आगे चल कर वे सुसंस्कारी, मर्यादा में चलने वाले सच्चरित्र ब्रह्मचारी बन सकेंगे ? ये चित्रपट दर्शकों के जीवन में नेत्रों की राह से जो हलाहल विष घोल देते हैं, उससे उनका समग्र जीवन विषाक्त बन जाता है । नादान बालक भी आज गली-गली में प्रेम के गाने गाते फिरते हैं, यह इन चित्रपटों की ही देन है।

जनता का अधिक भाग अशिक्षित और असंस्कृत होने से निम्नकोटि के अभिनय और संगीत में रुचि प्रदर्शित करता है । वह निर्लज्जतापूर्ण नग्न या अर्धनग्न चित्रों को देख कर खुश होता है । इसी कारण धन के लालची, चित्रपट निर्माता ऐसे चित्रपट बनवाते हैं और पैसे कमाते हैं । इससे समाज में कितनी बुराइयां फैल रही हैं, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं, उन्हें अपनी तिजोरियां भरने की चिन्ता है । आश्चर्य

तो इस बात का है कि शासन भी इस ओर ध्यान नहीं देता और देश की उज्ज्वल संस्कृति के विनाश को चुपचाप बर्दाश्त कर रहा है । देश के नौनिहाल बालकों के भविष्य की भी उसे चिन्ता नहीं है जिन पर देश और समाज का भार आने वाला है ।

बहुत-सी कहानियां, उपन्यास, नाटक आदि भी ऐसे अश्लील होते हैं जो पाठकों की रुचि को विकृत करते हैं और कामवासना की वृद्धि करते हैं । इन सब चीजों से विवेकशील पुरुषों को बचना चाहिये । घर में गंदी पुस्तकों का प्रवेश नहीं होने देना चाहिये । जब तक बालक का संरक्षक किसी चित्रपट को स्वयं न देख ले और संस्कार वर्धक या शिक्षाप्रद न जान ले तब तक बालकों को उसे देखने की अनुमति नहीं देनी चाहिये ।

एक घटना प्रकाश में आई है । ग्यारह वर्ष के दो बालक चोरी करने निकलते हैं । उनमें से एक चोरी करने निकलता है और दूसरा द्वार पर रिवाल्वर लेकर खड़ा रहता है । सोचिए यह सब किसका प्रभाव है ? वास्तव में यह सिनेमा का ही कुप्रभाव है । ऐसी सैकड़ों घटनायें होती हैं और सिनेमाओं की बदौलत अनगिनत बुराइयां लोगों में प्रवेश कर रही हैं । सिनेमा व्यवसायियों को भी सोचना चाहिये कि वे भी समाज के अंग हैं और उसी समाज में उन्हें रहना है जिस समाज को वे तीव्रता के साथ पतन की ओर ले जा रहे हैं । हमारे प्राचीन साहित्य में अनेकानेक आदर्श और जीवन को उच्च बनाने वाले आख्यान विद्यमान हैं । उन्हें सुयोग्य रूप से न दिखलाकर गन्दे चरित्रों का प्रदर्शन करना किसी भी दृष्टि से सराहनीय नहीं कहा जा सकता ।

जो लोग नैतिक आदर्शों में विश्वास रखते हैं, जो संस्कृति के प्रेमी और धर्मानुरागी हैं उनका कर्तव्य है कि वे इस विषय में समाज को शिक्षित और सावधान करें । इस बुराई को अधिक समय तक नहीं चलने देना चाहिये ।

सद्गृहस्थ ऐसे पापप्रचारक कार्यों को नहीं अपनाएगा । धन की प्राप्ति हो तो भी वह पापकृत्यों से दूर रहेगा । लोभ का संवरण किये बिना व्रतों की निर्मलता नहीं रह सकती ।

बोलने और लिखने वाले पर बड़ा उत्तरदायित्व रहता है । यदि वह कन्दर्प कथा में लिप्त हो तो हजारों-लाखों को बिगाड़ देगा । जो कन्दर्प कथा लिखता है, कहता है या पढ़कर सुनाता है वह दूसरों के चित्त पर हिंसा, झूठ, आरंभ और कुशील का रंग चढ़ाता है । वह अनर्थदण्ड का भागी होता है । बोलने वाला

जितना अहित करता है, उससे अधिक अहित लिखने वाला करता है । अतः बोल कर या लिख कर धर्म का लाभ देना ही हितकर है । कहा है—

बूट डासन ने बनाया, हमने एक मजमूं लिखा ।
मुल्क में मजमूं न फैला, और जूता चल पड़ा ।।

किसी देश का राजदूत या राजनायक कोई गलत बात कह जाय तो सारे देश में आग लग जाती है । आग लगाने और अमृत बरसाने की शक्ति वाणी में है। अगर वाणी अमृत के वदले हलाहल उगलने लगती है तो समाज, देश और विश्व का घोर अहित हो जाता है । भगवान् महावीर कहते हैं—"हे साधक ! अपनी वाणी का सदुपयोग करना है तो कर मगर अनर्थ-वाणी का उपयोग तो न कर । यह न भूल कि वाणी और उसमें भी सार्थक वाणी की शक्ति महान पुण्य के योग से प्राप्त होती है । पुण्य के प्रताप से प्राप्त शक्ति का पाप के उपार्जन में प्रयोग करना बुद्धिमत्ता नहीं है ।"

वाणी को पाप के मार्ग में लगाया गया तो इससे पेट भी नहीं भरा और कुछ लाभ भी नहीं हुआ, मगर पाप का बन्ध तो हो ही गया ।

अज्ञानी वाणी का व्यभिचार करता है और ज्ञानी उसका ठीक उपयोग करता है ।

स्व और पर में ज्योति जगाने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है । महर्षियों ने श्रुत का संकलन अतीव परिश्रम से किया और इस महान कार्य के लिए अपने आराम को भी हराम समझा था । यह श्रुत संरक्षण का कार्य महावीर स्वामी के निर्वाण के दो सौ वर्ष बाद आर्य संभूतिविजय के समय में हुआ । गंगा की धारा के समान श्रुत की धारा कभी बन्द नहीं हुई । हे साधको ! जिस प्रकार आकाश में सूर्य और चन्द्र शाश्वत हैं, उसी प्रकार श्रुत भी सदैव रहेगा परन्तु उसका प्रचार और प्रसार होगा किसके बल पर ? पुरूषार्थ के बल पर ही ।

संघ ने निर्णय किया—"यदि भद्रबाहु वहीं रह कर आगम सेवा का लाभ दें तो कोई आपत्ति नहीं । इससे दोनों प्रयोजनों की पूर्त्ति हो सकेगी । उनका महाप्राण ध्यान भी सम्पन्न हो जाएगा और श्रुत की वाचना भी हो जाएगी ।"

भद्रबाहु ने आगम की सात वाचनाएं देने का वचन दिया । अतः संघ ने अपने श्रमण वर्ग में से जो विशिष्ट जिज्ञासु थे, ज्ञान ग्रहण करने की जिनकी भावना तीव्र थी, उन्हें आह्वान किया । पूछा गया कि कौन भद्रबाहु स्वामी के पास जाना चाहता है ? श्रुतसेवी सन्तों में स्थूलभद्र का पहला नम्वर आया ।

स्थूलभद्र का नाम सुनकर आचार्य संभूतिविजय बहुत प्रसन्न हुए । उन्हें लगा कि वे भद्रबाहु के ज्ञान समुद्र में से अवश्य ही बहुमूल्य रत्न प्राप्त कर सकेंगे । कई अन्य मुनियों को भी उनके साथ भेजने का निश्चय किया गया ।

जिज्ञासु मुनि बड़े साहस और उमंग के साथ आचार्य भद्रबाहु के चरणों में जा पहुँचे । उन्होंने वहां पहुँच कर निवेदन किया—"भगवन् ! हम आपकी उपसम्पदा ग्रहण करने हेतु आये हैं । हमें अपने चरणों में स्थान दीजिए । अब हम आपके नियन्त्रण और निर्देशन में रहेंगे ।"

भद्रबाहु जैसे असाधारण गुरु को पाकर स्थूलभद्र ने अपने को कृतार्थ माना। उन्होंने सोचा—'मैं धन्य हूँ कि मुझे इस युग के सर्वश्रेष्ठ जिनागमवेत्ता, सिद्धान्त के पारगामी महामुनि से ज्ञानलाभ करने का सुयोग मिला है ।' उधर भद्रबाहु स्वामी भी सुपात्र शिष्य पाकर प्रसन्न थे ।

पूर्वकाल में ज्ञान देने के लिए पात्र-अपात्र का बहुत ध्यान रखा जाता था। अपात्र को विद्या देना उसके लिए और दूसरों के लिए भी हानिकारक समझा जाता था । सुपात्र न मिलने के कारण कई विद्याएं न दी गईं और वे नामशेष हो गईं । वे विद्याएं विद्यावानों केसाथ ही चली गईं पर अपात्र को नहीं दी गईं ।

महामुनि भद्रबाहु ने ज्ञानार्थी मुनियों को सूचित किया—'दिन और रात्रि में सात वाचनाएं दे सकूंगा—दो प्रातःकाल, दो मध्यान्ह में और तीन रात्रि में ।'

सोचने की बात है कि इतना समय श्रुतपाठन के लिए देने और साथ ही महाप्राण ध्यान की प्रक्रिया को चालू रखने पर उन्हें विश्रान्ति के लिए कितना समय बचा होगा ? मगर उन्हें अमरदीप जगाना था । श्रुत की जो अविच्छिन्न धारा उन तक पहुँची थी उसे आगे बढ़ाना था । वे भली-भाँति समझते थे कि मेरे ऊपर गुरु का जो महान ऋण है उसे चुकाने का एकमात्र उपाय यही है कि उनसे प्राप्त किया हुआ अनमोल ज्ञान किसी सुपात्र शिष्य को दिया जाय । इस प्रकार की उच्च एवं उदार विचारधारा की बदौलत ही श्रुत की परम्परा बराबर चालू रह सकी ।

आचार्य भद्रबाहु ने अपने विश्राम आदि की चिन्ता न करते हुए ज्ञान-आलोक के प्रसार में महत्वपूर्ण योग प्रदान किया । आज हमें जिनेन्द्रदेव की वाणी पढ़ने और सुनने को मिल रही है, इसका श्रेय अतीत के उन महर्षियों को ही है जिन्होंने अनेक प्रतिकूल परिस्थितियों में, अनेक प्रकार के संकटों का सामना करते हुए भी श्रुत की परम्परा को बनाए रखा । हमें उनके प्रति कृतज्ञ होना चाहिए ।

उस काल की तुलना में आज श्रुत के पठन-पाठन में बहुत सहूलियत हो गई है । ऐसी स्थिति में हमें चाहिए कि वीतराग भगवान की वाणी का गहराई के

साथ अध्ययन-मनन करें और उसके पठन-पाठन में योग्यता के अनुसार अपना योग प्रदान करें। स्वाध्याय के द्वारा श्रुत का संरक्षण व प्रसारण करना हम सबका कर्त्तव्य है। ऐसा करने से इस लोक और परलोक में परम कल्याण होगा।

कल कहा गया था कि साधना के मार्ग पर चलने वाला सावधान साधक दो बातें सदा ध्यान में रखे–(१) उपादेय क्या है और (२) हेय क्या है ? इन दोनों बातों का वह ध्यान ही नहीं रखता बल्कि उपादेय को अपने जीवन में यथाशक्ति अपनाता और हेय का परित्याग करता है। अगर ग्रहण करने योग्य को ग्रहण न किया जाय और छोड़ने योग्य को छोड़ा न जाय तो उन्हें जानने से क्या लाभ है ? रोग से मुक्त होने के लिए औषध को और अपथ्य को जान लेना ही पर्याप्त नहीं है वरन् औषध को सेवन करना और अपथ्य को त्यागना भी आवश्यक है। प्रत्येक सिद्धि को प्राप्त करने के लिए, चाहे वह लौकिक हो अथवा लोकोत्तर, ज्ञान के साथ क्रिया की भी अनिवार्य आवश्यकता होती है। क्रियाहीन ज्ञान और ज्ञानहीन क्रिया से कभी कोई सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती।

किन्तु ग्राह्य क्या है और त्याज्य क्या है, इसका निर्णय अत्यन्त सावधानी के साथ करना चाहिए। बहुत बार लोग धोखा खाते हैं बल्कि सत्य तो यह है कि संसारी जन प्रायः भ्रम में पड़े हुए हैं। वे हेय को उपादेय और उपादेय को हेय समझ कर प्रवृत्ति कर रहे हैं और इसी कारण सुख को प्राप्त करने और दुःखों से छुटकारा पाने की तीव्र अभिलाषा और घोर प्रयत्न करने पर भी उनका मनोरथ सफल नहीं हो पाता। जीव अनादि काल से संसार में विविध प्रकार की आधि-व्याधि और उपाधियों का शिकार हो रहा है। वह इनसे बचने के लिए जो उपाय करता है, विवेक के अभाव में वे उलटे दुःखप्रद सिद्ध होते हैं। वह बाह्य पदार्थों के संग्रह में सुख देखता है और उनकी ही प्राप्ति में समस्त पुरुषार्थ लगा देता है। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि पर पदार्थों का संयोग सुख का नहीं, दुःख का ही कारण होता है। अतएव बाह्य पदार्थों की ओर से जितनी-जितनी निवृत्ति साधी जाएगी, उतनी ही उतनी शान्ति एवं निराकुलता प्राप्त हो सकेगी।

गृहस्थ आनन्द ने प्रभु के चरणों में बैठकर हेय और उपादेय की वास्तविक जानकारी प्राप्त की। यदि किसी साधारण छद्मस्थ से उन्हें जानता तो उसमें कमी रह सकती थी। भ्रम या विपर्यास भी हो सकता था। किन्तु भगवान् महावीर से हेय-उपादेय का विवेक प्राप्त करने में कमी या विपर्यास होने की गुंजाइश नहीं थी।

विक्षेप के सभी कारण छोड़ने योग्य होते हैं। अच्छा कपड़ा पहनने पर भी उसमें मल लग जाता है। समझदार व्यक्ति मल को उपादेय नहीं मानता, अतएव उसे

हटा देता है। इसी प्रकार व्रत मानों स्वच्छ चादर है। साधक यही प्रयत्न करता है कि व्रत रूपी चादर में मल न लगने पाए। फिर भी विवशता, चंचलता या प्रमाद के कारण मल (अतिचार) लग जाय तो उसे साफ कर लेना चाहिए अर्थात् आलोचना आदि करके अतिचार का शोधन कर लेना चाहिए।

इसके लिए व्रत के अतिचारों को जानना आवश्यक है। जो मल के स्वरूप को ही नहीं समझेगा वह उसे कैसे साफ करेगा ? अनर्थदण्डविरमण व्रत के अतिचारों में से पहले अतिचार का स्वरूप समझाया जा चुका है। आगे के अतिचारों पर प्रकाश डालना है। उनमें से दूसरा अतिचार कौत्कुच्य है।

(२) कौत्कुच्य–कुछ व्यक्तियों में विदूषकपन की वृत्ति देखी जाती है। वे शरीर के अंगों से ऐसी चेष्टा करते हैं जिससे दूसरे को हँसी आ जाय। यह भांडवृत्ति है। इन विदूषकों के क्रिया-कलाप को देख कर लोग प्रसन्न होते हैं और कुतुहलवश जमा हो जाते हैं। भांडचेष्टा करने वाला अपनी इन चेष्टाओं द्वारा अर्थ का उपार्जन करता है। किन्तु साधक को ऐसी चेष्टाएं नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से कामराग, हिंसा असत्य आदि दोषों को प्रोत्साहन मिलता है। अतएव साधक शरीर की कुचेष्टा से अथवा वाणी के द्वारा अनर्थदण्ड न करे।

(३) मोहरिए (मौखर्य)–आवश्यकता से अधिक बोलना, वृथा बकवास करना, सदैव बड़बड़ाते रहना मौखर्य कहलाता है।

वाणी मुख की शोभा है। वाणी से मनुष्य की सज्जनता एवं दुर्जनता का अनुमान होता है। उसके हृदयगत भाव वाणी के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। अतएव वाणी को मनुष्य के व्यक्तित्व की कसौटी कहा जा सकता है। इतना ही नहीं, कभी-कभी उसकी बदौलत घोर अनर्थ भी होते देखे जाते हैं। संभल कर वाणी का प्रयोग न करने से लड़ाई-झगड़े तक हो जाते हैं। एक गलत शब्द के प्रयोग से बना-बनाया काम बिगड़ जाता है और एक सुविचारित वाक्य से बिगड़ा काम बन सकता है। विचारपूर्वक न बोलने से मनुष्य अपने शत्रु बना लेता है। इसीलिए कहा जाता है कि पहले तोलो, फिर बोलो। चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, वाणी का उपयोग अगर सोच-विचार कर न करे तो परिणाम अनिष्टकर निकलता है। कहते हैं–द्रौपदी के एक अविचारित एवं आक्षेपजनक वचन की बदौलत महाभारत जैसा भीषण युद्ध हुआ जिसमें लाखों मनुष्य मारे गए और भारतवर्ष की इतनी शक्ति विनष्ट हुई कि उसकी कमर ही टूट गई।

आग पर हाथ रखा जाय तो चाहे पण्डित हो या मूर्ख, दोनों का ही हाथ जलेगा। आग पण्डित और मूर्ख का भेद नहीं जानती। उसके स्पर्श का फल

सभी को समान रूप से भोगना पड़ता है । इसी प्रकार कुवाणी के प्रयोग का फल सभी के लिए घातक सिद्ध होता है । कुवचन बोलना पाप है और पाप आग की तरह जलाने वाला है । कदाचित् नासमझ बालक आग से हाथ जला ले तो उतना बुरा नहीं समझा जाएगा परन्तु समझदार ऐसा करेगा तो अधिक उपहास तथा आलोचना का पात्र बनेगा ।

वाणी आन्तरिक चेतना की अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम साधन ही नहीं, अनेकानेक व्यवहारों का माध्यम भी है । सफल वक्ता हजारों-लाखों विरोधियों को अपनी वाणी के जादू से प्रभावित करके अनुकूल बना लेता है ।

एक तरुण व्यक्ति किसी गांव में एक किसान के घर गया । किसान के साथ उसका लेन-देन का व्यवहार था । वह खाने के लिए थोड़े से धान के दाने ले गया । किसी गांव में घूघरी बना कर खा लेंगे, यह सोच कर वह चल दिया । रास्ते में उसे खेड़ा मिला । वहां एक बुढ़िया ने उसे राम-राम किया । उस तरुण ने कहा–"भूख बहुत लगी है, रोटी बनाने की सुविधा नहीं है । धान के दाने मेरे पास हैं, क्या घूघरी बना दोगी ?"

बुढ़िया घूघरी बना देने को राजी हो गई । उसने एक हांडी में दाने डाल दिये और आगत तरुण से कहा–"कुछ देर बैठे रहना या निपटना हो तो निपट आओ । मैं अभी आती हूँ ।"

तरुण ने एक बढ़िया भैंस की ओर संकेत करके प्रश्न किया कि यह भैंस किस की है ?

उत्तर मिला–"अपनी ही है ।"

"बाहर क्यों नहीं निकलती ?"

"नजर न लग जाय, इसलिये ।"

इसके बाद उस असंयत वाणी बोलने वाले तरुण ने बिना सोचे-समझे प्रश्न किया – "यदि भैंस मर जाय तो इतनी छोटी संकीर्ण वाड़ी में से कैसे बाहर निकालोगी ?"

बुढ़िया को रोष आया, मगर उस तरुण को घर आया तथा नासमझ समझ कर क्षमा कर दिया ।

तरूण घर में ही बैठा रहा । बुढ़िया तब तक अपनी बहू के साथ पानी लेकर आई । दूसरी कौन है, यह पूछने पर बुढ़िया ने बतलाया–'यह बहू है ।' तरुण

ने कहा–'बहू अच्छी है और चुनरी भी अच्छी है, मगर तुम्हारा पुत्र कहां है ?' बुढ़िया बोली–'शाम को घर आता है ।'

तरुण ने फिर मूर्खता का परिचय देते हुए कहा–"यदि पुत्र की गमी का समाचार आ जाय तो ?"

यह अमंगल वाणी सुनकर बुढ़िया के क्रोध की सीमा न रही । वह पानी का घड़ा उसके ऊपर पटकने को तैयार हो गई किन्तु अभ्यागत समझ कर रुक गई। कपड़े में घूघरी देकर उसे घर से भगा दिया ।

रास्ते में घुघरी का पानी टपकते देख किसी ने पूछा–'यह क्या झर रहा है?'

उसने उत्तर में कहा–"जिभ्या का रस झरे, बोल्या बिना नहीं सरे ।"

इस दृष्टान्त से हमें सीख लेनी चाहिए कि–वाणी मित्र बनाने वाली होनी चाहिए, मित्र को शत्रु बनाने वाली नहीं ।

ऊपरी दृष्टि से ऐसा प्रतीत होगा कि ऐसा बोलने में झूठ का पाप नहीं लगता मगर गहरा विचार करने से पता चलेगा कि बिना विचारे बोली गई वाणी असुहावनी तथा बेसुरी लगती है । विनयचंदजी ने कहा है–

'बिना विचारे बोले बोल
ते नर जानो फूटा ढोल ।'

जो मनुष्य बिना विचारे बोलता है उसका बोलना फूटे ढोल की आवाज के समान है । उसकी कोई कीमत नहीं । अच्छी वाणी वह है जो प्रेममय मधुर और प्रेरणाप्रद होती है ।

वचनों के द्वारा ही मनुष्य के आन्तरिक रूप का साक्षात्कार होता है । मनुष्य जब तक बोलता नहीं तब तक उसके गुण-दोष प्रकट नहीं होते, मगर उसके मुख से निकलने वाले थोड़े-से बोल ही उसकी वास्तविकता को प्रकट कर देते हैं । वाणी मनुष्य के मनुष्यत्व की कसौटी है । कहा गया है–

ना नर गजां तें नापिए, ना नर लीजिए तोल,
परशुराम नर नार का, बोल बोल में मोल ।

वचन के द्वारा ही समझ लिया जाता है कि मनुष्य कैसा है ? इसके संस्कार और कुल कैसे हैं ?

एक ठाकुर साहब की सवारी किसी गांव में होकर निकली । एक सूरदास अपने चबूतरे पर बैठा था । ठाकुर साहब ने कहा–"महाराज सूरदासजी, राम-राम ।"

सूरदास–"राजा महाराजा, राम-राम"

दूसरे कामदार पीछे-पीछे निकले । उनके अभिवादन में सूरदास ने कहा–"कामदारां ! राम-राम"

उनके बाद दरोगा निकले तो सूरदास बोले–"दरोगा, राम-राम ।" अन्त में नौकर आये । उन्होंने सूरदास का अभिवादन किया–"अन्धे, राम-राम ।" सूरदास ने उत्तर में कहा–"गोला ! राम-राम ।"

सूरदास देख नहीं सकता था कि पथिकों में कौन ठाकुर और कौन चाकर है, फिर भी वह उनके अभिवादन करने वाले वचनों को सुनकर ही समझ गया कि इनमें कौन क्या है ?

वास्तव में सभ्य, कुलीन और समझदार व्यक्ति शिष्टतापूर्ण भाषा का प्रयोग करता है जब कि ओछा आदमी ओछी जबान का उपयोग करता है ।

जो पुरुष व्रतों को अंगीकार करता है, वह अपनी वाणी का दुरुपयोग न करके सदुपयोग ही करता है । व्रती की नीति यह नहीं होती कि पहले गन्दगी को बढ़ने दे और फिर उसकी सफाई करे । वह गंदगी से पहले से ही दूर रहता है, नीतिकार ने कहा है–

प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ।

पहले कीचड़ लगाकर उसे धोने की अपेक्षा कीचड़ से दूर रहना और उसे न लगने देना ही उत्तम है ।

भारत की संस्कृति आत्म चिन्तन प्रधान है । उसकी सम्पूर्ण दार्शनिक विचारधारा और आचार नीति आत्मा को ही केन्द्र बिन्दु मानकर चली है । पाश्चात्य देशों के आचार-विचार में यह बात नहीं है । उनकी दृष्टि सदा बहिर्मुख रहती है । भारतीय जन के मानस में आत्मा सम्बन्धी विचार रहता ही है, इस कारण वे उपासना, संध्या आदि के रूप में अन्तःशुद्धि की ओर कदम बढ़ाते हैं । पश्चिम वाले घर एवं फर्नीचर की हालत ऐसी रखते हैं जैसे कल ही दीवाली मनाई गई हो । दोनों दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर हमें सीख लेनी है और सोचना है कि मनुष्य के लिए शाश्वत सुख और शान्ति का मार्ग क्या है ?

मनुष्य को स्वभावतः एक अनमोल रत्न प्राप्त है जो चिन्तामणि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है । अगर उसका सही उपयोग किया जाय तो कहीं और कभी भी

ठोकर खाने की संभावना नहीं रहती । वह अनमोल रत्न है विवेक ! यदि विवेक से काम लिया जाय तो पाप के भार से भारी नहीं बनना पड़ेगा । यही नहीं, विवेक के प्रकाश में इहलोक सम्बन्धी जीवनयात्रा भी सानन्द और सकुशल सम्पन्न होती है । अतएव मनुष्य का कर्तव्य है कि वह सदैव विवेक की दिव्य-ज्योति को जगमगाता रहे, उसे बढ़ाता रहे और उसी के प्रकाश में चले । विवेक सुख और शान्ति की एक-मात्र कुंजी है । यही मानव की विशेषता है । विविध प्रकार की जीवसृष्टि में मनुष्य को जो सर्वोच्च्य पद प्राप्त है उसका एकमात्र प्रधान कारण विवेक है । विवेक ही मानव की शोभा है ।

आज भारत अपनी मूल दृष्टि और संस्कृति से विचलित होता जा रहा है। वह ज्ञानोपासना की अपेक्षा लक्ष्मी पूजा को अधिक महत्त्व प्रदान करने लगा है । समाज में लक्ष्मी को इतना अधिक महत्व प्राप्त हो गया है कि ज्ञान, शील, सदाचार आदि सभी सद्गुण उसके समक्ष फीके पड़ गए हैं । लक्ष्मी को उचित से अधिक समादर लोगों ने दे दिया है, उससे व्यक्ति यह सोचता है कि लक्ष्मी न होगी तो हमें कोई महत्व नहीं मिलेगा । इस प्रकार की विचारधारा से ज्ञान का स्थान गौण हो गया है ।

लक्ष्मी दो प्रकार की होती है—आन्तरिक और बाह्य । आन्तरिक लक्ष्मी आत्मिक सम्पत्ति है और बाह्य लक्ष्मी भौतिक होती है । सच्ची और सदा साथ देने वाली लक्ष्मी आध्यात्मिक विभूति ही हो सकती है । मगर आज की जनता उसे भूलकर बाह्य लक्ष्मी की पूजा में ही अपना कल्याण समझ रही है । इस प्रकार एकान्त बहिरंग दृष्टि के कारण अनेक अवांछनीय परिस्थितियां खड़ी हो गई हैं ।

बहिर्दृष्टि के कारण कभी-कभी उत्सव मंगल के बदले अमंगल का कारण बन जाता है । उत्सव के जोश में आकर लाखों जीवों की हत्या करना मंगल में दंगल करना है—अमंगल को आमन्त्रण देने के समान है । हिंसाकारी साधनों को अपनाने से मंगल अमंगल बन जाता है । फटाके आदि जलाने से लोग जल मरते हैं, मकानों और दुकानों में आग लग जाती है । कहीं-कहीं तो इतनी उद्दाम प्रवृत्तियां बढ़ जाती हैं कि उन्हें दबाने के लिए पुलिस का प्रबन्ध करना पड़ता है । पर्व के पीछे रही हुई भावना को जो भूल जाते हैं वे मानों आत्मा को भूलकर शरीर की पूजा करते हैं। इस अज्ञान एवं भ्रान्त धारणा के कारण व्यक्तिगत तथा सामाजिक हानियां होती हैं ।

पढ़ना, पढ़ाना, सत्साहित्य का निर्माण करना, उसका संवर्द्धन करना और प्रचार करना आदि सदकार्य ज्ञान की पूजा है । यह आन्तरिक लक्ष्मी की पूजा है ।

मुख की लक्ष्मी विवेकपूर्ण बोलना है, सुपात्र एवं सुशीला नारी गृह की लक्ष्मी है, ज्ञान आत्मा की लक्ष्मी है। दान धन की लक्ष्मी है।

वास्तव में ज्ञान को आन्तरिक लक्ष्मी का जो स्वरूप प्रदान किया गया है, उसमें तथ्य है। कहना चाहिए कि वह सच्ची लक्ष्मी है। रुपया, पैसा, नोट, धन रूप बाह्य लक्ष्मी कभी अलक्ष्मी का रूप धारण कर लेती है। वह घोर अमंगल का कारण बन जाती है। आये दिन समाचार-पत्रों में ऐसे समाचार छपते रहते हैं कि रुपया-पैसा के लिए अमुक की हत्या कर दी गई। यों भी बाह्य लक्ष्मी सदा चिन्ता और आकुलता ही उत्पन्न करती है। इसके विपरीत ज्ञानरूपी लक्ष्मी से कभी अमंगल होने की संभावना नहीं रहती। वही इस लोक में तथा परलोक में एकान्त मंगल ही उत्पन्न करती है।

आचार्य भद्रबाहु ने ज्ञान की ज्योति को जागृत रखने के लिए श्रुत की सात वाचनाएं देने का वचन दिया। स्थूलभद्र के नेतृत्व में साधुगण सच्ची लक्ष्मी पूजा के हेतु नेपाल की तराई में भद्रबाहु के पास पहुँचे।

भद्रबाहु ने, जैसा कि कहा जा चुका है, सात वाचनाएं देने के लिए समय निकाला, परन्तु अभ्यास हेतु गये मुनियों को इससे सन्तोष नहीं हुआ। उन्हें ऐसा लगा कि हमारा बहुत समय व्यर्थ जा रहा है। कुछ दिन यों ही असन्तोष में व्यतीत हो गए। तत्पश्चात् उन विद्यार्थी मुनियों ने वापिस अपने गुरु की सेवा में जाने का निश्चय किया। भद्रबाहु स्वामी के सामने अपनी इच्छा प्रकट भी कर दी। स्वामीजी ने जाने की अनुमति दे दी। वे वापिस चले गए। किन्तु स्थूलभद्र उनमें एक विशिष्ट जिज्ञासु और आराधक थे, वे भद्रबाहु स्वामी की ही सेवा में रहे।

अभ्यास करने वालों में प्रायः अधीरता देखी जाती है। वे चाहते हैं कि थोड़े ही दिनों में जैसे-तैसे ग्रन्थों को पढ़ना समाप्त कर दें और विद्वान बन जाएं। मगर उनकी अधीरता हानिजनक होती है। ज्ञान प्राप्ति के लिए समुचित समय और श्रम देना आवश्यक है। गुरु से जो सीखा जाता है, उसे सुनते जाना ही पर्याप्त नहीं है। किसी शास्त्र को आदि से अन्त तक एकबार पढ़ लेना अलग बात है और उसे पचा लेना दूसरी बात है। शिक्षार्थी के लिए आवश्यक है कि वह शिक्षक से जो सीखे उसे हृदय में बद्धमूल करले और इस प्रकार आत्मसात् करे कि उसकी धारणा बनी रहे। उस पर बार-बार विचार करे, चिन्तन करे। शब्दार्थ एवं भावार्थ को अच्छी तरह याद करे। ऐसी तैयारी करे कि समय आने पर दूसरों को सिखा भी सके। चिन्तन-मनन के साथ पढ़े गए अल्पसंख्यक ग्रन्थ भी बहुसंख्यक ग्रंथों के पढ़ने का प्रयोजन पूरा कर देते हें। इसके विपरीत, शिक्षक बोलता गया शिष्य सुनता गया

और इस प्रकार बहुसंख्यक ग्रन्थ पढ़ लिए गए तो भी उनसे अभ्यास का प्रयोजन पूर्ण नहीं होता । इस प्रकार पढ़ने वाला दीर्घ काल में भी विद्वान नहीं बन पाता ।

कई साधु-सन्त यह सोचते हैं कि इस समय पढ़ाने वाले का सुयोग मिला है तो अधिक से अधिक समय लेकर अधिक से अधिक ग्रन्थ बांच कर समाप्त कर दें । बाद में उन पर चिन्तन करेंगे, उनका अभ्यास कर लेंगे और पक्का कर लेंगे । किन्तु इस प्रकार की वृत्ति से अधिक लाभ नहीं होता । जल्दी-जल्दी में जो सीखा जाता है वह धारणा के अभाव में विस्मृति के अंधकार में विलीन हो जाता है और जो समय उसके लिए लगाया गया था वह वृथा चला जाता है । अतएव सुविधा के अनुसार जो भी अध्ययन किया जाय वह ठोस होना चाहिए । जितना-जितना पचता जाय उतना ही उतना नवीन सीखना चाहिए । ऐसा करने से अधिक लाभ होता है। विद्वानों में यह कहावत प्रचलित है कि थोड़ा-थोड़ा सीखने वाला थोड़े दिनों में और बहुत-बहुत सीखने वाला बहुत दिनों में विद्वान बनता है । इस कहावत में बहुत कुछ तथ्य है । जैसे एक दिन में कई दिनों का भोजन कर लेने का प्रयत्न करने वाले को लाभ के बदले हानि उठानी पड़ती है, उसी प्रकार बहुत-बहुत पढ़ लेने किन्तु पर्याप्त चिन्तन-मनन न करने से और कण्ठस्थ करने योग्य को कण्ठस्थ न करने से लाभ नहीं होता । अतः ज्ञानाभ्यास में अनुचित उतावली नहीं करनी चाहिए ।

मुनि स्थूलभद्र ने अधैर्य को अपने निकट न फटकने दिया । वे स्थिर चित्त से वहीं जमे रहे.और अभ्यास करते रहे । उन्होंने विचार किया–'गुरुजी के आदेश से जिज्ञासु होकर मैं यहां आया हूँ,' अतएव वाचना देने वाले की सुविधा के अनुसार ही मुझे ज्ञान ग्रहण करना चाहिए ।

सुपात्र समझकर भद्रबाहु ने स्थूलभद्र को अच्छी शिक्षा दी । शेष साधु संभूतिविजय के पास चले गए । उनके चले जाने पर भी स्थूलभद्र निराश या उदास नहीं हुए । सच्चे जिज्ञासु होने के कारण उन्होंने कष्टों की परवाह नहीं की । उचित आहार आदि प्राप्त न होने पर भी उन्होंने अपना अध्ययन चालू रखा । सात वाचनाएं जारी रहीं ।

चौदह पूर्वों के ज्ञाता श्रुतकेवली केवली के समकक्ष माने जाते हैं । स्थूलभद्र को ऐसे महान् गुरु प्राप्त हुए । उन्होंने अपना अहोभाग्य माना और ज्ञान के अभ्यास में अपना मन लगाया । यदि इस लोक और परलोक को सुखमय बनाना है तो आप भी ज्ञान का दीपक जगाइए । हमें उन महान् तपस्वियों से यही सीख ग्रहण करनी चाहिए जिन्होंने श्रुत की रक्षा करने में अपना बहुमूल्य जीवन लगाया है ।

जो महापुरुष आत्मोत्थान के सोपानों को पार करते-करते पूर्ण सुख और शान्ति की मंजिल तक जा पहुँचे, उन्होंने संसार के दुःख पीड़ित प्राणियों के उद्धार के लिए, अनन्त करुणा से प्रेरित होकर स्वानुभूत एवं आचीर्ण मार्ग का अपनी वाणी द्वारा प्रकाश किया । उनकी वही वाणी कालान्तर में लिपिबद्ध हुई जो श्रुत या आगम के नाम से आज भी हमारे समक्ष है । इस प्रकार श्रुत का महत्व इस बात में है कि उसमें प्रतिपादित तथ्य साधना में सफलता प्राप्त करने वाले महान् ऋषियों के आचीर्ण प्रयोग हैं, अनुभव के सार हैं तथा गम्भीर एवं दीर्घकालीन चिन्तन के परिणाम हैं ।

वीतराग पुरुषों ने यह समझकर कि संसार के जीवों को शान्ति प्रदान करने की आवश्यकता है, शास्त्र के द्वारा शान्ति का मार्ग प्रदर्शित किया है । उन्होंने सन्देश दिया है कि अशान्ति का कारण दुःख है । हिंसा और अनावश्यक रूप से बढ़ी हुई आवश्यकताएं कम हो जाएं तो दुःख कम हो जाएगा । अतएव उन्होंने हिंसा और परिग्रह से दूर रहने पर जोर दिया है । हिंसा और परिग्रह परस्पर सम्बद्ध हैं । जहां हिंसा होगी वहां परिग्रह और जहां परिग्रह है वहां हिंसा होना अनिवार्य है। दोनों का गठबन्धन है ।

परिग्रह और हिंसा की वृत्ति पर अगर अंकुश न रखा गया तो स्वयं को अशान्ति होगी और दूसरों की अशान्ति का भी कारण बनेगी । मगर प्रश्न यह है कि हिंसा और परिग्रह की वृत्ति को रोका कैसे जाए ? मानव का मस्तिष्क और हृदय बहुत दुर्बल है । वह गलत या सही, जहां भी क्षणिक सुख-सुविधा देखता है, उसी ओर झुक जाता है । चाहे परिणाम कुछ भी हो, इस क्षणिक सुख की बदौलत चाहे कितना ही दुःख भविष्य में भोगना पड़े, मगर मनुष्य एक बार उस ओर प्रवृत्त हुए बिना नहीं रहता । ऐसी स्थिति में कौन-सा उपाय अपनाया जाय जिससे मनुष्य का निरंकुश मन अंकुश में आए ? इस प्रश्न के समाधान के लिए भगवान् वीतराग ने व्रतविधि की योजना की है । व्रतों के द्वारा मन को मजबूत करके पाप को सीमित करने का मार्ग प्रस्तुत किया गया है । मनुष्य जब व्रत अंगीकार करता है तो उसका जीवन नियन्त्रित हो जाता है । व्रत के अभाव में जीवन का कोई सदुद्देश्य नहीं रहता । जब व्रत अंगीकार कर लिया जाता है तो एक निश्चित लक्ष्य बन जाता है। व्रती पुरुष कुटुम्ब, समाज तथा देश में भी शान्ति का आदर्श उपस्थित कर सकता है और स्वयं भी अपूर्व शान्ति का उपभोक्ता बन जाता है । व्रती का जीवन दूसरों को पीड़ा प्रदायक नहीं होता, किसी को उत्ताप नहीं देता । वह धर्म, न्याय, शान्ति, सहानुभूति, करुणा और संवेदना जैसी दिव्य भावनाओं का प्रतीक बन जाता है । अतएव जीवन में व्रतविधान की अत्यन्त आवश्यकता है ।

महर्षियों ने शान्ति और कल्याण का जो उपदेश दिया है वह पात्र के पास पहुँचकर सफल बनता है । उपजाऊ जमीन पाने से बीज की कीमत होती है । जिस प्रकार सड़क जैसे एवं पथरीले स्थल में डाला हुआ बीज फलवान् नहीं होता; इसी प्रकार अपात्र को दिया गया उपदेश भी निष्फल जाता है ।

आनन्द महावीर स्वामी के चरणों में योग्य पात्र बनकर आया । उसके हृदय-रूपी उर्वरा प्रदेश में भगवान् ने जो उपदेश का बीज बोया वह अंकुरित हुआ, फलित हुआ । इससे उसके जीवन को अपूर्व प्रकाश मिला । उसने अद्‌भुत शान्ति का अनुभव किया । वह दूसरों के समक्ष भी मार्ग प्रस्तुत करने लगा । वह स्वयं ज्ञान को ग्रहण करके दूसरों के लिए दीपक बना ।

मगर व्रती जीवन की पवित्रता इस बात में है कि जिस भावना एवं संकल्प शक्ति से व्रत को स्वीकार किया गया है, उसे सदैव जागृत रखा जाय, उसमें कमजोरी ने आने दी जाय । अक्सर ऐसा होता है कि किसी प्रसंग पर मनुष्य की भावना ऊपर उठती है और वह मंगलमय मार्ग पर प्रयाण करने को उद्यत हो जाता है किन्तु थोड़े समय के पश्चात् उसका जोश ठंडा पड़ जाता है और स्वीकृत व्रत में आस्था मन्द हो जाने पर वह गली-कूचा खोजने लगता है । यह गली-कूचा खोजना या व्रत की मर्यादा को भंग करने का मार्ग निकालना ही अतिचार कहलाता है । अतिचार के सेवन से व्रत का वास्तविक उद्देश्य नष्ट हो जाता है । उससे आत्मा को प्राप्त होने वाली शान्ति प्राप्त नहीं होती । अतएव गृहस्थ के सभी व्रतों के साथ पांच-पांच अतिचारों का वर्णन किया गया है, जिससे व्रती पुरुष उनसे भलीभाँति परिचित रहे और बचता भी रहे ।

इसी दृष्टिकोण से यहां व्रतों के विवेचन के साथ उनके अतिचारों का भी निरूपण किया जा रहा है । अनर्थदण्ड के अतिचारों में कन्दर्पकथा, कौत्कुच्य और मौखर्य के विषय में कहा जा चुका है । उनकी संक्षेप में व्याख्या भी की जा चुकी है । यहां चौथे अतिचार पर विचार करना है ।

(४) संयुक्ताधिकरणता :–उपकरण और अधिकरण में शाब्दिक दृष्टि से बहुत अन्तर न होते हुए भी दोनों के अर्थ में महान् अन्तर है । धर्म का साधन उपकरण कहलाता है, जब कि अधिकरण वह है जो पाप का साधन हो । जिसके द्वारा आत्मा दुर्गति का अधिकारी बने वह अधिकरण 'अधिक्रियते आत्मा दुर्गतौ येन तदधिकरणम्' ऐसी अधिकरण शब्द की व्युत्पत्ति है ।

अधिकरण दो प्रकार के हैं–द्रव्य-अधिकरण और भाव-अधिकरण । तलवार, बन्दूक आदि पौद्‌गलिक शस्त्रादि जो हिंसा के साधन हैं, द्रव्याधिकरण कहलाते हैं और क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अप्रशस्त भाव भावाधिकरण ।

कैंची, चाकू, फावड़ा, कुदाली, कुल्हाड़ी, कटार, तलवार आदि साधन गृहस्थ को किसी वस्तु के छेदन, भेदन आदि प्रयोजनों के लिए रखने पड़ते हैं । किन्तु सद्गृहस्थ उन्हें इस प्रकार रखेगा कि सहज ही दूसरा उन्हें गलत काम में न ले सके। वह बंदूक में गोली भर कर नहीं रखेगा । अनिवार्य आवश्यकता के समय ही वह इनका उपयोग करेगा । इनके निर्माण का धंधा भी नहीं करेगा । इन खतरनाक औजारों को ले करके वह खुली जगह में, जहां से वे अनायास ही उठाए जा सकें और उपयोग में लिये जा सकें, नहीं रखेगा । ऐसा करना बड़े खतरे का काम है । इससे कई बार अनेक-अनेक दुःख-जनक दुर्घटनाएं हो जाती हैं । घर के बच्चे खेल के लिए उन्हें उठा सकते हैं और स्वयं उसके शिकार हो सकते हैं । दूसरे बच्चे भी उनके निशाना बन सकते हैं । अड़ौसी-पड़ौसी उन्हें उठा ले जा सकते हैं। ऐसा हो तो निरर्थक ही भीषण अनर्थ हो जाता है ।

घर में कोई आक्रमणकारी आजाए, डाकू हमला कर दें या इसी प्रकार की कोई अन्य घटना घटित हो जाय तो उन औजारों का उपयोग करना अर्थदण्ड है । अर्थदण्ड का त्याग श्रावक की व्रत मर्यादा में नहीं आता । बहू-बेटी की मर्यादा की रक्षा, देश की रक्षा आदि का प्रसंग उपस्थित होने पर व्रती श्रावक कायरता प्रदर्शित नहीं करेगा । वह अहिंसा की दुहाई देकर अपने कर्त्तव्य से बचने का प्रयत्न भी नहीं करेगा । वह शस्त्र धारण करेगा और शत्रु का दृढ़तापूर्वक सामना करेगा । अनेक श्रावकों ने ऐसा किया है । किन्तु निरर्थक हिंसा से वह पूरी तरह बचता रहेगा । उसके द्वारा ऐसा कोई कार्य न होगा जिससे बेमतलब खून-खराबा या हिंसा हो । वह बिना हेतु हिंसक साधनों को सुसज्जित करके खुली जगह में रखेगा तो स्वयं को सदा आशंका बनी रहेगी कि कोई उठा न ले । सैनिक भी यदि व्रती है तो वह खुले रूप में, जब वह अनिवार्य रूप से आवश्यक समझेगा, तभी उन शस्त्रास्त्रों का उपयोग करेगा।

तात्पर्य यह है कि अनर्थदण्ड विरमण व्रत का आराधक हिंसा के साधनों को तैयार करके अर्थात् उनके विभिन्न भागों को जोड़ कर नहीं रखता, क्योंकि उससे निरर्थक हिंसा होने की संभावना रहती है । यह हिंसा-प्रदान नामक अनर्थदण्ड का अतिचार है ।

(५) उपभोग परिभोगातिरिक्तता-भोग और उपभोग की वस्तुओं का निरर्थक संग्रह करके रखना भी श्रावक के लिए अतिचार है । बढ़िया साड़ी, ओढ़नी धोती आदि देखकर आवश्यकता न होने पर भी खरीद लेना या अन्य पदार्थों का बिना प्रयोजन संग्रह करना महावीर स्वामी ने पाप कहा है । शीतकाल में गरम कपड़े

चाहिए और ग्रीष्मकाल में पतले, यह तो ठीक है, मगर कई कई पोशाकें गरम कपड़ों की होने पर भी कहीं कोई नयी डिजाइन दिखाई दी और तबियत मचल गई । उसे खरीद लिया । इस प्रकार गरम कपड़ों से पेटियां भरलीं । मलमल आदि के कपड़ों की पेटियां अलग भरी हुई हैं । यह सब अनावश्यक संग्रह है ।

मनुष्य के दो ही पैर होते हैं और उनकी सुरक्षा के लिए एक जोड़ा जूता पर्याप्त है । मगर सेठ साहब और बाबू साहब प्रतिदिन वही जूता पहनें, प्रातःकाल पहना हुआ जूता सायंकाल पहनें तो बडप्पन कैसे सुरक्षित रहेगा ? अतएव पैरों की सुरक्षा के लिए भले एक ही जोड़ा जूता चाहिए मगर बड़प्पन की सुरक्षा के लिए कई जोड़ियां चाहिए ।

आज लोगों की ऐसी दृष्टि बन गई है । कपड़ा और जूता उपयोगिता के क्षेत्र से निकल कर श्रृंगार और बड़प्पन के साधन बन गए हैं । इस दृष्टि भेद का ही परिणाम है कि लोग बिना आवश्यकता के भोगोपभोग की वस्तुओं का संग्रह करते हैं और दूसरों के समक्ष अपना बड़प्पन दिखलाते हैं । इससे गृहस्थों का जीवन सरल-स्वाभाविक न रहकर एकदम कृत्रिम और आडम्बरपूर्ण हो गया है । जहां देखो वहीं दिखावट है । शान-शौकत के लिए लोग आडम्बर करते हैं । प्रत्येक व्यक्ति अपने आपमें जो है, उससे अन्यथा ही अपने को प्रदर्शित करना चाहता है । अमीर अपनी अमीरी का ठसका दिखलाता है । गरीब उसकी नकल करते हैं और अपने सामर्थ्य से अधिक व्यय करके सिर पर ऋण का भार बढ़ाते हैं । इन अवास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के अनैतिक उपायों का अवलम्बन लेना पड़ता है । इस कारण व्यक्ति, व्यक्ति का जीवन दूषित हो गया है और जब व्यक्तियों का जीवन दूषित होता है तो सामाजिक जीवन निर्दोष कैसे हो सकता है ?

कपड़ों और जूतों की फसल आने का कोई नियत समय नहीं है । वे बारहों मास बनते रहते हैं और जब आवश्यकता हो तभी सुलभ हो सकते हैं । फिर भी लोग सन्दूक भर कर कपड़े संग्रह करते और जूते इतने अधिक कि सजा कर रख दिये जायं तो मोची की एक खासी दुकान बन जाय; यह भोगोपभोग के साधनों का वृथा संग्रह निरर्थक आरम्भ और परिग्रह का कारण है ।

कई बार व्यापारिक दृष्टि से भी वस्तुओं का संग्रह किया जाता है । खाद्यान्नों का संग्रह भी किया जाता है । व्यापारी वर्ग के लिए एक सीमा तक यह संग्रह-वृत्ति क्षम्य हो सकती है, पर सीमा का उल्लंघन करके किये जाने वाले संग्रह से अनेक अनर्थ उत्पन्न हो जाते हैं । किसी वर्ग को यह नहीं भूलना चाहिए कि वह जो भी व्यापार-धन्धा करता है, वह समाज एवं देश को हानिकारक नहीं होना चाहिए।

आज इस देश में अनाज पर्याप्त नहीं उत्पन्न होता और विदेशों से मंगाकर जनता की आवश्यकता की पूर्ति की जाती है । अतएव ऐसे भी अवसर आते हैं जब अनाज की कमी महसूस होने लगती है । उस समय अनाज के व्यापारी अगर अपने गोदामों को बन्द कर दें, प्रजा के अन्नाभाव जनित संकट से लाभ उठाने का प्रयत्न करें और लोगों को भूखा मरते देख कर भी न पसीजें तो यह महान् अपराध है, क्रूरता है । यह व्यापारिक नीति नहीं । पदार्थ की रमणीकता को देखकर अनावश्यक रूप से उसका संग्रह कर लेना और भोगोपभोग की सीमा को बढ़ाना आरम्भ की वृद्धि करना है, चाहे वह खाद्य पदार्थ हो, वस्त्र हो या औषध आदि हो ।

सूती वस्त्रों से क्या काम नहीं चल सकता ? करोड़ों मनुष्य ऐसे हैं जिन्हें रेशमी और ऊनी वस्त्र प्राप्त नहीं होते ? क्या वे जीवित नहीं रहते ? शीत और गर्मी से उनके शरीर की रक्षा नहीं होती ? उनकी लज्जा की रक्षा नहीं होती ? बीमारी होने पर साधारण अहिंसक औषधियों से उपचार होता रहा है । जब एलोपैथिक दवाओं का आविष्कार नहीं हुआ था तब एक से एक बढ़ कर प्रभावोत्पादक औषधें इस देश में प्रचलित थीं । उनसे चिकित्सा होती थी । उस समय के लोग आज की अपेक्षा अधिक दीर्घजीवी होते थे । किन्तु आज घोर हिंसाकारी औषधों का प्रचार बढ़ता जा रहा है, साथ ही नये-नये रोग बढ़ते जा रहे हैं और अल्पायुष्कता भी बढ़ती जा रही है। फिर भी लोग अन्धाधुन्ध विलायती औषधों के प्रयोग से बाज नहीं आते।

बड़ी-बड़ी वस्त्र मिलों और कारखानों की स्थापना से प्रजाजनों की आजीविका छिन गई है । हजारों हाथ जो काम करते थे, उसे एक मशीन कर डालती है । बेरोजगारी की समस्या उलझती जा रही है । फिर भी दिन-ब-दिन नवीन कारखाने खुलते जाते हैं । उनके कारण महारम्भ और हिंसा की वृद्धि हो रही है ।

जिन देशों में अहिंसा की परम्परा नहीं है, जिन्हें विरासत में अहिंसा के सुसंस्कार नहीं मिले हैं वहां यदि ऐसी वस्तुओं को प्रोत्साहन मिले तो उतने खेद और आश्चर्य की बात नहीं किन्तु भारत जैसा देश, जो सदैव अहिंसा का प्रेमी रहा है, हिंसाकारी वस्तुओं को अपनाए, तो कौन संसार को अहिंसा का पथ प्रदर्शित करेगा ? अहिंसा का आदर्श उपस्थित करने की योग्यता सिवाय भारतवर्ष के अन्य किसी भी देश में नहीं है । इस देश के महर्षियों ने हजारों-लाखों वर्ष पहले से अहिंसा विषयक चिन्तन आरम्भ किया और उसे गम्भीर रूप दिया । वह चिन्तन आज भी उसी प्रकार उपयोगी है और कभी पुराना पड़ने वाला नहीं है किन्तु आज इस देश के निवासी पश्चिम का अन्धानुकरण करने में ही गौरव समझते हैं । उचित यह है कि हम अपनी संस्कृति की छाप पश्चिम पर अंकित करें और उसे ऋषियों के बताये हुए सन्मार्ग पर लाएं ।

हमारे ऋषि महर्षियों ने शास्त्रों में लौकिक और लोकोत्तर धर्मों का विस्तार से वर्णन किया है, जिसके आधार पर ग्राम्यजीवन-पद्धत्ति की एक अत्यन्त वैज्ञानिक राष्ट्रीय जीवन पद्धति का विकास इस देश में हुआ । हजारों लाखों वर्षों से इस पद्धति ने इस देश को सुखी एवं समृद्धिशाली बनाये रखा । दीर्घकाल तक होते रहे विदेशी आक्रमणों का भी इस जीवन-पद्धति पर कोई असर नहीं पड़ा । पर कालान्तर में अंग्रेजी शासन काल में यह जीवन पद्धति छिन्न-भिन्न हो गई । उसी अंग्रेजी शासन काल में देश पर थोपी गई अंग्रेजी भाषा, पाश्चात्य रहन-सहन एवं चिन्तन ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद उसे और भी छिन्न-भिन्न कर दिया । उस जीवन-पद्धति को आधार रूप से पुनः देश में स्थापित करना है । धर्म प्रसार एवं स्वस्थ व्यक्ति, समांज एवं देश के नव निर्माण के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है । इसी को दृष्टि में रखकर शास्त्राकारों ने दस प्रकार के लौकिक धर्म भी बतलाये हैं । ठाणांग सूत्र में इसका विस्तृत विवरण है ।*

आज न केवल दवाइयां ही वरन् दूसरी बहुत-सी वस्तुएं भी पशु-पक्षियों की हत्या करके निर्मित की जाती हैं । नरम चमड़े के नाना प्रकार के बैग, जूते आदि जीवित पशुओं का चमड़ा उतार कर उससे बनाये जाते हैं । यह कितनी भीषण क्रूरता है, शौकीन लोग ऐसी चीजों का उपयोग करके घोर हत्या के पाप के भागी बनते हैं । जीवन का ऐसा कोई कार्य नहीं जो ऐसी हिंसाजनित वस्तुओं के बिना न चल सके। अतएव ऐसी हिंसा को निरर्थक हिंसा की कोटि में सम्मिलित किया गया है। विवेकशील व्यक्ति सदैव इस प्रकार की हिंसा से बचेगा ।

जैसे बूंद-बूंद पानी निकालने से बड़े से बड़े जलाशय का भी पानी खत्म हो जाता है, उसी प्रकार भोगोपभोग पर नियन्त्रण करते-करते हिंसा को समाप्त किया जा सकता है । अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी इच्छाओं को वश में रखे और आवश्यकताओं का अतिरेक न होने दे । आवश्यकताओं के बढ़ जाने से वांछित वस्तु न मिलने पर वैयक्तिक तथा सामूहिक संघर्ष बढ़ता है ।

सभी देशों में साधारणतया जीवन-निर्वाह के योग्य सामग्री उपलब्ध रहती है किन्तु जब भोगोपभोग की वृत्ति का अतिरेक होता है तब उसकी पूर्ति के लिए वह

---

*इस विषयक ग्रन्थ रूप में विवेचन जैनाचार्य जवाहरलालजी महाराज के व्याख्यानों पर आधारित "धर्म-व्याख्या" में विस्तार से किया गया है । जिज्ञासु पाठक उसे भी पढ़ें–उस पर चिन्तन, मनन व आचरण करें । इसी सन्दर्भ में महात्मा गांधी के विचार भी इससे बड़ा साम्य रखते हैं । सन्दर्भ ग्रन्थ देखें–'मेरे सपनों का भारत' नवम्बर, '८० की आवृत्ति–प्रकाशक, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद पृष्ठ १०८ से १७६ । (सम्पादक)

दूसरे देश का शोषण करने को तत्पर होता है । चीन इसी प्रकार के अतिरेक के कारण भारत पर आक्रमण कर रहा है । युग-युगान्तर से भोगोपभोग की बढ़ी-चढ़ी आवश्यकता ने संसार को अशान्त बना रखा है । संसार को सुधारना कठिन है, परन्तु साधक स्वयं अपने को सुधार कर तथा अपने ऊपर प्रयोग करके दूसरों को प्रेरणा दे सकता है । जो स्वयं जिस मार्ग पर न चल रहा हो, दूसरों को उस मार्ग पर चलने का उपदेश दे तो उसका प्रभाव नहीं पड़ सकता । जो स्वयं हिंसा के पथ का पथिक हो वह यदि अहिंसा पर वक्तृता दे तो कौन उसकी बात मानेगा ? लोग उलटा उपहास करेंगे । अतएव अगर दूसरों को सन्मार्ग पर लाना है, यदि मानसिक सन्तुलन की स्थिति जीवन में उत्पन्न करनी है, मन की विकृतियों को हटाना है, हृदय को शान्त, तनावमुक्त और चिन्ताहीन बनाना है तो साधक को सर्वप्रथम अपने पर नियन्त्रण स्थापित करना चाहिए । ऐसा करने पर अपूर्व शान्ति का लाभ होगा । आत्मसंयम करने की चीज है, कहने की नहीं । मिश्री बेचने वाला 'मीठी है' कहने के बदले चखने को देकर शीघ्र अनुभव करा सकता है । धर्म के विषय में भी यही स्थिति है। पालन करने से ही उसका वास्तविक लाभ प्राप्त होता है ।

आनन्द ने श्रावकधर्म के पालन का दृढ़ संकल्प किया । उसने इस संकल्प के साथ व्रतों को अंगीकार किया कि मैं इन व्रतों में अतिचार नहीं लगने दूंगा । जो इन व्रतों के दूषणों से बचा रहता है, उसके लिए सामायिक आदि व्रत सरल हो जाते हैं । अणुव्रतों और गुणव्रतों की साधना को जो सफलतापूर्वक सम्पन्न कर लेते हैं वे सामायिक की साधना के पात्र बन जाते हैं । जैसे सुमरनी (माला) की आदि और अन्त सुमेरु है, उसी प्रकार सामायिक व्रतों की आदि और अन्त दोनों है । जब तक उसका ठीक रूप समझ में नहीं आएगा तब तक आदि और अन्त कैसे समझ में आ सकता है ?

शास्त्र का कथन है कि जब तक हृदय में शल्य विद्यमान रहता है तब तक व्रती जीवन प्रारम्भ नहीं होता । माया, मिथ्यात्व और निदान, ये तीन भयंकर शल्य हैं जो आत्मा के उत्थान में रुकावट डालते हैं । इनके अतिरिक्त जब कषायभाव की मन्दता होती है, अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण नामक कषाय का उपशम या क्षय होता है तभी जीव व्रती बनता है । इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के आने पर जीव पर-पदार्थ को बन्ध का कारण समझता है और शुद्ध चेतनास्वरूप आत्मा को पहचानता है । उस समय वह समझने लगता है कि आत्मा सभी पौद्गलिक भावों से न्यारा है, निराला है और उनके साथ आत्मा का तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, शरीर, इन्द्रियां और मन पौद्गलिक होने से आत्मा से पृथक् है । आत्मा अरूपी तत्त्व है, देहादि रूपी है। आत्मा अनन्त चेतना का पुंज है, देहादि जड़ है । आत्मा अजर, अमर, अविनाशी

द्रव्य है, देह आदि जड़ पर्याय हैं जिनका क्षण-क्षण में रूपान्तर होता रहता है । इस प्रकार इनके साथ न आत्मा का कोई सादृश्य है और न एकत्व है ।

इस प्रकार का भेद-विज्ञान सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होने पर होता है । भेद-विज्ञान की उत्पत्ति के साथ ही मोक्ष मार्ग का प्रारंभ होता है । भेद विज्ञानी प्राणी हेय और उपादेय के वास्तविक मर्म को पहचान लेता है और चाहे वह अपने ज्ञान के अनुसार आचरण न कर सके, फिर भी उसके चित्त में से राग-द्वेष की सघन ग्रन्थि हट जाती है और एक प्रकार का उदासीन भाव उत्पन्न हो जाता है, जिसके कारण वह अत्यासक्त नहीं बनता । वह जल में कमल की तरह अलिप्त रहता हुआ संसार व्यवहार चलाता है । तत्पश्चात् कषाय की अधिक मन्दता होने पर अणुव्रत आदि प्रारम्भ होते हैं । इससे स्पष्ट है कि व्रतों की आदि सम्यक्त्व है और सम्यक्त्व को सामायिक में परिगणित किया गया है, अतएव सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक को आदि में मानना उचित ही है ।

एक चूल्हे-चौके का काम करने वाली महिला और दूकान पर बैठा व्यवसायी यदि सम्यक्त्व सामायिक से सम्पन्न होगा तो उसे सदैव यह ध्यान रहेगा कि मेरे निमित्त से, मेरी असावधानी से किसी भी जीव-जन्तु को पीड़ा न पहुँचे । चूल्हे और व्यवसाय का काम चल रहा है और वह महिला तथा पुरुष सामायिक भी कर रहे हैं। बाह्य दृष्टि से यह सामायिक नहीं है पर यदि वास्तव में सामायिक न हो तो वह हिंसा को कैसे बचाएगा ? अतएव कहा गया है कि वहां सामायिक की आदि है ।

और अन्त में, जहां त्याग की पूर्णता है वहां तो सामायिक है ही । अनर्थ दण्ड विरमण व्रत के पश्चात् सामायिक को स्थान देकर महावीर स्वामी ने एक महत्त्वपूर्ण बात यह सूचित की है कि भोगोपभोग की वृत्ति पर अंकुश रखना चाहिए। ऐसा करने से साधना के मार्ग में शान्त और स्थिर दशा सुलभ होगी । शान्ति और स्थिरता के बिना साधना नहीं हो सकती । जो स्वयं अशान्त रहेगा वह दूसरों को कैसे शान्ति प्रदान कर सकता है ?

महापुरुष साधना के मार्ग में सफल हुए, स्वयं शान्ति स्वरुप बन गए और दूसरों के पथप्रदर्शक बन गए । महावीर स्वामी ने आनन्द का पथ प्रदर्शन किया । भद्रबाहु ने स्थूलभद्र को योग्य पात्र जान कर उनका पथप्रदर्शन किया । उन्हें श्रुत का अभ्यास कराया । श्रुताभ्यास के लिए पांच अवगुणों का परित्याग करना अत्यावश्यक है–

थंभा कोहा पमाएणं रोगेणालस्सएण य ।

ज्ञानार्थी पुरुष को (१) अहंकार (२) क्रोध (३) प्रमाद (४) रोग और (५) आलस्य, इन पांच बातों से बचना ही चाहिए । इनसे बचने पर ही ज्ञान का अभ्यास किया जा सकता है ।

जैसे ऊँची जमीन पर पानी नहीं चढ़ता उसी प्रकार अहंकारी को विद्या की प्राप्ति नहीं होती । विद्या प्राप्ति के लिए विनम्रता चाहिए, विनयशीलता होनी चाहिए । इसी प्रकार जो क्रोधशील होता है, चिड़चिड़ा होता है, जिसके हृदय में क्रोध की ज्वालाएँ रहती हैं, वह भी श्रुत का अभ्यास करने में असमर्थ रहता है । प्रमादी व्यक्ति चलते-चलते बहुत समय तक बातें करता रहता है, सोया तो सोता रहेगा, खाने बैठा तो खाया करेगा । श्रृंगार-सजावट करने में घण्टों बिता देगा । वह कुछ समझेगा, कुछ करेगा । फिजूल की बातों में उपयोगी समय नष्ट करेगा । दूसरों की निन्दा करेगा, विकथा करेगा और अपनी ओर जरा भी लक्ष्य नहीं देगा ।

आलसी आदमी भी विद्या का अभ्यास नहीं कर सकता । विद्याभ्यास के लिए स्फूर्ति आवश्यक है । नियमित कार्य करने की वृत्ति अपेक्षित है । 'आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः' अर्थात् आलस्य शरीर के भीतर पैठा हुआ महान् शत्रु है। बाहर के दुश्मन से बचना सरल होता है किन्तु अपने ही अन्दर छिपे बैरी से पार पाना कठिन होता है । आलसी मनुष्य उपस्थित कार्य को आगे सरकाने की चेष्टा करता है, कर्त्तव्य को टालने और उससे बचने का प्रयत्न करता है और यही सोच कर समय नष्ट करता है कि आज नहीं, कल कर लेंगे । कल आने पर परसों का बहाना करता है और आप ही अपने को धोखा देता रहता है ।

इस प्रकार ज्ञानोपार्जन के बाधक कारणों को जान कर उनसे बचना चाहिए। जो उक्त पांचों दोषों से बचे रहते हैं वे ही श्रुत की आराधना करने में समर्थ होते हैं ।

स्थूलभद्र के साथ कई सन्त श्रुताभ्यास के हेतु गए थे । किन्तु स्थूलभद्र के सिवाय शेष सभी वापिस लौट आए । उनमें उक्त पांच बातों में से कोई न कोई बात रही होगी । जो व्यक्ति दृढ़ संकल्प के साथ, हिम्मतपूर्वक किसी शुभ कार्य में जुट जाता है, उसे अवश्य सफलता प्राप्त होती है चाहे वह कार्य कितना ही दुस्साध्य हो ।

मनुष्य जीवन अल्पकालिक है । मृत्यु ज्ञानी और अज्ञानी में, गृहस्थ और गृहत्यागी में एवं राजा और रंक में कोई भेद नहीं करती । उसके लिए सभी समान हैं । जिसने जन्म लिया, उसका मरण अवश्यंभावी है । आचार्य संभूतिविजय भी अन्ततः स्वर्गवासी बने । उनके देहोत्सर्ग के बाद भद्रबाहु लौट कर आए और उन्होंने

शासनसूत्र संभाला । स्थूलभद्र भी निश्चल संकल्प के साथ उनके पास रहे । इस समय तक दस पूर्वों के लगभग का ज्ञान उन्हें हो चला था । भद्रबाहु स्वामी ने कुशलता के साथ शासन चलाना प्रारम्भ किया । स्थूलभद्र उनके सहायक थे । वे ओजस्वी, तेजस्वी और सूक्ष्म सिद्धान्तवेत्ता हो गए थे तथा भद्रबाहु के बाद आचार्य पद के योग्य समझे जाने लगे थे ।

आगम या किसी भी अन्य विषय का शब्दार्थ प्राप्त करके यदि चिन्तन न किया गया तो आत्मा की उन्नति नहीं हो सकेगी । पढ़ कर चिन्तन और मनन करने से ही जीवन में मोड़ आता है और मोड़ आने पर आत्मा का उत्थान होता है । पठित पाठ चिन्तन-मनन के द्वारा ही आत्मसात् या हृदयंगम होता है और वही ज्ञान सार्थक है जो आत्मसात् हो जाए । स्थूलभद्र अपने गुरु भद्रबाहु से वाचना लेकर बाद में अलग से चिन्तन करते और उसकी दृढ़ धारणा करने की कोशिश करते थे । ऐसा करने से उन्हें बहुत लाभ हुआ ।

आप लोगों ने भी चातुर्मास में प्रतिदिन व्याख्यान श्रवण किया है । उसमें से क्या और कितना ग्रहण किया, इस बात पर आपको विचार करना चाहिए । चातुर्मास की समाप्ति के दिन सन्निकट आ रहे हैं । देवालय का कबूतर नगाड़ा बजाने पर भी नहीं उड़ता परन्तु कुआँ का कबूतर साधारण आवाज से भी उड़ जाता है । हमें देवालय के कबूतर के समान नहीं होना चाहिए जिस पर कहने-सुनने का कुछ असर ही नहीं पड़ता, बल्कि कुएं के कबूतर के समान बनना चाहिए । आत्महित की जो भी बात कर्णगोचर हो उसको विवेक के साथ अपनाना चाहिए । अपनाने से ही ज्ञान सार्थक होता है । अगर जीवन में कुछ भी न उतारा गया तो फिर कोरा ज्ञान किस मतलब का ?

स्थूलभद्र की सात बहिनें भी थीं जो बड़ी बुद्धिशालिनी थीं । महामन्त्री शकटार ने उनके जीवन-निर्माण में कोई कसर नहीं उठा रखी थी । उसने सोने से शरीर को सुसज्जित करने की अपेक्षा ज्ञान से जीवन को मण्डित करना अधिक कल्याणकर समझा । उन बहिनों ने भी प्राप्त ज्ञान का सदुपयोग किया और संयम को ग्रहण किया । इस प्रकार वे ज्ञान के साथ संयम की साधना करने लगीं । सुशिक्षा और ज्ञान की उपसम्पदा प्राप्त कर लेने के कारण और साथ ही अपने भाई स्थूलभद्र के साधु हो जाने के कारण उन्होंने अपने जीवन को राग की ओर बढ़ाना छोड़ दिया । राग रोग है, ऐसा समझ कर उन्होंने विराग का मार्ग अपनाया—दीक्षा अंगीकार कर ली । यही नहीं, तप और संयम की आराधना करके ज्ञान की ज्योति प्राप्त की ;

सातों साध्वियां आचार्य भद्रबाहु की सेवा में पहुँचीं जिससे अपने भ्राता स्थूलभद्र के दर्शन कर सकें ।

बन्धुओ ! जैसे इन सन्तगणों का जीवन ज्ञान के अपूर्व आलोक से जगमगा उठा, उसी प्रकार हमें भी अपने जीवन को आलोकमय बनाना है । ऐसा करने पर ही उभयलोक में कल्याण होगा ।

[६९]

सामायिक

वीतराग देव ने आध्यात्मिक साधना का बड़ा महत्व बतलाया और जब कोई भी साधक साधना के महत्व को हृदयंगत करके उसके वास्तविक रूप को अपने जीवन में उतारता है तो उसके जीवन का मोड़ निराला हो जाता है । चाहे उसकी बाह्य प्रवृत्तियां एवं चेष्टाएं बदली हुई प्रतीत न हों तथापि यह निश्चित है कि साधनाशीलता की स्थिति में जो भी कार्य या संसार-व्यवहार किये जाते हैं, उनके पीछे साधक की वृत्ति भिन्न प्रकार की होती है । एक ही प्रकार का कार्य करने वाले दो व्यक्तियों की आन्तरिक वृत्ति में जमीन-आसमान जितना अन्तर हो सकता है । उदाहरण के लिए भोजन क्रिया को लीजिए । एक मनुष्य जिह्वालोलुप होकर भोजन करता है और दूसरा जितेन्द्रिय पुरुष भी भोजन करता है । ऊपर से भोजन क्रिया दोनों की समान प्रतीत होती है । किन्तु दोनों की आन्तरिक वृत्ति में महान् अन्तर होता है । प्रथम व्यक्ति रसना के सुख के लिए अतिशय गृद्धिपूर्वक खाता है जबकि जितेन्द्रिय पुरुष लोलुपता को निकट भी न फटकने देकर केवल शरीर-निर्वाह की दृष्टि से भोजन करता है । उसके मन में लेशमात्र भी गृद्धि नहीं होती ।

इस प्रकार एक-सी प्रवृत्ति में भी वृत्ति की जो भिन्नता होती है, उससे परिणाम में भी महान् अन्तर पड़ जाता है । जितेन्द्रिय पुरुष के भोजन का प्रयोजन संयम-धर्म-साधक शरीर का निर्वाह करना मात्र होने से वह कर्म-बन्ध नहीं करता, जबकि रसनालोलुप अपनी गृद्धि के कारण उसे कर्म-बन्ध का कारण बना लेता है । यह साधना का ही परिणाम है । यही नहीं, साधना विहीन व्यक्ति रूखा-सूखा भोजन करता हुआ भी हृदय में विद्यमान लोलुपता के कारण तीव्र कर्म बाँध लेता है जबकि साधना सम्पन्न पुरुष सरस भोजन करता हुआ भी अपनी अनासक्ति के कारण उससे बचा रहता है ।

साधना शून्य मनुष्य के प्रत्येक कार्य-कलाप में आसक्ति का विष घुला रहता है, साधनाशील उन्हीं कार्यों को अनासक्त भाव से करता हुआ उनमें वीतरागता का अमृत भर देता है ।

अध्यात्म साधना का अर्थात् राग-द्वेष की वृत्ति का परित्याग करके समभाव जागृत करने का महत्व कम नहीं है और यही साधक के जीवन को निर्मल और उच्च बनाने का कारण बनता है ।

आज व्रत्तों की साधना करने वाले थोड़े ही दिखाई देते हैं, इसका कारण यह है कि लोग साधना के महत्व को ठीक तरह समझ नहीं पाए हैं और इसी कारण वे साधना के मार्ग में प्रवृत्त नहीं हो रहे हैं ।

भूतकाल और वर्तमान काल का इतिहास देखने से यह बात प्रमाणित होती है कि जिसने साधना को जीवन में उतार लिया उसने अपना यह लोक और परलोक सुधार लिया ।

गृहस्थ आनन्द ने प्रभु महावीर के चरणों में पहुँच कर बारह व्रत अंगीकार किये और अपने जीवन को साधना के मार्ग में लगा दिया । साधारण ऊपरी दृष्टि से भले ही दिखाई न दे कि उसके जीवन में क्या परिवर्तन आया, मगर उसके आन्तरिक जीवन में आध्यात्मिकता की ज्योति जगमगा गई । यही कारण है कि आनन्द सभी अतिचारों का परित्याग करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हो जाता है ।

जो साधक भोगोपभोग के साधनों के विषय में अपने मन को नियन्त्रित कर लेता है और उनकी सीमा निर्धारित कर लेता है, वह मानसिक सन्तुलन को प्राप्त करके सामायिक की साधना में तत्पर हो जाता है । संयम की साधना के विकसित करना उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है ।

भगवान् महावीर ने आनन्द को लक्ष्य करके, उसके व्रतों की निर्मलता के लिए अतिचारों का निरूपण किया । यद्यपि शास्त्रकार का लक्ष्य आनन्द श्रावक है किन्तु आनन्द के माध्यम से वे संसार के सभी मुमुक्षुओं को प्रेरणा देना चाहते हैं । अतएव वह निरूपण जैसे उस समय आनन्द के लिए हित कर था उसी प्रकार अन्य श्रावकों के लिए भी हित कर था और जैसे उस समय हित कर था वैसे ही आज भी हितकर है । शाश्वत सत्य त्रिकाल-अबाधित होता है । देश और काल की सीमाएं उसे बदल नहीं सकतीं ।

भगवान् ने कहा—सामायिक व्रत के पांच दूषण हैं । साधक इन दूषणों को समीचीन रूप में समझे और उनसे बचता रहे । उनका आचरण न करे ।

सामायिक तन और मन की साधना है । इस व्रत की आराधना में तन की दृष्टि से इन्द्रियों पर नियन्त्रण स्थापित किया जाता है और मन की दृष्टि से उसके उद्वेग एवं चांचल्य का निरोध किया जाता है । मन में नाना प्रकार के जो संकल्प-विकल्प होते रहते हैं, राग की, द्वेष की, मोह की या इसी प्रकार की जो परिस्थिति उत्पन्न होती रहती है, उसे रोक देना सामायिक व्रत का लक्ष्य है । समभाव की जागृति हो जाना शान्ति प्राप्ति का मूल मन्त्र है । इस संसार में जितने भी दुःख, द्वन्द, क्लेश और कष्ट हैं, वे सभी चित्त के विषम भाव से उत्पन्न होते हैं । उन सबके विनाश का एकमात्र उपाय समभाव है । समभाव वह अमोघ कवच है जो प्राणी को समस्त आघातों से सुरक्षित कर देता है । जो भाग्यवान् समभाव के सुरम्य सरोवर में सदा अवगाहन करता रहता है, उसे संसार का ताप पीड़ा नहीं पहुँचा सकता । समभाव वह लोकोत्तर रसायन है जिसके सेवन से समस्त आन्तरिक व्याधियां—वैभाविक परिणतियां नष्ट हो जाती हैं । आत्मा रूपी निर्मल गगन में जब समभाव का सूर्य अपनी समस्त प्रखरता के साथ उदित होता है तो राग, द्वेष, मोह आदि उलूक विलीन हो जाते हैं । आत्मा में अपूर्व ज्योति प्रकट हो जाती है और उसके सामने आलोक ही आलोक प्रसारित हो उठता है ।

किन्तु अनादि काल से विभाव में रमण करने वाला और विषम भावों के विष से प्रभावित कोई भी जीव सहसा समभाव की उच्चतर भूमिका पर नहीं पहुँच सकता । समभाव को प्राप्त करने और बढ़ाने के लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है । जैसे अखाड़े में व्यायाम करने वाला व्यक्ति अपने शारीरिक बल को बढ़ाता है, वैसे ही सामायिक द्वारा साधक अपनी मानसिक दुर्बलताओं को दूर करके समभाव और संयम को प्राप्त करता है । अतएव प्रकारान्तर से सामायिक के साधनों को मन का व्यायाम कहा जा सकता है ।

सामायिक व्रत की आराधना करने में अतिचार लग सकते हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) मणदुप्पणिहाणे—सामायिक का पहला अतिचार मनः दुष्प्रणिधान है जिसका तात्पर्य है मन का अशुभ व्यापार । सामायिक के समय में साधक को ऐसे विचार नहीं करने चाहिए जो सदोष या पापयुक्त हों । सामायिक में मन आत्मोन्मुख होकर एकाग्र बन जाना चाहिए । एकाग्रता को खण्डित करने वाले विचारों को मन में स्थान देना या आत्म चिंतन से विमुख करने वाले विचारों का मन में प्रवेश होने देना साधक की पहली दुर्बलता है ।

मन में बड़ी शक्ति है। उसके प्रशस्त व्यापार से स्वर्ग मोक्ष और अप्रशस्त व्यापार से नरक तैयार समझिए। कहा है–

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

किसी जलाशय का पानी व्यर्थ बहाया जाय तो वह कीड़े उत्पन्न करता है और संहारक बन जाता है और यदि उसी जल का उचित उपयोग किया जाय तो अनेक खेत लहलहाने लगते हैं। मानसिक शक्ति का भी यही हाल है। मानसिक शक्ति के सदुपयोग से अलौकिक शान्ति प्राप्त की जा सकती है। अतएव मन को काबू में करना साधना का प्रधान अंग है। मन में गर्व, क्रोध, कामना, भय आदि को स्थान देकर यदि कोई सामायिक करता है तो ये सब मानसिक दोष इसे मलिन बना देते हैं। पति और पत्नी में या पिता और पुत्र में आपसी रंजिश पैदा हो जाय तब रुष्ट होकर काम न करके सामायिक में बैठ जाना भी दूषण है। अभिमान के वशीभूत होकर या पुत्र, धन, विद्या आदि के लाभ की कामना से प्रेरित होकर सामायिक की जाती है तो वह भी मानसिक दोष है। अप्रशस्त मानसिक विचारों के कारण सामायिक से आनन्द लाभ के बदले उलटा कर्म बन्ध होता है। अतएव साधक को इस ओर से सावधान रहना चाहिए और प्रसन्न एवं शान्तचित्त से समभाव को जागृत करने के उद्देश्य से, वीतराग भाव की वृद्धि के लिए तथा कर्मनिर्जरा के हेतु ही सामायिक की आराधना करनी चाहिए।

(२) वयदुप्पणिहाणे–सामायिक का दूसरा दोष है वचन का दुष्प्रणिधान अर्थात् वचन का अप्रशस्त व्यापार। सामायिक के समय आत्मचिन्तन, भगवत् स्मरण या स्वात्मरमण की ही प्रधानता होती है, अतएव सर्वोत्तम यही होगा कि मौन भाव से सामायिक का आराधन किया जाय। यदि आवश्यकता हो और बोलने का अवसर आए तो भी संसार-व्यवहार सम्बन्धी बातें नहीं करनी चाहिए। हाट, हवेली या बाजार सम्बन्धी बातें न करें, काम कथा और युद्ध कथा से सर्वथा बचते रहें। कुटुम्ब-परिवार के हानि-लाभ की बातें करना भी सामायिक को दूषित करना है। भगवान् महावीर ने कहा–"मानव ! सामायिक आत्मोपासना का परम साधन है। अतएव सामायिक के काल में अपनी आत्मा के स्वरूप को निहार, आत्मा के अनन्त अज्ञात वैभव को पहचानने का प्रयत्न कर, भेद-विज्ञान की अलौकिक ज्योति को वृद्धिंगत कर, मन की एकाग्रता के साथ वचन को गोपन कर और सम्पूर्ण काययोग अपनी ही आत्मा में समाहित कर ले। इतना न हो सके तो कम से कम वचन का दुष्प्रणिधान तो मत कर। ऐसा बोल जो हित, मित, तथ्य, पथ्य और निर्दोष हो।"

सामायिक के समय परमात्मा की स्तुति और शान्त पठन में वाणी का उपयोग किया जा सकता है। ऐसा करना वचन का सुप्रणिधान है।

योगाचार्य ऋषि पातंजलि के बताये हुए योग के आठ अंगों में–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि परिगणित हैं। योग की अन्तिम अवस्था समाधि है। समाधि-अवस्था को प्राप्त करने के लिए सामायिक व्रत का अभ्यास आवश्यक है।

सामायिक व्रत के स्वरूप पर गहराई से विचार करेंगे तो प्रतीत होगा कि इसमें योगांगों का सहज ही समावेश हो जाता है। योग का प्रथम अंग यम है। यम का अर्थ है अहिंसा आदि व्रत। कहा भी है–'अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः।' सामायिक में भी हिंसा, असत्य, चौर्य, कुशील और ममत्व का त्याग किया जाता है। इस प्रकार सामायिक में योग के प्रथम अंग का अनायास ही अन्तर्भाव हो जाता है।

सामायिक में प्रभुस्मरण, स्वाध्याय आदि का अभ्यास किया जाता है जो योग का नियम नामक दूसरा अंग है।

सामायिक के समय शरीरिक चेष्टाओं का गोपन करके स्थिर एक आसन से साधना की जाती है। चलासन और कुआसन सामायिक के दोष माने गए हैं। अगर कोई पद्मासन या वज्रासन आदि से लम्बे काल तक न बैठ सके तो किसी भी सुखद एवं समाधिजनक आसन से बैठे किन्तु स्थिर होकर बैठे। पलथी आसन या उत्कुटुक आसन से भी बैठा जा सकता है। किन्तु बिना कारण बार-बार आसन न बदलते हुए स्थिर बैठना चाहिए।

योगाचार्य ने योग के ८४ आसन बतलाए हैं किन्तु कौन किस आसन का प्रयोग करके साधना करे, इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का आग्रह न रखते हुए 'सुखासनम्' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। जिस आसन से सुखपूर्वक बैठा जाय और जिसके प्रयोग से चित्त में शान्ति रहे वही उपयुक्त आसन है। रुग्णावस्था में जब बैठने की शक्ति न हो तो दण्डासन से लेटकर भी साधना कर सकते हैं। इस प्रकार आसन के अभ्यास में योग का तीसरा अंग आ जाता है।

ध्यान में लोगस्स सूत्र आदि का चिन्तन बतलाया गया है। यदि उसमें सांस को बिना तोड़े धीरे-धीरे स्मरण को बढ़ाया जाय तो अनायास ही प्राण की दीर्घता प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार सामायिक में प्राणायाम भी हो जाता है।

महावीर स्वामी ने साढ़े बारह वर्ष पर्यन्त तीव्र तपश्चर्या करके वीतराग दशा प्राप्त की और सामायिक का साक्षात्कार किया। उन्होंने संसार को यह सन्देश दिया कि यदि शान्ति, स्थिरता और विमलता प्राप्त करनी है तो सामायिक की साधना करो।

वीतरागता के सर्वोच्च शिखर पर आसीन अर्हन्तों ने प्रकट किया है कि जब तक सामायिक का साक्षात्कार नहीं किया जाता जब तक सामायिक साधना कई बार आती है और चली भी जाती है, चाहे साधक श्रमणोपासक हो अथवा श्रमण हो ।

(3) कायदुप्पणिहाणे–सामायिक का तीसरा दूषण शरीर का दुष्प्रणिधान है ।

शरीर के अंग-प्रत्यंग की चेष्टा सामायिक में बाधक न हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि इन्द्रियों एवं शरीर द्वारा अयतना का व्यवहार न हो । सामायिक की निर्दोष साधना के लिए यह अपेक्षित है । इधर-उधर घूमना, बिना देखे चलना, पैरों को घुमाते हुए चलना, रात्रि में बिना पूंजे चलना बिना देखे हाथ-पैर फैलाना आदि काय के दुष्प्रणिधान के अन्तर्गत हैं । मन, वचन और काय का दुष्प्रणिधान होने पर सामायिक का वास्तविक आनन्द प्राप्त नहीं होता ।

किसी गांव में एक बुढ़िया थी । पुत्र आदि परिवार के होने पर भी स्नेहवशात् बेचारी रात-दिन घर-गृहस्थी के कार्य में पचती रहती थी । सौभाग्य से उस गांव में एक महात्मा जा पहुँचे । बुढ़िया के पुत्र बहुत शिष्ट और साधु-सेवी थे । वे महात्मा की सेवा में पहुँच कर और बहुत आग्रह करके उन्हें अपने घर लाए । महात्मा से निवेदन किया–"महाराज ! हमारी माता वृद्धावस्था में भी कोई धर्मकृत्य नहीं करतीं । उन्हें यदि कुछ प्रेरणा करें और नियम दिला दें तो उनका कल्याण होगा ।"

महात्मा ने उत्तर दिया–जैसा अवसर होगा, देखा जाएगा । पर सन्त-महात्मा परोपकार परायण होते हैं । वे आत्म-कल्याण के साथ पर-कल्याण को भी अपने जीवन का परम लक्ष्य मानते हैं । बल्कि यों कहना चाहिए कि परोपकार को भी वे आत्मोपकार का ही एक अंग समझते हैं । अतएव महात्मा भिक्षा के अवसर पर उनके घर पहुँचे । लड़के भिक्षा देने लगे तो वृद्धा ने कहा–"आज तो मुझे भी लाभ लेने दो ।" लड़के एक ओर हो गए और वृद्धा महात्मा को आहार दान देने लगी ।

महात्मा ने उससे कहा–"बाई ! तुम्हारे हाथ से हम तभी भिक्षा ग्रहण करेंगे जब कुछ धार्मिक नियम ग्रहण करोगी ।"

बुढ़िया नहीं चाहती थी कि महात्मा उसके द्वार पर पधार कर खाली लौटें, अतएव उसने प्रतिदिन एक सामायिक करने का नियम ले लिया । महात्मा उसके हाथ से भिक्षा लेकर अपने स्थान पर चले गए ।

वृद्धा प्रतिदिन समय-असमय घड़ी भर साधना कर लेती थी । एक दिन भोजन से निवृत्त हो जाने के पश्चात् उसकी बहुएँ गाँव में इधर-उधर मिलने चली

गईं। चने भिगोये गये थे सो घर के बाहर चबूतरे पर सूख रहे थे । वृद्धा घर के बाहर सामायिक करने बैठी थी, अतएव बहुओं ने बाहर जाते समय मकान का ताला लगा दिया और चाबी द्वार पर एक ओर लटका दी ।

संयोगवश उसके एक लड़के को पंसेरी की आवश्यकता पड़ी और वह उसे लेने के लिए घर आया । उसने दरवाजा बन्द देख कर वापिस लौटने का उपक्रम किया । बुढ़िया बैठी-बैठी यह सब देख रही थी मगर सामायिक में होने से कुछ कहने में संकोच कर रही थी । किन्तु अन्त तक उससे रहा नहीं गया । उसने सोचा-लड़के को व्यर्थ ही चक्कर होगा और व्यापार के काम में बाधा पड़ेगी ।

इधर उसके मन में यह संकल्प-विकल्प चल ही रहा था कि अचानक एक भैंसा उधर आ निकला और चनों की ओर बढ़ने लगा ।

बुढ़िया के लिए चुप रहना अब असम्भव हो गया, परन्तु सामायिक के भंग होने का भय भी उसके चित्त में समाया हुआ था । सामायिक भंग करने से न मालूम क्या अनर्थ या अनिष्ट हो जाय, इस भय से वह उद्विग्न हो रही थी ।

मनुष्य दूसरों को तो धोखा देता ही है, अपने आपको भी धोखा देने से नहीं चूकता । बुढ़िया ने इस अवसर पर आत्मवंचना का ही अवलम्बन लिया । वह शान्तिनाथ भगवान् की प्रार्थना करने के बहाने कहने लगी–"बेटा जरा शान्तिनाथ की प्रार्थना सुन ले, मैं सामायिक में हूँ ।" प्रार्थना यों है–

"पाड़ो दाल चरे, कूंची घोड़ा परे,
पंसेरी घट्टी तले, मोही तारो जी,
श्री शान्तिनाथ भगवान्, मोही पार उतारो जी ।"

लड़के ने यह प्रार्थना सुनी और उसके मर्म को भी समझ लिया । उसने भैंसे को भगा दिया, कूंची प्राप्त कर ली और पंसेरी लेकर चला गया ।

इस प्रकार सामायिक करने का स्वांग करने से, दंभ करने से और आत्मप्रवंचना करने से अनन्त काल में भी कार्य सिद्धि होने वाली नहीं है । धर्म उसी के मन में रहता है जो निर्मल हो । माया और दंभ से परिपूर्ण हृदय में धर्म का प्रवेश नहीं हो सकता । बुढ़िया की जैसी चेष्टा करने से मन का, वचन का और काय का भी दुष्प्रणिधान होता है और इससे सामायिक का प्रदर्शन भले हो जाय, वास्तविक सामायिक के फल की प्राप्ति का तो प्रश्न ही नहीं उठता ।

(८) सामाइअस्स सइ अकरणया–सामायिक काल में सामायिक की स्मृति न रहना भी सामायिक का दोष है ।

(५) सामाइअस्स अणवट्ठियस्स करणया—व्यवस्थित रूप से अर्थात् आगमोक्त पद्धति से सामायिक व्रत का अनुष्ठान न करने से इस दोष का भागी होना पड़ता है। सामायिक अंगीकार करके प्रमाद में समय व्यतीत कर देना, नियम के निर्वाह के लिए जल्दी-जल्दी सामायिक करके समाप्त कर देना, चित्त में विषम भाव को स्थान देना आदि अनौचित्य इस व्रत के दोष के अन्तर्गत हैं ।

सामायिक साधना की अन्तिम दशा समाधि है, जैसे योगशास्त्र के अनुसार योग की अन्तिम स्थिति समाधि है । समाधि की स्थिति में पहुँच जाने पर साधक शोक और चिन्ता के कारण उपस्थित होने पर भी आनन्द में मग्न रहता है । शोक उसके अन्तःकरण को म्लान नहीं कर सकता और चिन्ता उसके चित्त में चंचलता उत्पन्न नहीं कर सकती । वह आत्मानन्द में मस्त हो जाता है । इसी अद्भुत आनन्द की प्राप्ति के लिए चक्रवर्तियों ने और बड़े-बड़े सम्राटों ने भी अपने साम्राज्य को तिनके की तरह त्याग कर सामायिक व्रत को अंगीकार किया था । वस्तुतः सामायिक में निराला ही आनन्द है । उस आनन्द के सामने विषयजन्य सुख किसी गिनती में नहीं है । मगर शर्त यही है कि सामायिक सच्ची सामायिक हो, भाव सामायिक हो और उसके अनुष्ठान में स्व-पर वंचना को स्थान न हो ।

आत्मा में जब तक शुद्ध दृष्टि नहीं उत्पन्न होती, शुद्ध आत्मकल्याण की कामना नहीं जागती और मन लौकिक एषणाओं से ऊपर नहीं उठ जाता, तब तक शुद्ध सामायिक की प्राप्ति नहीं होती । अतएव लौकिक कामना से प्रेरित होकर सामायिक का अनुष्ठान न किया जाय वरन् कर्मबन्ध से बचने के लिए—संवर की प्राप्ति के लिए सामायिक का आराधन करना चाहिए । कामराग और लोभ के झोंकों से साधना का दीप मन्द हो जाता है । और कभी-कभी बुझ भी जाता है । अतएव आगमोक्त विधि से उत्कृष्ट प्रेम के साथ सामायिक करना चाहिये जो ऐसा करेगा उसका वर्तमान जीवन अलौकिक आनन्द से परिपूर्ण हो जाएगा और परलोक परम मंगलमय बन जाएगा ।

[७०]

दीपावली की आराधना

दीपमालिका पर्व चरम तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर की परम पावन स्मृति का जाज्वल्यमान प्रतीक है । प्रभु महावीर के निर्वाण की स्मृति आज के दिन ताजा हो जाती है। भगवान् ने इसी दिन निर्वाण लाभ किया था । तभी से यह पर्व लोग अपने-अपने स्तर पर एवं मन्तव्य के अनुसार मनाते आ रहे हैं । कुछ मनीषियों का कथन है कि दीपमालिका पर्व भगवान् महावीर के निर्वाण से पहले से ही आर्य जाति में प्रचलित था, परन्तु इस मत की पुष्टि में कोई स्पष्ट और ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है ।

इस अवसर पर दीपमालिका के इतिहास की छानबीन नहीं करना है । यह तो सुनिश्चित है कि या तो पूर्व परम्परागत इस पर्व को भगवान् महावीर के निर्वाण ने सजीव एवं मांगलिक स्वरूप प्रदान किया या भगवान के निर्वाण के कारण ही इस पर्व का प्रतिष्ठान हुआ। दोनों स्थितियों में इस पर्व के साथ भगवान् महावीर के निर्वाण का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

दीर्घतपस्वी श्रमणोत्तम महावीर जैसे लोकोत्तर महापुरुष की स्मृति में मनाये जाने के कारण यह पर्व भी लोकोत्तर पर्व है । अतएव इसे लोकोत्तर भावना से एवं लोकोत्तर लाभ की दृष्टि से मनाना चाहिए ।

आज की इस मंगलमय वेला में हम भगवान् महावीर की स्मृति को ताजा कर रहे हैं और उन स्मृतियों से जीवन-निर्माण का पथ-प्रदर्शन भी प्राप्त कर रहे हैं ।

पर्व के मंगलमय रूप को सभी अपनाते हैं । जो रागी हैं वे राग की सीमा में पर्व मनाते हैं, भोगी जीव उसे भोग का विशिष्ट अवसर मानते हैं, किन्तु जो विवेकशाली हैं वे पर्व की प्रकृति का विचार करते हैं । सोचते हैं कि इस पर्व के पीछे क्या इतिहास है ? क्या उद्देश्य है ? और वे उसी के अनुरूप पर्व का आराधन

करते हैं। जिस पर्व का सम्बन्ध वीतराग पुरुष के साथ हो, उसे रागवर्द्धक ढंग से मनाना वे उचित नहीं मानते। वे सोचते हैं कि यदि पर्व को राग वृद्धि में लगा दिया गया तो पर्व को मनाने का क्या लाभ है ? संसारी प्राणी का समग्र जीवन ही राग-द्वेषवर्द्धक कार्यों में लगा रहता है, अगर पर्व को भी ऐसे ही कार्यों में व्यतीत कर दिया जाय तो पर्व की विशेषता ही क्या रहेगी ? जो पर्व को आमोद-प्रमोद में सीमित कर देते हैं, वास्तव में वे पर्व से कुछ भी लाभ प्राप्त नहीं करते।

विवेक का तकाजा है कि इस प्रकार के अवसर का कुछ ऐसा उपयोग किया जाय जिससे आत्मा के स्वाभाविक गुणों का विकास हो, राग-द्वेष की परिणति में न्यूनता आए; जीवन मंगल का साधन बन जाए और आत्मोत्थान के पथ पर अधिक नहीं तो कुछ कदम आगे बढ़ सकें।

बालक हँसना, गाना, खाना, पीना आदि चहल-पहल हो तो पर्व मानता है परन्तु समझदार का पर्व अन्तर्मुखी होता है। वह देखना चाहता है कि इन लहरों का मंगलमय रूप क्या है ? वह पर्व को शाश्वत एवं वास्तविक कल्याण का साधन बनाता है। मगर सर्वसाधारण लोग ऐसी चिन्ता नहीं करते। यह चेतना तो उन्हीं प्रबुद्धजनों में जागृत होती है जिनके जीवन में तीव्र विषय तृष्णा और कामना नहीं है।

सत्यपुरुषों के चरण-चिन्हों पर चलकर हम भी अपना उत्थान कर सकते हैं। उनके चरण-चिन्हों को पहचानने के लिए ही पर्वों का आयोजन किया जाता है। अतएव हमें देखना चाहिए कि किस पर्व की क्या विशेषता है और उसके पीछे क्या महत्व छिपा है ?

एक रूप बाह्य प्रकाश का है, दूसरा आन्तरिक प्रकाश का। एक आज चमक कर कल समाप्त हो जायेगा, दूसरा शाश्वत रहेगा।

दीपावली का यह सन्देश है कि दीपक-प्रकाश के अभाव में अन्धेरी रात में घूमने वाला भटक जाएगा, इसी प्रकार ज्ञान की रोशनी में न चलने वाला टक्करें खाकर अपना विनाश बुला लेगा।

भगवान् महावीर जन्म से ही अवधिज्ञान नामक अतीन्द्रिय ज्ञान से सम्पन्न थे। दीक्षा अंगीकार करते ही उन्हें मनःपर्याय ज्ञान भी प्राप्त हो गया था। किन्तु वे इतने ही से सन्तुष्ट न हुए। उन्होंने परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए उग्र तपश्चरण किया और उसे प्राप्त किया। पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् वे दूसरों को भी ज्ञान देने में समर्थ हुए। इसी कारण उन्हें ज्ञान का दीपक कहा गया है।

पेट्रोमेक्स और बिजली का बल्व दूसरे दीपकों को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं होता। दूसरे दीपकों को तो टिमटिमाता मन्द प्रकाश वाला दीपक ही जला सकता है। टार्च, बल्ब आदि में यह क्षमता नहीं है कि वे दूसरे को प्रकाशित कर सकें। दीपक में ही यह विशेषता है कि उससे हजारों और लाखों दीपक जलाये जा सकते हैं। ज्ञानी को प्रदीप की उपमा दी गई है, क्योंकि उसमें भी दीपक की खूबी मौजूद रहती है। वह अनेकों को ज्ञान की ज्योति से जाज्वल्यमान कर सकता है।

केवलज्ञान सभी ज्ञानों में श्रेष्ठ है, परिपूर्ण है, अनन्त है, अनावरण है, मगर वह दूसरों को प्रतिबुद्ध नहीं कर सकता। केवली का वचनयोग ही दूसरों को ज्ञान का प्रकाश देने में निमित्त होता है। श्रुतज्ञान अमूक और शेष ज्ञान मूक है। श्रुतज्ञान के माध्यम से एक साधक दूसरों के अन्तःकरण को जागृत कर सकता है। यह श्रुतज्ञान की अन्य ज्ञानों से विशिष्टता है।

ज्ञान की सूक्ष्मता की दृष्टि से केवल ज्ञान सबसे अधिक सूक्ष्म है क्योंकि उसमें पूर्णता है, मगर केवलज्ञान रूपी सूर्य बहुत तेज होने पर भी प्रत्येक स्थान का अन्धेरा दूर नहीं कर सकता। कोने-कोने का अन्धेरा दूर करने के लिए तो दीपक काम आता है। श्रुतज्ञान दीपक के समान है।

जब मानव के मानस में ज्ञान का प्रदीप जाग उठता है तो कुटेव और अज्ञानता की स्थिति का अन्त हो जाता है। सत्पुरुषों ने ज्ञान-प्रदीप जलाया है।

भगवान् महावीर के ज्ञान का भास्कर ४२ वर्ष की अवस्था में उदित हो गया था। उसके उदित होने पर उनकी आत्मा अलौकिक एवं असाधारण आलोक से विभूषित हो गई। बारह वर्षों तक वे इसके लिए पुरुषार्थ करते रहे।

केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् भगवान् ने भिक्षुकों से लेकर राजाओं तक के अज्ञान के निवारण का सफल प्रयत्न किया। आपका प्रेरक सन्देश पाकर नौ लिच्छवी और नौ मल्ली राजा धर्म श्रद्धालु बने। तात्कालिक गणतन्त्र के अधिपति सम्राट् चेटक का भी अज्ञान-मोह दूर हुआ।

संसार के विशाल वैभव में रह कर भी मनुष्य के लिए परम साधना आवश्यक है। मनुष्य को समझना चाहिए कि सांसारिक वैभव का सम्बन्ध शरीर के साथ है, सिर्फ एक भव तक सीमित है। शरीर त्यागने के पश्चात् जगत् का बड़े से बड़ा वैभव भी बिछुड़ जाता है। अगले जन्म में वह काम नहीं आता। उससे आत्मा का किंचित भी उपकार नहीं होता। आत्मोपकार अथवा आत्महित के लिए तो वही साधना उपयोगी है जिससे आत्मिक विभूति की वृद्धि होती है। इस तथ्य को

भगवान् महावीर ने समझाया और जिन महापुरुषों ने समझा उनकी सुषुप्त चेतना जागृत हो गई । चेटक्र जैसा सम्राट् भी श्रावक बन गया । राज्याधिकारी एवं राजाधिराज होकर भी उसने श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किये । उसने संकल्प किया कि मैं जान-बूझ कर निरपराध त्रस जीवों की हिंसा नहीं करूंगा । रक्षात्मक कार्य करूंगा, संहारात्मक कार्य नहीं करूंगा । हानिकारक, धोखाजनक और अविश्वासकारक असत्य का प्रयोग नहीं करूंगा । उसने किसी के अधिकार को छीन कर लोलुपता के वशीभूत होकर राज्य की सीमाओं को बढ़ाने की चेष्टा नहीं की । श्रावकोचित सभी व्रतों को अंगीकार किया ।

गणतन्त्र मिली-जुली शासन व्यवस्था है । इस व्यवस्था में जो सम्मिलित होता है उसके लिए व्रत ग्रहण करना साधारण बात नहीं है । चेटक चाहता तो बहाना कर सकता था, किन्तु साधना के क्षेत्र में आत्मवंचना को तनिक भी स्थान नहीं । अतएव साझेदारी की राज्य-व्यवस्था होने पर भी उसने किसी प्रकार का बहाना नहीं

अठारह राजा जिस गण में सम्मिलित थे, उस गणराज्य का उत्तरदायित्व कुछ कम नहीं रहा होगा । एक राज्य को संभालना और इस बात का ख्याल रखना कि प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट न हो, राज्याधिकारी कोई अन्यायपूर्ण कार्य करके प्रजा को कष्ट न पहुँचावे, सबल निर्बल को न दबावे, प्रजाजनों में नीति और धर्म का प्रसार हो, किसी प्रकार के दुर्व्यसन उसमें घर न करने पावें, सभी लोग अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए परस्पर सहयोग करें, राजा-प्रजा के बीच आत्मीयता का भाव बना रहे और साथ ही कोई लोलुप राजा राज्य की सीमा का उल्लंघन न कर सके, साधारण बात नहीं है । फिर चेटक को तो अठारह राज्यों के गण का अधिपति होने के कारण सीमा पर दृष्टि रखनी पड़ती थी । सबकी चिन्ता करनी पड़ती थी । फिर भी वह अपनी आत्मा को नहीं भूला । उसने लौकिक कर्त्तव्यपालन की धुन में लोकोत्तर कर्त्तव्यों को विस्मृत नहीं किया । एक विवेकशील और दूरदर्शी सद्गृहस्थ के समान वह दोनों प्रकार के उत्तरदायित्व को बिना किसी विरोध के निभाता रहा । एक ओर वह गणतन्त्र का अधिपतित्व करता था तो दूसरी ओर अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन पौषध व्रत का भी आराधन करता था । पौषध व्रत में समस्त आरम्भ-समारम्भ का परित्याग करके धर्मध्यान में दिन-रात व्यतीत करना होता है । यह एक प्रकार से चौबीस घण्टों तक साधुपन का अभ्यास है । तन का पोषण तो पशु-पक्षी भी करते हैं, इसमें मनुष्य की कोई विशेषता नहीं है, आत्मा का पोषण करना ही मानव की विशिष्टता है और उसी से जीवन ऊंचा बनता है । इसी विश्वास से चेटक पौषध करता था ।

आज लक्ष्मी की पूजा करने वाले तो बहुत हैं किन्तु व्रत साधना के लिए आगे आने वाले कितने हैं ? राग और भक्ति तथा अर्थ और भक्ति में क्या सामंजस्य है, यथावसर इस पर प्रकाश डाला जाएगा ।

राजा उदायन ने भी पहले श्रावक के व्रतों को अंगीकार किया फिर श्रमण-दीक्षा अंगीकार की । गृहस्थ जीवन में रहते हुए बिम्बसार, अजातशत्रु उदायन, चण्डप्रद्योत और चेटक आदि भगवान् के वचनों पर श्रद्धाशील बने । उन्होंने राज्य सम्बन्धी उत्तरदायित्व एवं बन्धन से अपने आपको मुक्त या हल्का कर लिया ।

बहत्तर वर्ष की आयु में भगवान् ने अपना वर्षाकाल पावापुरी में व्यतीत किया । यह उनका अन्तिम वर्षाकाल था । भगवान् के सिवाय कोई नहीं जानता था कि यह वर्ष उनके जीवन का अन्तिम वर्ष है । दीर्घकाल से चलने वाली भगवान् की साधना पूर्ण हो चुकी । महाराजा हस्तिपाल की रथशाला में उनका अन्तिम चातुर्मास हुआ । अन्य राजाओं ने भी चातुर्मास काल में भगवान् की उपस्थिति से लाभ उठाया । महाराजा हस्तिपाल के प्रबल सौभाग्य का योग समझिए कि उन्हें अन्तिम समय में चरम तीर्थंकर की सेवा, भक्ति, एवं उपासना का दुर्लभ लाभ प्राप्त हुआ । कवियों ने भी इस प्रसंग को लेकर अपनी वाणी को पवित्र बनाने का प्रयत्न किया है–

पर्व यह मंगलमय आया रे, पर्व यह मंगलमय आया।
अन्तिम वर्षाकाल प्रभु ने पावापुर ठाया ।....................
हस्तिपाल की राजकुशाला प्रभु ने पवित्र बनाया ।.....
वीर हुए निर्वाण गौतम ने केवलि पद पाया ।.........

कार्त्तिकी अमावस्या को लोक के एक असाधारण, अद्वितीय, महान साधक की साधना चरम सीमा पर पहुँची । उनकी आत्मा अनन्त ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न तो पहले ही हो चुकी थी, जीवन्मुक्त दशा पहले ही वे प्राप्त कर चुके थे, परम निर्वाण-विदेह-मुक्ति भी उन्हें प्राप्त हो गई । भगवान् सिद्ध हुए और गौतम स्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई ।

गौतम स्वामी ने अपनी साधना का अभीष्ट मधुर फल प्राप्त किया । उनकी चेतना पर जो हल्के-से आवरण शेष रह गए थे, वे भी आज निश्शेष हो गए । उन्हें निरावरण उपयोग की उपलब्धि हुई । वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी और अनन्त शक्ति से सम्पन्न हो गए । प्रभु के निर्वाण ने उनकी आत्मा को पूर्ण रूप से जागृत कर दिया। उन्हें महान् लाभ हुआ । एक कारीगर साधारण मलिन रत्न को शाण पर चढ़ा कर चमकीला बना देता है । उसकी चमक बढ़ जाती है और चमक के अनुसार

कीमत भी बढ़ जाती है । सत्पुरुष भी उसी कारीगर के समान हैं जो साधारण मानव के मानस में व्याप्त सघन अन्धकार को दूर कर देते हैं और उसमें ज्ञान की चमक उत्पन्न कर देते हैं ।

प्रभु का निर्जल व्रत चल रहा था । यद्यपि वे पूर्ण वीतराग, पूर्ण निष्काम और पूर्ण कृत-कृत्य हो चुके थे, तथापि उनकी धर्मदेशना का प्रवाह बन्द नहीं हुआ था। श्रोताओं की ओर उनका ध्यान नहीं था । छद्मस्थ वक्ता श्रोताओं के चेहरों को लक्ष्य करके, उनके उत्साह के अनुसार ही वक्तव्य देते हैं । वक्ता को जब प्रतीत होता है कि श्रोता जानकार है, ध्यानपूर्वक वक्तव्य को सुन रहे हैं और हृदयंगम कर रहे हैं तो वह अपनी ज्ञान-गागर को उनके सन्मुख उंडेल देता है । इस प्रकार उसका वक्तव्य सामने की स्थिति पर निर्भर रहता है । किन्तु वीतराग की आत्मा में ऐसा विकल्प नहीं होता । उसकी वाणी का प्रवाह सहज भाव से चलता है । वीतराग की वाणी में अपूर्व और अद्भुत प्रभाव होता है। उससे श्रोताओं का अन्तः करण स्वतः तरोताजा हो जाता है । चित्त में अनायास ही आर्द्रता आ जाती है ।

वीतराग की वाणी की गंगा का परमपावन, शान्तिप्रदायक, शीतल प्रवाह जब प्रवाहित होता है तो क्या सभी उसमें अवगाहन करते हैं ? संसार के सभी जीव अपने संसारताप को शान्त कर लेते हैं ? नहीं, ऐसा नहीं होता । बहुत-से जीव सूखे भी रह जाते हैं । इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है । बीज कितना ही अच्छा क्यों न हो, ऊसर भूमि में पड़कर अंकुरित नहीं होता ।यह भूमि का ही दोष समझना चाहिए, बीज का नहीं। प्रसिद्ध दार्शनिक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर कहते हैं :-

सद्धर्मबीजवपनानंघकौशलस्य,
यल्लोकबान्धव ! तवापिऽखिलान्यभूवन् ।
तन्नादभुतं खगकुलेष्विह तामसेसु,
सूर्यांशवो मधुकरो चरणावदाताः ।।

वे कहते हैं–प्रभु तो समस्त प्राणियों के बन्धु हैं–सब के समान रूप से सहायक हैं । किसी के प्रति उनका पक्षपात नहीं है । इसके अतिरिक्त धर्म रूपी बीज को बोने में उनका कौशल भी अद्वितीय है । फिर भी धर्म-बीज के लिए कोई-कोई भूमि ऊसर साबित होती है, जहां वह बीज अंकुरित नहीं होता । मगर यह कोई अदभुत बात नहीं है । सूर्य अपनी समस्त किरणों से उदित होता है और लोक में प्रकाश की उज्ज्वल किरणें विकीर्ण करता है, फिर भी कुछ निशाचर प्राणी ऐसे होते हैं जिनके आगे उस समय भी अंधेरा छाया रहता है । ऐसा है तो इसमें सूर्य का क्या अपराध है ?

भव्य जीव भगवान् की वाणी के अमृत का पान करके अपने को कृतार्थ करते हैं। जो सम्यग्दृष्टि हैं या जिनका मिथ्यात्व अत्यन्त तीव्र नहीं है, वे उस उपदेश से लाभ उठाते हैं । धन्य हैं वे भद्र और पुण्यशाली जीव जिन्हें तीर्थंकर देव के समवसरण में प्रवेश करके उनके मुखारविन्द से देशना श्रवण करने का सुयोग मिलता है।

इन्द्रभूति गौतम, नौ मल्ली और नौलिच्छवी राजा आदि ऐसे ही भाग्यवानों की गणना में थे । उन्होंने प्रभु के पावन प्रवचन-पीयूष का आकंठ पान किया । भगवान् के उपदेश की अखण्ड धारा प्रवाहित हो रही थी । पुट्ठ वागरण और अपुट्ठ वागरण दोनों का सिलसिला चालू था । शुभ और अशुभ कार्यों के विपाक कैसे होते हैं, यह प्ररूपणा चल रही थी ।

बन्धुओ ! शुभ और अशुभ को वास्तविक रूप में समझ लेना बहुत बड़ी बात है । जो अशुभ को समझ लेता है वह अशुभ की ओर प्रवृत्ति करने से रुक जाता है । काम, क्रोध आदि के कटुक परिपाक यदि समझ में आ जाएं तो उनकी ओर जीव का झुकाव ही नहीं हो सकता । टिमटिमाते प्रकाश में बिच्छू को देख कर कोई उसके ऊपर हाथ नहीं रखता, क्योंकि यह बात जानी हुई है कि बिच्छू डंक मारने वाला विषैला जन्तु है । उसे पकड़ने और बाहर ले जाकर छोड़ने के लिए चिमटे का उपयोग किया जाता है ।

पुरस्कार देने पर भी कोई सांप के बिल में हाथ नहीं डालेगा, क्योंकि सर्पदंश की भयानकता से सभी परिचित हैं, असत्य भाषण करने या अशिष्ट व्यवहार करने से पुरस्कार नहीं मिलता, फिर भी लोग ऐसा करते हैं । इसका एकमात्र प्रधान कारण यही है कि बिच्छू या सर्प के दंश से जैसी प्रत्यक्ष एवं तत्काल हानि होती है, वैसी असत्य भाषण, क्रोध आदि से प्रतीत नहीं होती । साधारण जनों की दृष्टि बहुत सीमित होती है । वे तात्कालिक हानि-लाभ को तो समझ लेते हैं, मगर भविष्य के हानि-लाभ की परवाह नहीं करते । दीर्घ दृष्टि की एक नजर वर्तमान पर रहती है तो दूसरी नजर भविष्य पर भी रहती है । जिस मनुष्य ने विष के समान पाप को भयजनक समझ लिया है, उसकी पाप में प्रवृत्ति नहीं होगी । सत्य यह है कि पापाचरण का परिणाम विष से असंख्यगुणित हानिकारक और भयप्रद है ।

नादान बच्चे को, माता-पिता को आग, बिच्छू, सांप से डराना पड़ता है, बड़े बच्चे को डराना नहीं पड़ता, क्योंकि वह उनसे होने वाले अनर्थ से परिचित है । इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में पाप-पुण्य को समझ लेने से ज्ञानी पुरुष पाप से स्वयं बचता रहता है । वह उसे जहर से भी ज्यादा संकटजनक मानता है । पाप, कामना और

विषयलोलुपता का जहर भव-भव में शोचनीय परिणाम उत्पन्न करता है, जब कि सर्प आदि का विष एक ही भव को नष्ट करता है या नहीं भी नष्ट करता ।

शरीर में कांटा चुभने पर पीड़ा होती है, विष भक्षण करने से मृत्यु हो जाती है, विषैले जन्तु के डसने से दुःख होता है, किन्तु इनका उपचार संभव है । सैकड़ों मील दूर के तीन-तीन दिन विष लगे हो जाने पर भी गारुड़ी उसके प्रभाव को नष्ट कर देता है । मनोबल और मन्त्रबल की ऐसी शक्ति आज भी देखी-सुनी जाती है । झाड़ने-फूंकने वाले, समाचार कहने वाले को ही झाड़-फूंक कर विष उतार देते हैं । आज भी जंगल में रहने वाले वन्य जाति के लोग विष उतारने का तरीका जानते हैं । इस प्रकार इस बाह्य विष को उतारना आसान है । किन्तु काम, क्रोध, माया, लोभ आदि के विष को परम गारुड़ी ही हल्का कर सकता है । वासना का घोर विष जन्म-जन्मान्तर तक हानि पहुँचाता है । इस विष के प्रभाव को दूर करने के लिए साधक भगवान् महावीर की साधना का लाभ प्राप्त करते हैं ।

अमावस्या को महावीर स्वामी ने निर्वाण प्राप्त कर लिया । उनका इस धरती पर सशरीर अस्तित्व नहीं रहा । मानों मध्यलोक का सूर्य सदा के लिए अस्त हो गया। किन्तु उनका उपदेश आज भी विद्यमान है । भगवान् का स्मरण करके और उनके उपदेश के अनुसार आचरण करके हम अब भी अपने जीवन को उच्च्य, पवित्र एवं सफल बना सकते हैं । हमें आज के दिन भगवान के पावन संदेशों पर गहराई के साथ विचार करना चाहिए ।

छोटा और पुराना मकान भी पोत लेने, साफ कर लेने से रमणीक लगने लगता है । दीवाली के अवसर पर लोग ऐसा करते हैं । तन की शोभा के लिए स्नान किया जाता है, साबुन लगाया जाता है, सुन्दर-स्वच्छ वस्त्राभूषण धारण किये जाते हैं । मन्दिर का आदर देव के कारण है । देव के बिना मन्दिर आदरणीय नहीं होता । इसी प्रकार इस शरीर रूपी मन्दिर की जो भी शोभा या महत्ता है, वह आत्म-देव के कारण है । घर की शोभा बढ़ाई जाय मगर घर में रहने वाले नर की ओर ध्यान न दिया जाय, यह बहुत बड़ा प्रमाद है, मूर्खता है । ऐसा करने से वह कमजोर हो जाएगा । विनम्रता आदि सद्गुणों से पोषण न होने के कारण आत्मदेव दुर्बल हो जाता है । दिव्य गुणों का विकास न करने से आत्मा का दानव रूप प्रकट होता है । अतएव जीवन में सद्गुणों की सजावट करनी चाहिए ।

आपको अपनी आत्मा में अमर आलोक प्रकट करना है, आध्यात्मिक भावना के द्वारा जीवन को चमकाना है । यही दीपावली पर्व का महान् सन्देश है । यह बाह्य सजावट तो पर्व के साथ ही समाप्त हो जाएगी । इससे जीवन सार्थक न

होगा, आत्मा का किंचित् भी श्रेय न होगा । आत्मा के मंगल के लिए सम्यग्ज्ञान और सदाचार को जीवन में प्रश्रय देना चाहिए ।

भगवान् महावीर की देशना को श्रवण कर श्रोता कृतकृत्य हो गए ।

इस पर्व को हमें मंगलमय स्वरूप प्रदान करना है, अन्यथा काल तो आता और जाता रहता है । वह टिककर रहने वाला नहीं । कौन जानता है कि अगली दीपावली मनाने के लिए कौन रहेगा और कौन नहीं ? अतएव आज आपको जो सुयोग प्राप्त है, उसका अधिक से अधिक लाभ उठाइए । अन्तःकरण में पावन ज्ञान की प्रदीपमाला आलोकित कीजिए । अनन्त ज्योतिर्मय आत्मा की आवृत्त ज्योति को प्रकट कीजिए । ऐसा करने से ही इस पर्व की आराधना सफल होगी ।

[७१]
वीर निर्माण

वर्तमान में जो धर्मशासन चल रहा है, उसके अधिपति चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी हैं । शासन का माध्यम भगवान् की वह वाणी है जिसे उनके प्रधान शिष्य गणधरों ने शास्त्र का स्वरूप प्रदान किया और स्थविर भगवन्तों ने बाद में लिपिबद्ध किया । इस शासन के संचालक-सूत्रधार शिष्य-प्रशिष्य परम्परा से होने वाले सन्त हैं । शासनपति हम सभी आत्म-कल्याण के अभिलाषियों के लिए सदा स्मरणीय हैं । अज्ञान के अनन्त-असीम अन्धकार में भटकते हुए सांसारिक प्राणियों को सम्यग्ज्ञान का आलोक प्रदान करने वाले वही हैं, इस कृतज्ञता के कारण तथा गुणों के प्रति आदर भावना की दृष्टि से भी वे स्मरणीय हैं ।

गुणों की दृष्टि से सभी तीर्थंकर भगवान् समान होते हैं, अतएव सभी समान रूप से स्मरणीय हैं । भगवान् का स्मरण एक प्रकार से अपने असली स्वरुप का स्मरण है, क्योंकि आत्मा और परमात्मा में मौलिक रूप में कोई अन्तर नहीं है । मुक्त एवं संसारी आत्मा समान स्वभाव धारक है । जैसे सिद्ध भगवान् अनन्त ज्योति के पुंज हैं, अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य एवं सुख से परिपूर्ण हैं, निर्मल हैं, निर्मल आत्मपरिणति वाले हैं, उसी प्रकार संसार की सब आत्माएं भी हैं, कहा भी है:-

यः परमात्मा स एवाहं, योऽहं स परमस्तथा ।
अहमेव मयाऽऽराध्यो, नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ।।

परमात्मा का जो स्वरूप है, वही मेरा स्वरूप है और जो मेरा स्वरूप है वही परमात्मा का । अतएव किसी अन्य की आराधना न करते हुए आत्मा की ही आराधना करना उचित है ।

इस प्रकार मूलतः आत्मा-परमात्मा में समानता होने पर भी आज जो अन्तर दृष्टिगोचर हो रहा है, उसका कारण आवरण का होना और न होना है । जो आत्मा सम्यक् श्रद्धा के साथ, विवेक को आगे करके, साधना के क्षेत्र में अग्रसर

होती है, उसकी शक्तियों का - गुणों का पूर्ण विकास हो जाता है और आत्मिक शक्तियों के पूर्ण विकास की अवस्था ही परमात्मदशा कहलाती है, अनादिकाल से कर्मकृत आवरण जब तक विद्यमान हैं और वे आत्मा के स्वाभाविक गुणों को आवृत्त किये हुए हैं तब तक आत्मा आत्मा है । ज्ञान और क्रिया के समन्वय से जब आवरणों को छिन्न-भिन्न कर दिया जाता है और निर्मल, सहज-स्वाभाविक स्वरूप प्रकट हो जाता है तो वही आत्मा परम आत्मा–परमात्मा बन जाता है । जो आत्मा परमात्मा के पद पर पहुँच गई है, उसका स्मरण करने से हमें भी उस पद को प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती है और हम उस पथ पर चलने को अग्रसर होते हैं जिस पर चलने से परमात्मदशा प्राप्त होती है ।

अतएव आज हम उन परमपावन, परमपिता, परम मंगलधाम महावीर स्वामी का जो स्मरण करते हैं, उसमें कृतज्ञता की भावना के साथ-साथ स्वात्मस्वरूप का स्मरण भी सम्मिलित है ।

महाप्रभु महावीर के प्रति हम कितने कृतज्ञ हैं । संसार के दुःख-दावानल से झुलसते हुए, अनन्त सन्ताप से सन्तप्त, मोह-ममता के निविड़ अन्धकार में भटकते और ठोकरें खाते हुए, जन्म जरा मरण की व्याधियों से पीड़ित एवं अपने स्वरूप से भी अनभिज्ञ जगत् के जीवों को जिन्होंने मुक्ति का मार्ग प्रदर्शित किया, सिद्धि का समीचीन सन्देश दिया, ज्ञान की अनिर्वचनीय ज्योति जगाई, उनके प्रति श्रद्धा निवेदन करना हमारा सर्वोत्तम कर्त्तव्य है । भगवान् ने अहिंसा का अमृत न पिलाया होता और सत्य की सुधा-धारा प्रवाहित न की होती तो इस जगत् की क्या स्थिति होती ? मानव दानव बन गया होता, धरा ने रौरव का रूप धारण कर लिया होता । भगवान् ने अपनी साधनापूत दिव्य-ध्वनि के द्वारा मनुष्य की मूर्च्छित चेतना को संज्ञा प्रदान की, दानवी वृत्तियों का शमन करने के दिए दैवी भावनाएँ जागृत कीं और मनुष्य में फैले हुए नाना प्रकार के भ्रम के सघन कोहरे को छिन्न-भिन्न करके विमल आलोक की प्रकाशपूर्ण किरणें विकीर्ण कीं ।

प्रश्न उठ सकता है कि संसार का अपार उपकार करने वाले भगवान् के निर्वाण को 'कल्याणक' क्यों कहा गया है ? निर्वाण-दिवस में आनन्द क्यों मनाया जाता है ? इसका उत्तर यह है कि लोकोत्तर पुरुष दूसरे पामर प्राणियों जैसे नहीं होते। वे आते समय प्रेरणा लेकर आते हैं और जाते समय भी प्रेरणा देकर जाते हैं। अतएव महापुरुषों का जन्म भी कल्याणकारी होता है और निर्वाण भी ।

आस्तिकजन आत्मा को अजर, अमर और अविनाशी मानते हैं । आत्मा एक शाश्वत तत्त्व है । न उसका उत्पाद होता है व विनाश । सकर्म अवस्था में वह

एक भव को त्याग कर दूसरे भव में चला जाता है, जैसे कोई व्यक्ति एक नगर को त्याग कर दूसरे नगर में बस जाता है । ऐसी स्थिति में मृत्यु का अर्थ सिर्फ पर्याय और शरीर का परिवर्तन हो जाना मात्र है, आत्मा का अस्तित्व समाप्त होना नहीं है। इसमें भी जो महापुरुष साधना के क्षेत्र में अग्रसर होते हैं, उसमें सफलता प्राप्त करते हैं और जीवनपर्यन्त स्व-पर के अभ्युदय में निरत रह कर शरीर का परित्याग करते हैं, वीतरागभाव का चरम विकास हो जाने के कारण जीवन और मरण दोनों जिन्हें एक समान प्रतीत होने लगते हैं, उनके लिए मरण एक साधारण-सी घटना है । यही नहीं, वे मृत्यु को साधना के फल की प्राप्ति में सहायक समझते हैं, क्योंकि शरीर का त्याग किये बिना साधना का सम्पूर्ण फल प्राप्त नहीं होता । यही कारण है कि मृत्यु को महान् उत्सव का रूप दिया गया है फिर जो शरीर त्याग कर सिद्धि प्राप्त करते हैं, सदा के लिए जन्म-मरण के चक्र से छूट जाते हैं और अव्याबाध सुख के भागी बनते हैं, उनका शरीरोत्सर्ग तो किसी प्रकार भी शोचनीय नहीं होता।

जो नास्तिक जन आत्मा का पृथक् अस्तित्व स्वीकार नहीं करते और यह समझते हैं कि शरीर के साथ आत्मा भी खत्म हो जाती है, उनके लिए हाय-हाय करते हुए मरने के सिवाय और कोई मार्ग नहीं । जब उनका अन्तिम समय सन्निकट आता है जब उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि मेरा अस्तित्व सदा के लिए समाप्त हो रहा है और मैं ऐसे अन्धकार में विलीन हो रहा हूं जिसका कदापि अन्त आने वाला नहीं है, तो उन्हें अतिशय उद्वेग एवं दुःख होना स्वाभाविक है । इस प्रकार आस्तिक और धर्मनिष्ठ व्यक्ति के समक्ष उज्ज्वल भविष्य होता है; जबकि नास्तिक के सामने निराशा का सघनतम तिमिर । आस्तिक शान्तिपूर्वक हँसता हुआ प्राण-त्याग करता है तो नास्तिक विलाप करता हुआ मरता है ।

भगवान् महावीर मृत्युंजय थे । उन्होंने आध्यात्मिक जगत् की चरम सिद्धि प्राप्त की । अपने साधनाकाल में उन्होंने अज्ञानान्धकार का भेदन किया । प्रत्येक स्थिति में समभाव धारण किये हुए रहे । सुषुप्त जनों की आत्मा को जागृत किया और अन्त में मुक्ति प्राप्त की ।

भगवान् के चरित को पढ़ने और सुनने वाले के अन्तःकरण में उत्कंठा जागृत होती है कि हम भी निर्वाण प्राप्त करें । भगवान् ने कहा है कि सभी जीव समान हैं, अतएव जैसे वे निर्वाण प्राप्त करने में समर्थ हुए वैसे हम भी समर्थ हो सकते हैं । इस विचार से साधक को साहस और धैर्य प्राप्त होता है । कर्मपाश से मानव मुक्त नहीं हो सकता, इस भ्रमपूर्ण विचार का निरसन हो जाता है । शंका का कोई कारण नहीं रहता ।

निर्वाण से पूर्व महावीर स्वामी ने पौद्गलिक भावों का परित्याग कर दिया, आहार-पानी का त्याग कर दिया और कर्मपुद्गलों को निकाल देने की साधना बढ़ा दी। वे दिन और रात्रि में सारे समय देशना देते रहे । अन्तिम समय में उनके प्रशममय प्रवचन की धारा बह रही थी । सबके लिए उस धारा में अवगाहन करने की छूट थी। उस दिन राजा चेटक ने पौषध व्रत की आराधना की । मल्ली और लिच्छवी राजाओं ने भी, जिनकी संख्या अठारह थी, पौषध व्रत अंगीकार किया । उन्हें परमप्रभु की अन्तिमकालिक सेवा का सौभाग्य मिला । अन्तिम समय में, स्वाति नक्षत्र के योग में कार्त्तिकी अमावस्या के दिन प्रभु महावीर निर्वाण पद को प्राप्त हुए। जिन्हें उस समय प्रभु की सेवा का अवसर मिला, वे धन्य हैं।

प्रश्न हो सकता है—वीतराग की सेवा किस प्रकार की जा सकती है ? वीतराग के निकट पहुंच कर उनकी इच्छा के विपरीत कार्य करना सेवा नहीं है । उनके गुणों के प्रति निष्कपट प्रीति होना, प्रमोदभाव होना और उनके द्वारा उपदिष्ट सम्यक् ज्ञान दर्शन और चारित्र के मार्ग पर चलना ही वीतराग की सच्ची सेवा है ।

मगर आज परिस्थिति यह है कि पूजक अपने पूज्य को अपने ही रंग ढ़ंग में ढालना चाहता है । जिसकी जैसी दृष्टि या रुचि है, वह उसी के अनुरूप देव के स्वरूप की कल्पना कर लेता है । राजस्थान, बंगाल और उत्तर प्रदेश में ठाकुरजी का रूप अलग-अलग प्रकार का मिलेगा । राजस्थानी लोग सीता को घाघरा पहनाएँगे तो बंगाली और बिहारी भक्त साड़ी से सुशोभित करेंगे । सीता वास्तव में किस वेश में रहती थी, इस तथ्य को जानने का परिश्रम किसी को नहीं करना है । जैनों में श्वेताम्बरों के महावीर अलग प्रकार के होंगे और दिगम्बरों के महावीर अलग प्रकार के। महावीर की आत्मा को पहचानना और उससे प्रेरणा प्राप्त करना ही वास्तव में महावीर की पूजा है । साम्प्रदायिक रंग में रंगने से महापुरुषों का रूप बदल जाता है। आश्चर्य की बात तो यह है कि यह खींचतान जानकार लोगों में अधिक है, अज्ञानी कहे जाने वाले लोगों में नहीं है ।

यदि उपासना का मूल आधार गुण मान लिया जाय तो सारी विडम्बनाएँ समाप्त हो जाएँ । 'गुणा पूजास्थानम्' इस उक्ति को कार्यान्वित करने की आवश्यकता है । महावीर में अनन्त ज्ञान, दर्शन एवं वीतरागता है । जगत् के प्रत्येक प्राणी पर उनका समभाव है । इन गुणों को अगर हम आदर्श मानकर भगवान् की उपासना करें और उन्हें अपने जीवन में विकसित करने का प्रयत्न करें तो किसी प्रकार का संघर्ष ही उत्पन्न न हो । इन गुणों की प्राप्ति के लिए जो साधना करेगा उसकी साधना निराली ही होगी ।

मनोवृत्ति जब तक वीतरागतामयी नहीं हो जाती तब तक इस जीवन में भी निराकुलता और शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती । जितने-जितने अंशों में वीतरागता का विकास होता जाता है, उतने ही उतने अंशों में शान्ति सुलभ हो जाती है । अतएव अगर हम वीतराग परिणति को अपना सकें तो श्रेयस्कर ही है । न अपना सकें तो भी कम से कम वीतरागता की ओर बढ़ने वालों को देखकर प्रमोद का अनुभव करें। वीतराग के प्रति प्रमोद का अनुभव करना भी वीतरागता के प्रति बढ़ने का पहला कदम है ।

भगवान् के चरणों में अन्तिम समय तक रह कर और उनसे वीतरागभाव की प्रेरणा प्राप्त करके अनेक राजाओं ने अपने जीवन को कृतार्थ समझा ।

साधना की प्राथमिक भूमिकाओं में देव और गुरु के प्रति अनन्य अनुराग उपयोगी होता है । सुदेव और सुगुरु के प्रति दृढ़ अनुराग होने से साधक कुदेव और कुगुरु की उपासना से बच कर मिथ्यात्व से भी बचता है । किन्तु सिद्धान्त बतलाता है कि यह स्थिति भी उच्च भूमिका पर चढ़ने में एक प्रकार की रुकावट है । मैं आराधक हूँ और मुझसे भिन्न कोई आराध्य है, इस प्रकार का विकल्प जब तक बना रहता है, तब तक आराधना पूर्ण नहीं होती । चित्त में आराध्य, आराधक और आराधना का कोई विकल्प न रह जाना–तीनों का एक रूप हो जाना अर्थात् भेद प्रतीति का विलीन हो जाना ही सच्ची आराधना है । तात्पर्य यह है कि जब आत्मा अपने ही स्वरूप में रमण करती है और बाह्य जगत् के साथ उसका कोई लगाव नहीं रह जाता है, वही ध्याता, वही ध्येय और वही ध्यान के रूप में परिणत हो जाता है–निर्विकल्प समाधि की दशा प्राप्त कर लेता है तभी उसकी अनन्त शक्तियाँ जागृत होती हैं ।

प्राथमिक स्थिति में भी साधक को गुरु के शरीर के सहारे न रह कर गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान के सहारे रहना चाहिए । गौतम स्वामी ने प्रभु की सेवा में ३० वर्ष व्यतीत कर दिए । वे कभी उनसे पृथक् नहीं रहे । उन्होंने सच्चे अन्तेवासी (निकट ही निवास करने वाले) का धर्म निभाया । परन्तु उन्हें पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। उनके हृदय में अपने आराध्य भगवान् के प्रति जो प्रशस्त राग विद्यमान था, उसने आवरणों का सम्पूर्ण क्षय नहीं होने दिया ।

महावीर स्वामी ने गौतम से कहा–"मेरे प्रति तुम्हारा जो अनुराग है, उसे बाहर निकाल दो तो केवलज्ञान की प्राप्ति होगी ।" जब तक साधक अपने से भिन्न किसी दूसरे पर अवलम्बित है तब तक बहिर्दृष्टि बना रहता है–वह पूर्णरूपेण अन्तर्मुखी

अभाव में आत्मा के सहज-स्वाभाविक स्वरूप का आविर्भाव नहीं होता । भगवान् ने कहा–

पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं,
किं बहिया मित्तमिच्छसि ।

अर्थात्–हे आत्मन् ! अपना सहायक तू आप ही है, अपने से भिन्न सहायक की क्यों अभिलाषा करता है ।

कितना महान् आदर्श है ! प्रभु की कैसी निस्पृहता है ! दूसरे धर्मों के देव कहते हैं–'तू मेरी शरण में आ, मैं तुझे समस्त पापों से मुक्त कर दूंगा और पाप करने पर भी उसके फल से बचा लूंगा ।' कोई कहता है–'मेरी उपासना जो करेगा उसे मैं वहिश्त में भेज दूंगा, स्वर्ग का पट्टा लिख दूंगा ।' मगर वीतराग की वाणी निराली है। उन्हें अपने भक्तों की टोली नहीं जमा करनी है, अपने उपासकों को किसी प्रकार का प्रलोभन नहीं देना है । वे भव्य जीवों को आत्म-कल्याण की कुंजी पकड़ा देना चाहते हैं, इसीलिए कहते हैं–"गौतम ! मेरे प्रति तेरा जो अनुराग है, उसे त्याग दे। उसे त्यागे बिना पूर्ण वीतरागता का भाव जागृत नहीं होगा ।" इस प्रकार की निस्पृहता उसी में हो सकती है जिसने पूर्ण वीतरागता प्राप्त करली हो और जिसमें पूर्ण ज्ञान की ज्योति प्रकट हो गई हो । अतएव भगवान् का कथन ही उनकी सर्वज्ञता, पूर्ण कामना और महत्ता को सूचित करता है ।

गौतम स्वामी का भगवान् महावीर के प्रति जो शुभ राग था वह भगवान् के अन्तिम समय तक न छूट सका और परिणाम यह हुआ कि तब तक उन्हें कैवल्य की प्राप्ति भी न हो सकी । भगवान् के निर्वाण के पश्चात् ही उनका राग दूर हुआ और दूर होते ही उन्होंने अरिहन्त अवस्था प्राप्त करली । उनका राग दूर होने में एक विशेष घटना कारण बन गई ।

घटना इस प्रकार थी । गौतम स्वामी भगवान् का आदेश पाकर समीपवर्त्ती किसी ग्राम में देवशर्मा को प्रतिबोधित करने गए हुए थे । उनके लौटकर आने से पूर्व ही भगवान् का निर्वाण हो गया । जो तीस वर्ष तक निरन्तर साथ रहा वह अन्तिम समय में बिछुड़ गया । गौतम स्वामी के हृदय को इस घटना से चोट पहुँची । उन्होंने विचार किया–'केवली होने के कारण भगवान् अपने निर्वाणकाल को तो जानते थे, फिर भी चिरकाल के अपने सेवक को अन्तिम समय में पास न रहने दिया । मुझे अन्तिम समय की उपासना से वंचित कर दिया ।'

यह विचार गौतम का अनुरागी मन कर रहा था और अनुराग जब प्रबल होता है तो विवेक ओझल हो जाता है । किन्तु यह विचारधारा अधिक समय तक

टिक नहीं सकी । तत्काल ही विचारों की लगाम विवेक ने थाम ली । प्रभु की वाणी उन्हें स्मरण हो आई–

पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं,
किं बहिया मित्तमिच्छसि ।

बस, उन्होंने सोचा–'प्रभु ने स्वावलम्बन की शिक्षा देने के लिए मुझे अपने से पृथक् किया है । निर्वाण जाते-जाते भी वे मुझे मूक शिक्षा दे गए हैं । अब उसी शिक्षा का आधार लेकर मुझे अपनी आत्मा की ही उपासना करनी चाहिए । बाहर की ओर देखने वाली दृष्टि को अन्दर की ओर मोड़ देना चाहिए ।'

और उसी समय गौतम स्वामी की दृष्टि आत्मोन्मुख हो गई । बाहर के समस्त आलम्बनों का जैसे सद्भाव ही न रहा । इस प्रकार जब उनकी आत्मा अपने स्वरूप में निमग्न हो गई तो तत्काल अनन्त ज्ञानालोक आविर्भूत हो गया और वे अपने आराध्य के समान बन गए । एक कवि ने कहा है–

चेतन ! तू ही तारसी, तू परमेश्वर रूप ।
प्रभुजी के गुण गावतां, प्रकटे आत्मस्वरूप ।।

गौतम ने आत्मा के परमेश्वर रूप का चिन्तन किया । जो सिद्धि तीस वर्षों की साधना में उन्हें प्राप्त नहीं हुई थी, वह महावीर के निर्वाण के पश्चात् स्व-स्वरूप के चिन्तन से स्वल्पकाल में ही प्राप्त हो गई । उनके अन्तस् से ध्वनि निकली-रंज किसका ? दुःख किसका ? वियोग किसका ? किसी भी परपदार्थ के साथ आत्मा का योग नहीं होता तो वियोग कैसा ? इस चिन्तन से उनकी विकलता दूर हो गई ।

जो वस्तु अलग हो सकती है, वह आत्मा की नहीं है । जो आत्मीय है वह आत्मा से पृथक् कदापि नहीं हो सकता । जिसका वियोग होता है, वह सब पर-पदार्थ है जिसे आत्मा राग-भाव के कारण अपना समझ लेता है, यह समझ मिथ्या है । जब यह मिथ्या धारणा दूर हो जाती है तब सच्चा प्रकाश आत्मा में उत्पन्न होता है–हे चेतन ! तू स्वयं ही अपने को तारने वाला है, तू ही परमात्मा है । परमात्मा का सहारा लेकर उनके स्वरूप का चिन्तन करने से निज स्वरूप प्रकट होता है । निज गुणों को प्रकट करने में परमात्मस्वरूप का चिन्तन एवं गुणगान निमित्त होता है । इससे शुद्ध स्वरूप पर जो पर्दा पड़ा है वह दूर हो जाता है ।

इस प्रकार एक भास्कर (महावीर) अस्त हुआ और दूसरे भास्कर का उदय हुआ । गौतम स्वामी केवलज्ञानी हो गए । उनके चारों ज्ञान केवलज्ञान में उसी

में सभी ज्योतियाँ विलीन हो जाती हैं । अपूर्णता मिट गई । अपूर्णता का कारण क्षयोपशम है और जब क्षयोपशम न रहा तो भेद भी नहीं रहा । समुद्र, सरोवर, कूप, नदी आदि के जल में भाप बन जाने के बाद किसी प्रकार का भेद नहीं रहता । भारी-हल्का, खारा-मीठा, गन्दा-साफ-सभी प्रकार का जल वाष्प बन जाने पर एकरूप हो जाता है । जल में विजातीय पदार्थ के संयोग से भिन्नता होती है, और उस संयोग के हट जाने पर भिन्नता दूर हो जाती है । इसी प्रकार विजातीय द्रव्य का संयोग हटते ही सब आत्माओं का ज्ञान और सभी आत्माएं समान हो जाती हैं । उनमें किसी प्रकार की विलक्षणता नहीं रहती ।

गौतम स्वामी शुद्ध आत्मस्वरूप के अधिकारी बन गए । हमें भी आत्मचिन्तन द्वारा आत्मा को शुद्ध स्वरूप में परिणत करना है । गौतम की शुद्धि से हमें सीख लेनी है । ज्ञान के द्वारा अपने निज गुणों को शुद्ध बनाना है । यह शुद्धता सम्यक् श्रद्धा और ज्ञान से ही प्राप्त हो सकती है ।

बन्धुओ, सत्पुरुषों का जीवन प्रदीप के समान है जो स्वयं प्रकाशित होता है और दूसरों को भी प्रकाशित करता है । साधारण मानव मिथ्या धारणाओं और गलत शक्तियों के उपयोग के कारण यों ही समाप्त हो जाता है । आयु का तेल पाकर जीवन की बत्ती जलती रहती है, मगर कोई-कोई बत्ती होली का काम कर जाती है। दीपक फटाके, बीड़ी, सिगरेट अथवा दूसरों की वस्तुओं को जलाने के काम भी आ सकता है, किन्तु दीपक का यह सही उपयोग नहीं है । वह दूसरों को जला कर स्वयं भी खत्म हो जाता है । एक दीपक वह भी होता है जो पठन-पाठन में और पथिकों को पथ दिखलाने में काम आता है । वह दीपक बुझ जाता है तो पथिक उसे याद करते हैं कि रात में भी उसने दिन के समान सुविधा दी । यह जीवन भी चलते दीपक के समान है । इससे प्रकाश प्राप्त करना चाहिए-अपने लिए तथा औरों के लिए ।

भगवान् महावीर 'लोकप्रदीप' थे । वे स्वयं प्रकाशमय थे और समस्त जगत् को प्रकाश देने वाले थे । उस लोकोत्तर प्रदीप ने संसार को सन्मार्ग प्रदर्शित किया, कुमार्ग पर जाने से रोका और अज्ञान के अंधकार का निवारण किया । किन्तु वह प्रदीप इस लोक में नहीं रहा, उसकी स्मृति ही हमारे लिए शेष रह गई है ।

वासना और विकार की आंधी से प्रभावित दीप बुझ जायेंगे । वही दीपक अमर रहेगा जिसे वासना की आंधी स्पर्श नहीं कर सकती ।

भगवती सूत्र में भगवान् महावीर और गौतम स्वामी के जो प्रश्नोत्तर विद्यमान हैं, वे हमारे लिए प्रकाशपुंज हैं । भगवान् ने न केवल वाणी द्वारा बल्कि

करणी द्वारा भी शिक्षा दी है । जो चल चुका है और पहुँच चुका है उसे चरण-चिह्न नहीं देखने पड़ते । पीछे चलने वालों को चरण-चिह्न देखने पड़ते हैं । अगर हम उनके चरण-चिह्नों को देखकर उनके मार्ग पर चलेंगे जिन्होंने सिद्धि प्राप्त की है या जो आत्मोत्थान के पथ के पथिक हैं तो जो सिद्धि गौतम को मिली वह हमें भी मिल सकती है । भले ही विघ्न आएं, बाधाएं हमें रुकने को मजबूर करें, कालक्षेप हो किन्तु जिसका संकल्प अचल है और जो उस मार्ग से न हटने का निश्चय कर चुका है, उसे सिद्धि प्राप्त हो कर ही रहेगी ।

दीपावली के प्रसंग पर व्यापारी हानि-लाभ का हिसाब निकालते हैं । लाभ देखकर प्रसन्न और हानि देखकर दुखी होते हैं । हानि है तो आगे उसे लाभ में परिणत करने का संकल्प करते हैं और दुगुना काम करते हैं । जीवन के इस महान व्यवसाय में भी यही नीति अपनानी चाहिए । उसकी भी चिन्ता करनी चाहिए । आर्थिक लाभ और हानि का सम्बन्ध सिर्फ वर्तमान जीवन तक ही सीमित है, मगर जीवन व्यापार का सम्बन्ध अनन्त भविष्य के साथ है । यदि साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका दीवाली की रात्रि में, वर्ष में एक बार भी शुद्ध हृदय से गहरा विचार करें तो उन्हें लाभ होगा ।

व्यापारी चांदी के टुकड़ों का हिसाब रखता है जिनमें कोई स्थायित्व नहीं है तो साधक को भी अपने जीवन का, अपनी साधना, अपने सद्गुणों के लाभा-लाभ का हिसाब रखना चाहिये । बिना हिसाब वाला, रामभरोसे रहने वाला व्यापारी जैसे धोखा खा सकता है, उसी प्रकार व्रती साधक को आध्यात्मिक लेखा-जोखा न रखने से खतरे का सामना करना पड़ सकता है ।

साधक अपने जीवन को ज्ञान ज्योति से आलोकित रखे, ज्ञान-आलोक में जीवन को निर्मलता की ओर अग्रसर करे और सम्पूर्ण रूप से ज्योतिर्मय बन जाए, यही दीपावली का संदेश है । इस संदेश को समझ कर जो आचरण करेगा उसका भविष्य आलोकमय बन जाएगा ।

[७२]

पात्रता

कोई भव्यजीव जब वास्तविक सम्यग्दृष्टि प्राप्त कर लेता है, वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझ लेता है, संसार की असारता को विदित कर लेता है, परिग्रह को समस्त दुःखों का मूल समझ लेता है और यह सब जान लेने के पश्चात् आत्मस्वरूप में निराकुलतापूर्वक रमण करने के लिए संसार से विमुख हो जाता है, तब जगत का विशालतम वैभव भी तुच्छ प्रतीत होने लगता है । राजसी भोग उसे भुजंग के समान प्रतीत होने लगते हैं । तब वह मुनिधर्म की साधना में तत्पर हो जाता है । ऐसा साधक शनैः शनैः कदम उठानें की अपेक्षा एक साथ शक्तिशाली कदम उठाना ही उचित मानता है ।

कुछ साधक ऐसे भी होते हैं जो धीरे-धीरे अग्रसर होते हैं । अन्तर में ज्ञान की चिनगारी प्रज्वलित होते ही वे अकर्मण्य न रह कर जितना सम्भव हो उतनी ही साधना करते हैं । वह देशविरति को अंगीकार करते हैं । कुछ भी न करने की अपेक्षा थोड़ा करना बेहतर है । हम कह सकते हैं–'अकरणान्मन्द करणं श्रेयः ।'

इस प्रकार देशविरति अविरति से श्रेष्ठ है । आनन्द सर्वविरति को अंगीकार करने में समर्थ नहीं हो सका, अतः उसने देशविरति ग्रहण की । इस प्रसंग में नवमें व्रत सामायिक के अतिचारों का निरूपण किया जा चुका है । बतलाया गया था कि सामायिक की अवस्था में मन, वचन और काया का व्यापार अप्रशस्त नहीं होना चाहिए। जिस व्यापार से समभाव का विघात हो, वह सब व्यापार अप्रशस्त कहलाता है । साथ ही उस समय 'मैं सामायिक व्रत की आराधना कर रहा हूँ' यह बात भूलनी नहीं चाहिए। यह सामायिक का भूषण है, क्योंकि जिसे निरन्तर यह ध्यान रहेगा कि मैं इस समय सामायिक में हूँ, वह इस व्रत के विपरीत कोई प्रवृत्ति नहीं करेगा । इसके विपरीत सामायिक का भान न रहना दूषण है । सामायिक के समय भी वैसा

भी वैसा ही बोलना जैसा अन्य समय में बोला जाता है या अन्य कार्य करना, यह अनुचित है । इसी प्रकार सामायिक व्रत का आराधन व्यवस्थित रूप से करना श्रावक का परम कर्त्तव्य है । इसका तात्पर्य यह है कि सामायिक व्रत में जिन मर्यादाओं का पालन करना आवश्यक है, उन्हें पूरी तरह ध्यान में रखा जाय और पालन किया जाय।

सामायिक के उक्त पांचों दोषों से ठीक तरह बचा जाय और भावपूर्वक, विधि के साथ, सामायिक का आराधन किया जाय तो जीवन में समभाव की वृद्धि होगी और जितनी समभाव की वृद्धि होगी उतनी ही निराकुलता एवं शान्ति बढ़ेगी ।

श्रावक का दसवां व्रत देशावकाशिक है । यह व्रत एक प्रकार से दिग्व्रत में की हुई मर्यादाओं के संक्षिप्तीकरण से सम्बन्ध रखता है । दिग्व्रत में श्रावक ने जीवन भर के लिए जिस-जिस दिशा में जितनी-जितनी दूर तक आवागमन करने का नियम लिया था, उसे नियतकाल के लिए सिकोड़ लेना देशावकाशिक व्रत है । उदाहरणार्थ– किसी श्रावक ने पूर्व दिशा में पांच सौ मील तक जाने की मर्यादा रखी है । किन्तु आज वह मर्यादा करता है कि मैं बारह घन्टों तक पचास मील से अधिक नहीं जाऊंगा–तो यह देशावकाशिक व्रत कहलाएगा ।

इस व्रत का उद्देश्य है आशा-तृष्णा को घटाना और पापों से बचना । की हुई मर्यादा से बाहर के प्रदेश में हिंसा आदि पापों का परित्याग स्वतः हो जाता है और वहां व्यापार आदि करने का त्याग हो जाने के कारण तृष्णा का भी त्याग हो जाता है ।

पहले बतलाया जा चुका है कि व्रत को सोच-समझ कर दृढ़ संकल्प के साथ अंगीकार करना चाहिए और अंगीकार करने के पश्चात् हर कीमत पर उसका पालन करना चाहिए । व्रत को स्वीकार कर लेना सरल है मगर पालना कठिन होता है । किन्तु जिसका संकल्प सुदृढ़ है उसके लिए व्रत पालन में कोई बड़ी कठिनाई नहीं होती । हां, यह आवश्यक है कि व्रत के स्वरूप को और उसके अतिचारों को भली-भाँति समझ लिया जाए और अतिचारों से बचने का सदा ध्यान रखा जाए । इस व्रत के भी पांच अतिचार जानने योग्य हैं किन्तु आचरण करने योग्य नहीं हैं । वे इस प्रकार हैं–

(१) आनयन प्रयोग : मनुष्य के मन में कभी-कभी दुर्बलता उत्पन्न हो जाती है । किसी प्रकार का व्रत की मर्यादा का उल्लंघन करने वाला आकर्षण पैदा हो जाता है । उस समय वह कोई रास्ता निकालने की सोचता है । मर्यादित क्षेत्र

होती है। ऐसी स्थिति में स्वयं न जाकर किसी दूसरे से कोई वस्तु मंगवा लेना, यह अतिचार है। इस प्रकार के प्रयोग से व्रत का मूल उद्देश्य नष्ट हो जाता है।

(२) प्रेष्य प्रयोग : मर्यादित क्षेत्र से बाहर किसी को भेज कर काम करवा लेना भी अतिचार है। किसी श्रावक ने सैलाना की सीमा में ही व्यापार करने का नियम लिया है, किन्तु इन्दौर या रतलाम में विशेष लाभ देखकर पुत्र या मुनीम को भेजकर व्यापार करना, यह भी व्रत का अतिचार है। ऐसा करने से भी व्रत के उद्देश्य में बाधा आती है।

(३) शब्दानुपात : आवाज देकर किसी को मर्यादित क्षेत्र के भीतर बुला लेना और बाहर जाकर जो काम करना था वह उसी क्षेत्र में कर लेना शब्दानुपात नामक अतिचार है। मान लीजिए किसी साधक ने पौषधशाला से बाहर न जाने का व्रत लिया। अचानक उसे बाहर का कोई काम पड़ गया। ऐसी स्थिति में वह स्वयं बाहर न जाकर किसी को आवाज देकर पौषधशाला में ही बुला लेता है तो अपने स्वीकृत व्रत का अतिक्रमण करता है क्योंकि ऐसा करने से व्रत का उद्देश्य भंग होता है।

(४) रूपानुपात : मर्यादित क्षेत्र से बाहर के किसी व्यक्ति को बुलाने के अभिप्राय से अपना रूप-चेहरा दिखलाना भी अतिचार है। किसी प्रकार का इशारा करके काम करवा लेना भी इसी में सम्मिलित है। पौषधशाला में बिस्तर नहीं आया या पानी नहीं आया। उसे मंगवाने के अभिप्राय से अपने आपको दिखलाना या संकेत करना रूपानुपात है।

(५) पुद्गल प्रक्षेप : मर्यादित क्षेत्र से बाहर के व्यक्ति का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए कंकर, पत्थर, रूमाल या ऐसी ही कोई अन्य वस्तु फेंकना और बाहर की वस्तु मंगवाकर काम में लाना भी अतिचार है। यद्यपि वह बाहर गया नहीं किन्तु बाहर जाने का जो प्रयोजन था उसे उसने पूरा कर लिया। ऐसा करने से व्रत के मूल उद्देश्य में बाधा उपस्थित हुई। अतएव व्रत का आंशिक खण्डन हो गया।

उल्लिखित पाँच अतिचारों से बचने से ही देशावकाशिक व्रत को निर्मल रूप से पाला जा सकता है। इस व्रत का दायरा बहुत विशाल है। इसके अनेक रूप जो हो गए हैं, उसी से इसकी विशालता का अनुमान किया जा सकता है।

देशावकाशिक और सामायिक व्रत में क्या अन्तर है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि साधक के कार्यों का आरम्भ-समारम्भ का त्याग इस व्रत में अनिवार्य नहीं

है। इस व्रत को धारण करने वाला साधक अपने मर्यादित क्षेत्र के बाहर आरम्भ आदि का त्यागी होता है किन्तु मर्यादित क्षेत्र के भीतर आरम्भ का त्याग करना उसके लिए अनिवार्य नहीं है । सामायिक व्रत का पालन करने वाले साधक के लिए सावद्य योग का त्याग करना आवश्यक है । उसमें सम्पूर्ण पाप के त्याग का लक्ष्य होता है । सामायिक में देश सम्बन्धी कोई मर्यादा नहीं होती । सामायिक व्रत की आराधना के विषय में कहा गया है–

सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ।।

सामायिक करने की अवस्था में श्रावक भी साधु के समान हो जाता है, इस कारण श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह बार-बार सामायिक करे ।

तात्पर्य यह है कि आर्त्त-रौद्र ध्यान का त्याग करके और सावद्य कार्यों का त्याग करके एक मुहूर्त्त पर्यन्त जो समताभाव धारण किया जाता है, वह सामायिक व्रत कहलाता है । स्पष्ट है कि सामायिक में किसी प्रकार के सावद्य व्यापार की छूट नहीं है । किन्तु देशावकाशिक व्रत में यह बात नहीं होती । उसका पालन करने वाला श्रावक मर्यादा के भीतर सावद्य व्यापार का त्यागी नहीं होता ।

सामायिक करना एक प्रकार से साधुत्व का अभ्यास है । अतएव सामायिक का आराधन करने से आगे की भूमिका तैयार होती है ।

इन दोनों व्रतों के स्वरूप में किंचित अन्तर होने पर भी यह नहीं समझना चाहिए कि इनमें किसी प्रकार का साम्य ही नहीं है । आखिर तो दोनों ही व्रत अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार श्रावक के जीवन को संयम की ओर अग्रसर करने के लिए ही हैं । श्रावक किस प्रकार पूर्ण संयम के निकट पहुँचे, इस उद्देश्य की पूर्ति में दोनों व्रत सहायक हैं । श्रावक के जो तीन मनोरथ कहे गए हैं उनमें एक मनोरथ यह भी है कि कब वह सुदिन उदित होगा जब मैं आरम्भ-परिग्रह को त्याग कर अनगार धर्म को अंगीकार करूंगा ? इसी मनोरथ को लक्ष्य में रखकर श्रावक को प्रत्येक प्रवृत्ति करनी चाहिए और जिसका लक्ष्य ऐसा उदात्त और पवित्र होगा वह सदा संयम परायण सत्पुरुषों का गुणगान करेगा ।

आनन्द ने श्रावक व्रत की साधना स्वीकार की और अपने जीवन की कृतार्थता की ओर कुछ कदम बढ़ाए । श्रावकों के लिए आनन्द का जीवनचरित सदा आदर्श रहेगा ।

कई दिनों से जो कथानक रुक गया है, उस ओर भी ध्यान देना है । बतलाया जा चुका है कि आचार्य संभूतिविजय का स्वर्गवास हो गया और यह दुस्संवाद सुनकर महामुनि भद्रबाहु नेपाल से लौट आए । स्थुलभद्र भी साथ आए । उनकी सातों भगिनियाँ स्थूलभद्र के दर्शनार्थ आईं । वे एकान्त में साधना कर रहे थे। उस समय आचार्य भद्रबाहु ने कहा–"चाहो तो उनके दर्शन कर सकती हो ।"

भगिनियाँ तो दर्शन करने के लिए उत्कंठित थीं ही, साथ ही उन्हें यह जानने की भी बड़ी अभिलाषा थी कि देखें मुनिराज स्थूलभद्र कैसी साधना कर रहे हैं ? अब तक उन्होंने क्या अभ्यास किया है ? क्या स्थिति है उनकी ? इस प्रकार की उत्कंठा और प्रेरणा से वे स्थूलभद्र के पास पहुँचीं ।

उधर स्थूलभद्र ने अपनी भगिनियों को आते देख विचार किया–'इन्हें कुछ चमत्कार दिखलाना चाहिए । मैंने जो कुछ प्राप्त किया है, उसमें से जो कुछ दिखलाने योग्य है, उसकी बानगी दिखला देना चाहिए । अन्यथा इन्हें कैसे पता चलेगा कि नेपाल जैसे दूर देश में जाकर मैंने क्या प्राप्त किया है ?' इस प्रकार विचार करके स्थूलभद्र गुफा के द्वार पर सिंह का रूप धारण करके बैठ गए ।

भगिनियाँ बड़ी उत्कंठा के साथ महासाधक स्थूलभद्र के दर्शन को जा रहीं थीं । वह स्थान एकान्त भयानक एवं जनहीन वन्य प्रदेश था । मगर तपोव्रती जिस वन प्रदेश में निवास करता है उसकी भयानकता कम हो जाती है, यहां तक कि एक बालक भी वहां जा सकता है। साध्वियां निर्भय होकर उसी ओर चली जा रही थीं।

योगसाधना का सबसे बड़ा विघ्न लोकैषणा है । योा की साधना करते-करते साधक में अनेक प्रकार की विस्मयजनक शक्तियां उत्पन्न हो जाती हैं । योग शास्त्र के कर्त्ता-आचार्य हेमचन्द्र ने योग के माहात्म्य को प्रदर्शित करते हुए लिखा है-

योगः सर्वविपद्वल्ली-विताने परशुः शितः ।
अमूलमन्त्रतन्त्रञ्च, कार्मणं निर्वृत्तिश्रियः ।।

भूयांसोऽपि पापमानः, प्रलयं यान्ति योगतः ।
चण्डवाताद् घनघटना, घनाघनघटा इव ।।

कफविप्रुण्मलामर्श–सर्वौषधमहर्द्धयः
सभिन्नश्रोतोपलब्धिश्च, योगं ताण्डवाड्म्बरम् ।।

अर्थात्–योग समस्त विपत्तिरूपी लताओं के वितान को छेदन करने वाला तीक्ष्ण कुल्हाड़ा है और मुक्ति रूपी लक्ष्मी को वशीभूत करने के लिए बिना मंत्र-तंत्र

का कामण (जादू) है । योग के प्रभाव से सम्पूर्ण पापों का विनाश हो जाता है जैसे तेज आंधी से मेघों की सघन घटाएँ तितर-बितर हो जाती हैं । योग के अद्‌भुत प्रभाव से किसी-किसी योगी को ऐसी ऋद्धि प्राप्त हो जाती है कि उसका कफ सब रोगों के लिए औषध का काम करता है, उस के मल में और मूत्र में रोगों को नष्ट करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है । किसी के स्पर्श मात्र से ही रोग दूर हो जाते हैं । किसी के मल, मूत्र आदि सभी व्याधि विनाशक हो जाते हैं। योग के प्रभाव से संभिन्नश्रोतोपलब्धि भी प्राप्त होती है । जिसके प्राप्त होने पर किसी भी एक इन्द्रिय से पांचों इन्द्रियों का काम लिया जा सकता है । जीभ से सूंघा जा सकता है, आंख से चखा जा सकता है, कान से देखा जाता है, इत्यादि। इनंके अतिरिक्त अन्य समस्त लब्धियां भी योग के अभ्यास द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं ।

फिर भी नाना प्रकार की प्राप्त होने वाली लब्धियां योग का प्रधान फल नहीं है । अध्यात्मनिष्ठ योगी इन्हें प्राप्त करने के लिए योग की साधना नहीं करता । ये तो आनुषांगिक फल हैं । जैसे कृषक धान्य प्राप्त करने के लिए कृषि कार्य करता है किन्तु धान्य के साथ उसे भूसा (खाखला) भी मिलता है, उसी प्रकार योगी मुक्ति के लिए साधना करता है परन्तु उक्त लब्धियाँ भी अनायास ही उसे प्राप्त हो जाती हैं।

गौतम स्वामी 'लब्धितणा भण्डार' थे किन्तु उन्होंने अपनी किसी लब्धि का उपयोग लोकों को चमत्कार दिखलाने के लिए नहीं किया । किन्तु सभी साधक समान नहीं होते । चमत्कारजनक शक्ति के प्राप्त होने पर भी उसका उपयोग न करने का धैर्य विरले साधक में ही होता है । दुर्बल हृदय मार्ग चूक जाते हैं । वे लोकैषणा के वशीभूत होकर चमत्कार दिखलाने में प्रवृत्त हो जाते हैं और यदि शीघ्र ही उस प्रवृति से विमुख न हुए तो आत्मकल्याण के मार्ग से भी विमुख हो जाते हैं । सिद्धान्त का कथन है कि लब्धि के प्रयोग से संयम-चारित्र मलिन होता है ।

स्थूलभद्र महान् साधक मुनि थे, किन्तु इस समय उनके चित्त में दुर्बलता उत्पन्न हो गई । उन्होंने विचार किया—'ये भगिनी साध्वियां मेरे दर्शन के लिए आ रही हैं । वे छोटे-मोटे अंग-उपांग श्रुत को जानकर साधना कर रही हैं और दृष्टिवाद अंग के माहात्म्य को नहीं जानती हैं । क्यों न उन्हें उस महान् श्रुत का परिचय दिया जाय ।'

प्रायः प्रत्येक मनुष्य में अपनी महत्ता प्रदर्शित करने की अभिलाषा होती है । स्थूलभद्र जैसे उच्चकोटि के साधक भी इससे बच नहीं पाए ।

विज्ञान के द्वारा आज अनेक प्रकार के आश्चर्यजनक आविष्कार हुए हैं किन्तु यौगिक शक्ति के चमत्कारों की तुलना में वे नगण्य हैं ।

प्राचीन भारतीय साहित्य भी अत्यन्त समृद्ध और परिपूर्ण था । द्वादशांगी में बारहवां अंग दृष्टिवाद बहुत विशाल था । खेद है कि आज वह उपलब्ध नहीं है । तथापि उसके वर्णित विषयों का कुछ-कुछ परिचय अन्य शास्त्रों से मिलता है । उससे पता चलता है कि ज्ञान-विज्ञान की ऐसी कोई शाखा नहीं, जिसका दृष्टिवाद में विवेचन न किया गया हो ।

'भूवलय' नामक ग्रन्थ के विषय में आपने सुना होगा । वह एक अद्‌भुत ग्रन्थ है । वह अठारह भाषाओं में पढ़ा जा सकता है और संसार की समस्त विद्याएँ उसमें समाहित हैं, ऐसा दावा किया जाता है । कुछ वर्ष पूर्व भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसादजी आदि को वह दिखलाया गया था । वह एक जैनाचार्य की असाधारण प्रतिभा का प्रतीक है । कर्नाटक प्रान्त के एक जैन विद्वान् उसका परिशीलन कर रहे थे । उसके मुद्रण की योजना भी उन्होंने बनाई थी । किन्तु अचानक स्वर्गवास हो जाने के कारण वह योजना अभी तक कार्यान्वित नहीं हो सकी । इस ग्रन्थ के लेखक आचार्य का दिमाग कितना उर्वर और ज्ञान कितना व्यापक रहा होगा । यह ग्रन्थ अंकलिपि में है । दृष्टिवाद को न जानने वाले आचार्य का एक ग्रन्थ जब संसार को चकित कर सकता है तो दृष्टिवाद के ज्ञाता के ज्ञान की विशालता का क्या कहना है । वास्तव में ज्ञान असीम है, उसकी गरिमा का पार नहीं है ।

हाँ, तो स्थूलभद्र के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि दर्शनार्थ आने वाली साध्वियों को क्या चमत्कार दिखलाया जाय । आखिर रूप परिवर्तन की विद्या का प्रयोग करके उन्होंने सिंह का रूप धारण कर लिया ।

साध्वियां मुनिराज के दर्शन के लिए पहुँचीं, मगर मुनिराज के दर्शन नहीं हुए। गुफा के द्वार पर एक सिंह दृष्टिगोचर हुआ । साध्वियां उसे देखकर पीछे हट गईं और वापिस लौट कर आचार्य भद्रबाहु के समीप पहुँचीं । उन्होंने उनको बतलाया– "जान पड़ता है मुनिराज स्थूलभद्र कहीं अन्यत्र विहार कर गए हैं । जिस गुफा में वे साधना करते थे वहां तो हमें एक सिंह बैठा दिखाई दिया है ।"

आचार्य इस घटना के रहस्य को समझ गए । सोचने लगे–'क्या स्थूलभद्र दृष्टिवाद के ज्ञान के पात्र हैं ? उनको दृष्टिवाद का ज्ञान देना उचित है ? जैसे कच्चे घड़े में पानी भरने से घड़ा गल जाता है–विनष्ट हो जाता है और जल की

भी हानि होती है, उसी प्रकार अपात्र को ज्ञान देने से उसका और दूसरों का अकल्याण होता है ।' प्राचीन काल में इस बात का बहुत विचार किया जाता था ।

आचार्य भद्रबाहु इस विषय में क्या निर्णय करते हैं, यह यथावसर विदित होगा । अगर हम भी पात्रता प्राप्त कर गरिमामय ज्ञान प्राप्त करने की साधना करेंगे तो इहलोक और परलोक में हमारा परम कल्याण होगा ।

---

[७३]

पौषधव्रत के अतिचार

'अहिंसा' धर्म का प्रधान अंग है और संसार के समस्त धर्म अथवा सम्प्रदाय एक स्वर से अहिंसा की महिमा को स्वीकार करते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि जब तक जीव और अजीव की पुरी जानकारी न हो जाय तब तक अहिंसा के परिपूर्ण स्वरुप को समझना और उस पर आचरण करना संभव नहीं है। इसके लिए विशिष्ट लोकोत्तर ज्ञान की अपेक्षा रहती है। तथापि जिसने जिस रूप में जीवतत्व को पहचाना, उसी रूप में अहिंसा का समर्थन और अनुमोदन किया है। हिंसा को धर्म मानने वाला कोई सम्प्रदाय या पंथ नहीं है। जो हिंसा के विधायक हैं वे भी उस हिंसा को अहिंसा समझ कर ही उसका विधान करते हैं।

जैन धर्म के प्रवर्तक सर्वज्ञ थे, अतएव उन्होंने सूक्ष्म और स्थूल, दृश्य और अदृश्य, सभी प्रकार के जीवों को समझ कर पूर्ण अहिंसा का उपदेश दिया है। श्रीमद् आचारांग सूत्र के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है। इस सूत्र में पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक के जीवों की रक्षा करने को मुनिधर्म बताया है, इसे अत्यन्त सुन्दर और सुगम ढ़ंग से समझाया गया है। चलते-फिरते त्रस जीवों की अहिंसा का विधान तो है ही।

अहिंसा का जो उपदेश दिया गया है, उसका प्रधान उद्देश्य आत्म-शुद्धि है। जब तक अन्तःकरण में पूर्णरूपेण मैत्री और करुणा की भावना उदित नहीं होती तब तक आत्मा में कुविचारों की कालिमा बनी रहती है और शुद्ध आत्मस्वरूप प्रकट नहीं होता। उस कालिमा को हटाकर आत्मा को निर्मल बनाना और आत्मा की सहज स्वाभाविक शक्तियों को प्रकाश में लाना, यही अहिंसा के आचरण का लक्ष्य है।

साधारण जन हिंसा के स्थूल रूप को अर्थात् जीव की घात को ही हिंसा समझते हैं, परन्तु ज्ञानी जनों का कथन है कि हिंसा का स्वरूप यहीं तक सीमित नहीं है। आत्मिक विशुद्धि का विघात करने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति हिंसा है। इस दृष्टिकोण

से देखने पर पता चलता है कि प्रत्येक पापाचरण हिंसा का ही रूप है । असत्य भाषण करना हिंसा है, अदत्त वस्तु को ग्रहण करना हिंसा है, अब्रह्मचर्य का सेवन हिंसा है और ममता या आसक्ति का भाव भी हिंसा है । आचार्य अमृतचन्द्र ने इस तथ्य को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है । वे कहते हैं–

आत्मपरिणाम हिंसन-हेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्
अनृतवचनादि-केवल-मुदाहृतं शिष्यबोधाय।।

तात्पर्य यह है कि असत्य भाषण, अदत्तादान आदि सभी पाप वस्तुतः हिंसा रूप ही हैं, क्योंकि उनसे आत्मा के परिणाम का अर्थात् शुद्ध उपयोग का घात होता है। फिर भी असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह को हिंसा से पृथक् जो निर्दिष्ट किया गया है, उसका प्रयोजन केवल शिष्यों को समझाना ही है । साधारण जन भी सरलता से समझ सकें, इसी उद्देश्य से हिंसा का पृथक्करण किया गया है ।

आगे यही आचार्य कहते हैं–

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसैव ।
तेषामेवोत्पत्तिः हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ।।

जिनागम का आकार बहुत विशाल है । पूरी तरह उसे समझना बहुत कठिन है। उसके लिए असीम धैर्य, गहरी लगन और ज्वलन्त पुरुषार्थ चाहिये । किन्तु सम्पूर्ण जिनागम का सार यदि कम से कम शब्दों में समझना हो तो वह यह है–'रागादि कषाय भावों की उत्पत्ति होना हिंसा है एवं रागादि कषाय भावों का उत्पन्न न होना अहिंसा है।'

इस प्रसंग में वैदिक धर्म का कथन भी हमें स्मरण हो आता है जो इससे बहुत अंशों में मिलता-जुलता है । वह है–

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनं द्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम् ।।

लम्बे-चौड़े अठारह पुराणों में व्यासजी ने मूल दो ही बातों का विस्तार किया है । वे दो बातें हैं–

(१) परोपकार से पुण्य होता है ।
(२) पर को पीड़ा उपजाना पाप है ।

इस प्रकार अहिंसा धर्म है और हिंसा पाप है, इस कथन में जैन शास्त्र और वैदिक शास्त्र का सार समाहित हो जाता है । दोनों के कथन के अनुसार शेष

समस्त धार्मिक क्रियाकाण्ड अहिंसा के ही पोषक, सहायक एवं समर्थक हैं, यह निर्विवाद है ।

भारतवर्ष के दो प्रधान धर्मों के जो उल्लेख आपके समक्ष उपस्थित किये गये हैं, उनमें अत्यन्त समानता तो स्पष्ट है ही किन्तु थोड़ा-सा अभिप्राय-भेद भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत हुए बिना नहीं रहता। व्यासजी ने पर पीड़ा को पाप कहा है, मगर पर को पीड़ा पहुँचाना एक बाह्य क्रिया है। पर बाहर की क्रिया किससे प्रेरित होती है ? उसका मूल क्या है ? इस प्रश्न का उनके कथन में उत्तर नहीं मिलता । व्यासजी ने इस बारीकी का विश्लेषण नहीं किया । मगर आचार्य अमृतचन्द्र ने उस ओर ध्यान दिया है । अन्तःकरण में राग-द्वेष रूपी विकार जब उत्पन्न होता है तभी मनुष्य दूसरों को पीड़ा पहुँचाता है । इस कारण आचार्यजी ने रागादि को भी हिंसा कहा है । इस कथन की विशेषता यह है कि कदाचित् परपीड़ा उत्पन्न न होने पर भी रागादि के उदय से जो भावहिंसा होती है, उसका भी इसमें समावेश हो जाता है । इस प्रकार जैनागम की दृष्टि मूल-स्पर्शिनी और गम्भीर है ।

इतने विवेचन से आप समझ गए होंगे कि मूल पाप हिंसा है । असत्य, स्तेय आदि उसकी शाखाएं अथवा प्रशाखाएं हैं । शास्त्रकार अत्यन्त दयालु और सर्वहितकारी होते हैं । वे तत्त्व को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि सभी स्तरों के मुमुक्षु साधक उसे हृदयंगम कर सकें और जो आचरण करने योग्य है उसे आचरण में ला सकें । अतएव आचरण की सुविधा के लिए विभिन्न व्रतों का पृथक्-पृथक् नामकरण किया गया है । अणुव्रतों, गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का एक मात्र लक्ष्य यही है कि आराधक असंयम से बच सके ओर स्वात्म रमण की और अग्रसर हो सके ।

इसी उद्देश्य से यहां भी व्रतों और उनके अतिचारों का विवेचन किया जा रहा है । ये सभी व्रत आत्मा का पोषण करने वाले हैं, अतएव पौषध हैं, किन्तु पौषध शब्द ग्यारहवें व्रत के लिए रूढ़ है ।

अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या, ये विशिष्ट दिन (पर्व) समझे जाते हैं । इनमें उपवास आदि तपस्या करना, समस्त पाप-क्रियाओं का परिहार करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना और स्नान आदि शारीरिक श्रृंगार का त्याग करना पौषधव्रत कहलाता है । इसे 'पौषधोपवास' भी कहते हैं । 'पौषध' और 'उपवास' इन दो शब्दों के मिलने से 'पौषधोपवास' शब्द निष्पन्न होता है । 'उप-समीपे वसनं उपवासः' अर्थात् अपनी आत्मा एवं परमात्मा के समीप वास करना और सांसारिक प्रपंचों से विरत हो जाना उपवास कहा गया है । खाना-पीना आदि क्रियाओं में समय नष्ट न करके त्यागभाव से रहना, अपने स्वभाव के पास आना है । राग-द्वेष की परिणति से

रहित होकर अपने स्वभाव में रमण करने का यह अभ्यास है । उपवास का स्वरूप बतलाते हुए कहा है–

कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते ।
उपवासः स विज्ञेयः, शेषं लंघनकं विदुः ।।

क्रोध आदि कषायों का, इन्द्रियों के विषयों के सेवन का और आहार का त्याग करना सच्चा उपवास है । कषायों और विषयों का त्याग न करके सिर्फ आहार का त्याग करना उपवास नहीं कहलाता–वह तो लंघन मात्र है ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि पौषध का अर्थ है–आत्मिक गुणों का पोषण करने वाली क्रिया । जिस-जिस क्रिया से आत्मा अपने स्वाभाविक गुणों का विकास करने में समर्थ बने, विभाव परिणति से दूर हो और आत्म-स्वरूप के सन्निकट आए, वही पौषध है ।

पौषधव्रत अंगीकार करते समय निम्नोक्त चार बातों का त्याग आवश्यक है–

(१) आहार का त्याग ।

(२) शरीर के सत्कार या संस्कार का त्याग–जैसे केशों का प्रसाधन, स्नान, चटकीले-भड़कीले वस्त्रों का पहिनना एवं अन्य प्रकार से शरीर को सुशोभित करना ।

(३) अब्रह्म का त्याग ।

(४) पापमय व्यापार का त्याग ।

मन को सर्वथा निर्व्यापार बना लेना संभव नहीं हैं । उसका कुछ न कुछ व्यापार होता ही रहता है । तन का व्यापार भी चलेगा और वचन के व्यापार का विर्सजन कर देना भी इस व्रत के पालन के लिए अनिवार्य नहीं है । ध्यान यह रखना चाहिए कि ये सब व्यापार व्रत के उद्देश्य में बाधक न बन जाएं । विष भी शोधन कर लेने पर औषध बन जाता है, इसी प्रकार मन, वचन और काया के व्यापार में आध्यात्मिक गुणों का घात करने की जो शक्ति है उसे नष्ट कर दिया जाय तो वह भी अमृत बन सकता है । तेरहवें गुणस्थान में पहुँचे हुए सर्वज्ञ सर्वदर्शी अरिहन्त भगवान् के भी तीनों योग विद्यमान रहते हैं, किन्तु वे उनकी परमात्म दशा में बाधक नहीं होते । इसी प्रकार सामान्य साधक का यौगिक व्यापार यदि चालू रहे किन्तु वह पापमय न हो तो व्रत की साधना में बाधक नहीं होता ।

वास्तविकता यह है कि बाह्य प्रवृत्ति मात्र से कुछ बनता-बिगड़ता नहीं । नेत्र देखते हैं, कान सुनते हैं, अन्य इन्द्रियां अपना-अपना कार्य करती हैं । इन्द्रियदमन का अर्थ कई लोग उनकी बाहरी प्रवृत्ति को रोक देना समझते हैं । आँखे फोड़

लेना चक्षुरिन्द्रिय का दमन है, ऐसी किसी-किसी की समझ है । किन्तु भगवान् महावीर इसे इन्द्रियदमन नहीं कहते । अपने-अपने विषय को इन्द्रियां भले ग्रहण करती रहें मगर उस विषय ग्रहण में राग द्वेष के विष का सम्मिश्रण नहीं होना चाहिए । किसी वस्तु को देख लेना ही पाप नहीं है, किन्तु उस वस्तु को हम अपने मन से सुन्दर अथवा असुन्दर रूप देकर उसके प्रति रागभाव और द्वेषभाव धारण करते हैं, यह पाप है ।

किन्तु यहां एक बात ध्यान में रखनी होगी । उक्त कथन का आशय यह नहीं समझना चाहिये कि इन्द्रियों को स्वच्छन्द छोड़ दिया जाय और यह मान कर कि राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होने दिया जायगा, उन्हें किसी भी विषय में प्रवृत्त होने दिया जाय । राग-द्वेष की परिणति निमित्त पाकर उभर आती है । अतएव जब तक मन पूर्ण रूप से संयत न बन जाए, मन पर पूरा काबू न पा लिया जाय, तब तक साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह राग-द्वेष आदि विकारों को उत्पन्न करने वाले निमित्तों से भी बचे ।

क्या हमारे मन में इतनी वीतरागता आ गई है कि उत्तम से उत्तम भोजन करते हुए भी लेशमात्र प्रीति का भाव उत्पन्न न हो ? क्या हम ऐसा समभाव प्राप्त कर चुके हैं कि खराब से खराब भोजन पाकर भी अप्रीति का अनुभव न करें ? क्या मनोहर और वीभत्स रूप को देखकर हमारा चित्त किसी भी प्रकार के विकारों का अनुभव नहीं करना ? इत्यादि प्रश्नों को अपनी आत्मा से पूछिये । यदि आपकी आत्मा सच्चाई के साथ उत्तर देती है कि अभी ऐसी उदासीन भावना नहीं आई है तो आपको इन्द्रियों के विषयों के सेवन से भी बचना चाहिए और विकारवर्धक निमित्तों से दूर रहना चाहिए । साधारण साधक में इस प्रकार का वीतराग भाव उदित नहीं हो पाता । इसी कारण आगम में 'चित्तभित्तिं न निज्झाए' अर्थात् दीवार पर बने हुए विकारजनक चित्रों को भी न देखे, इस प्रकार के शिक्षा वाक्य दिये गए हैं।

पौषधव्रत में भी विकार विवर्धक विषयों से बचने की आवश्यकता है ।

साधना जब एक धारा से चले तब उसमें पूर्ण-अपूर्ण का प्रश्न नहीं उठता, किन्तु मानसिक दुर्बलता ने प्रभाव डाला तो पूर्ण और अपूर्ण का भेद उपस्थित हो गया । पूर्वकाल में सबल मन वाले साधक थे, अतएव उनका तप निर्झर रूप में चलता था । अभी तक के शास्त्रों के आलोडन से इसमें कहीं अपवाद दृष्टिगोचर नहीं हुआ । किन्तु पौषधव्रत में विभाग करने की आवश्यकता जब हुई तो आचार्यों ने भी उसे दो भागों में विभक्त कर दिया—देशपौषध और सर्वपौषध । देश-आहार त्याग और पूर्ण-आहार त्याग नाम प्रदान किये गये । देशपौषध को दशम पौषध कहा जाने लगा । दशम पौषध का क्षेत्र काफी बड़ा है ।

यद्यपि पूर्वाचार्यों ने शारीरिक सत्त्व की कमी आदि कारणों से प्रशस्त इरादे से ही छूट दी किन्तु वह छूट क्रमशः बढ़ती ही चली गई । मानव स्वभाव की यह दुर्बलता सर्व-विदित है कि छूट जब मिलती है तो शिथिलता बढ़ती ही जाती है ।

पौषधव्रत के भी पांच अतिचार हैं, जिन्हें जानकर त्यागना चाहिए । वे इस प्रकार हैं :–

(१) बिस्तर अच्छी तरह देखे बिना सोना : पूर्वकाल में राज-घराने के लोग और श्रीमन्तजन भी घास आदि पर सोया करते थे । उसे देखने-भालने की विशेष आवश्यकता रहती है । ठीक तरह देख-भाल न करने से सूक्ष्म जन्तुओं के कुचल जाने की और मर जाने की सम्भावना रहती है । अतएव बिस्तर पर लेटने और सोने से पूर्व उसे सावधानी के साथ देख लेना प्रत्येक दयाप्रेमी का कर्त्तव्य है । जो इस कर्त्तव्य के प्रति उपेक्षा करता है वह अपने पौषधव्रत को दूषित करता है ।

(२) आसन को भलीभाँति देखे बिना बैठना : यह भी इस व्रत का अतिचार है । इसके सेवन से भी वही हानि होती है जो बिस्तर को न देखने से होती है ।

(३) भूमि देखे बिना लघुशंका–दीर्घशंका करना : मलमूत्र का त्याग करने से पहले भूमि का भलीभाँति निरीक्षण कर लेना आवश्यक है । इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भूमि में रंध्र, छिद्र, दरार या बिल आदि न हों तथा छोटे-मोटे जीव-जन्तु न हों। बहुत बार जमीन पोली होती है और कई जन्तु सर्दी गर्मी या भय से बचने के लिए उसके भीतर आश्रय लेकर स्थित होते हैं। उन्हें किसी प्रकार अपनी ओर से बाधा न पहुँचे, इस बात की सावधानी रखना पौषधव्रती का कर्त्तव्य है ।

(४) पौषधव्रत का सम्यक् प्रकार से विधिपूर्वक पालन न करना :, यह भी व्रत की मर्यादा को भंग करना है, अतएव यह भी अतिचारों में परिगणित है ।

(५) निद्रा आदि प्रमाद में समय नष्ट करना : यह भी अतिचार है । इस व्रत के अतिचारों पर विचार करने से यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि श्रावक की चर्या किस प्रकार की होनी चाहिए । जीवन के क्या छोटे और क्या बड़े, सभी व्यवहारों में उसे सावधान रहना चाहिए और ऐसा अभ्यास करना चाहिए कि उसके द्वारा किसी भी प्राणी को निरर्थक पीड़ा न पहुँचे । जो छोटे-छोटे जीव-जन्तुओं की रक्षा करने की सावधानी रखेगा और उन्हें भी पीड़ा पहुँचाने से बचेगा, वह अधिक विकसित बड़े जीवों की हिंसा कदापि नहीं करेगा । कतिपय लोग, जिन्होंने जैन धर्म में प्रतिपादित आचार पद्धति का और विशेषतः अहिंसा का अध्ययन नहीं किया है,

ऐसा समझते हैं कि जैनधर्म में कीड़ी-मकोड़े की दया पर अधिक जोर दिया गया है, किन्तु जो आनन्द श्रावक के द्वारा ग्रहीत व्रतों का विवरण पढ़ेंगे और उसे समझने का प्रयत्न करेंगे, उन्हें स्पष्ट विदित होगा कि इस आरोप में लेश मात्र भी सचाई नहीं है। जैनाचार के प्रणेताओं ने अपनी दीर्घ और सूक्ष्म दृष्टि से बहुत सुन्दर और सुसम्बद्ध आचार की योजना की है। इसके अनुसार जीवन यापन करने वाला मनुष्य अपने जीवन को पूर्ण रूप से सुखमय, शान्तिमय और फलमय बना सकता है और उसके किसी भी लौकिक कार्य में व्याघात नहीं होता।

आचार का मूल विवेक है। चाहे कोई श्रमण हो अथवा श्रमणोपासक, उसकी प्रत्येक क्रिया विवेकयुत होनी चाहिए। जो विवेक का प्रदीप सामने रखकर चलेगा, उसे गलत रास्ते पर चल कर या ठोकर खाकर भटकना नहीं पड़ेगा। वह द्रुतगति से चले या मन्दगति से, पर कभी न कभी लक्ष्य तक पहुँच ही जाएगा।

पौषधव्रत की आराधना एक प्रकार का अभ्यास है जिसे साधक अपने जीवन का अभिन्न अंग बनाने का प्रयत्न करता है। अतएव पौषध को शारीरिक विश्रान्ति का साधन नहीं समझना चाहिए। निष्क्रिय होकर प्रमाद में समय व्यतीत करना अथवा निरर्थक बातें करना पौषध व्रत का सम्यक् पालन नहीं है। इस व्रत के समय तो प्रतिक्षण आत्मा के प्रति सजगता होनी चाहिए। दूसरा कोई देखने वाला हो अथवा न हो, फिर भी व्रत की आराधना आन्तरिक श्रद्धा और प्रीति के साथ करनी चाहिए। ऐसा किये बिना रसानुभूति नहीं होगी। रसानुभूति तो विधिपूर्वक भीतरी लगन के साथ पालन करने से ही होगी। साधना में आनन्द की अनुभूति होनी चाहिए। जब आनन्द की अनुभूति होने लगती है तो मनुष्य साधना करने के लिए बार-बार उत्साहित और उत्कण्ठित होता है।

गृहस्थ आनन्द ने महावीर स्वामी के चरणों में उपस्थित होकर अंगीकार किये व्रतों के अतिक्रमणों को समझ लिया और दृढ़ संकल्प किया कि मुझे इन सबसे बचना है।

यदि पूरी वस्तु प्राप्त न हो सके तो आधी में सन्तोष किया जाता है, किन्तु जिसे पूरी प्राप्त हो वह आधी के लिए क्यों ललचाएगा ? गृहस्थ पर्वदिवसों में विशिष्ट साधना को अपना कर आनन्द पाता है, किन्तु पूर्ण साधना में निरत मुनि के लिए तो यावज्जीवन पूर्ण साधना ही रहती है। उनका जीवन सर्वविरति साधना में लगा रहता है।

मुनि आराधना के तीन वर्ग बना लेते हैं–(१) ज्ञान (२) दर्शन और (३) चारित्र। वे इन तीनों की साधना में अपनी समग्र शक्ति लगा देते हैं। विराधना से उनके मन में हलचल पैदा हो जाती है।

आचार्य भद्रबाहु स्वयं ज्ञान और चारित्र की आराधना कर रहे हैं तथा दूसरे आराधकों का पथ-प्रदर्शन भी कर रहे हैं। मुनि स्थूलभद्र प्रधान रूप से श्रुत ज्ञान की आराधना में संलग्न हैं।

पहले बतलाया जा चुका है कि आचार्य भद्रबाहु से श्रुत का अभ्यास करने के लिए कई साधु नेपाल तक गए थे, परन्तु एक स्थूलभद्र के सिवाय सभी लौट आए थे। जितेन्द्रिय स्थूलभद्र विघ्नबाधाओं को सहन करते हुए डटे रहे। उनके मन में निर्बलता नहीं आई। उत्साह उनका भग्न नहीं हुआ। वे धैर्य रख कर अभ्यास करते रहे।

किन्तु मन बड़ा दगाबाज़ है। इसे कितना ही थाम कर रखा जाय, कभी न कभी उच्छृंखल हो उठता है। इसी कारण साधकों को सावधान किया गया है कि मन पर सदैव अंकुश रखो। इसे क्षणभर भी छुट्टी मत दो। जरा-सी असावधानी हुई कि चपल मन अवांछित दिशा में भाग खड़ा होता है। मन बड़ा धृष्ट एवं दुःसाहसी है। वह बड़ी कठिनाई से काबू में आता है और सदैव सावधान रहे बिना काबू में रहता नहीं है।

स्थूलभद्र का जो मन रूपकोषा के रंगमहल में हिमालय के समान अविचल रहा और नेपाल तक जाकर विशिष्ट श्रुत के अभ्यास आदि की कठिनाइयों में भी दुर्बल न बना, वही मन लोकैषणा के मोह में पड़ कर मलिन हो गया। सातों साध्वियों के पहुँचने पर एक घटना घटित हो गई। स्थूलभद्र अपनी अपूर्ण सिद्धि को पचा न सके। वे गिरि-गुफा के द्वार पर सिंह का रूप धारण करके बैठ गए।

आचार्य को जब इस घटना का पता चला तब एक नयी विचार-धारा उनके मानस में उत्पन्न हुई। उनका समुद्र के समान विशाल और गम्भीर हृदय भी क्षुब्ध हो उठा। वे सोचने लगे-'मैंने बालक को तलवार पकड़ा दी। स्थूलभद्र में जिस ज्ञान की पात्रता नहीं थी, वह ज्ञान उन्हें दे दिया। अपात्रगत ज्ञान अनर्थकारी होता है। स्थूलभद्र अपनी साधना की सफलता को प्रकट करने के लोभ का संवरण न कर सके। वे अपनी भगिनियों के समक्ष अपनी विशिष्टता को प्रदर्शित करने के मोह को न जीत सके।'

स्थूलभद्र की मानसिक स्थिति आचार्य भद्रबाहु से छिपी न रही। वे उनकी आत्म-प्रकाशन की वृत्ति से आहत हुए। स्थूलभद्र की इस स्खलना से उनका गिरि सदृश हृदय भी कम्पित हो गया। वे सोचने लगे-'साधु का जीवन अखण्ड संयममय होता है। यदि समुद्र की जलराशि भी छलकने लगी और उसमें भी बाढ़ आने लगी तो अन्य जलाशयों का क्या हाल होगा ? साधु के लिए तो अपेक्षित है कि जो

कुछ वह जानता है उसे गोपन करके रखें और कोई न जान सके कि वह कितना जानंता है। मगर स्थूलभद्र में यह गोपनक्षमता नहीं रही। अभी क्या हुआ है ? आगे तो बड़ी अद्‌भुत विद्याएँ आने वाली हैं। मगर स्थूलभद्र को क्या दोष दिया जाय, यह काल का विषम प्रभाव है। आगे और अधिक बुरा समय आने वाला है।'

गोपनीय विद्या के लिए सुपात्र होना चाहिए। अपात्र को देना ऐसा ही है जैसे बच्चे के हाथ में नंगी तलवार या गोली-भरा रिवाल्वर देना। इससे स्व पर दोनों की हानि होती है—विद्यावान् की भी तथा दूसरों की भी। अतएव गोपनीय विद्याओं को अत्यन्त सुरक्षित रखा जाता है। आज का विज्ञान अपात्रों के हाथ में पड़ कर जगत को प्रलय की ओर ले जा रहा है। अनार्यों के हाथ लगा भौतिक विज्ञान विध्वंसक कार्यों में प्रयुक्त हो रहा है। भौतिक तत्त्व के समान अगर कुछ अद्‌भुत विद्याएँ भी उन्हें मिल जाएँ तो अतीव हानिजनक सिद्ध हो सकती हैं। अतएव पात्र देखकर ही विद्या दी जानी चााहिए। अपात्र विद्या प्राप्त करके या तो अपना पेट भरने का साधन बना लेगा या दूसरों को आतंकित करेगा, सताएगा। इसी कारण सत्पुरुष विद्या को गोपनीय धन कहते हैं और फिर अतिशय उच्च्य-कोटि की विद्या तो विशेष रूप से गोपनीय होती है।

आचार्य भद्रबाहु चौदह पूर्वों के ज्ञाता थे। उनके मन में लहर उठी—क्या पूर्वों का ज्ञान देना बंद कर देना चाहिए ? एक विद्या, जीवन को ऊँचा उठाने के लिए जिस किसी को भी दी जा सकती है। श्रोता चाहे सजग हो या न हो, चाहे क्रियाशील हो या निष्क्रिय हो, सभी को दी जा सकती है। मोक्ष-साधना सम्बन्धी ज्ञान देने में पात्र-अपात्र का विचार नहीं किया जाता। किन्तु ज्ञेय विषयों का ज्ञान देने का जहाँ प्रश्न हो, वहाँ पात्र-अपात्र की परीक्षा करना आवश्यक है। जो पात्र हो और उस ज्ञान को पचा सकता हो उसी को वह ज्ञान देना चाहिए। बालक को गरिष्ठ भोजन खिलाना उसके कोमल स्वास्थ्य को हानि पहुँचाना है। इससे उसे लाभ की जगह रोग हो जाता है। इसी प्रकार अपात्र को अज्ञेय विषयक विद्या देना उसके लिए अहित कर है और दूसरों के लिए भी।

ज्ञान एक रसायन है, जिससे आत्मा की शक्ति बढ़ती है इससे इस लोक और परलोक दोनों में साधक का परम कल्याण होता है। जो पात्रता प्राप्त करके ज्ञान-रसायन का सेवन करेंगे, निश्चय ही उनका अक्षय कल्याण होगा।

[७४]

विष से अमृत

'श्रेयासि बहुविघ्नानि' अर्थात् मंगलमय कार्यों में अनेक विघ्न आया करते हैं । इस उक्ति के अनुसार साधना में भी अनेक बाधाओं का आना स्वाभाविक है, क्योंकि आध्यात्मिक साधना महान् मंगलकारी है, बल्कि कहना चाहिए कि संसार में आत्मसाधना से बढ़कर या उसके बराबर मांगलिक कार्य दूसरा नहीं है । जो साधक प्रबल वैराग्य और सुदृढ़ साहस के साथ इस क्षेत्र में अग्रसर होते हैं वे अनुकूल और प्रतिकूल बाधाओं के आने पर भी विचलित नहीं होते । बाधाएं उन्हें पराजित नहीं कर सकतीं। वे अप्रमत्त भाव से जागरण की स्थिति में रहते हैं और आने वाली बाधाओं को अपने आत्मिक सामर्थ्य के प्रकट होने में सहायक समझते हैं । आने वाली प्रत्येक विघ्नबाधा उनकी साधना को आगे ही बढ़ाती है ।

शास्त्रों का पारायण कीजिए तो विदित होगा कि घोर से घोर संकट आने पर भी सच्चे साधक सन्त अपने पथ से चलायमान नहीं हुए, बल्कि उस संकट की आग में तप कर वे और अधिक उज्ज्वल हो गए । जिस कष्ट की कल्पना मात्र ही साधारण मनुष्य के हृदय को थर्रा देती है, उस कष्ट को वे सहज भाव से सहन कर सके । आखिर इस अद्भुत साहस और धैर्य का रहस्य क्या है ? किस प्रकार उनमें ऐसी दृढ़ता आ सकी ? इसके अनेक कारण हैं । उनके विवेचन का यहां अवकाश नहीं तथापि इतना कह देना आवश्यक है कि आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र का साधक योगी इस तथ्य को भलीभाँति समझता है कि आत्मा और देह एक नहीं है । यों जानने को तो आप भी जानते हैं कि दोनों में भेद है किन्तु योगी जनों का जानना उनकी जीती-जागती अनुभूति बन जाती है । इस अनुभूति के कारण वे आत्मा को देह से पृथक् अनन्त आनन्दमय चिन्मय तत्त्व समझते हैं और दैहिक कष्टों को आत्मा के कष्ट नहीं समझते। दैहिक अध्यास (सुख-दुख) से अतीत हो जाने के कारण वे देह में स्थित होते हुए भी देहातीत (विदेह) अवस्था का अनुभव करते हैं।

इस दशा में पहुँचना और निरन्तर इसकी अनुभूति में रमण करना आसान नहीं है। इसके लिए दीर्घकालीन अभ्यास की आवश्यकता है । वह अभ्यास वर्त्तमान जीवन का भी हो सकता है और पूर्वभवों का संचित भी हो सकता है । गजसुकुमार मुनि ने भीषणतम उपसर्ग सहन करने में जो विस्मयजनक दृढ़ता प्रदर्शित की, वह उनके पूर्वार्जित संस्कारों का ही परिणाम कहा जा सकता है । प्रत्येक आस्तिक इस तथ्य को स्वीकार करता है कि किसी भी जीव का जब जन्म होता है तो वह जन्म-जन्मांतरों के संस्कार साथ लेकर ही जन्मता है । आत्मा की जो यात्रा अपनी मंजिल तक पहुँचने के लिए जारी है, एक-एक जन्म उसका एक-एक पड़ाव ही समझना चाहिए ।

इन्हीं सब तथ्यों को सन्मुख रखकर महापुरुषों ने आचार-शास्त्र की योजना की है । पौषधोपवास भी इसी योजना की एक कड़ी है । परिमितकालीन पौषधोपवास की साधना भी आत्मा के पूर्वोक्त संस्कार को सबल बनाती है और देहाध्यास से उसे ऊपर उठाने में सहायक होती है । इस प्रकार आत्मा के गुणों को पुष्ट करने वाले सभी साधन पौषध हैं ।

भगवान् महावीर ने पौषधोपवास के पांच अतिचार आनन्द को बतलाए और आनन्द ने उनसे बचते रह कर साधना करने की प्रतिज्ञा की ।

यह सत्य है कि आत्मा शरीर से पृथक् है, मगर यह भी असत्य नहीं कि आत्मा जब तक अपने असली रूप में न आ जावे तब तक शरीर के साथ ही, बल्कि उसके सहारे ही रहता है और शरीर का आधार अन्न-पानी है । 'अन्नं वै प्राणाः' अर्थात् अन्न ही प्राण हैं—अन्न के अभाव में जीवन लम्बे समय तक कायम नहीं रह सकता । कोई भी जीवधारी सदा अन्न के बिना काम नहीं चला सकता । भगवान् ने अन्न ग्रहण करने का निषेध भी नहीं किया है, अलबत्ता यह कहा है कि इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि जीवन खाने के लिए ही न बन जाए और खाने में आसक्ति न रखी जाय ।

जब आहार ग्रहण करने की स्थिति साधक के समक्ष आती है तो वह खुराक में संविभाग करता है । इसे अतिथि संविभाग या आहार संविभाग कहते हैं।

पौषध व्रत का काल समाप्त होने के पश्चात् जब साधक आहार ग्रहण करने को उद्यत होता है तब आराधक की यह अभिलाषा होती है कि महात्माओं को कुछ दान करके खाऊं तो मेरा खाना भी श्रेयस्कर हो जाय । अवसर के अनुसार इस अभिलाषा को पूर्ण करना अतिथि संविभाग है ।

पति, पुत्र, पुत्री, जामाता आदि के आने का कारण निश्चित होता है। प्रायः ये पर्व आदि के समय आते हैं, किन्तु त्यागी महात्माओं के आने की कोई तिथि नियत नहीं होती, अतएव उन्हें अतिथि कहा गया है। जिसने संसार के समस्त पदार्थों की ममता तज दी है, जो सब प्रकार के आरम्भ और परिग्रह से विमुक्त हो चुका है और संयममय जीवन यापन करता है, वह अतिथि कहलाता है। कहा भी है–

हिरण्ये वा सुवर्णे वा, धने धान्ये तथैव च।
अतिथिं तं विजानीयाद्यस्य लोभो न विद्यते ।।

सत्यार्जवदयायुक्तं, पापारम्भविवर्जितम्।
उग्रतपस्समायुक्तमतिथिं विद्धि तादृशम् ।।

अर्थात् हिरण्य (चांदी), स्वर्ण, धन और धान्य आदि पदार्थों में जिसकी ममता नहीं है, जो जागतिक वस्तुओं के प्रलोभन से ऊपर उठ गया है, वह अतिथि है।

जिसके जीवन में सत्य, सरलता और दया घुल-मिल गए हैं, जिसने समस्त पापमय व्यापारों का त्याग कर दिया है और जो तीव्र तपश्चर्या करके आत्मा को निर्मल बनाने में संलग्न है, वही अतिथि कहलाने के योग्य है।

अपने निमित्त खाने और पहनने आदि के लिए जो सामग्री जुटाई हो उसमें से कुछ भाग अतिथि को अर्पित करना संविभाग कहलाता है। सहज रूप में अपने लिए बनाये या रखे हुए पदार्थों के अतिरिक्त त्यागियों के उद्देश्य से ही कोई वस्तु तैयार करना, खरीदना या रख छोड़ना उचित नहीं।

कई लोग यह सोचते हैं कि जैसा देंगे वैसा पाएंगे; किन्तु यह दृष्टि भी ठीक नहीं है। भुने चने देने से चने ही मिलेंगे और हलुआ देने से हलुआ ही मिलेगा, यह धारणा भ्रमपूर्ण है। दान में देय वस्तु के कारण ही विशेषता नहीं आती। वाचक उमास्वाति तत्त्वार्थसूत्र में कहते हैं–

विधिद्रव्य दातृपात्रविशेष न तद्विशेषः

दान के फल में जो विशेषता आती है, उसके चार कारण हैं:–

(१) विधि (२) देय द्रव्य (३) दाता की भावना और (४) लेने वाला पात्र। जहां ये चारों उत्कृष्ट होते हैं, वहां दान का फल भी उत्कृष्ट होता है। किन्तु इन चारों कारणों में भी दाता की भावना ही सर्वोपरि है। अगर दाता निर्धन होने के कारण सरस एवं बहुमूल्य भोजन नहीं दे सकता, किन्तु उत्कृष्ट भक्ति-भावना के साथ निष्काम भाव से सादा भोजन भी देता है तो निस्सन्देह वह उत्तम फल का

भागी होता है । पवित्र भाव से समय पर दी गई सामान्य वस्तु भी कल्पवृक्ष है । अगर यह मान लिया जाय कि चिकना देने वाला चिकना पाएगा और रूखा देने वाला रूखा ही पाएगा, तो फिर भाव का मूल्य ही क्या रहा ?

चन्दनबाला तेले का पारणा करने को उद्यत थी । पारणा के लिए उसे उड़द के बाकले मिले थे । राजकुमारी होकर भी वह बड़ी विषम परिस्थितियों के चक्कर में पड़ गई थी । मूला सेठानी अत्यन्त ईर्ष्यालु एवं कर्कशा स्वभाव की थी । उसकी बदौलत चन्दनबाला पर गहरा संकट था । पारणा के लिए प्राप्त बाकले उसके सामने थे । फिर भी वह प्रतीक्षा कर रही थी कि कोई सन्त-महात्मा इधर पधार जाएँ और कुछ भाग ग्रहण करलें तो मेरी तपस्या में चार चांद लग जाएं, मैं तिर जाऊं। उसका पुण्य अत्यन्त प्रबल था कि तीर्थनाथ भगवान् महावीर स्वयं ही पधार गए ।

हथकड़ियों और बेड़ियों से जकड़ी चन्दनबाला द्वार पर बैठी प्रतीक्षा कर रही थी । उसका एक पैर द्वार के बाहर और एक पैर भीतर था । वह संकटग्रस्त अवस्था में थी । फिर भी भगवान् को देखकर उसका रोम-रोम उल्लसित हो उठा । चित्त प्रफुल्लित हो गया । चेहरे पर दीप्ति चमक उठी । परन्तु यह क्या हुआ ? भगवान् चन्दनबाला के निकट तक आकर उल्टे पांव वापिस लौट पड़े । शारीरिक ताड़ना, तीन दिन की भूख, शिरोमुण्डन, तिरस्कार और जघन्य लांछना से भी जो हृदय द्रवित नहीं हुआ था और वज्र के समान कठोरता धारण किये था, वह भगवान् को भिक्षा लिये बिना वापिस लौटते देख धैर्य न धारण कर सका । चन्दना की आंखों से मोती बरसने लगे । भगवान् की प्रतिज्ञा पूर्ण हुई और उन्होंने पुनः लौट कर चन्दना के हाथों से बाकले ग्रहण किए । देवों ने सुवर्ण की वृष्टि की और 'अहो दानम्, अहो दानम्' की ध्वनि से गगनमण्डल गूंज उठा ।

उड़द के छिलकों का दान और उसकी इतनी कद्र हुई । देवताओं ने उस दान की प्रशंसा की । यह सब उदात्त भक्ति-भाव का प्रभाव था । वास्तव में मूल्य वस्तु का नहीं, भक्ति-भावना का है अतएव यह आवश्यक नहीं कि सत्पात्र को मूल्यवान् वस्तु दी जाय, मगर आवश्यक यह है कि गहरी भक्ति और प्रीति के साथ निर्दोष वस्तु दी जाय । अलबत्ता विवेकवान् दाता इस बात का ध्यान अवश्य रखेगा कि देश और काल कैसा है ? मेरे दान से महात्मा को साता तो पहुँचेगी ? तात्पर्य यह है कि उत्कृष्ट भक्ति के साथ, विधिपूर्वक उत्कृष्ट पात्र को दिया गया दान उत्कृष्ट फलदायक होता है ।

जिसने भोजन पकाना, पकवाना, खरीदना, खरीदवाना आदि आरम्भ सर्वथा त्याग दिया है, जो निरन्तर तप-संयम की आराधना में निरत है, जो संयम-पालन के हेतु

ही देह धारण के लिए आहार ग्रहण करता है, जिसने पक्षी के समान संग्रह एवं संचय की इच्छा का भी त्याग कर दिया है, जो लाभ-अलाभ में समभाव रखता है और अपने आदर्श-जीवन एवं वचनों से जगत् को शाश्वत कल्याण का पथ प्रदर्शित करता है, वह दान का उत्कृष्ट पात्र है । ऐसा सत्पात्र जिसे मिल जाए वह महान् भाग्यशाली है।

सुपात्र को दान देना विष में से अमृत निकालना है । गृहस्थ आरम्भ-समारम्भ करके दोष का भागी होता है किन्तु अपने निज के लिए किया हुआ वह दोष भी साधु को दान देने से महान् लाभ का कारण बन जाता है । इस दृष्टि से बारहवें व्रत का विशेष महत्त्व है ।

बारहवें व्रत के भी पांच अतिचार हैं, जिनसे बचने पर ही व्रत का पूर्ण लाभ प्राप्त किया जा सकता है । वे अतिचार निम्नलिखित हैं, जो ज्ञेय हैं पर आचरणीय नहीं ।

(१) देय वस्तु को उचित पदार्थ पर रख देना : त्यागी जन पूर्ण अहिंसा परायण और आरम्भ के त्यागी होने के कारण ऐसी किसी वस्तु को ग्रहण नहीं करते जिनसे किसी भी छोटे या मोटे जीव की विराधना होती हो । अतएव दान देते समय दाता को विशेष सावधानी रखनी पड़ती है । गृहस्थ विवेकशील न होगा तो वस्तु के विद्यमान होने पर भी दान का लाभ नहीं प्राप्त कर सकेगा । सचित्त फल, फूल, पत्र, पानी आदि के ऊपर यदि खाद्य पदार्थ रख दिया जाता है तो उसे साधु नहीं ग्रहण करते, क्योंकि उससे एकेन्द्रिय जीवों को आघात पहुँचता है । अतएव ऐसा करना साधु के लिए अन्तराय का कारण हो जाता है । गृहस्थ को हल्दी, मिर्च, धनिया आदि बहुत-सी चीजें रखनी पड़ती हैं पर सचित्त के साथ उन्हें नहीं रखना चाहिए । साधु को सोंठ चाहिए । वह सोंठ यदि सचित्त पदार्थ के साथ रखी है तो साधु के लिए अन्तराय होगा । अतएव जो गृहस्थ और विशेषतः श्राविका विवेकवति है उसे सचित्त एवं अचित्त पदार्थों को मिलाकर नहीं रखन चाहिए । ऐसा करने से उसे साधु को दान देने का अवसर मिल सकता है और सहज ही लाभ कमाया जा सकता है।

(२) सचित्त से ढक देना : अचित्त वस्तु पर कोई भी सचित्त वस्तु रख देना भी इस व्रत का अतिचार है । ऐसा करने से भी वही हानि होती है जो प्रथम अतिचार से होती है अर्थात् गृहस्थ दान से और दान के फल से वंचित रह जाएगा।

(३) कालातिक्रम : उचित समय पर अतिथि के आगमन की भावना करनी चाहिए । जो सूर्यास्त के पश्चात् और सूर्योदय से पूर्व आहार ग्रहण नहीं करते, उनके लिए ऐसे समय में आने की भावना करने से क्या लाभ ? दान देने से बचने के लिए काल का अतिक्रमण करके आगे-पीछे भोजन बनाना भी इस अतिचार में सम्मिलित माना गया है । वस्तु की दृष्टि से भी कालातिक्रम या कालातिक्रान्त अतिचार का विचार किया जा सकता है । जो वस्तु अपनी कालिक सीमा लांघ चुकी हो, उसे देना भी अतिचार है, चाहे वह जल हो, अन्न हो या कुछ अन्य हो। प्रत्येक खाद्य पदार्थ, चाहे वह पक्का अर्थात् तला हुआ हो या कच्चा हो, एक नियत समय तक ही ठीक हालत में रहता है । उसके बाद उसमें विकृति आ जाती है । वह सड़-गल जाता है और उसमें जीवों की उत्पत्ति भी हो जाती है । उस हालत में वह न खाने योग्य रहता है, न देने योग्य ही ।

बहुत-सी बहिनें अज्ञान और लालच के वशीभूत होकर खाने-पीने की चीजें जमा कर रखती हैं और जब वे विकृत हो जाती हैं तब उन्हें काम में लेती हैं । यह आदत लौकिक और लोकोत्तर दोनों दृष्टियों से हानिकारक है । विकृत पदार्थों के खाने से स्वास्थ्य को भी हानि पहुँचती है और हिंसा के पाप से आत्मा का भी अकल्याण होता है । कई बार तो आज की रोटी कल ही बिगड़ जाती है । उसे तोड़ा जाय तो उसमें से एक तार-सा निकलता है । कहा जाता है कि वह तार वास्तव में 'लार' नामक द्वीन्द्रिय जीव है । आम आदि फल भी जब कालातिक्रान्त हो जाते हैं तो उनमें त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं । बड़े होने पर वे बिल-बिलाते नजर आने लगते हैं मगर प्रारम्भिक अवस्था में उत्पन्न होने पर भी दिखाई नहीं देते। उनके सेवन से हिंसा का घोर पाप होता है । अतएव महिलाओं को तथा भाइयों को भी इस ओर पूरा ध्यान रखना चाहिए और कालातिक्रान्त सड़ी-गली, घुनी वस्तुओं को खाने-पीने के काम में नहीं लेना चाहिए ।

जो बहिनें विवेकशालिनी हैं वे आवश्यकता के अंदाज से ही भोज्य पदार्थ बनाती हैं । किसी भी वस्तु को इतना अधिक नहीं रांध रखना चाहिए कि वह कई दिनों तक काम आवे । कौन रोज-रोज राधे, एक दिन रांध लिया और कई रोज़ तक काम में लाते रहें, यह प्रमाद की भावना पाप का कारण है । ताज़ा बनी चीज़ स्वाद युक्त एवं स्वास्थ्यकर होती है थोड़े-से श्रम से बचने के लिए उसे बासी करके खाना-खिलाना गुड़ को गोबर बनाकर खाना-खिलाना है । इससे निरर्थक पाप उत्पन्न होता है । बहिनें प्रमाद का त्याग करें तो सहज ही इस पाप से बच सकती हैं ।

कोई वस्तु बिगड़ गई है या नहीं, यह परीक्षा करना कठिन नहीं है। बिगाड़ होने पर वस्तु के रूप-रंग, रस, गंध में परिवर्तन हो जाता है। उस परिवर्तन को देखकर उसके कालातिक्रांत होने का अनुमान लगाया जा सकता है।

शासन के कानून के अनुसार औषध निर्माताओं को इंजेक्शन आदि औषधों की शीशियों पर उसकी कालिक मर्यादा अंकित करनी पड़ती है और यह जाहिर करना पड़ता है कि यह औषध अमुक तारीख तक ही काम में लाई जा सकती है, उसके बाद नहीं। इसी प्रकार धर्म शासन के अनुसार भोज्य पदार्थों को भी विकृत होने के पश्चात् काम में नहीं लेना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि यदि वस्तु ठीक न हो तथा भावना दूषित हो तो उसके दान से लाभ नहीं होगा। वही दान विशेष लाभप्रद होता है जिसमें चित्त, वित्त और पात्र की अनुकूल स्थिति हो।

गृहस्थ साधक की भावना सदा दान देने की रहती है। वह चौदह प्रकार की चीजें अतिथियों को देने की इच्छा करता है। इसी को मनोरथ भी कहते हैं। ये वस्तुएं हैं—

चार प्रकार का आहार अर्थात्—(१) अशन (२) पान (३) पक्वान्न आदि खाद्य (४) मुखवास आदि स्वाद्य तथा (५) वस्त्र (६) पात्र (७) कम्बल (८) रजोहरण (९) पीठ-चौकी-बाजौठ (१०) पाट (११) सोंठ, लवंग आदि औषधि (१२) भैषज्य-बनी हुई दवा (१३) शय्या-मकान और (१४) संस्तारक अर्थात् पराल आदि घास।

उल्लिखित पदार्थों की दो श्रेणियां हैं—नित्य देने-लेने के पदार्थ और किसी विशेष प्रसंग पर देने-लेने योग्य पदार्थ।

ये सभी वस्तुएं साधुओं को गृहस्थ के घर से ही प्राप्त हो सकती हैं और गृहस्थ के यहां से तभी मिल सकती हैं जब वह स्वयं इनका प्रयोग करता हो। श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह साधु की संयमसाधना में सहायक बने। राग के वशीभूत होकर ऐसा कोई कार्य न करे या ऐसी कोई वस्तु देने का प्रयत्न न करे जिससे साधु का संयम खतरे में पड़ता हो। यदि गृहस्थ सभी रंगीन दुशाला ओढ़ने वाले हों तो साधुओं को श्वेत वस्त्र कहां से देंगे? साधु तीन प्रकार के पात्र ही ग्रहण कर सकते हैं—तूम्बे के, मिट्टी के या काष्ठ के। अभिप्राय यह है कि श्रावक यदि विवेकशील हों तो साधुओं के व्रत का ठीक तरह से पालन हो सकता है।

(४) मात्सर्य : मत्सरभाव से दान देना भी अतिचार है। मेरे पड़ौसी ने ऐसा दान दिया है, मैं उससे क्या कम हूँ? इस प्रकार ईर्ष्या से प्रेरित होकर भी दान देना उचित नहीं।

(५) परव्यपदेश : यह वस्तु मेरी नहीं पराई है, इस प्रकार का बहाना करना भी अतिचार है । यह मलिन भावना का द्योतक है । गृहस्थ को सरल भाव से, कर्मनिर्जरा के हेतु ही दान देना चाहिए । उसमें किसी भी प्रकार की दुर्भावना अथवा लोकैषणा नहीं होनी चाहिए । तभी दान के उत्तम फल की प्राप्ति होती है । एक कवि ने कहा है–

बहु आदर बहु प्रिय वचन, रोमां चित बहु मान ।
देह करे अनुमोदना, ये भूषण परमान ।।

रत्नत्रय की साधना करने वाले के प्रति गहरी प्रीति एवं आदर का भाव होना चाहिए । साधु का घर में पांव पड़ना कल्पवृक्ष का आँगन में आना है । ऐसा समझ कर श्रद्धा और भक्ति के साथ निर्दोष पदार्थों का दान करना चाहिए । जो अनारंभी जीवन यापन कर रहा है वह गुणों की ज्योति को जगाता है । उसे आदर दिया ही जाना चाहिए ।

अतिथि संविभाग व्रत शिक्षाव्रतों में अन्तिम और बारह व्रतों में भी अन्तिम है। इन सब व्रतों के स्वरूप एवं अतिचारों को भलीभांति समझकर पालन करने वाला श्रमणोपासक अपने वर्त्तमान जीवन को एवं भविष्य को मंगलमय बनाता है ।

आनन्द सौभाग्यशाली था कि उसे साक्षात् तीर्थंकर भगवान् महावीर का समागम मिला । किन्तु इस भरत क्षेत्र में, महाविदेह की तरह तीर्थंकर सदा काल विद्यमान नहीं रहते हैं । आज तीर्थंकर नहीं हैं मगर तीर्थंकर की वाणी विद्यमान है । उनके मार्ग पर यथाशक्ति चलने वाले उनके प्रतिनिधि भी मौजूद हैं । वीतराग के प्रतिनिधियों की वाणी से भी अनेकों ने अपना जीवन ऊँचा उठा लिया । वीतराग न हों, उनके प्रतिनिधि भी न हों, फिर भी उनकी वाणी का अध्ययन करने वालों में से हजारों उसके अनुसार आचरण करके तिर गए । आज भी उस वाणी का चिन्तन-मनन करने वाले अपना कल्याण कर सकते हैं ।

वीतराग के उपदेश का सुधाप्रवाह दीर्घकाल तक प्रवाहित होता रहे और भव्य जीव उसमें अवगाहन करके अपने निर्मल स्वरूप को प्राप्त कर सकें, जन्म-जरा-मरण के घोर सन्ताप को शान्त कर सकें, और अपनी आन्तरिक प्यास बुझा सकें, इस महान् और प्रशस्त विचार से प्रेरित होकर आचार्यों ने उस वाणी का संकलन, संग्रह और रक्षण किया । भगवान् महावीर की वाणी सुरक्षित रही तो वह लोगों को कल्याणमार्ग की ओर प्रेरित करती रहेगी । माध्यम कोई न कोई मिल ही जाएगा । इसी उच्च

आचार्य भद्रबाहु स्वामी चौदह पूर्वो के ज्ञाता थे । महामुनि स्थूलभद्र उनके शिष्य बने । किन्तु उनकी एक स्खलना ने ज्ञानार्जन में गतिरोध उत्पन्न कर दिया । दस पूर्वों के अभ्यास को वे समाप्त कर चुके थे ।

वाचना का नियत समय हुआ । प्रतिदिन की भाँति स्थूलभद्र मुनि गुरु के चरणों में उपस्थित हुए । किन्तु आचार्य महाराज ने कहा–"वाचना पूर्ण हो गई, अब मनन करो ।"

आचार्य का यह कथन सुनकर स्थुलभद्र चौंक उठे । उन्होंने देखा–"आज आचार्य का मन बदला हुआ है । उनके मुख पर नित्य की सी वात्सल्य की छाया दृष्टिगोचर नहीं हो रही है । आज आचार्य अनमने हैं ।"

स्थूलभद्र विचार में पड़ गए । क्या कारण है कि आचार्य ने बीच में ही वाचना प्रदान करना रोक दिया । अभी तो चार पूर्वो का ज्ञान प्राप्त करना शेष है। किन्तु उन्हें अपनी भूल समझने में देरी न लगी । वे अपने प्रमाद को स्मरण करके चौंक उठे । साध्वियों को चमत्कार दिखलाना ही इसका कारण है, यह उन्हें स्पष्ट प्रतीत होने लगा । मगर अब क्या ? जो तीर हाथ से छूट गया, वह क्या वापिस हाथ आने वाला है ?

स्थूलभद्र बड़े ही असमंजस में पड़े थे । उन्होंने लज्जित होते हुए, हाथ जोड़कर आचार्य से निवेदन किया–"देव, भूल हो गई है किन्तु भविष्य में पुनः उसकी आवृत्ति नहीं होगी । अपराध क्षमा करें मुझे इसका दंड दें और यदि उचित प्रतीत हो तो आगे की वाचना चालू रखें । आचार्य संभूति विजय ने मुझे आपका शिष्यत्व स्वीकार करने का आदेश दिया था । उनकी दिवंगत आत्मा को वाचना पूर्ण होने से सन्तोष प्राप्त होगा ।"

स्थूलभद्र यद्यपि थोड़ी देर के लिए प्रमाद के अधीन हो गए थे तथापि सावधान साधक थे । उन्होंने आत्मालोचन किया और अपने ही दोष पर उनकी दृष्टि गई । सच्चे साधक का यही लक्षण है । वह अपने दोष के लिए दूसरे को उत्तरदायी नहीं ठहराता । अपनी भूल दूसरे के गले नहीं मढ़ता । उसका अन्तःकरण इतना ऋजु एवं निशल्य होता है कि कृत अपराध को छिपाने का विचार भी उसके मन में नहीं आता। पैर में चुभे काँटे और फोड़े में पैदा हुए मवाद के बाहर निकलने पर ही जैसे शान्ति प्राप्त होती है उसी प्रकार सच्चा साधक अपने दोष का आलोचन और प्रतिक्रमण करके ही शान्ति का अनुभव करता है । इसके विपरीत जो प्रायश्चित्त के भय से अथवा लोकापवाद के भय से अपने दुष्कृत को दबाने का

पूर्वगत श्रुत का ज्ञान वास्तव में सिंहनी का दूध है । उसे पचाने के लिए बड़ी शक्ति चाहिए । साधारण मनोबल वाला व्यक्ति उसे पचा नहीं सकता और जिस खुराक को पचा न सके, उसे वह खुराक देना उसका अहित करना है । इसी विचार से विशिष्ट ज्ञानी पुरुषों ने पात्र-अपात्र की विवेचना की है ।

स्थूलभद्र के मनोबल में आगे के पूर्वाध्ययन के योग्य दृढ़ता की मात्रा पर्याप्त न पाकर आचार्य भद्रबाहु ने वाचना बंद कर दी । अन्य साधुओं ने भी देखा कि आचार्य निर्बाध रूप से ज्ञानामृत की जो वर्षा कर रहे थे, वह अब बंद हो गई है । सुधा का वह प्रवाह रुक गया है । यह देखकर समस्त संघ को भी दुःख हुआ । इसका कारण भी प्रकाश में आ गया । श्रुत की संरक्षा का महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित था, अतएव संघ अत्यन्त चिन्तित हुआ ।

इसके पश्चात् क्या घटना घटित होती है, यह आगे सुनने से विदित होगा। जैन साहित्य के इतिहास में यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है जिसने भविष्य पर गहरा प्रभाव डाला है ।

बन्धुओ ! जैसे उस समय का संघ ज्ञान-गंगा के विस्तार के लिए यत्नशील था, उसी प्रकार आज का संघ भी यत्नशील हो और युग की विशेषता का ध्यान रखते हुए ज्ञान-प्रचार में सहयोग दे तो सम्पूर्ण जगत् का महान् उपकार और कल्याण होगा ।

---

[७५]

श्रुतपंचमी

दशवैकालिक सूत्र प्रधानतः श्रमण निर्ग्रन्थ के आचार का प्रतिपादन करता है किन्तु जैन धर्म या दर्शन में कहीं भी एकान्त वाद को स्वीकार नहीं किया गया है। यही कारण है कि आचार के प्रतिपादक शास्त्र में भी अत्यन्त प्रभावपूर्ण शब्दों में ज्ञान का महत्व प्रदर्शित किया गया है। प्रारम्भ में कहा गया है–

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।

सभी संयमवान् पुरुष पहले वस्तुस्वरूप को यथार्थ रूप में समझते हैं और फिर तदनुसार आचरण करते हैं। यहां 'दया' शब्द समग्र आचार को उपलक्षित करता है।

दशवैकालिक में अन्यत्र कहा गया है–

अण्णाणी किं काही, किं वा नाही सेयपावगं ।

अज्ञानी बेचारा कर ही क्या सकता है। उसे भले-बुरे का विवेक कैसे प्राप्त हो सकता है ?

यह अत्यन्त विराट् दिखलाई देने वाला जगत् वस्तुतः दो ही तत्त्वों का विस्तार है। इसके मूल में जीव और अजीव तत्व ही हैं । अतएव समीचीन रूप से जीव और अजीव को जान लेना सम्पूर्ण सृष्टि के स्वरूप को समझ लेना है। मगर यही ज्ञान बहुतों को नहीं होता। कुछ दार्शनिक इस भ्रम में रहे हैं कि जगत् में एक जीव तत्त्व ही है, उससे भिन्न किसी तत्त्व का सत्त्व नहीं है। इससे एकदम विपरीत कतिपय लोगों की भ्रान्त धारणा है कि जीव कोई तत्व नहीं है–सब कुछ अजीव ही अजीव है अर्थात् जड़ भूतों के सिवाय चेतन तत्व की सत्ता नहीं है। कोई दोनों तत्त्वों की पृथक् सत्ता स्वीकार करते हुए भी अज्ञान के कारण जीव को सही रूप में नहीं समझ पाते और अव्यक्त चेतना वाले जीवों को जीव ही नहीं समझते। ईसाइयों के मतानुसार गाय जैसे समझदार पशु में भी आत्मा नहीं है। बौद्ध आदि वृक्ष आदि

वनस्पति को अचेतन कहते हैं। इस थोड़े से उल्लेख से ही आप समझ सकेंगे कि जीव और अजीव की समझ में भी कितना भ्रम फैला हुआ है।

जीव सम्बन्धी अज्ञान का प्रभाव आचार पर पड़े बिना नहीं रह सकता। जो जीव को जीव ही नहीं समझेगा, वह उसकी रक्षा किस प्रकार कर सकेगा ? वैदिक सम्प्रदाय के त्यागी वर्गों में कोई पंचाग्नि तप कर के अग्निकाय का घोर आरम्भ करते हैं, कोई कन्द-मूल-फल-फूल खाने में तपश्चर्या मानते हैं। यह सब जीव तत्त्व को न समझने का फल है। वे जीव को अजीव समझते हैं, अतएव संयम के वास्तविक स्वरूप से भी अनभिज्ञ रहते हैं। नतीजा यह होता है कि संयम के नाम पर असंयम का आचरण किया जाता है।

इससे आप समझ गये होंगे कि ज्ञान और आचार का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही कारण है कि वीतराग भगवान् ने ज्ञान और चारित्र दोनों को मोक्ष प्राप्ति के लिए अनिवार्य बतलाया है। ज्ञान के अभाव में चारित्र सम्यक् चारित्र नहीं हो सकता और चारित्र के अभाव में ज्ञान निष्फल ठहरता है। ज्ञान एक दिव्य एवं आन्तरिक ज्योति है । जिसके द्वारा मुमुक्षु का गन्तव्य पथ आलोकित होता है। जिसे यह आलोक प्राप्त नहीं है वह गति करेगा तो अन्धकार में भटकने के सिवाय अन्य क्या होगा ? इसी कारण मोक्षमार्ग में ज्ञान को प्रथम स्थान दिया गया है। शास्त्र में कहा गया है–

नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ ।।

प्रत्येक वस्तु की अपनी-अपनी जगह पर अपनी-अपनी महिमा है। एक गुण दूसरे गुण से सापेक्ष है। परस्पर सापेक्ष सभी गुणों की यथावत् आयोजना करने वाला ही अपने जीवन को ऊंचा उठाने में समर्थ हो सकता है। हेय, ज्ञेय, और उपादेय का ज्ञान हो जाने पर भी यदि कोई उस पर श्रद्धा नहीं करेगा तो वह वैसे ही है जैसे कोई खाकर पचा न सके। इससे रस नहीं बनेगा। वह ज्ञान जो श्रद्धा का रूप धारण नहीं करेगा, टिक नहीं सकेगा। श्रद्धा सम्पन्न ज्ञान की विद्यमानता में भी यदि चारित्र गुण का विकास नहीं होगा तो वह ज्ञान व्यर्थ है। ज्ञान के प्रकाश में जब चारित्र गुण का विकास होता है तो वह पापकर्म को रोक देता है। फिर कुशील, हिंसा, असत्य आदि पाप नहीं आ पाते। तप का काम है शुद्धि करना वह संचित पापकर्म को नष्ट करता है।

कर्मों को निश्शेष करने का उपाय यही है कि संयम का आचरण करके नवीन कर्मों के बन्ध को निरुद्ध कर दिया जाय और तप के द्वारा पूर्व संचित कर्मों को नष्ट

किया जाय । इस तरह दोहरे कर्त्तव्य से समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं और आत्मा अपनी स्वाभाविक मूल अवस्था प्राप्त कर लेती है। यही मुक्ति कहलाती है।

वही ज्ञान मुक्ति का कारण होता है जो सम्यक् हो। यों तो ज्ञान का आविर्भाव ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम अथवा क्षय से होता है, मगर सम्यग्ज्ञान के लिए मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम या उपशम की भी आवश्यकता होती है। ज्ञानावरण का क्षयोपशम कितना ही हो जाय, यदि मिथ्यात्व मोह का उदय हुआ तो वह ज्ञान मोक्ष की दृष्टि से कुज्ञान ही रहेगा।

अनन्त काल से यह आत्मा संसार में भ्रमण कर रही है। अब तक उसने अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं पाया। जब बाह्य और अन्तरंग निमित्त मिलते हैं तब सम्यग्ज्ञान, दर्शन आदि की प्राप्ति होती है और जिसे प्राप्ति होती है उसका परम कल्याण हो जाता है।

बाह्य निमित्त किसी भाव की जागृति में किस प्रकार कारण बनता है, यह समझ लेना आवश्यक है। सोने की डली लोभ रूप विकार की उत्पत्ति में कारण है। किन्तु सोने और चांदी की राशि एक जगह एकत्र कर दी जाय और कोई गाय या बैल वहां से निकले तो उस राशि के प्रति उनके मन में लोभ नहीं जगेगा। वे उसे पैरों तले कुचल देंगे या बिखेर देंगे। इसके विपरीत घास, फल, सब्जी, खली आदि वस्तुएं पड़ी हों तो गाय-बैल के मन में लोभ उत्पन्न होगा और वे उन्हें खा जाएँगे। इस प्रकार घास आदि उनके लोभ को जगाने में निमित्त बने, मगर सोने की डली निमित्त नहीं बनी । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य कारण एकान्त कारण नहीं है। इसी प्रकार अन्तरंग कारण भी अकेला कार्यजनक नहीं होता। दोनों का समुचित समन्वय ही कार्य को उत्पन्न करता है।

गृहस्थ आनन्द को राह चलते-चलते सोने, चांदी, हीरे, जवाहरात की ढेरी मिल जाती तो उसके मन में लोभ उत्पन्न नहीं होता। ये वस्तुएं उसके मन को विकृत नहीं कर सकती थीं क्योंकि उसने श्रद्धापूर्वक परिग्रह परिमाण व्रत ग्रहण कर लिया था एवं उस पर वह दृढ़ता से आचरण कर रहा था । मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होने के लिये मोह को क्षीण करना आवश्यक है। इसके लिये ज्ञानाचार की आवश्यकता है। आचार पांच माने गये हैं। उनमें प्रथम ज्ञानाचार और अन्तिम वीर्याचार है। ज्ञान यदि विधिपूर्वक आचार के साथ प्राप्त किया जाय तो वह जीवनशोधक बनेगा। अगर ज्ञान की आराधना के बदले विराधना की जाय तो अशान्ति होगी और अन्धकार में भटकना होगा। ज्ञान की आराधना करना सिखाया जाता है, विराधना करना नहीं । विराधना

से बचने का उपाय बतलाया जाता है। विक्षेप, अज्ञान, प्रमाद, आलस्य, कलह आदि से विराधना होती है।

भरतखण्ड में अजितसेन राजा का वरदत्त नामक एक पुत्र था। वह राजा का अत्यन्त दुलारा था । उसका बोध (ज्ञान) नहीं बढ़ पाया । अच्छे कलाविदों एवं ज्ञानियों आदि के पास रखने पर भी वह ज्ञानवान् नहीं बन सका । उसकी यह स्थिति देखकर राजा बहुत खिन्न रहता था । सोचता था कि मूर्ख रहने पर यह प्रजा का पालन किस प्रकार करेगा।

पिता बन जाना बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है अपने पितृत्व का निर्वाह करना। पितृत्व का निर्वाह किस प्रकार किया जाता है, यह बात प्रत्येक पुरुष को पिता बनने से पहले ही सीख लेना चाहिये। जो पिता बन कर भी पिता के कर्त्तव्य को नहीं समझते अथवा प्रमाद वश उस कर्त्तव्य का पालन नहीं करते वे वस्तुतः अपनी सन्तान के घोर शत्रु हैं और समाज तथा देश के प्रति भी अन्याय करते हैं। सन्तान को सुशिक्षित और सुसंस्कारी बनाना पितृत्व के उत्तरदायित्व को निभाना है। सन्तान में नैतिकता का भाव हो, धर्म प्रेम हो, गुणों के प्रति आदरभाव हो, कुल की मर्यादा का भान हो, तभी सन्तान सुसंस्कारी कहलायेगी । मगर केवल उपदेश देने से ही सन्तान में इन सद्गुणों का विकास नहीं हो सकता । पिता और माता को अपने व्यवहार के द्वारा इनको शिक्षा देनी चाहिये। जो पिता अपनी सन्तान को नीति धर्म का उपदेश देता है पर स्वयं अनीति और अधर्म का आचरण करता है, उसकी सन्तान दम्भी बनती है, नीति-धर्म उसके जीवन में शायद ही आ पाता है ।

इस प्रकार आदर्श पिता बनने के लिये भी पुरुष को साधना की आवश्यकता है। माता को भी आदर्श गृहिणी बनना चाहिये। इसके बिना किसी भी पुरुष या स्त्री को पिता एवं माता बनने का नैतिक अधिकार नहीं है ।

राजा अजितसेन ने सोचा-'मैंने पुत्र उत्पन्न करके उसके जीवन-निर्माण का उत्तरदायित्व अपने सिर पर लिया है। अगर इस उत्तरदायित्व को मैं न निभा सका तो पाप का भागी होऊंगा ।' इस प्रकार सोच कर राजा ने पुरस्कार देने की घोषणा करवाई कि जो कोई विद्वान् उसके राजकुमार को शिक्षित कर देगा उसे यथेष्ट पुरस्कार दिया जायेगा। मगर कोई भी विद्वान् ऐसा नहीं मिला जो उस राज कुमार को कुछ सिखा सकता । राजकुमार कुछ न सीख सका । उसके लिये काला अक्षर भैंस बराबर ही रहा ।

शिक्षा के अभाव के साथ उसका शारीरिक स्वास्थ्य भी खतरे में पड़ गया। उसे कोढ़ का रोग लग गया । लोग उसे घृणा की दृष्टि से देखने लगे। सैकड़ों

दवाएं चलीं, पर कोढ़ न गया। ऐसी स्थिति में विवाह-सम्बन्ध कैसे हो सकता था ? कौन अपनी लड़की उसे देने को तैयार होता ?

एक सिंहदास नामक सेठ की लड़की को भी दैवयोग से ऐसा ही रोग लग गया। उस सेठ की लड़की गुणमंजरी भी कोढ़ से ग्रस्त हो गयी। वह लड़की गूंगी भी थी। उस काल में, आज के समान गूंगों, बहरों और अन्धों की शिक्षा की सुविधा नहीं थी। कोई लड़का इस लड़की के साथ सम्बन्ध करने को तैयार नहीं हुआ। गूंगी और सदा बीमार रहने वाली लड़की को भला कौन अपनाता ?

एक बार भ्रमण करते हुए विजयसेन नामक एक धर्माचार्य वहां पहुंचे। वे विशिष्ट ज्ञानवान् थे और दुःख का मूल कारण बतलाने में समर्थ थे। वे नगर के बाहर एक उपवन में ठहरे । ज्ञान की महिमा के विषय में उनका प्रवचन प्रारम्भ हुआ। उन्होंने कहा–"सभी दुःखों का कारण अज्ञान और मोह है। जीवन के मंगल के लिये इनका विसर्जन होना अनिवार्य है ।" कहा गया है–

अज्ञान से दुःख दूना होता ।
अज्ञानी धीरज खो देता ।।

मन के अज्ञान को दूर करो ।
स्वाध्याय करो स्वाध्याय करो ।।

कई लोग भयंकर विपत्ति आ पड़ने पर भी धीरज नहीं खोते तो कई साधारण ज्वर आते ही बेटी, बेटे और दामाद को तार-टेलीफोन करने लगते हैं। मृत्यु की विकराल छाया उन्हें अपने कल्पना-नेत्रों में नजर आने लगती है। अज्ञान के कारण मनुष्य अपने शारीरिक, मानसिक एवं कुटुम्ब-सम्बन्धी दुःखों को बढ़ा लेता है। इससे बचने का मुख्य उपाय यही है कि ज्ञानाराधना की जाय । ज्ञान ही समस्त बुराइयों को दूर करने का कारण है । ज्ञानाराधना से अपूर्व शान्ति और सुख की प्राप्ति होती है। सच्चे ज्ञान की ज्योति जब जगती है तो दुःखों के उलूक ठहर नहीं सकते । ज्ञान आत्मा का स्वभाव है । अतएव ज्यों-ज्यों उसका विकास होता है त्यों-त्यों विभाव-परिणति विलीन होती जाती है।

कई लोगों में ज्ञानाराधना में विघ्न डालने की वृत्ति पाई जाती है। कई लोग स्वाध्याय करने वालों का उपहास करते हैं । मगर ताश, शतरंज और चौपड़ खेलने में समय नष्ट करने वालों का उपहास करने अथवा उनका यह व्यसन छुड़ा देने का प्रयत्न नहीं करते । स्मरण रखिये कि ज्ञान के मार्ग में बाधा डालने या रुकावट डालने से अशुभ कर्मों का बन्ध होता है और ऐसा करने वाले लोग मन्दमति,

गूंगे-बहरे आदि होते हैं । ज्ञानार्जन में विघ्न उपस्थित करना ज्ञानावरणीय कर्म के बन्ध का कारण है।

आचार्य महाराज की देशना पूरी हुई। सिंहदास श्रेष्ठी ने उनसे प्रश्न किया– "महाराज ! मेरी पुत्री की इस अवस्था का क्या कारण है ? किस कर्म के उदय से यह स्थिति उत्पन्न हुई है ?"

आचार्य ने उत्तर में बतलाया–"इसने पूर्वजन्म में ज्ञानावरणीय कर्म का गाढ़ बन्धन किया है ।" वृत्तान्त इस प्रकार है–"जिनदेव की पत्नी सुन्दरी थी। वह पांच लड़कों और पांच लड़कियों की माता थी। सब से बड़ी लड़की का नाम लीलावती था। घर में सम्पत्ति की कमी नहीं थी। उसने अपने बच्चों का इतना लाड़प्यार किया कि वे ज्ञान नहीं प्राप्त कर सके ।"

विवेकहीन श्रीमन्त अपनी सन्तति को आमोद-प्रमोद में इतना निरत बना देते हैं कि पठन-पाठन की ओर उनकी प्रवृत्ति ही नहीं होती। सत्समागम के अभाव में वे आवारा हो जाते हैं। आवारा लोग उन्हें घेर लेते हैं और कुपथ की ओर ले जाकर उनके जीवन को नष्ट करके अपना उल्लू सीधा करते हैं। आगे चलकर ऐसे लोग अपने कुल को कलंकित करें तो आश्चर्य की बात ही क्या ?

अपनी सन्तति के जीवन को उच्च, निर्मल और मर्यादित बनाने के लिये माता-पिता को सजग रहना चाहिये। उन्हें देखना चाहिये कि वे कैसे लोगों की संगत में रहते हैं और क्या सीखते हैं ? इस प्रकार की सावधानी रख कर कुसंगति से बचाने वाले माता-पिता ही अपनी सन्तान के प्रति न्याय कर सकते हैं।

सुन्दरी सेठानी के बच्चे समय पर पढ़ते नहीं थे। बहानेबाजी किया करते और अध्यापक को उल्टा त्रास देते थे। जब अध्यापक उन्हें उपालम्भ देता और डाटता तो सेठानी उस पर चिढ़ जाती। एक दिन विद्याशाला में किसी बच्चे को सजा दी गयी तो सेठानी ने चण्डी का रूप धारण कर लिया। पुस्तकें चूल्हे में झोंक दीं और दूसरी सामग्री नष्ट-भ्रष्ट कर दी। उसने बच्चों को सीख दी–शिक्षक इधर आवे तो लकड़ी से उसकी पूजा करना। हमारे यहां किस चीज की कमी है जो पोथियों के साथ माथापच्ची की जाय ? कोई आवश्यकता नहीं है पढ़ने-लिखने की।

अनेक श्रीमन्तों के यहां ऐसा ही होता है। पिता सन्तान को पढ़ाना चाहता है तो मां रोक देती है। मां पढ़ाना चाहती है तो पिता रुकावट डालता है। मैथिलीशरण ने ठीक लिखा है–

श्रीमान् शिक्षा दें उन्हें तो श्रीमती कहती–नहीं,
घेरो न लल्ला को हमारे नौकरी करनी नहीं ।

शिक्षे ! तुम्हारा नाश हो तू नौकरी के हित बनी,
लो मूखति ! जीती रहो रक्षक तुम्हारे हैं धनी ।।

कई अज्ञान ज्ञानाराधना का विरोध एवं उपहास करते हुए कहते हैं– "जो पढ़तव्यं सो मरतव्यं, ना पढ़तव्यं सो मरतव्यं, दांत कटाकट किं कर्त्तव्यं, यों मरतव्यं त्यों मरतव्यम्" कोई कहते हैं–

अणभणिया घोड़े चढ़, भणिया मागे भीख

अपढ़ लोगों ने राज्यों की स्थापना की है। पढ़ाई-लिखाई में क्या धरा है, होता वही है जो भाग्य में लिखा होता है। इस प्रकार इतिहास, तर्क और दर्शनशास्त्र तक का सहारा लिया जाता है मूर्खता के समर्थन के लिये।

भारतवर्ष में अज्ञानवादी अत्यन्त प्राचीनकाल में भी थे। वे अज्ञान को ही कल्याणकारी मानते थे और ज्ञान को अनर्थों का मूल। उनके मत से अज्ञान ही मुक्ति का मूल था। आज व्यवस्थित रूप में यह अज्ञानवादी सम्प्रदाय भले ही न हो, तथापि उसके विखरे हुए विचार आज भी कई लोगों के दिमाग में घर किये हुए हैं। अज्ञानवाद का प्रभाव किसी न किसी रूप में आज भी मौजूद है। मगर अज्ञानवादियों को सोचना चाहिये कि वे अज्ञान की श्रेष्ठता की स्थापना ज्ञानपूर्वक करते हैं या अज्ञानपूर्वक ? अगर ज्ञानपूर्वक करते हैं तो फिर ज्ञान ही उपयोगी और उत्तम ठहरा जिसके द्वारा अज्ञानवाद का समर्थन किया जाता है। यदि अज्ञानपूर्वक अज्ञानवाद का समर्थन किया जाय तो उसका मूल्य ही कुछ नहीं रहता। विवेकीजन उसे स्वीकार नहीं कर सकते ।

हां, तो सेठानी के कहने से लड़के पढ़ने नहीं गये। दो-चार दिन बीत गये। शिक्षक ने इस बात की सूचना दी तो सेठ ने सेठानी से पूछा। सेठानी आगबबूला हो गयी। बोली–"मुझे क्यों लांछन लगाते हो। लड़के तुम्हारे, लड़कियां तुम्हारी। तुम जानो तुम्हारा काम जाने।"

पति-पत्नि के बीच इस बात को लेकर खींचतान बढ़ गयी । खींचतान ने कलह का रूप धारण किया और फिर पत्नी ने अपने पति पर कुंडी से प्रहार कर दिया ।

आचार्य बोले–"गुणमंजरी वही सुन्दरी है। ज्ञान के प्रति तिरस्कार का भाव होने से यह गूंगी के रूप में जन्मी है ।"

राजा अजितसेन ने भी अपने पुत्र वरदत्त का पूर्व वृत्तान्त पूछा । कहा– "भगवन्! अनुग्रह करके बतलाइये कि राजकुल में उत्पन्न होकर भी यह निरक्षर और कोढ़ी क्यों है ?"

आचार्य ने अपने ज्ञान का उपयोग लगाकर कहा-"वरदत्त ने भी ज्ञान के प्रति दुर्भावना रखी थी। इसके पूर्व जीवन में ज्ञान के प्रति घोर उदासीनता की वृत्ति थी। श्रीपुर नगर में वसु नाम का सेठ था। उसके दो पुत्र थे-वसुसार और वसुदेव। वे कुसंगति में पड़कर दुर्व्यसनी हो गये। शिकार करने लगे। वन में विचरण करने वाले और निरपराध जीवों की हत्या करने में आनन्द मानने लगे। एक बार वन में सहसा उन्हें एक मुनिराज के दर्शन हो गये। पूर्व संचित पुण्य का उदय आया और सन्त का समागम हुआ । इन कारणों से दोनों भाइयों के चित्त में वैराग्य उत्पन्न हो गया। दोनों पिता की अनुमति प्राप्त करके दीक्षित हो गये, दोनों चरित्र की आराधना करने लगे ।

शुद्ध चारित्र के पालन के साथ वसुदेव के हृदय में अपने गुरु के प्रति श्रद्धाभाव था। उसने ज्ञानार्जन कर लिया। कुछ समय पश्चात् गुरुजी का स्वर्गवास होने पर वह आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुआ। शासन सूत्र उसके हाथ में आ गया।

उधर वसुसार की आत्मा में महामोह का उदय हुआ। वह खा-पीकर पड़ा रहता, संत कभी प्रेरणा करते तो कहता कि "निद्रा में सब पापों की निवृत्ति हो जाती है" निद्रा के समय मनुष्य न झूठ बोलता है, न चोरी करता है, न अब्रह्म का सेवन करता है, न क्रोधादि करता है, अतएव सभी पापों से बच जाता है, इस प्रकार की भ्रान्त धारणा उसके मन में पैठ गयी।

वसुसार अपना अधिक से अधिक समय निद्रा में व्यतीत करने लगा और कहने लगा-सुषुप्ति से मन वचन काय की सुन्दर गुप्ति होती है। जागरण की स्थिति में योगों का संवरण नहीं होता। ज्ञानोपासना आदि सभी साधनाओं में खटपट होती है, अतएव शयन साधना ही सर्वोत्तम है। अतएव मैं अधिक से अधिक समय निद्रा में व्यतीत करना ही हितकर समझता हूं।

वसुदेव ने गुरुभक्ति के कारण गंभीर तत्वज्ञान प्राप्त किया था । अतः वह आचार्य पद पर आसीन हो गये थे । जिज्ञासु सन्त सदा उन्हें घेरे रहते थे । कभी कोई वाचना लेने के लिये आता तो कोई शंका के समाधान के लिये। उन्हें क्षण भर का भी अवकाश नहीं मिलता । प्रातःकाल से लेकर सोने के समय तक ज्ञानाराधक साधु-सन्तों की भीड़ लगी रहती । मानसिक और शारीरिक श्रम के कारण वासुदेव थक कर चूर हो जाते थे ।

सहसा उनको विचार आया कि छोटा भाई वसुसार ज्ञान नहीं पढ़ा, वह बड़े आराम से दिन गुजारता है। मैंने सीखा, पढ़ा तो मुझे क्षण भर भी आराम नहीं। विद्वानों ने ठीक ही कहा है-

पढ़ने से तोता पिंजरे में बन्द किया जाता है, और नहीं पढ़ने से बगुला स्वच्छन्द घूमता है। मेरे ज्ञान-ध्यान का क्या लाभ ? अच्छा होता भाई की तरह मैं भी मूर्ख ही होता, तो मुझे भी कोई हैरान नहीं करता। कहा भी है—

मूर्खत्वं सुलभं भजस्व कुमते:, मूर्खस्य चाष्टौ गुणाः ।
निश्चिन्तो बहुभोजकोऽतिमुखरो, रात्रिं दिवा स्वप्नभाक् ।।

कार्याकार्य विचारणान्धवधिरो, मानापमाने समः ।
प्रायेणामयवर्जितो दृढ़वपुः मूर्खः सुखं जीवति ।।

अपने आठ गुणों के कारण मूर्ख मनुष्य आराम से अपनी जिन्दगी व्यतीत करता है। वे गुण ये हैं— (१) निश्चिन्तता (२) बहुभोजन (३) अति मुखरता (४) बड़बड़ाना (५) करणीय-अकरणीय पर विचार न करना। जो धुन में जंचे सो करते जाना और कोई भलाई की बात कहे तो बहिरे के समान उसे अनसुनी कर देना (६) मान-अपमान की परवाह न करना (७) रोग रहित होना और (८) बेफिक्री के कारण हट्टा-कट्टा होना।

कहा जाता है कि इस प्रकार ज्ञानाराधना से थक कर उसने ३-३ दिन के लिये बोलना बन्द कर दिया ।

बुद्धिमान और ज्ञानी व्यक्ति कोई भी वक्तव्य देने को सहसा तैयार नहीं होगा— जो बोलेगा, सोच-समझ कर ही बोलेगा । मूर्ख को सोचने-समझने की आवश्यकता नहीं होती । वह बहुत बोलेगा । और शुद्धि-अशुद्धि या सत्य-असत्य की चिन्ता नहीं करेगा। निद्रा देवी की दया मूर्खराज पर सदा बनी रहती है । वह गधे की सवारी करने पर भी अपमान अनुभव करके लज्जित नहीं होगा ।

कर्मोदय के कारण वसुदेव के अन्तःकरण में दुर्भावना आ गयी । उसने ज्ञान की विराधना की । इस प्रकार दीक्षा एवं तपस्या के प्रभाव से उसने राजकुल में जन्म तो लिया किन्तु ज्ञान की विराधना करने से कोढ़ी और निरक्षरता प्राप्त की ।"

आज कार्तिक शुक्ला पंचमी है। यह पंचमी श्रुतपंचमी और ज्ञानपंचमी भी कहलाती है। इसकी विधिवत् आराधना करने से और ज्ञान की भक्ति करने से कोढ़ भी नष्ट हो जाता है, ऐसा महर्षियों का कथन है ।

श्रुतपंचमी सन्देश देती है कि ज्ञान के प्रति दुर्भाव रखने से ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होता है। अतएव हमें ज्ञान की महिमा को हृदयंगम करके उसकी आराधना करनी चाहिये। यथा शक्ति ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। और दूसरों के पठन-पाठन में योग देना चाहिये। वह योग कई प्रकार से दिया जा सकता है। निर्धन

विद्यार्थियों को श्रुत-ग्रन्थ देना आर्थिक सहयोग देना, धार्मिक ग्रन्थों का सर्वसाधारण में वितरण करना, पाठशालाएं चलाना, चलाने वालों को सहयोग देना, स्वयं प्राप्त ज्ञान का दूसरों को लाभ देना आदि। ये सब ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के कारण हैं ।

विचारणीय है कि जब लौकिक ज्ञान प्राप्ति में बाधा पहुंचाने वाली गुणमंजरी को गूंगी बनना पड़ा तो धार्मिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान में बाधा डालने वाले को कितना प्रगाढ़ कर्मबन्ध होगा ? उसे कितना भयानक फल भुगतना पड़ेगा ? इसीलिये भगवान् महावीर ने कहा—"हे मानव ! तू अज्ञान के चक्र से बाहर निकल और ज्ञान की आराधना में लग ! ज्ञान ही तेरा असली स्वरूप है। उसे भूलकर क्यों पर-रूप में झूल रहा है ? जो अपने स्वरूप को नहीं जानता उसका बाहरी ज्ञान निरर्थक है ।"

यह ज्ञानपंचमी अपने पर्व श्रुतज्ञान के अभ्युदय और विकास को प्रेरणा देने के लिये है। आज के दिन श्रुत के अभ्यास, प्रचार और प्रसार का संकल्प करना चाहिये। द्रव्य और भाव, दोनों प्रकार से श्रुत की रक्षा करने का प्रयत्न करना चाहिये। आज ज्ञान के प्रति जो आदर वृत्ति मन्द पड़ी हुई है, उसे जागृत करना चाहिये। और द्रव्य से ज्ञान दान करना चाहिये। ऐसा करने से इहलोक-परलोक में आत्मा को अपूर्व ज्योति प्राप्त होगी और शासन एवं समाज का अभ्युदय होगा ।

किसी ग्रन्थ, शास्त्र या पोथी की सवारी निकाल देना सामाजिक प्रदर्शन है इससे केवल मानसिक सन्तोष प्राप्त किया जा सकता है। असली लाभ तो ज्ञान के प्रचार से होगा । ज्ञानपंचमी के दिन श्रुत की पूजा कर लेना, ज्ञान-मन्दिरों के पट खोल कर पुस्तकों के प्रदर्शन कर लेना और फिर वर्ष भर के लिये उन्हें ताले में बन्द कर देना श्रुतभक्ति नहीं है। ज्ञानी महापुरुषों ने जिस महान् उद्देश्य को सामने रखकर श्रुत का निर्माण किया, उस उद्देश्य को स्मरण करके उसकी पूर्त्ति करना हमारा कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व है ।

मैंने शरणार्थियों के एक मोहल्ले में एक बार देखा—गुरुद्वारा से गुरु ग्रन्थ साहब की सवारी निकाली जा रही है। ग्रन्थ साहब को जरी के कपड़े में लपेट कर एक सरदार अपने मस्तक पर रख कर ले जा रहे हैं इस प्रकार मस्तक पर रखकर अथवा हाथी के होदे पर सवार करके जुलूस निकालना वास्तविक श्रुतपूजा नहीं है। इससे तो यही प्रदर्शित होता है कि समाज की उस ग्रन्थ के प्रति कैसी भावना है, यह दूसरे भाइयों के चित्त को उस ओर खींचने का साधन है किसी भी ग्रन्थ की सच्ची भक्ति तो उसके सम्यक् पठन-पाठन में है ।

भारतीय जैन एवं जैनेतर साहित्य के संरक्षण में जैन समाज का असाधारण योगदान रहा है। उन्होंने ज्ञानोपासना की गहरी लगन से साहित्य भण्डार बनाये और

सहस्रों ग्रन्थों को नष्ट होने से बचाया है। किन्तु आज जैनों में भी पहले के समान भीतरी और बाहरी शास्त्र संरक्षण का भाव नहीं दीख पड़ता । यह स्थिति चिन्तनीय है।

श्रुत के विनय चार हैं, जो इस प्रकार हैं–

(१) सूत्र की वाचना करना ।

(२) सूत्र की अर्थ के साथ वाचना करना।

(३) हित रूप वाचना करना।

(४) श्रुत के कल्याण रूप का चिन्तन-मनन करना।

आज जैन समाज को श्रुत के प्रचार और प्रसार की ओर बहुत ध्यान देने की आवश्यकता है । जैन शास्त्रों में जो उच्चकोटि का, तर्क-विज्ञान सम्मत और कल्याणकारी तत्वज्ञान निहित है, उसका परिचय बहुत कम लोगों को है। शास्त्रों के लोकभाषाओं में अनुवाद भी पूरे उपलब्ध नहीं हैं। आधुनिक ढंग के सुन्दर मूल-प्रकाशन भी नहीं मिलते हैं। जिज्ञासुजनों की प्यास बुझाने की पर्याप्त सामग्री हम प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। यह खेद की बात है। इतने सुन्दर और समृद्ध साहित्य को भी हम आज उचित तरीके से लोगों के हाथों में न पहुंचा सकें तो हमारी ज्ञानाराधना ही क्या हुई।

ज्ञानपंचमी के इस पर्व पर आपको निश्चय करना चाहिये कि हम अपनी पूर्व संचित विपुल ज्ञाननिधि को जगत् में फैलायेंगे, स्वयं ज्ञान के अपूर्व आलोक में विचरण करेंगे और दूसरों को आलोक में लाने का प्रयत्न करेंगे। आप ऐसा करेंगे तो पूर्वज महापुरुषों के ऋण से मुक्त होंगे और 'स्व'-'पर' के परम कल्याण के भागी बनेंगे ।

---

[७६]

जीवनसुधार से ही मरणसुधार

आत्मा अजर, अमर, अविनाशी द्रव्य है। न इसकी आदि है, न अन्त। न जन्म है, न मृत्यु है। किन्तु जब तक इसने अपने निज रूप को उपलब्ध नहीं किया है और जब तक इसके साथ पौद्गलिक शरीर का संयोग है, तब तक शरीर के संयोग-वियोग के कारण आत्मा का जन्म-मरण कहा जाता है। वर्तमान स्थूल शरीर से वियोग होना मरण और नूतन स्थूल शरीर को ग्रहण करना जन्म कहलाता है। जन्म से लेकर मरण तक का रूप जीवन है। इस प्रकार जन्म, जीवन और मरण, ये तीन स्थितियां प्रत्येक संसारी आत्मा के साथ लगी हुई हैं।

आत्मा के जो निज गुण हैं, उनका विकास आत्मसुधार कहलाता है। आत्मसुधार का प्रथम सोपान जीवनसुधार है। जीवनसुधार का तात्पर्य है जीवन को निर्मल बनाना। जीवन में निर्मलता सद्गुणों और सद्भावनाओं से उत्पन्न होती है।

जीवनसुधार से मरणसुधार होता है। जिसने अपने जीवन को दिव्य और भव्य रूप में व्यतीत किया है, जिसका जीवन निष्कलंक रहा है और विरोधी लोग भी जिसके जीवन के विषय में उंगली नहीं उठा सकते, वास्तव में उसका जीवन प्रशस्त है। जिसने अपने को ही नहीं, अपने पड़ौसियों को, अपने समाज को, अपने राष्ट्र को और समग्र विश्व को ऊंचा उठाने का निरन्तर प्रयत्न किया, किसी को कष्ट नहीं दिया मगर कष्ट से उबारने का ही प्रयत्न किया, जिसने अपने सद्विचारों एवं सद्आचार से जगत् के समक्ष स्पृहणीय आदर्श उपस्थित किया, उसने अपने जीवन को फलवान् बनाया है। इस प्रकार जो अपने जीवन को सुधारता है, वह अपनी मृत्यु को भी सुधारने में समर्थ बनता है, जिसका जीवन आदर्श होता है, उसका मरण भी आदर्श होता है।

कई लोग समझते हैं कि अन्तिम जीवन को संवार लेने से हमारा मरण संवर जाएगा, मगर स्मरण रखना चाहिए कि जीवन के संस्कार मरण के समय उभर कर

आगे आते हैं । जिसका समग्र जीवन मलिन, पापमय और कलुषित रहा है, वह मृत्यु के ऐन मौके पर पवित्रता की चादर ओढ़ लेगा, यह संभव नहीं है । अतएव जो पवित्र जीवन यापन करेगा वही पवित्र मरण को वरण कर सकेगा और जो पवित्र मरण को वरण करेगा उसीका आगामी जीवन आनन्दपूर्ण बन सकेगा ।

जीवनसुधार के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपनी स्थिति के अनुकूल व्रतों को अंगीकार करके प्रामाणिकता के साथ उनका पालन करे । जो संसार से उपरत हो चुके हैं और जिनके चित्त में वैराग्य की ऊर्मियां प्रबल हो उठी हैं, वे गृहत्यागी बनकर महाव्रतों का पालन करते हैं । जिनमें इतना सामर्थ्य विकसित नहीं हो पाया या जिनका मनोबल पूरी तरह जागृत नहीं हुआ वे गृहस्थ में रहते हुए श्रावकधर्म का परिपालन करते हैं । व्रतसाधना ही जीवनसुधार का अमोघ उपाय है । मरणसुधार जीवनसुधार की चरम परिणति है ।

शास्त्र में चार प्रकार के विश्राम बतलाए गए हैं । उदाहरण के द्वारा उन्हें समझने में सुविधा होगी—एक लकड़हारा जंगल से जलाऊ लकड़ी काट कर लाता है। लकड़ियों का भारा बनाकर और उसे सिर पर रखकर वह लम्बी दूरी तय करता है । बोझ और चाल के कारण उसका शरीर थक जाता है । भारा उसके सिर के लिए दुस्सह हो जाता है । तब वह सिर के भारे को कंधे पर रख लेता है । जब उस कंधे में दर्द होने लगता है तो उसे दूसरे कंधे पर रखता है । यह उस लकड़हारे का पहला विश्राम है ।

सिर का भार हल्का करने के लिए वह भार को ऊँचा उठा लेता है या लघुशंका करने बैठ जाता है तो यह उसका दूसरा विश्राम कहलाता है। यह भी अस्थायी विश्राम है ।

कुछ और आगे चलने पर जब अधिक थक जाता है तो किसी चबूतरे पर या देवस्थान पर भारा टिकाकर खड़े-खड़े विश्राम लेता है । भार को वह वहां सुनियोजित भी कर लेता है । यदि भार विक्रय के लिए है तो वह एक के दो कर लेता है या बड़ा-सा दिखलाने के लिए उसे विशेष तरीके से जमाता है । यह उसका तीसरा विश्राम है ।

अपनी मंजिल तक पहुँचने पर या किसी को बेच देने पर उसे चौथा विश्राम मिलता है । यह द्रव्यविश्रान्ति का रूप है ।

सांसारिक जीवों के लिए भी इसी प्रकार के चार विश्रान्तिस्थल हैं । चौबीसों घंटे आरम्भ-समारम्भ का भार लाद कर चलने वाला मानव सौभाग्य से जब सत्संग

पा लेता है तो वह कंधा बदलने के समान पहला विश्रान्तिस्थल है । इस स्थिति में शारीरिक और वाचनिक व्यापार का भार उतर जाता है, सिर्फ मन पर भार लदा रहता है । सन्त समागम की दशा में भी संसारी जीव के मन की कड़ी पर आरम्भ समारम्भ का भार अटका रहता है । इस पर भी उसे किंचित विश्राम मिलता है । इस पर श्रमणों के सान्निध्य में उपाश्रय में आकर बैठने से गृहस्थ को पहला विश्राम मिलता है ।

सामायिक व्रत को अंगीकार करना या देशावगाशिक व्रत धारण करना और कुछ पापों का निरोध करना दूसरा विश्रामस्थल है, इन व्रतों को धारण करने से अशान्त मन को कुछ शान्ति मिलती है ।

समस्त आरंभ-समारंभ को चौबीस घंटे के लिए त्याग कर पौषध व्रत धारण करना तीसरा विश्रामस्थल है ।

दिन रात अमर्यादित जीवन, लालच, तृष्णा एवं असंयम के कारण सन्तप्त रहने वाला मनुष्य जब बारह व्रतों को धारण करता है तो परिग्रह आदि की मर्यादा के अन्तर्गत हो जाने से अभूतपूर्व शान्ति का अनुभव करने लगता है । उसकी असीम कामनाएँ सीमित हो जाती हैं, अनियन्त्रित मन नियन्त्रित हो जाता है, बिना किसी लगाम के स्वच्छन्द विचरण करने वाली इन्द्रियां संयत हो जाती हैं । उस समय ऐसा प्रतीत होता है मानो माथे पर का बोझा उतर गया है ।

यदि शासन यह नियम बना दे कि किसी भी मजदूर से बीस सेर से अधिक बोझ न उठवाया जाय तो मजदूरों को प्रसन्नता होगी । मजदूर के सिर की गठरी अगर मालिक रखले तो भी उसे प्रसन्नता का अनुभव होगा । भार हल्का होने से प्रसन्नता होती है, शान्ति मिलती है, यह अनुभव सिद्ध तथ्य है ।

भगवान् महावीर कहते है—"पाप की गठरी को उतार फेंको तो तुम्हें शान्ति मिलेगी । पूरी नहीं उतार सकते तो उसे हल्की ही करलो । यह शान्ति प्राप्त करने का उपाय है ।" मगर संसारी जीव की बुद्धि विपरीत दिशा में चलती है । वह भार लादने का कुछ ऐसा अभ्यासी हो गया है कि भारहीन दशा के सुख की कल्पना ही उसके मन में उदित नहीं हो पाती । परिणामस्वरूप वह जिस भारयुक्त स्थिति में है उसी में मगन रहना चाहता है । किन्तु जो भारहीन या परिमित भारवाली दशा को अंगीकार कर लेते हैं वे अपूर्व शान्ति अनुभव करने लगते हैं । उनका मन निराकुल हो जाता है ।

जिसका मानस मूढ़ बन गया है वह भार को भार नहीं समझ पाता और भारहीन दशा में आने से झिझकता है । मगर समय-समय पर पापों की गठरी को इधर-उधर रखकर मनुष्य को शान्ति प्राप्त करनी चाहिए ।

अनादिकाल से आत्मा भाराक्रान्त है । भाराक्रान्त होने से अशान्त है और अशान्ति में उसे सच्चे आनन्द की अनुभूति नहीं हो पाती । महावीर स्वामी ने श्रमणोपासक आनन्द का सच्चा आनन्द-मार्ग प्रदर्शित किया और आनन्द के माध्यम से जगत् के समस्त सन्तप्त प्राणियों को वह मार्ग दिखलाया ।

निसर्ग के नियम को कौन टाल सकता है ? प्रतिदिन सुनहरा प्रभात उदित होता है तो सन्ध्या भी अवश्य आती है । प्रभात हो किन्तु सन्ध्या न आए, यह कदापि संभव नहीं है। प्राणी के जीवन में भी प्रभात और सन्ध्या का आगमन होता है । जन्म प्रभात है तो मरण संध्यावेला है ।

जातस्य हि ध्रुवं मृत्युः, ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।

जिसने जन्म ग्रहण किया है, उसका मरण अनिवार्य है और जो मरण शरण हुआ है उसका जन्म भी निश्चित है ।

पशु-पक्षी और कीट-पतंग की तरह मरना जन्म-मरण के बन्धन को बढ़ाना है। भगवान् महावीर ने कहा–"मानव ! तू मरने की कला सीख । मृत्यु जब सत्य है तो उसे शिव और सुन्दर भी बना । उसके विकराल रूप की कल्पना करके तू मृत्यु के नाम से भी थर्रा उठता है, मगर उसके शिव-सुन्दर स्वरूप को क्यों नहीं देखता ?"

कहा जा सकता है कि मृत्यु विनाश है, संहार है, जीवन का अन्त है । उसमें शिवत्व और सौन्दर्य कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि अज्ञानी जीव प्रायः प्रत्येक वस्तु का काला पक्ष ही देखा करते हैं । शुक्ल पक्ष उन्हें दृष्टिगत नहीं होता । मृत्यु यदि विनाश है तो क्या नवजीवन का निर्माण नहीं है ? संहार है तो क्या सृष्टि नहीं है ? जीवन का अन्त है तो क्या नूतन जीवन की आदि नहीं है? क्या मृत्यु के बिना किसी की भेंट नवजीवन से हो सकती है ?

ज्ञानी और अज्ञानी की विचारणा में बहुत अन्तर होता है। ज्ञानीजन कहते हैं-

कृमिजाल–शताकीर्णे, जर्जरे देहपंजरे ।
भिद्यमाने न भेत्तव्यं, यतस्त्वं ज्ञान-विग्रह : ।।

हे आत्मन् ! सैकड़ों कीड़ों से व्याप्त और जर्जर यह देह रूपी पिंजरा अगर भेद को प्राप्त होता है तो होने दे । इसमें भयभीत होने की क्या बात है । जैसे पक्षी के लिए पिंजरा होता है वैसे ही तेरे लिए यह देह है । यह तेरी असली देह नहीं है । तेरी असली देह तो चेतना है जो तुझसे कदापि पृथक् नहीं हो सकती ।

ज्ञानी जन मृत्यु को मित्र मानकर उससे भेंट करने के लिए सदा उद्यत रहते हैं। मृत्यु उनके लिए विषाद का कारण नहीं होती। वे समझते हैं कि मैंने जीवन भर जो पुण्यकर्म किया है, उसका फल तो मृत्यु के माध्यम से ही प्राप्त होना है। तो फिर मृत्यु से भयभीत क्यों होना चाहिए ? शरीर के कारागार से आत्मा को मुक्त कराने वाली मृत्यु भयावह कैसे हो सकती है ?

मगर अज्ञानी और अधर्मी जन मृत्यु की कल्पना से सिहर उठते हैं। वे समझते हैं कि वर्तमान जीवन में किये हुए पापों का दुष्फल अब भुगतना पड़ेगा।

तो मृत्यु को और उसके पश्चात् के जीवन को सुन्दर और सुखद बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इस जीवन को उज्ज्वल और पवित्र बनाया जाय, जीवन में पाप का स्पर्श न होने दिया जाय। जिसने इस प्रकार की सावधानी रखी उसके लिए मृत्यु मंगल है, महोत्सव है, शिव है, सुन्दर है और सुखद है।

भगवान ने आनन्द को मृत्यु के दो भेद बतलाये –

(१) पश्चिम मरण, बालमरण, असमाधिमरण (२) अपश्चिममरण, पण्डितमरण, समाधिमरण।

प्रथम प्रकार के मरण के लिए कला की आवश्यकता नहीं। रेल की पटरी पर सो जाना, विषपान कर लेना, फांसी लगा देना या कुंए में कूद जाना उसके सरल साधन हैं। कषाय-पूर्वक मरना और हाय-हाय करते हुए मरना भी बालमरण है। आत्म-हत्या के रूप में बालमरण की घटनाएँ आजकल बहुत बढ़ गई हैं। सौराष्ट्र प्रान्त में तो ऐसी घटनाएँ इतनी अधिक होती हैं कि वहां के मुख्यमन्त्री के लिए चिन्ता का विषय बनी हुई हैं। गृह-कलह और घोर निराशा आदि इसके कारण होते हैं। पति के विछोह में पत्नी की और पुत्र के वियोग में पिता की मृत्यु होना भी बालमरण है। भारत में पहले प्रचलित सती प्रथा भी बालमरण का ही भयानक रूप था। इस प्रकार अनेक रूपों में यह बालमरण आज प्रचलित है। यह मरण कलाविहीन मरण है और पाप का कारण है। भगवान् महावीर ने कहा कि मृत्यु को कलात्मक स्वरूप प्रदान करना मानव का सर्वश्रेष्ठ कौशल है, जीवनगत विकारों को समाप्त करके, जीवन का शोधन करके और माया-ममता से अलग होकर जो हँसते-हँसते मरता है, वह जीवन की कला जानता है।

किसी सन्त का शिष्य बड़ा तपस्वी था। तप करते-करते उसका शरीर क्षीण हो गया अतएव उसने समाधिमरण अंगीकार करने का निर्णय किया। गुरु से समाधिमरण की अनुमति मांगी। गुरु ने कहा–अभी समय नहीं आया है। शिष्य पुनः

तप में निरत हो गया । उसने शरीर सुखा दिया । अस्थियां ही शेष रह गईं । तब वह फिर गुरु के पास पहुँचा और समाधिमरण की अनुमति माँगी । गुरु बोले—अभी अवसर नहीं आया है ।

शिष्य फिर कठिन तपस्या करने लगा । अब उसे चलने-फिरने में उठने बैठने में यहाँ तक कि बोलने में भी कठिनाई होने लगी । उसने फिर गुरु से अनुमति माँगी । गुरु ने कहा अभी अवसर नहीं आया है । संलेखना करो ।

गुरु का वही पुराना उत्तर सुन कर शिष्य को इस बार रोष आ गया । उसने अपनी उंगली तोड़ कर बतलाया कि देखिये, मेरे शरीर में रुधिर नहीं रह गया है।

गुरु ने शान्ति और वात्सल्य से समझाया कि संलेखना करने का अर्थ कषाय का त्याग करना है । काय का त्याग करने पर भी कषाय का त्याग किये बिना आत्महित नहीं होता ।

शिष्य समझ गया । उसे अपनी भूल मालूम हो गई । वास्तव में मृत्यु कलाविद् वही है जो वीतराग दशा में समभावपूर्वक शरीर का उत्सर्ग करता है ।

कषाय को कृश करना संलेखना है । कषाय को कृश कर देने पर मृत्यु का अनिष्ट रूप नहीं रह जाता । उस समय मृत्यु कलात्मक बन जाती है, जिसे समाधिमरण कहते हैं । हजारों-लाखों में कोई विरला ही व्यक्ति समाधिमरण का अधिकारी होता है । अधिकांश लोग तो कषायों से ग्रस्त होकर हाय-हाय करते ही मरते हैं । जिनका जीवन साधना में व्यतीत हुआ, जिन्होंने काले कारनामों से अपना मुँह मोड़ लिया या जिनके जीवन में उज्ज्वलता रही, उन्हीं को मृत्यु-सुधार का अवसर मिलता है । उनकी भूमिका तैयार होती है अतएव कोई गड़बड़ पैदा करने वाला निमित्त न मिल गया तो उनकी मृत्यु सुधर जाती है ।

परीक्षा में उत्तीर्ण होना या अनुत्तीर्ण होना तीन घण्टे के कर्तृत्व पर निर्भर है । जिसने तीन घण्टों में सही-सही उत्तर लिख दिये उसे सफलता अवश्य मिलती है। मगर सही उत्तर वही लिख सकेगा जिसने पहले अभ्यास कर रखा हो, पूर्वाभ्यास के अभाव में केवल तीन घंटे के श्रम से उत्तीर्णता प्राप्त करना संभव नहीं है । इसी प्रकार समाधिमरण भी एक कठोर परीक्षा है । इसमें उत्तीर्ण होने के लिए जीवन व्यापी अभ्यास की आवश्यकता है । अतएव जो अपनी मृत्यु को सुधारना चाहते हों उन्हें अपना जीवन सुधारना होगा । जीवन को सुधारे बिना मृत्यु को सुधारने की आशा रखने वालों को निराश होना पड़ेगा ।

आई. ए. एस. जैसी परीक्षाओं में साक्षात्कारपरीक्षा भी होती है । उसमें प्रत्येक प्रत्याशी को संक्षिप्त मौखिक परीक्षा देनी पड़ती है जिसे अंग्रेजी भाषा में

इंटरव्यू कहते हैं । इंटरव्यू में दस-पन्द्रह मिनट में ही पास-फेल होने का खेल समाप्त हो जाता है । उस समय क्या पूछा जाएगा, पता नहीं रहता । मगर प्रत्याशी अगर अभ्यासशील है और उस समय अपना मानसिक सन्तुलन कायम रखता है तो सफलता प्राप्त करता है । इसी प्रकार मरण के समय यदि मानसिक सन्तुलन रहा तो मुमुक्षु को सफलता प्राप्त होती है । यदि उस समय मोह-ममता जाग उठी तो अनुत्तीर्ण हो जायेगा ।

भगवान् महावीर ने व्रताराधना के बाद आनन्द को मरणसुधार का उपाय बतलाया । मरणसुधार करने वालों को विकारों पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है । उग्र से उग्र भय कष्ट आदि आने पर भी सावधान साधक ज्ञान बल द्वारा विकारों को उत्पन्न नहीं होने देता ।

विकारों के शमन के लिए अध्यात्मज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता होती है । ऊंचे से ऊँचा अन्य ज्ञान प्राप्त करने वाले ने भी यदि अध्यात्मज्ञान प्राप्त नहीं किया तो सब व्यर्थ है ? विद्वान् पुरुष से यदि बोलते समय स्खलना हो जाय तो उसका उपहास नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक छद्मस्थ स्खलना का पात्र है ।

स्थूलभद्र ने आचार्य भद्रबाहु से दस पूर्वों का ज्ञान प्राप्त कर लिया किन्तु अपने प्रभाव को प्रदर्शित करने के लिए साध्वियों के समक्ष सिंह का रूप धारण किया। इस घटना को जानकर आचार्य भद्रबाहु को खेद हुआ और उन्होंने आगे का अभ्यास कराना बन्द कर दिया । अहंभाव आने पर आगे की साधना के समक्ष दीवार खड़ी हो जाती है ।

आचार्य भविष्य का विचार करके चौकन्ने हो गए । उन्होंने सोचा—इस गहरे पात्र में भी जब छलकन आ गई तो इससे अधिक का समावेश इसमें कैसे हो सकेगा? अब अभ्यास को रोक देना ही उचित है । आचार्य ने यह निर्णय कर लिया । ज्ञानी पुरुष अपनी भूल को जल्दी समझ लेता है, स्वीकार कर लेता है और उसका प्रतीकार करने में विलम्ब भी नहीं करता ।

एक घुड़सवार घोड़े से गिर पड़ा । किसी ने उससे कहा—क्या भाई, गिर पड़े ? उसने लजाते हुए कहा—नहीं, कहां गिरा हूँ । उसका पांव तो पायदान में लटक रहा था, तथापि उपहास के भय से उसने प्रत्यक्ष गिरने को भी स्वीकार नहीं किया ।

भूल होना कोई असाधारण बात नहीं । प्रत्येक छद्मस्थ प्राणी से कभी न कभी भूल हो ही जाती है । मगर उस भूल को स्वीकार न करना और छिपाने का

प्रयत्न करना भूल पर भूल करना है । ऐसा करने वाले के सुधार की संभावना बहुत कम होती है । अतएव प्रत्येक समझदार व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह खूब सोच-समझकर ही कोई कार्य करे और भूल न होने दे तथापि कदाचित् भूल हो जाय तो उसे स्वीकार करने और सुधारने में आनाकानी न करे । भूल को स्वीकार करना दुर्बलता का नहीं बलवान होने का लक्षण है । भगवान् महावीर का कथन है कि अपनी भूल को गुरु के समक्ष निश्छल भाव से निवेदन कर देने वाला ही आराधक होता है । ऐसे साधक की साधना ही सफल होती है ।

अपनी भूल को छिपाना ऐसा ही है जैसे शरीर में उत्पन्न हुए फोड़े को छिपाना । फोड़े को छिपाने से वह बढ़ जाता है, उसमें जहर उत्पन्न हो जाता है और अन्त में वह प्राणों को भी ले बैठता है । उसे उत्पन्न होते ही चिकित्सक को दिखला देना बुद्धिमत्ता है। इसी प्रकार जो भूल हो गई है, कोई दुष्कृत्य हो गया है, उसे गुरुजन के सामने प्रकट न करना अपने साधना-जीवन को विषाक्त बनाना है।

मुनि स्थूलभद्र महान् साधक थे । उन्होंने अपनी भूल को स्वीकार करने में तनिक भी आनाकानी नहीं की । संघ ने भी उनकी सिफारिश की । संघ ने कहा—एक बार की चूक के कारण ज्ञान देने का कार्य बन्द नहीं होना चाहिए । मुनिमंडल ने आचार्य के चरणों में प्रार्थना की—भगवन् ! महामुनि स्थूलभद्र से स्खलना हो गई है । उसकी हम अनुमोदना नहीं करते, किन्तु चलने वाले से स्खलना हो ही जाती है । उसका परिमार्जन किया जाय । भगवान् महावीर रूपी हिमाचल से प्रवाहित होता चला आने वाला श्रुत-गंगा का यह परमपावन प्रवाह आपके साथ समाप्त नहीं हो जाना चाहिए । मुनि स्थूलभद्र को आप अपनी ज्ञाननिधि अवश्य दीजिए । वे संघ के प्रतिनिधि हैं, अतएव स्थूलभद्र को ज्ञान देना साधारण व्यक्ति को ज्ञान देना नहीं है, वरन् संघ को ज्ञान देना है । अनुग्रह करके उनकी एक भूल को क्षमा की आंखों से देखिए और उन्हें चौदह पूर्वों का ज्ञान अवश्य दीजिए ।"

आचार्य भद्रबाहु महान् थे किन्तु संघ को वे सर्वोपरि मानते थे । जिन शासन में संघ का स्थान बहुत ऊंचा है । अतएव संघ के आग्रह को अस्वीकार करने की कोई गुंजाइश न थी । उधर भद्रबाहु के मन में असन्तोष था । वे सोचते थे कि काल के प्रभाव से मुनियों के मन में भी उतनी सबलता नहीं रहने वाली है । अतएव यह ज्ञान उनके लिए भी हानिकारक ही सिद्ध होगा । इस प्रकार एक ओर संघ का आग्रह और दूसरी ओर अन्तःकरण का आदेश था । आचार्य दुविधा में पड़ गए । सोच-विचार के पश्चात् उन्होंने मध्यम मार्ग ग्रहण किया । अपना निर्णय घोषित कर दिया कि अवशेष श्रुत का ज्ञान देंगे किन्तु सूत्र रूप में ही वह ज्ञान दिया जाएगा, अर्थ रूप में नहीं । इस निर्णय को सबने मान्य किया ।

आगम के दो रूप होते हैं–सूत्र और अर्थ । सूत्र मूल सामग्री रूप है और अर्थ उससे बनने वाला विविध प्रकार का भोजन । मूल सामग्री से नाना प्रकार के भोज्य पदार्थ तैयार किये जा सकते हैं । सबल एवं नीरोग व्यक्ति बाफला जैसे गरिष्ठ भोजन को पचा सकता है किन्तु बालक और क्षीणशक्ति व्यक्ति नहीं पचा सकता है। अर्थागम को पचाने के लिए विशेष मनोबल की आवश्यकता होती है । वह न हुआ तो अनेक प्रकार के अनर्थों की संभावना रहती है । अध्येता अगर व्यवहार दृष्टि को निश्चय दृष्टि समझ ले या निश्चय दृष्टि को व्यवहार दृष्टि समझ ले तो अर्थ का अनर्थ हो जाएगा । उत्सर्ग को अपवाद या अपवाद को उत्सर्ग समझ लेने से भी अनेक प्रकार की भ्रांतियां (भ्रमणाएं) फैल सकती है ।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता, इस कथन में सत्यता है, मगर इसका अर्थ यदि यह समझ लिया जाय कि धन, पुत्र, कलत्र आदि के प्रति आसक्ति रखने से भी आत्मा में किसी प्रकार की विकृति नहीं हो सकती तो यह अनर्थ होगा ।

स्थानांग सूत्र का प्रथम वाक्य है–'एगे आया ।' यदि इसका आशय वही समझा जाय जैसा कि आत्माद्वैतवादी वेदान्ती कहते हैं, अर्थात् समस्त विश्व में, सभी शरीरों में, एक ही आत्मा है–प्रत्येक शरीर में अलग-अलग आत्मा नहीं है, तो कितना अनर्थ होगा ।

आत्मा अजर, अमर, अविनाशी, शुद्ध, बुद्ध एवं सिद्धस्वरूप है, यह निरूपण आपने सुना होगा । पर क्या इसका आशय यह है कि किसी को साधना करने की आवश्यकता नहीं है ?

तात्पर्य यह है कि सूत्र के सही अर्थ को समझने के लिए नयदृष्टि की आवश्यकता होती है । जिन प्रवचन का एक भी वाक्य नयनिरपेक्ष नहीं होता । जिस नय से जो बात कही गई है, उसे उसी नय की अपेक्षा समझना चाहिए । दूसरे नय की दृष्टि को सर्वथा ओझल नहीं कर देना चाहिए । यदि ऐसा हुआ तो घोर अनर्थ होगा । आज जिन शासन में भी अनेक प्रकार के जो वितंडावाद चल पड़ते हैं और विभिन्न प्रकार के साम्प्रदायिक मतभेद दृष्टिगोचर होते हैं, उसका आधार अपेक्षा, नयदृष्टि या विवक्षाभेद को न समझना ही है । गहराई के साथ नयदृष्टि को न समझने से कलह का बीजारोपण होता है । अतएव निष्पक्षभाव से, शुद्ध बुद्धि से आगम के अर्थ को इस प्रकार समझना चाहिए जिससे लौकिक और पारलौकिक कल्याण हो ।

[७७]

सुधासिंचन

धर्म और धर्म साधना के सम्बन्ध में साधारण लोगों में अनेक प्रकार की भ्रमपूर्ण धारणाएँ फैली हुई हैं। बहुतों की समझ है कि धर्मस्थान में जाकर अपनी परम्परा के अनुकूल अमुक विधि-विधान या क्रिया कर लेने मात्र से धर्म साधना की इति श्री हो जाती है। अधिकांश लोग ऐसा ही करते हैं और अपने मन को सन्तुष्ट कर लेते हैं। इनकी समझ के अनुसार धर्मस्थान से बाहर के व्यवहार के साथ धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं। गार्हस्थिक व्यवहार और व्यापार में धर्म का कोई स्थान नहीं है।

ज्ञानी जनों का कथन है कि इस प्रकार की धारणा बहुत ही भ्रमपूर्ण है। धर्म साधना जीवन के प्रत्येक व्यवहार का विषय है। जिसके चित्त में धर्म की महत्ता समा गई है, जिसके रोम-रोम में धर्म व्याप गया है और जिसने धर्म को परम मंगलकारी समझ लिया है, वह क्षण भर के लिए भी धर्म को विस्मृत नहीं करेगा। उसके समस्त लौकिक कहलाने वाले कार्यों में भी धर्म का पुट रहेगा ही। जब वह व्यापार करेगा तो भाव-ताव करने में असत्य का प्रयोग नहीं करेगा। अबोध बालक को भी ठगने का प्रयत्न नहीं करेगा। अच्छी वस्तु दिखला कर खराब नहीं देगा। किसी भी वस्तु में भेल-सेल नहीं करेगा। कम नापने-तोलने में पाप समझेगा। विवाह करेगा तो उसका उद्देश्य भोग-विलास की स्वच्छन्दता प्राप्त करना नहीं होगा वरन् अपने जीवन को मर्यादित करना होगा। पर स्त्रियों को माता-बहिन समझकर बर्ताव करना होगा। इस प्रकार सभी कार्यों में उसका दृष्टिकोण धर्मयुक्त होगा।

ऐसा धार्मिक व्यक्ति धर्मस्थान में अवश्य जाएगा और वहां विशिष्ट साधना भी करेगा, मगर यही सोचेगा कि धर्मस्थान में प्राप्त की हुई प्रेरणा मेरे जीवन-व्यवहार में काम आनी चाहिए। अगर जीवन के व्यवहार अधर्ममय बने रहे तो धर्मस्थान में ली हुई शिक्षा किस काम की? वह शिक्षा जीवन में ओत-प्रोत हो जानी चाहिए।

जिसने धर्म के मर्म को पहचान लिया है, उसकी दृष्टि निरन्तर आत्मतत्व पर टिकी रहती है । वह कोई भी कार्य करे मगर आत्मा को विस्मृत नहीं करता । वह इस तथ्य को पूरी तरह हृदयंगम कर लेता है कि मानव-जीवन का सर्वोपरि साध्य आत्महित है । अगर हम आत्मा के हिताहित का विचार न कर सके, आत्मोत्थान और आत्मपतन के कारणों को न समझ सके तो हमारी विचार-शक्ति की सार्थकता ही क्या हुई ? जड़-जगत के विचार में जो इतना मग्न हो जाता है कि आत्मा का विचार ही नहीं कर पाता, उसका विचार चाहे जितना गंभीर और सूक्ष्म क्यों न हो, सार्थक नहीं है । विवेकवान् व्यक्ति के लिए तो आत्मा के स्वरूप का चिन्तन और स्मरण करके निरावरण दशा को प्राप्त करने का प्रयत्न करना ही उचित है । यही धर्म है, इस सम्बन्ध की कथा धर्म कथा कहलाती है ।

अशुभ भाव से जब तक मन नहीं हटेगा तब तक शुभ कार्य में मन नहीं लगेगा । अशुभ फलों का कटुक फल बता कर तथा शुभ कर्मों का लाभ बतला कर धर्म के प्रति प्रीतिमान बनाया जाता है ।

जब तक बच्चे के अन्तःकरण में पढ़ाई के प्रति प्रीति नहीं उत्पन्न होती तब तक दण्ड आदि का भय उसे दिखलाया जाता है । किन्तु जब बालक स्वयं अन्तःप्रेरणा से ही पढ़ाई में रुचि लेने लगता है और पढ़ाई में उसे आनन्द का अनुभव होने लगता है तो उसे किसी प्रकार का भय दिखलाने की आवश्यकता नहीं होती । वह पढ़ाई के बिना रह नहीं सकता । सेठों को दुकानदारी में प्रीति होती है। दुकानदारी के फेर में पड़ कर वे भोजन भी छोड़ देते हैं ।

पाप के कटुक फल और उससे उत्पन्न होने वाली विषम यातनाएँ बतला कर लोगों को पाप से मोड़ने की आवश्यकता है । पापाचार न केवल परलोक में ही वरन् इस लोक में भी दुःखों का कारण होता है । इस तथ्य को भगवान् महावीर के मुख से जान कर श्रमणोपासक आनन्द ने बारह व्रतों को अंगीकार किया । तत्पश्चात् मृत्यु को सुधारने के लिए पांच दूषण से बचने का उपाय प्रभु ने आनन्द को बतलाया ।

जब अन्तिम समय आया दिखाई दे तब समाधिमरण अंगीकार किया जाता है। समाधिमरण अंगीकार करने से पहले संलेखना की जाती है । संलेखना में सब प्रकार के कषायों को क्षीण करना होता है । 'सम्यक्काय कषाय लेखना सल्लेखना' अर्थात् सम्यक् प्रकार से काय और कषायों को कृश करना सल्लेखना या सलेखना है। इस प्रकार जब बाहर से काय को और भीतर से कषाय को कृश कर दिया जाता है तब साधक समाधिमरण को अंगीकार करता है । समाधिमरण संसार से सदा के लिए छुटकारा पाने का साधन है । कहा भी है–

एगम्मि भवग्गहणे समाधि मरणेण जो मइदि जीवो ।
ण हु हिंड़दि बहुसो, सत्तट्ठ भवे पमोत्तूण ।।

अर्थात् एक भव में जो जीव समाधिमरणपूर्वक शरीर का त्याग करता है वह सात-आठ भवों से अधिक काल तक संसार में भ्रमण नहीं करता ।

संलेखना समाधिमरण की भूमिका तैयार करता है । संलेखना करके साधक भूमिका का निर्माण कर लेता है, आहार का, अठारह प्रकार के पाप का एवं शरीर के प्रति ममता का परित्याग कर देता है । जिस शरीर का बड़े यत्न से पालन-पोषण किया था, सर्दी-गर्मी और रोगों से बचाया था, उसके प्रति मन में लेश मात्र भी ममत्व न धारण करते हुए शान्ति और समभाव से, आत्मा-परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करते हुए उसे त्याग देना पण्डितमरण है ।

समाधिमरण के पांच दूषण हैं, जिनसें साधक बचता है । वे इस प्रकार हैं–

(१) समाधिमरण की साधना अंगीकार करके पुत्र, कलत्र आदि की चिन्ता करना दोष है । इस लोक सम्बन्धी किसी भी प्रकार की आकांक्षा का उदय होने से यह दोष होता है ।

(२) परलोक सम्बन्धी कामना करना भी दोष है । मुझे इन्द्र का पद प्राप्त हो जाए, मैं चक्रवर्ती बन जाऊँ, यह अभिलाषा भी इस व्रत को दूषित करती है ।

(३) समाधिमरण के समय आदर सम्मान होते देख कर अधिक समय तक जीवित रहने की इच्छा करना भी दोष है ।

(४) कष्ट से छुटकारा पाने के उद्देश्य से, घबरा कर शीघ्र मरण की इच्छा करना।

(५) अच्छा बिस्तर चाहना, तेल आदि की मालिश करना, विषयों की आकांक्षा करना ।

अभिप्राय यह है कि अपने अन्तिम समय में भावना को निर्मल बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए । किसी भी प्रकार की विकारयुक्त विचारधारा को पास भी नहीं फटकने देना चाहिए । पूरी तरह समभाव एवं विरक्तिभाव जागृत करना चाहिए । विवेकशाली व्रती जब साधना के मार्ग में सजग होकर कदम बढ़ाता है तो मरण के समय क्यों असावधानी बरतेगा ? व्रती निरन्तर इस प्रकार की भावना में रमण करता है–

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ।।

पद्य में इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार है–

कोई बुरा कहो या अच्छा,
लक्ष्मी आवे या जावे ।

लाखों वर्षों तक जीऊं या,
मृत्यु आज ही आ जावे ।

अथवा कोई कैसा भी भय,
या लालच देने आवे ।

तो भी न्यायमार्ग से मेरा,
कभी न पद डिगने पावे ।।

व्रत साधना मरणसुधार की सुदृढ़ भूमिका है, क्योंकि व्रत साधना के लिए पर्याप्त समय मिलता है । मरण के समय के क्षण थोड़े होते हैं । अतएव उस समय प्रायः पूर्वकालिक साधना के संस्कार ही काम आते हैं । अतएव साधक को अपने व्रती जीवन में विशेष सावधान रहना चाहिए ।

इन पांच अतिचारों की वृत्तियां जीवन में एवं व्रताराधना में मलिनता न उत्पन्न होने दें तो साधक महान् कल्याण का भागी होता है । एक बार की मृत्यु बिगाड़ने से जन्म-जन्मान्तर बिगड़ जाता है और मृत्यु सुधारने से मोक्ष का द्वार खुल जाता है। छात्र वर्ष भर मेहनत करके भी यदि परीक्षा के समय प्रमाद कर जाय और सावधान न रहे तो उसका सारा वर्ष बिगड़ जाता है । मरण के समय प्रमाद करने से इससे भी बहुत अधिक हानि उठानी पड़ती है । इसी कारण भगवान् ने पांच दोषों से बचने की प्रेरणा की है ।

व्रतों के समस्त अतिचारों से बचने वाला व्रती गृहस्थ भी अपने जीवन को निर्मल बना सकता है । अतएव जो शाश्वतिक सुख के अभिलाषी हैं उन्हें निरतिचार व्रत पालन के लिए ही सचेष्ट रहना चाहिए ।

बारह व्रतों और उनके अतिचारों को श्रवण कर आनन्द ने प्रभु की साक्षी से व्रतों को ग्रहण करने का संकल्प किया । व्रतों का पालन तो यों भी किया जा सकता है तथापि देव या गुरु के समक्ष यथाविधि संकल्प प्रकट करना ही उचित है । ऐसा करने से संकल्प में दृढ़ता आती है और अन्तःकरण के किसी कोने में कुछ

दुर्बलता छिपी हो तो वह भी दूर हो जाती है । किसी नाजुक प्रसंग के आने पर भी उस संकल्प से विचलित न होने में सहायता मिलती है । अपने मन में ही व्रत पालन का विचार कर लेने से वह दृढ़ता नहीं उत्पन्न होती और समय पर विचलित होने की संभावना बनी रहती है । अतएव जो भी व्रत अंगीकार किया जाय उसे गुरु की साक्षी से ग्रहण करना ही श्रेयस्कर है । कदाचित् ऐसा योग न हो तो भी धर्मनिष्ठ बन्धुओं के समक्ष अपने संकल्प को प्रकट कर देना चाहिये ।

आनन्द सोचता है कि मैं अत्यन्त सौभाग्यशाली हूँ कि मुझे साक्षात् जिनेन्द्र देव तीर्थंकर के चरणों में अपने जीवनोत्थान एवं आत्मकल्याण के लिए व्रतग्रहण का सुअवसर प्राप्त हो सका । यह सोच कर उसे अपूर्व प्रमोद हुआ । उसने निश्चय किया कि मैं अपने इस प्रमोद को अपने तक ही सीमित नहीं रखूंगा । मैं अपने मित्रों और बन्धुजनों को भी इस आनन्द का भागी बनाऊंगा । मैं उनके जीवन को भी सफल बनाने में सहायक बनूंगा ।

साधक स्वयं ग्रहणीय बातों को गुरुजनों से ग्रहण करके दूसरों में प्रचारित करता है । उसे वह धर्म की सच्ची प्रभावना मानता है । सच्चा साधक उन बातों का संरक्षण और संवर्द्धन करता है । यदि साधक सद्‌विचारों को अपने तक ही सीमित रखता है और उन्हें प्रचारित नहीं करता तो वे विचार वृद्धि नहीं पाते । भारत की अनेक विद्याएं और औषधियाँ इसी कंजूसी के फलस्वरूप नष्ट हो गईं और हो रही हैं।

धर्म सीमित और अधर्म विस्तृत हो जाता है तो वासना का दौर शुरु होता है । वासना सहज प्रवृत्ति है । मनुस्मृति में कहा है–

प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला ।

प्रवृत्ति प्रत्येक प्राणी के लिए सहज बनी हुई है, बच्चों को खुराक चबाने की कला नहीं सिखलानी पड़ती । भूख मिटाने के लिए खाना चाहिए, इस उपदेश की आवश्यकता नहीं होती । बच्चे नौजवान होकर उदर-पूर्ति के साधन आवश्यकता होने पर जुटा लेते हैं । नौ-जवानों को सुन्दर वस्त्र पहनने की शिक्षा नहीं दी जाती। ये सब बातें देखा-देखी आप ही सीख ली जाती हैं ।

सद्‌विचारों एवं धर्म को सुरक्षित रखने के लिए तथा देश की संस्कृति की रक्षा करने के लिए शस्त्रधारी सैनिकों से काम नहीं चलता । इसके लिए शास्त्रधारी सैनिक चाहिए । सन्त-महन्तों के नेतृत्व में शास्त्रधारी सैनिक देश की पवित्र संस्कृति की रक्षा करते थे । सन्तों को सदा चिन्ता रहती थी कि हमारी पावन और

आध्यात्मिक संस्कृति अक्षुण्ण बनी रहे और उसमें अपावनता का सम्मिश्रण न होने पावे जिससे मानव सहज ही जीवन के उच्च आदर्शों तक पहुँच सके ।

संभूतिविजय का प्रयास था कि शास्त्रधारी सैनिकों की शक्ति कम न होने पावे । उनका प्रयास बहुत अंशों में सफल हुआ । सर्वांश में नहीं । स्थूलभद्रजी की स्खलना ने उसमें बाधा डाल दी । संघ के अधिक आग्रह पर शेष चार पूर्वों को सूत्र रूप में देना ही उन्होंने स्वीकार किया । स्थूलभद्र स्वयं इस विषय में कुछ अधिक नहीं कह सकते थे । उनकी स्खलना इतना विषम रूप धारण कर लेगी, इसकी उन्हें लेश मात्र भी कल्पना नहीं थी । इस विषम रूप को सामने आया देखकर उन्हें हार्दिक वेदना हुई, पश्चात्ताप हुआ । ऐसा होना स्वाभाविक ही था क्योंकि ज्ञानवान् साधक से जब भूल हो जाती है तो वह जल्दी उसे भूल नहीं सकता ।

जैन शास्त्र में जाति शब्द का वह अर्थ नहीं लिया जाता जो आजकल लोक प्रचलित है । प्रचलित अर्थ तो अर्वाचीन है । शास्त्रों में मातृपक्ष को जाति और पितृ पक्ष को कुल कहा गया है–

मातृपक्षो जातिः, पितृ पक्षः कुलम् ।

जिसकी सात पीढ़ियां निर्मल रही हों वह कुलीन कहलाता था । जिस पुत्र का मातृ वंश और पितृ वंश निर्मल होगा वह कुलीन और जातिमान् कहलाएगा । किसी बालक में कोई दुर्गुण दिख पड़े तो उसके पितृ वंश के इतिहास की खोज करनी चाहिए । पता चल जाएगा कि उसके किसी पूर्वज में यह दोष अवश्य रहा होगा ।

महागंगा की धारा को मोड़ना जैसे शक्य नहीं, उसी प्रकार भद्रबाहु की विचारधारा को मोड़ना भी शक्य नहीं था । उन्होंने स्थूलभद्र को चौदह पूर्व सिखा दिये किन्तु उन्हें यह आदेश भी दे दिया कि आगे चौदह पूर्व किसी को न सिखाना।

सिद्धसेन एक बड़े विद्वान व्यक्ति थे । उनका कहना था कि मेरे मुकाबिले का कोई विद्वान् मिले तो उसके साथ शास्त्रार्थ करूं ; किन्तु कोई उनका सामना करने को तैयार नहीं होता था । उनकी विद्वता की दुंदुभि बजने लगी । कहते हैं–उन्होंने अपने पेट पर पट्टा बांध रखा था । कोई पट्टा बांधने का कारण पूछता तो वे कहते–"पट्टा न बाधूं तो विद्या की अधिकता के कारण पेट फट जाएगा ।"

उसी समय वृद्धवादी नामक एक जैन विद्वान थे । किसी ने सिद्धसेन से पूछा–"क्या आपने कभी वृद्धवादी से चर्चा की है ?" सिद्धसेन बोले–"बूढ़े बैल की मेरे सामने क्या बिसात है । फिर भी देख लूंगा ।"

सिद्धसेन एक बार वृद्धवादी के पास पहुँचे । उन्होंने कहा–मैं उपदेश सुनने नहीं, वाद करने के लिए आया हूँ । आचार्य वृद्धवादी ने उन्हें ऊपर से नीचे तक देखा और अध्ययन करके कहा–"वाद करना स्वीकार है, परन्तु मध्यस्थ चाहिए जो वाद के परिणाम (जय-पराजय) का निर्णय करे ।"

जंगल में दोनों विद्वानों की मुलाकात हुई थी । वहां इन दो महारथियों के वाद का निर्णय करने योग्य मध्यस्थ विद्वान कहां मिलता ? आखिर एक ग्वाला मिल गया और उसे ही निर्णायक बनाया गया । व्याकरण, ज्योतिष, वेदान्त, द्वैताद्वैत की बातें चलीं । वृद्धवादी अतिशय विद्वान होने के साथ अत्यन्त लोक व्यवहार निपुण भी थे । उन्होंने लोकभाषा में संगीत सुनाया और सभी उपस्थित ग्वाले प्रसन्न हो गए । निर्णायक ग्वाले को भी प्रसन्नता हुई । उसने वाद का निर्णय कर दिया–आचार्य वृद्धवादी विजयी हुए ।

भड़ोंच की राजसभा में वृद्धवादी ने सिद्धसेन को पुनः पराजित किया । सिद्धसेन वृद्धवादी के शिष्य बन गए ।

सिद्धसेन अपने समय के प्रभावशाली विद्वान थे । विक्रमादित्य ने उन्हें अपना राजपुरोहित बनाया । सिद्धसेन की विद्वता से सन्तुष्ट होकर विक्रमादित्य ने उनसे यथेष्ट वर मांगने को कहा । मगर त्यागी सिद्धसेन को अपने लिए कुछ मांगना नहीं था । उन्हें कोई अभिलाषा नहीं थी । अतएव उन्होंने प्रजा को ऋणमुक्त करने का वर मांगा ।

राजपुरोहित होने के नाते सिद्धसेन पालकी में आने-जाने लगे । वृद्धवादी को जब यह समाचार मिला तो उन्होंने सिद्धसेन को सही राह पर लाने का विचार किया। राजसी भोग भोगना साधु के लिए उचित नहीं है । इससे संयम दूषित हो जाता है। एक दिन वृद्धवादी छिपे रूप में भारवाहक के रूप में वहां पहुँचे । जब सिद्धसेन पालकी में सवार हुए तो वृद्धवादी भी पालकी के उठाने वालों में सम्मिलित हो गए । सिद्धसेन उन्हें पहचान नहीं सके, मगर उनकी वृद्धावस्था देख कर सहानुभूति प्रकट करते हुए बोले ।

भूरिभार भराक्रान्तः स्कन्धः किं बाधति तव ?

अर्थात् अधिक भार के कारण क्या कन्धा दुःख रहा है ? सिद्धसेन के भाषा प्रयोग में व्याकरण सम्बन्धी एक भूल थी । वृद्धवादी को वह बुरी तरह चुभी और उन्होंने चट उत्तर दिया–"भार के कारण कन्धा उतना नहीं दुःख रहा जितना 'बाधते' के बदले तुम्हारा 'बाधति' प्रयोग हृदय में दुःख रहा है ।"

सिद्धसेन यह उत्तर सुन कर चौंक उठे । उन्होंने सोचा–"मेरी भूल मेरे गुरुजी के सिवाय और कौन बतला सकता है । हो न हो, भारवाहक के रूप में ये मेरे गुरुजी ही हैं ।"

सचमुच वे सिद्धसेन के गुरु ही थे । उन्होंने प्रकट होकर उन्हें उपदेश दिया–"हम साधुओं का यह कर्त्तव्य नहीं है कि पालकी की सवारी करें और विलासमय जीवन व्यतीत करें । जिसे ऐसा जीवन बिताना है वह साधु का वेष धारण करके साधुता की महिमा को क्यों मलिन करे ?"

गुरु का उपदेश सुनते ही सिद्धसेन प्रतिबुद्ध हो गए । विद्वान को इशारा ही पर्याप्त होता है । ज्ञानवान् पुरुष कर्मोदय से कदाचित् गड़बड़ा जाय तो भी ज्ञान की लगाम रहने से शीघ्र सुधर जाता है । इसी कारण ज्ञान की विशेष महिमा है । सूर्य के प्रखर आलोक में जिसे सन्मार्ग दृष्टिगोचर हो रहा हो, वह कुपथ में जाकर भी शीघ्र लौट आता है, परन्तु अमावस्या की घोर अन्धकारमयी रात्रि में, सुपथ पर आना चाहकर भी आना कठिन होता है । यही बात ज्ञानी और अज्ञानी के विषय में समझनी चाहिए । अज्ञान मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है । अज्ञान के कारण मानव अपना शारीरिक और कौटुम्बिक दुःख बढ़ा लेता है । मगर ज्ञान भी वही श्रेयस्कर होता है जो सम्यक् श्रद्धा से युक्त होता है । वह ज्ञान, जो श्रद्धा का रूप धारण नहीं करता, टिक नहीं सकता । कदाचित् टिका रहे तो भी विशेष उपयोगी नहीं होता। कभी-कभी तो श्रद्धाहीन ज्ञान अज्ञान से भी अधिक अहितकर सिद्ध होता है । इसी दृष्टि से कहा जाता है कि कुज्ञान से अज्ञान भला । अज्ञानी अपना ही अहित करता है परन्तु श्रद्धाहीन कुज्ञानी अपने कुतर्कों के बल से सैकड़ों, हजारों और लाखों को गलत राह पर ले जा कर उनका अहित कर सकता है । धर्म के नाम पर नाना प्रकार के मिथ्या मतों के जो प्रवर्तक हुए हैं, वे इसी श्रेणी के थे, जिन्होंने अज्ञ जनों को कुमार्ग पर प्रेरित किया । अतएव वही ज्ञान कल्याणकारी है जो सम्यक् श्रद्धा से युक्त होता है । श्रद्धासम्पन्न ज्ञान की महिमा अपार है मगर उसका पूरा लाभ तभी प्राप्त होता है जब ज्ञान के अनुसार आचरण भी किया जाय । चारित्र गुण के विकास के अभाव में ज्ञान सफल नहीं होता ।

जो मनुष्य ज्ञानोपासना में निरत रहता है, वह अपने संस्कारों में मानो अमृत का सिंचन करता है । अपनी भावी पीढ़ियों के सुसंस्कारों का बीजारोपण करता है । उसका इस लोक और परलोक में परम कल्याण होता है ।

---

[७८]

विराट जैन दर्शन

आचारांग सूत्र में अत्यन्त गम्भीरता और स्पष्टता के साथ साधक की जीवनचर्या का चित्रण किया गया है । उसमें आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की चर्चाएँ अत्यन्त भावपूर्ण शैली में निरूपित की गई हैं । पहले बतलाया जा चुका है कि सदाचार का मूल आधार अहिंसा है । अहिंसा आचार का प्राणतत्व है । जहां अहिंसा है वहां सदाचार है और जहां अहिंसा नहीं वहां सदाचार नहीं ।

आचारांग में दर्शाया गया है कि जीवों के प्रति अमैत्री भाव तथा अनात्म बुद्धि आत्मा को भारी बनाने वाली चीजें हैं । हिंसक जब अन्य जीवों का हनन करता है तो अपनी भी हिंसा करता है । पर हिंसा के निमित्त से आत्महिंसा अवश्य होती है । अगर आप गहराई से सोचेंगे तो समझ जायेंगे ।

भगवान् महावीर ने कहा है–"हे मानव ! संसार के सभी प्राणियों को जीवन प्रिय है, सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है । अतएव किसी जीव पर कुठाराघात करना अपने ही ऊपर कुठाराघात करना है । अपनी आत्मा में कषाय का भाव जागृत करने से बड़ी आत्महिंसा क्या हो सकती है ? अतएव सभी प्राणियों को आत्मवत् समझना चाहिये ।"

संसार के विविध व्यापार एवं आरम्भ-समारम्भ करने वाला पूरी तरह हिंसा से नहीं बच सकता, तथापि दृष्टि को शुद्ध रखना चाहिए । दृष्टि को शुद्ध रखने का आशय यह है कि पाप को पाप समझना चाहिए–हिंसा को हिंसा मानना चाहिए और उससे बचने की भावना रखनी चाहिए ।

आज की स्थिति में कोई विरला ही होगा–जिसके मस्तक पर ऋण का भार न हो । यद्यपि ऋण के भार को कोई अच्छा नहीं समझता, फिर भी परिस्थिति विवश करती है और ऋण लेना पड़ता है । अगर कोई ऋण को बुरा नहीं समझता तो

एक दिन ऐसा आएगा कि ऋण के भार से बुरी तरह दब जाएगा और उत्तराधिकारियों के लिये अभिशाप बन कर जाएगा। कर्ज लेना क्या बुरा है, कर्ज तो सरकार भी लेती है, ऐसा समझने वाले की समझ उसी के लिए घातक है।

हिंसा करना भी कर्ज लेने के समान बुरा है। आर्थिक ऋण से मृत्यु छुटकारा दिला देती है किन्तु हिंसा का ऋण मृत्यु होने पर भी नहीं छूटता। वह परलोक में भी साथ रहता है और अनेकानेक भवों में बड़ी यातनाएँ सहने पर ही उससे छुटकारा मिलता है।

बिना कर्ज लिए अपना काम चलाने वाले कम मिलेंगे, किन्तु यदि वे कर्ज की बुराई को बुराई समझते हैं तो वह बुराई भी उतनी भयानक नहीं होती। साधक हिंसा रूपी कर्ज को बुरा समझता है और सदैव हिंसा से बचने का प्रयास करता है। ऐसा व्यक्ति शुद्ध दृष्टि वाला कहा जाएगा।

आनन्द इसी प्रकार की शुद्ध दृष्टि से सम्पन्न सद्गृहस्थ था। उसने महाप्रभु महावीर की सेवा में उपस्थित होकर पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत तथा गुण व्रत अंगीकार किए। उसने भगवान् की पावन देशना को श्रवण करने और उसकी अनुमोदना करने में ही अपनी कृतार्थता नहीं समझी, वरन् अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुसार उसपर आचरण भी किया। अनुमोदन के साथ यदि आचरण न किया जाय तो पाप का भार कैसे कम होगा ? कर्मबन्ध कैसे ढीला होगा ? उसने व्रत ग्रहण करके भगवान् के प्रति अपनी गाढ़ी निष्ठा प्रकट की।

आराध्य देव और अपने गुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा होनी चाहिए। यदि आराध्य देव के प्रति श्रद्धा न हुई तो वह पापों का त्याग नहीं कर सकेगा। अलबत्ता मनुष्य को अपने निष्पक्ष विवेक से देव और गुरु के वास्तविक स्वरूप को समझ लेना चाहिए और निश्चय कर लेना चाहिए। तत्पश्चात् अपने आध्यात्मिक जीवन की नौका उनके हाथों में सौंप देनी चाहिये। ऐसा किये बिना कम से कम प्रारम्भिक दशा में तो काम नहीं चल सकता। गुरु मार्ग प्रदर्शक है। जिसने मुक्ति के मार्ग को जान लिया है, जो उस मार्ग पर चल चुका है, उस मार्ग की कठिनाइयों से परिचित है, उसकी सहायता लेकर चलने वाला नवीन साधक सरलता से अपनी यात्रा में आगे बढ़ सकता है। वह अनेक प्रकार की बाधाओं से बच सकता है और सही मार्ग पर चल कर अपनी मंजिल तक पहुँच सकता है।

आनन्द अत्यन्त भाग्यवान था। उसे साक्षात् भगवान् ही गुरु के रूप में प्राप्त हुए थे। वह कहता है–"मैंने समझ लिया है कि देव कौन है ? जिन्हें परिपूर्ण ज्ञान और वीतरागता प्राप्त है, जो समस्त आन्तरिक विकारों से मुक्त हो चुके हैं, जो

अपने निर्मल स्वरूप को प्राप्त कर परम-ब्रह्म परमात्मा बन गए हैं, वे ही मेरे लिए आराध्य हैं ।"

पतिव्रता नारी जिसे वरण कर लेती है, आजीवन उसके प्रति पूर्ण निष्ठा रखती है । वह अन्य पुरुष की कामना नहीं करती है । पति के प्रति निष्ठा न रखने वाली नारी कुशीला कहलाती है । साधक भी परीक्षा करने के पश्चात् सर्वज्ञ एवं वीतराग देव को अपने आराध्य देव के रूप में वरण कर लेता है और फिर उनके प्रति अनन्य निष्ठा रखता है । उसकी निष्ठा इतनी प्रगाढ़ होती है कि देवता और दानव भी उसे विचलित नहीं कर सकते ।

जो वीतराग मार्ग का आराधक है, जो अनेकान्त दृष्टि का ज्ञाता है और आरम्भ परिग्रहवान नहीं है, उसकी श्रद्धा पक्की ही होगी । साधक को सौ टंच के सोने के समान खरा ही रहना चाहिये ।

केशी श्रमण का वेष अलग प्रकार का था और गौतम गणधर का अलग तरह का । प्रश्न खड़ा हुआ–दोनों का उद्देश्य एक है, मार्ग भी एक है, फिर यह भिन्नता क्यों है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए दोनों महामुनि परस्पर मिले । दोनों में वार्तालाप हुआ । उसी समय गौतमस्वामी ने स्पष्टीकरण किया–"लिंग अर्थात् वेष को देखकर अन्यथा सोच-विचार नहीं करना चाहिये । द्रव्यलिंग का प्रयोजन लौकिक है । वह पहचान की सरलता के लिये है । कदाचित् द्रव्यलिंग अन्य का हो किन्तु भावलिंग अर्हदुपदिष्ट हो तो भी साधक मुक्ति प्राप्त कर सकता है ।"

देव, गुरु और धर्म का स्वरुप बतलाते हुए कहा है–

सो धम्मो जत्थ दया, दसट्ठदोसा न जस्स सो देवो ।
सो हु गुरु जो नाणी आरम्भ परिग्गहा विरओ ।।

अर्थात्–जहां दया है वहां धर्म है । जिसमें दया का विधान नहीं है वह पन्थ, सम्प्रदाय या मार्ग धर्म कहलाने योग्य नहीं । कबीरदास भी कहते हैं–

जहाँ दया तहं धर्म है, जहां लोभ तहां पाप ।
जहां क्रोध तहां ताप है, जहां क्षिमा तहां आप ।।

आराध्य देव का क्या स्वरूप है ? इसका उत्तर यह है कि जिसमें अठारह दोष न हों वह देव पदवी का अधिकारी है । अठारह दोष इस प्रकार हैं–(१) मिथ्यात्व (२) अज्ञान (३) मद (४) क्रोध (५) माया (६) लोभ (७) रति (८) अरति (९) निद्रा (१०) शोक (११) असत्य भाषण (१२) चौर्य (१३) मत्सर्य (१४) भय

(१५) हिंसा (१६) प्रेम (१७) क्रीड़ा और (१८) हास्य । इन दोषों का अभाव हो जाने से आत्मिक गुणों का आविर्भाव हो जाता है । अतएव जिस आत्मा में पूर्ण ज्ञान और पूर्ण वीतरागता प्रकट हो गए हों, उसे ही देव कहते हैं । आदिनाथ, महावीर, राम, महापद्म आदि नाम कुछ भी हों, उनके गुणों में अन्तर नहीं होता । नाम तो संकेत के रूप में हैं । अठारह दोष दूसरी तरह से—१. अज्ञान, २. निद्रा ३–७ दानादि पांच अन्तराय ८. मिथ्यात्व ९. अव्रत १०. राग, ११. द्वेष १२. हास्य १३. रति १४. अरति १५. भय १६. शोक १७. जुगुप्सा १८. वेद (काम) इस प्रकार हैं । असल में तो गुण ही वन्दनीय हैं । जिसमें पूर्वोक्त दोषों के आत्यन्तिक क्षय से सर्वज्ञता एवं वीतरागता का पूर्ण विकास हो गया है, उसका नाम कुछ भी हो, देव के रूप में वह वन्दनीय है ।

गुरु वह है जिसने विशिष्ट तत्त्व ज्ञान प्राप्त किया हो और जो आरम्भ तथा परिग्रह से सर्वथा विरत हो गया हो । पापयुक्त कार्य-कलाप 'आरम्भ' कहलाता है और बाह्य पदार्थों का संग्रह एवं तज्जनित ममता को 'परिग्रह' कहते हैं । जिसे आत्मतत्त्व का समीचीन ज्ञान नहीं है, उसे शोधन करने की साधना का ज्ञान नहीं है, जो संसार की झंझटों से ऊब कर या किसी के बहकावे में आकर या क्षणिक भावुकता के वशीभूत होकर घर छोड़ बैठा है, वह गुरु नहीं है ।

यों तो ज्ञान अनन्त है, किन्तु गुरु कहलाने के लिए कम से कम इतना तो जानना चाहिए कि आत्मा का शुद्ध स्वरूप क्या है ? आत्मा किन कारणों से कर्म बद्ध होती है ? बन्ध से छुटकारा पाने का उपाय क्या है । धर्म-अधर्म, हिंसा-अहिंसा एवं हेय उपादेय क्या है ? जिसने जड़ और चेतन के पार्थक्य को पहचान लिया है, पुण्य-पाप के भेद को जान लिया है और कृत्य-अकृत्य को समझ लिया है, वह गुरु कहलाने के योग्य है बशर्ते कि उसका व्यवहार उसके ज्ञान के अनुसार हो :—अर्थात् जिसने समस्त हिंसाकारी कार्यों से निवृत्त होकर मोह-माया को तिलांजलि दे दी हो । जो ज्ञानी होकर भी आरम्भ-परिग्रह का त्यागी नहीं है वह सन्त नहीं है ।

अंबड़ नामक एक तापस था । वह सात सौ तापसों का नायक था । गेरुआ वस्त्र पहनता था । वह भगवान् महावीर के सम्पर्क में आया । उसने वस्तुतत्त्व को समझ लिया । उसका कहना था—जब तक मैं पूर्ण त्यागी न बन जाऊँ तब तक दुनिया से वन्दन करवाने योग्य नहीं हूँ । कम करूँ और अधिक दिखलाऊँ तो क्या लाभ ? ऐसा करने से तो आत्मा का पतन होता है । वह कन्द मूल फल खाता था, किन्तु उसमें हिंसा है ऐसा भी समझता था । वह मानता था कि कन्दमूल फल भक्षण में हिंसा अवश्य है । अंबड़ जल से दो बार स्नान करता था, मगर

उसने जल की मर्यादा करली थी । अदत्तादान का ऐसा त्यागी था कि दूसरे के दिये बिना पानी भी ग्रहण नहीं करता था ।

एक बार वह कहीं जा रहा था । सभी शिष्य उसके साथ थे । रास्ते में प्यास लगी । मार्ग में नदी भी मिली किन्तु जल ग्रहण करने की अनुज्ञा देने वाला कोई नहीं था । प्यास के मारे कंठ सूख गया, प्राण जाने का अवसर आ पहुँचा, फिर भी अदत्त जल ग्रहण नहीं किया । वह दुर्बल मनोवृत्ति का नहीं था । यद्यपि कहा जाता है 'आपात्काले मर्यादा नास्ति' अर्थात् विपदा आने पर मर्यादा भंग कर दी जाती है, परन्तु उसने इस छूट का लाभ नहीं लिया । अन्त में अनशन धारण करके समाधिमरणपूर्वक प्राण त्याग दिये, किन्तु प्रण का परित्याग नहीं किया । ऐसी दृढ़ मनोवृत्ति होनी चाहिए साधक की ।

साधना यदि देशविरति की है और उसे सर्वविरति की मानी जाय तो यह दृष्टिदोष है । जो ज्ञानी हो और आरम्भ तथा परिग्रह से विरत हो उसे गुरु बनाना चाहिए । साधना के मार्ग में आगे बढ़ने के लिए साधक के हृदय में श्रद्धा की दृढ़ता तो चाहिए ही, गुरु का पथ-प्रदर्शन भी आवश्यक है । गुरु के अभाव में अनेक प्रकार की भ्रमणाएँ घर कर सकती हैं जिनसे साधना अवरुद्ध हो जाती है और कभी-कभी विपरीत दिशा पकड़ लेती है ।

जो व्यक्ति आनन्द की तरह व्रतों को ग्रहण करता है, उसकी मानसिक दुर्बलता दूर हो जाती है और वस्तु के सही रूप को समझने की कमजोरी भी निकल जाती है ।

जैन सिद्धान्त की दृष्टि अत्यन्त व्यापक है । उसके उपदेष्टाओं की दृष्टि दिव्य थी, लोकोत्तर थी । अतएव सूक्ष्म से सूक्ष्म प्राणी भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं रह सके । उन्होंने अपने अनुयायियों को 'सत्त्वेषु मैत्रीम्' अर्थात् प्रत्येक प्राणी पर मैत्रीभाव रखने का आदेश दिया है और प्राणियों में त्रस तथा स्थावर जीवों की गणना की है । स्थावर जीवों में पृथ्वीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक आदि वे जीव भी परिगणित हैं जिन्हें अन्य धर्मों के उपदेष्टा अपनी स्थूल दृष्टि के कारण जीव ही नहीं समझ सके । विज्ञान का आज बहुत विकास हो चुका है, मगर जहां तक प्राणि शास्त्र का सम्बन्ध है, जैन दर्शन आज के तथाकथित विज्ञान से आज भी बहुत आगे है । जैन महर्षि अपनी दिव्य दृष्टि के कारण जिस गहराई तक पहुँचे हुए हैं, विज्ञान को वहाँ तक पहुँचने में अगर कुछ शताब्दियां और लग जाएँ तो भी आश्चर्य की बात नहीं । अभी तक स्थावर जीवों में से यह विज्ञान सिर्फ

वनस्पतिकायिक जीवों को समझ पाया है, चार प्रकार के शेष स्थावर-जीवों को समझना अभी शेष है।

परमाणु आदि अनेक जड़ पदार्थों के विषय में भी जैन साहित्य में ऐसी प्ररूपणाएँ उपलब्ध हैं जिन्हें आज वैज्ञानिक मान्यताओं से भी आगे की कहा जा सकता है । किन्तु इसके सम्बन्ध में यहां विवेचन करना प्रासंगिक नहीं ।

हाँ, तो जैनागम की दृष्टि से जीवों का दायरा बहुत विशाल है । उन सब के प्रति मैत्री भावना रखने का जैनागम में विधान किया गया है । जिसकी मैत्री की परिधि प्राणि मात्र हो उसमें संकीर्णता नहीं आ सकती । चाहे कोई निकटवर्ती हो अथवा दूरवर्ती सभी को अहित से बचाने की बात सोचना है । उसमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करना है । किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं समझना चाहिए कि किसी प्रकार के अनुचित साम्य को प्रश्रय दिया जाय । गुड़ और गोबर को एक-सा समझना समदर्शित्व नहीं है । जिनमें जो वास्तविक अन्तर हो, उसे तो स्वीकार करना ही चाहिए, मगर उस अन्तर के कारण राग-द्वेष नहीं करना चाहिए । विभिन्न मनुष्यों में गुणधर्म के विकास की भिन्नता होती है, समभाव का यह तकाज़ा नहीं है कि उस वास्तविक भिन्नता को अस्वीकार कर दिया जाय । क्षयोपशम के भेद से प्राणियों में ज्ञान की भिन्नता होती है । किसी में मिथ्याज्ञान और किसी में सम्यग्ज्ञान होता है । कोई सर्वज्ञता प्राप्त कर लेता है, कोई नहीं कर पाता । इस तथ्य को स्वीकार करना ही उचित है । सब औषधों को समान समझ कर किसी भी रोग में किसी भी औषध का प्रयोग करने वाला बुद्धिमान नहीं गिना जाएगा । तात्पर्य यह है कि समभाव वही प्रशस्त है जो विवेकयुक्त हो । विवेकहीन समभाव की दृष्टि गलत दृष्टि है । वृद्धता के नाते सेवनीय दृष्टि से एक साधारण वृद्ध में और वृद्ध माता-पिता में अन्तर नहीं है, परन्तु उपकार की दृष्टि से अन्तर है । माता-पिता का जो महान् उपकार है उसके प्रति कृतज्ञता का विशिष्ट भाव रहता ही है । इसे राग-द्वेष का रूप नहीं कहा जा सकता । यही बात अपने वन्दनीय देव और अन्य देवों के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए । दूसरों के प्रति द्वेष न रखते हुए अपने आराध्य देव के प्रति पूर्ण निष्ठा तथा श्रद्धा भक्ति रखी जा सकती है ।

आनन्द श्रावक ने इन सब बातों की जानकारी प्राप्त की । किन अपवादों से छूट रखनी है, यह भी उसने समझ लिया ।

साधु जगत् से निरपेक्ष होता है । किसी जाति, ग्राम या कुल के साथ उसका विशिष्ट सम्बन्ध नहीं रह जाता । साधना ही उसके सामने सब कुछ है । मगर गृहस्थ का मार्ग सापेक्ष है । उसे घर, परिवार, जाति, समाज आदि की अपेक्षा

रखनी पड़ती है । उसे व्यवहार निभाना होता है । उसका सम्बन्ध केवल श्रमणवर्ग, संघ और अपने भगवान्-आराध्य देव के साथ होता है । जनरंजन के स्थान पर जिनरंजन करना उसका लक्ष्य होता है । जिनरंजन के मार्ग से गड़बड़ाया कि उसके हृदय को बहुत क्षोभ होता है ।

कभी-कभी जीवन में एक दुविधा आ खड़ी होती है । हम दूसरे को राजी रखें अथवा उसका हित करें ? राजी रखने से उसका हित नहीं होता और हित करने जाते हैं तो वह नाराज होता है ? ऐसी स्थिति में किसे प्रधानता देनी चाहिए ? जिसके अन्तःकरण में तीव्र करुणा भाव विद्यमान होगा, एवं अपना स्वार्थ साधन जिसके लिए प्रधान न होगा, वह दूसरे को राजी करने के बदले उसके हित को ही मुख्यता देगा । हाँ, जिसे दूसरे से अपना मतलब गांठना है वह उसके हित का ध्यान न करके भी उसे राजी करने का प्रयत्न करता है, किन्तु जो निस्पृह है और लौकिक लाभ को तुच्छ समझता है, वह ऐसा नहीं करेगा । आवश्यकता होने पर डॉक्टर कड़वी दवा पिलाने में संकोच नहीं करता । भले ही रोगी को वह अप्रिय लगे तथापि उसका हित उसी में है ।

भद्रबाहु स्वामी के विषय में यही घटित हुआ । वे सब को राजी नहीं रख सके । उन्होंने हित की बात को ही प्रधानता दी । अन्य लोगों ने भी उनके निर्णय को स्वीकार किया । स्थूलभद्र चौदह पूर्वों के ज्ञाता हो गए । भद्रबाहु स्वामी ने स्थूलभद्र को चौदह पूर्वों के ज्ञाता के रूप में तैयार किया । व्यावहारिक दृष्टि से वे बृहत्कल्प के रचयिता कहे जाते हैं । व्यवहार सूत्र तथा दशाश्रुतस्कंध की रचना भी उन्होंने की ।

इतिहास अतीत के गहन अन्धकार में प्रकाश की किरणें फेंकने का प्रयास करता है । इतिहास के विषय में दुराग्रह को कतई स्थान नहीं होना चाहिए । आज जो सामग्री किसी विषय में उपलब्ध है, उसके आधार पर एक निष्कर्ष निकाला जाता है । कालान्तर में अन्य पुष्ट प्रमाण मिलने पर वह निष्कर्ष बदल भी सकता है । विभिन्न ग्रन्थों में मिलने वाले उल्लेख, स्वतन्त्र कृतियां, प्रशस्तियां, शिलालेख, सिक्के आदि के आधार पर इतिहास की खोज की जाती है । इसके लिए बड़े पुरुषार्थ की आवश्यकता है । जैन परम्परा का इतिहास साहित्य एवं कला आदि सभी क्षेत्रों में महत्वपूर्ण है, पर जैन समाज ने उस ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है ।

धर्मदासजी महाराज का जन्म अठारहवीं शताब्दी में मध्यप्रदेश में हुआ किन्तु दुर्भाग्यवश उनकी कृतियां उपलब्ध नहीं हैं । उनके जन्मकाल का तथा माता-पिता का निर्विवाद उल्लेख भी नहीं मिलता । उनकी कृतियां कहां दबी पड़ी हैं, कहा नहीं जा

सकता। जिनके पास हस्तलिखित ऐतिहासिक सामग्री है उन्हें चाहिए कि वे उसे प्रकाश में लावें और अन्वेषण कार्य को आगे बढ़ाने में सहायक बनें।

जब आधुनिक काल के सन्तों का भी हम प्रामाणिक परिचय प्राप्त नहीं कर पाये तो प्राचीनकाल के सन्तों का तथ्यपूर्ण इतिहास खोज पाना कितना कठिन है, इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

भद्रबाहु स्वामी आदि प्राचीनकालिक महर्षि हैं। उनके सम्बन्ध में पूर्ण प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत होना चाहिए। जहां तक भंद्रबाहु का सम्बन्ध है, निःसंकोच कहा जा सकता है कि शासन सेवा में उनका योगदान असाधारण रहा है। स्थूलभद्र ने उत्कृष्ट संयमपालन का उज्ज्वल उदाहरण हमारे समक्ष प्रस्तुत किया। आचार्य संभूतिविजय के चरणों में रहकर उन्होंने अपूर्व काम विजय की। सिंह का रूप धारण करने की एक बार भूल अवश्य हो गई किन्तु दूसरी बार कभी भूल नहीं की।

भद्रबाहु के पश्चात् कौन उनका उत्तराधिकारी हो ? इस प्रश्न पर जब विचार हुआ तो स्वयं भद्रबाहु ने कहा–"स्थूलभद्र ही उत्तराधिकार प्राप्त करने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है। उनसे बढ़कर कोई परमयोगी नहीं है।" इस प्रकार भद्रबाहु के बाद स्थूलभद्र ही उनके उत्तराधिकारी हुए। उन्होंने बड़ी योग्यता के साथ जिन शासन की सेवा की। यौगिक साधना के साथ श्रुत की भी साधना की।

कहाँ राजसी जीवन वाला स्थूलभद्र और कहाँ परमकामविजेता स्थूलभद्र ! वह अपने महान् प्रयत्न से कहाँ से कहाँ पहुँच गए। मनुष्य जब पवित्र चित्त और दृढ़ संकल्प लेकर ऊपर चढ़ने का प्रयत्न करता है तो सफलता उसके चरण चूमती है।

आज देश संकट में से गुजर रहा है। संकट भी साधारण नहीं है। प्रत्येक देशवासी को यह संकट महसूस करना चाहिए और उससे किसी भी प्रकार का लाभ उठाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। यह काल मुख्य रूप से 'राष्ट्र धर्म' के पालन का है। देश की रक्षा पर हमारे धर्म, संस्कृति, साहित्य और शासन की रक्षा निर्भर है। अतएव इस ओर ध्यान रखकर शान्ति और धैर्य के साथ परिस्थिति का सामना करना योग्य है। संकट को दूर करने अथवा कम करने में जो जिस प्रकार का योग दे सकता हो, उसे वह देना चाहिए। ऐसे प्रसंग पर मिष्टान्न आदि का सेवन न करना, अनावश्यक खर्च न करना एवं विदेशी वस्तुओं का उपयोग न करना आवश्यक है। प्रत्येक देशवासी का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्र के संकट के समय हर तरह से अधिक से अधिक त्याग और बलिदान करे और अपनी आवश्यकताओं को कम करके संयत जीवन बनाने का प्रयत्न करे। ऐसा करने से अवश्य कल्याण होगा।

[७९]

निमित्त-उपादान

जीवन को साधना में लगाने के लिए निरन्तर प्रेरणा की आवश्यकता होती है। वह प्रेरणा आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की होनी चाहिए । संसार में जितने भी कार्य दृष्टिगोचर होते हैं, उनकी उत्पत्ति किसी भी एक कारण से नहीं होती, दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि कार्य का उत्पाद सामग्री से होता है । सामग्री का अर्थ है–उपादान एवं विविध निमित्त कारणों की समग्रता । निमित्त के अभाव में अकेले उपादान से कार्य नहीं होता और न उपादान के बिना निमित्त कारण से ही कार्य का होना संभव है । साधना-कार्य में भी यही व्यापक नियम लागू होता है ।

बाह्य कारण भी प्रायः अनायास नहीं मिलता, फिर भी उसका मिलना आसान है । किन्तु बाह्य कारण के द्वारा यदि अंतरंग कारण न मिला तो साधक अपना जीवन सफल नहीं बना सकेगा ।

साधना के क्षेत्र में अनेक बाह्य कारण उपयोगी होते हैं । साधक की योग्यता, रुचि, वातावरण आदि पर यह अवलम्बित रहता है कि कौन-सा कारण किसके लिए उपयोगी हो जाय । तथापि सत्संग बाह्य कारणों में सबसे ऊँचा है । वीतराग के सत्संग का लाभ मिलना सौभाग्य की बात है, परन्तु बाह्य कारण ही सब कुछ नहीं है । बाह्य कारण के मिलने से सभी को लाभ हो जाएगा, ऐसी बात नहीं है। बाह्य कारण के साथ आन्तरिक कारण को भी जागृत करना अनिवार्य रूप से आवश्यक है ।

गृहस्थ आनन्द को बाहरी कारण मिला । परम प्रकृष्ट पुण्योदय से वह साक्षात् तीर्थंकर देव का सान्निध्य प्राप्त कर सका । उसका अन्तःकरण पहले से कुछ बना हुआ था और कुछ भगवान् महावीर ने तैयार कर दिया । भगवान् की देशना का उस पर गहरा प्रभाव पड़ा ।

अन्तःकरण वस्तुतः भीतर की योग्यता है । उस योग्यता को चमकाने वाला बाह्य कारण है । आन्तरिक योग्यता के अभाव में बाह्य कारण अकिंचित्कर होता है। यदि मिट्टी में घर निर्माण करने की अर्थात् घटपर्याय के रूप में परिणत होने की योग्यता नहीं है तो लीद, पानी, कुंभकार, चाक आदि विद्यमान रहने पर भी घट नहीं बनेगा । कुंभकार चाक को घुमा-घुमाकर हैरान हो जाएगा मगर उसे सफलता प्राप्त न होगी । चाक में कोई दोष नहीं है, कुंभकार के प्रयत्न में भी कोई कमी नहीं है, मगर मिट्टी में वह योग्यता नहीं है । आगरे के पास की मिट्टी से जैसा अच्छा घड़ा बनेगा, वैसा राजस्थान की मिट्टी से नहीं । यह नित्य देखी जाने वाली वस्तु का उदाहरण है ।

अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना आत्मा का मूल कार्य है । द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा सत्संग और स्वाध्याय निमित्त कारण हैं । इनसे आत्मा में शक्ति आ जाती है ।

तार कमजोर हो गया था । वह गिरने वाला ही था कि उस पर कौवा बैठ गया । लोग कौवा को निमित्त कहने लगे । किन्तु तार में यदि कच्चापन न होता तो कौवा क्या कर सकता था ? सूरदास तथा भक्त विल्वमंगल को क्या वेश्या चिन्तामणि जगा सकी थी ? वास्तव में वैराग्य की भूमिका उनके हृदय में बन चुकी थी, रही-सही कमजोरी चिन्तामणि की उक्ति ने पूरी कर दी । सामान्यतः विल्वमंगल और सूरदास के वैराग्य के लिए लोग चिन्तामणि को निमित्त मानते हैं परन्तु तथ्य यह है कि आत्मा में यदि थोड़ी जागृति हो तो सामान्य निमित्त मिलने से भी पूरी जागृति उत्पन्न हो जाती है ।

प्रभु महावीर का निमित्त पाकर आनन्द का उपादान जागृत हो गया । जब साधक की मानसिक निष्ठा स्थिर हो जाती है तो वह अपने को व्रतादिक साधना में स्थिर बना लेता है । किन्तु साधना के क्षेत्र में देव और गुरु के प्रति श्रद्धा की परम आवश्यकता है । जिसको हम देव और गुरु के रूप में स्वीकार करना चाहें, पहले उनकी परीक्षा कर लें । जो कसौटी पर खरा उतरे उससे अपने जीवन में प्रेरणा ग्रहण करें । इसका अर्थ यह नहीं कि दूसरों के प्रति किसी प्रकार की द्वेष भावना रखी जाय । साधक भूतमात्र के प्रति मैत्रीभाव रखता है परन्तु जहाँ तक वन्दनीय का प्रश्न है, जिसने अध्यात्ममार्ग में जितनी उन्नति की है, उसी के अनुरूप वह वन्दनीय होगा । गुरु के रूप में वही वन्दनीय होते हैं, जिन्होंने सर्व आरंभ और सर्व परिग्रह का त्याग कर दिया हो और जिनके अन्तर में संयम की ज्योति प्रदीप्त हो। जिन्होंने किसी भी पंथ या परंपरा के साधु का वाना पहना हो परन्तु जो संयमहीन हों वे वन्दनीय नहीं होते। जिसकी आत्मा मिथ्यात्व के मैल से मलिन है और

चित्त कामनाओं से आकुल है, उसको सच्चा श्रावक वन्दनीय नहीं मान सकता। खाने-पीने की सुविधा और मान-सम्मान के लोभ से कई साधु का वेष धारण कर लेते हैं पर उतने मात्र से ही वे वन्दना के योग्य नहीं होते हैं ।

इसी प्रकार जिसमें अठारह दोष विद्यमान नहीं हैं, जो पूर्ण वीतराग, निष्काम, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी परमात्मा है, वही देव के रूप में स्वीकरणीय, वन्दनीय और महनीय है । जिनमें राग, द्वेष, काम आदि विकार मौजूद हैं, वे आत्मार्थी साधक के लिए कैसे वन्दनीय हो सकते हैं ? राग-द्वेष आदि विकार ही समस्त संकटों, कष्टों और दुःखों के मूल हैं । इन्हें नष्ट करने के लिए ही साधना की जाती है । ऐसी स्थिति में साधना का आदर्श जिस व्यक्ति को बनाया गया हो और अगर वह स्वयं इन विकारों से युक्त हो तो उससे हमारी साधना को कैसे प्रेरणा मिलेगी ?

कोई किसी में देवत्व का आरोप भले करले, कलम और तलवार की पूजा भले कर ली जाय, परन्तु वे देव की पदवी नहीं पा सकते । यह पूजा तो कोरा व्यवहार है । अगर कोई व्यक्ति परम्परा या प्रवाह के कारण अथवा भय की भावना से देव की पूजा करता है तो उसकी समझ गलत है । हम जिस शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करना चाहते हैं, उसे जिन्होंने प्राप्त कर लिया है, जिस पथ पर हम चल रहें हैं उस पर चलकर जो मंजिल तक पहुँच चुके हैं, वे ही हमारे लिए अनुकरणीय हैं। हम उन्हीं को आदर्श मानते हैं और उन्हीं के चरणचिन्हों पर चलते हैं । यही हमारी आदर्शपूजा समझो या देवपूजा समझ लो ।

ज्ञानबल के अभाव में मानव तत्व को नहीं समझ पाता । बहुत लोग समझते हैं कि हमारे सुख-दुःख का कारण दैवी कृपा या अकृपा है । अर्थात् देव के रोष से दुःख और तोष से सुख होता है । पर इस समझ में भ्रान्ति है । यदि आपके पापकर्म का उदय नहीं है तो दूसरा कोई भी आपको दुःखी नहीं बना सकता। सुख हो या दुःख, उसका अन्तरंग कारण तो हमारे भीतर ही विद्यमान रहता है

जहाँ बीज होता है वहीं अंकुर उगता है, इस न्याय के अनुसार जिस आत्मा में सुख-दुःख की उत्पत्ति होती है, उसीमें उसका कारण होना चाहिए । इससे यही सिद्ध होता है कि अपना शुभाशुभ कर्म ही अपने सुख-दुःख का जनक है । आचार्य अमितगति कहते हैं–

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ।।

अर्थात् आत्मा ने पूर्वकाल में जो शुभ और अशुभ कर्म उपार्जित किये हैं, उन्हीं का शुभ और अशुभ फल उसे प्राप्त होता है। अगर आत्मा दूसरे के द्वारा प्रदत्त फल को भोगने लगे तो उसके अपने किये कर्म निरर्थक-निष्फल हो जाएँगे।

हे आत्मन्! तू सब प्रकार की भ्रान्तियों को त्याग कर सत्य तत्व पर श्रद्धा कर। तुझे कोई भी दूसरा सुखी या दुःखी नहीं बना सकता। तू भ्रम के वशीभूत होकर पर को सुख-दुःखदाता समझता है। इस भ्रम के कारण तेरी बहुत हानि होती है। जिसके निमित्त से सुख प्राप्त होता है उसीको तू सुखदाता समझकर उस पर राग करता है और जिसके निमित्त से दुःख प्राप्त होता है उसे दुःखदाता समझकर उस पर द्वेष धारण करता है। राग-द्वेष की इस भ्रमजनित परिणति से आत्मा मलिन होती है। इसके अतिरिक्त इससे चित्त को अशान्ति होती है और अनेक प्रकार के अनर्थ भी उत्पन्न होते हैं। तू दूसरों को अपना शत्रु मान कर उनसे बदला लेने का प्रयत्न करता है। इससे आत्मा में अशुद्धि की एक लम्बी परम्परा चल पड़ती है।

इसके विपरीत, जिसने इस सचाई को समझ लिया है कि आत्मा स्वयं ही अपने सुख-दुःख का निर्माता है, वह घोर से घोर दुःख का प्रसंग उपस्थित होने पर भी, अपने आपको ही उसका कारण समझ कर समभाव धारण करता है और उसके लिए किसी दूसरे को उत्तरदायी नहीं ठहराता। आगम में भी स्पष्ट कहा गया है–

अप्पा कत्ता विकत्ताय, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ।। (उत्तराध्ययन, अ. २०, गाथा ३७)

आत्मा ही अपने सुख-दुःख का कर्त्ता और हर्त्ता है और आत्मा ही अपनी मित्र व शत्रु है।

तात्पर्य यह है कि यदि पापकर्म का उदय न हो तो दूसरा कोई भी आपको कष्ट नहीं दे सकता, अतएव बहिर्दृष्टि को त्याग कर अन्तर्दृष्टि को अपनाओ और बाह्य निमित्त को ही सब कुछ न समझो।

आंधी के समय साधारण फूस से आंख जाते-जाते बचती है तो फूस को देवता नहीं माना जा सकता।

सरागी देवों का असम्मान नहीं करना है, परन्तु उनसे मांगना भी नहीं है। देवाधिदेव के चरणों में वन्दन किया जाय तो देवों का प्रसन्न हो जाना सामान्य बात है। सरागी देवों को वन्दन, नमन, उनसे आलाप, संलाप, आदान और प्रदान, ये छह बातें नहीं करनी चाहिए।

श्रमणोपासक आनन्द प्रभु महावीर के समक्ष कहता है–"मैं अपने जीवन में विशुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहता हूँ।" दर्शन में अशुद्धि होने से बुद्धि की वास्तविक निर्णायिका शक्ति समाप्त हो जाएगी। वह वन्दनीय और अवन्दनीय को क्या समझ सकेगा ? आनन्द चाहता है कि मेरी बुद्धि में निर्णायक शक्ति और स्वरूप में निश्चलता आ जाए। वह बुद्धि की इस शक्ति पर पर्दा नहीं डालना चाहता।

जिनका व्यवहार शुद्ध न हो, जिनका आचार शुद्ध न हो, उनके साथ लेन-देन करना व्रती श्रावक के लिए उचित नहीं है। व्यक्ति की योग्यता, शील-स्वभाव, किन उपायों से वह द्रव्य उपार्जन करता है, आदि की जाँच करके लेन-देन किया जाना चाहिए। जो व्यवहार में ऐसा ध्यान रखेगा, वह आध्यात्मिक क्षेत्र में क्यों नहीं सजग रहेगा ?

पारमात्मा की आराधना शान्ति प्राप्त करने के लिए की जाती है मन की आकुलता यदि बनी रही तो शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? गलत तरीके से आया धन मन को अशान्त बना देगा, अतएव साधक अर्थार्जन के लिए किसी प्रकार का अनैतिक कार्य न करे। न्याय नीति से ही धनोपार्जन करना श्रावक का मूलभूत कर्त्तव्य है।

साधक के लिए विचारों की शुद्धि और अपरिग्रह की बुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। विचार शुद्धि से वह देव, गुरु, धर्म संबंधी विवेक प्राप्त करेगा और उनके विषय में निश्चल स्थिति प्राप्त कर लेगा। अपरिग्रह की भावना से हाथ लम्बे नहीं करेगा। जिसके व्यवहार में ये दोनों तत्त्व नहीं होंगे, जिसका व्यवहार बेढंगे तौर पर चलेगा, वह शान्ति नहीं पाएगा।

इतना सम्यग्ज्ञान आवश्यक होता है। अन्य ज्ञान की कमी हो तो काम चल सकता है, परन्तु जीवन बनाने का ज्ञान न हो तो जीवन सफल नहीं हो सकता। ज्ञेय विषय अनन्त हैं और एक-एक पदार्थ में अनन्त-अनन्त गुण और पर्याय हैं। ज्ञान का पर्दा पूरी तरह हटे बिना उन सबको जानना संभव नहीं है। परन्तु हमें सर्वप्रथम जीवन की कला का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। उसे प्राप्त करने में अधिक समय नहीं लगता। अगर आपको जीवन के उत्तम कलाकार गुरु का सान्निध्य मिल गया तो उसे पाने में विशेष कठिनाई भी नहीं होती। बस, भीतर जिज्ञासा गहरी होनी चाहिए। जीवन की कला का ज्ञान प्रयोजन भूत ज्ञान है और उसे पा लिया तो सभी कुछ पा लिया। जिसने उसे नहीं पाया उसने और सब पा लेने पर भी कुछ भी नहीं पाया।

जीवन-कला का ज्ञान न होता तो स्थूलभद्र काम पर विजय प्राप्त करके वेश्या रूपकोषा को श्राविका नहीं बना पाते । उस समय उन्हें पूर्वश्रुत का ज्ञान अवश्य नहीं था, मगर जीवन की कला को उन्होंने भलीभाँति अधिगत कर लिया था। उसी के सहारे वे आगे बढ़ सके और बड़ी से बड़ी सफलता प्राप्त कर सके ।

रूपकोषा को जीवन की कला प्राप्त करने में स्थूलभद्र का अनुकूल निमित्त मिल गया । कई लोग समझते हैं कि निमित्त कुछ नहीं करता, केवल उपादान ही कार्यकारी है । मगर यह एकान्त युक्ति और अनुभव से बाधित है । निमित्त कारण कुछ नहीं करता तो उसकी आवश्यकता ही क्या है ? निमित्त कारण के अभाव में अकेले उपादान से ही कार्य क्यों नहीं निष्पन्न हो जाता ? उदाहरण के लिए कर्मक्षय को ही लीजिए । कर्मक्षय या मोक्ष का उपादान कारण आत्मा है, अगर आत्मा के द्वारा ही कर्मक्षय होना है तो फिर प्रत्येक आत्मा मुक्त हो जानी चाहिए । आत्मा अनादिकालीन है, उसे अब तक संसार-अवस्था में क्यों रहना पड़ रहा है ?

कहा जाता है कि निमित्त कारण करता कुछ नहीं है, फिर भी उसकी उपस्थिति आवश्यक है । मगर इस कथन में विशेष तथ्य नहीं है । जो कुछ भी नहीं करता, प्रथम तो उसे निमित्त कारण ही नहीं कहा जा सकता । कदाचित् कहा भी जाय तो उसकी उपस्थिति की आवश्यकता ही क्या है ? कुछ न करने वाले पदार्थ की उपस्थिति यदि आवश्यक है तब तो एक कार्य के लिए संसार के सभी पदार्थों की उपस्थिति आवश्यक होगी और उनकी उपस्थिति होना संभव न होने से कोई कार्य ही नहीं हो सकेगा ।

अनेकान्त सिद्धान्त का अभिमत यह है कि उपादान और निमित्त दोनों कारणों के सुमेल से कार्य की निष्पत्ति होती है । निमित्त कारण मिलने पर भी उपादान की योग्यता के अभाव में कार्य नहीं होता और उपादान की विद्यमानता में भी यदि निमित्त कारण न हो तो भी कार्य नहीं होता ।

शास्त्र की बात जो चल रही है, उसके सुनाने में मैं भी निमित्त हूँ और मेरे सुनाने में आप निमित्त हैं । घड़ी भर पहले भले ही कुछ दूसरी लहरें आपके चित्त में उठती रही हों किन्तु आगमवाणी का निमित्त पाकर कुछ प्रशस्त भावना आपके मन में आई होगी । मगर मूल कारण उपादान है जो छिपा हुआ है ।

महामुनि भद्रबाहु के साथ स्थूलभद्र की ज्ञानाराधना की चर्चा पिछले दिनों से चल रही है । ज्ञानामृत को वितरण करते-करते उन्होंने देहोत्सर्ग किया । श्रुत के बीज आज जो उपलब्ध हैं, वे उनकी ज्ञानाराधना का मधुर फल है । समाधिमरणपूर्वक महामुनि भद्रबाहु ने अपनी जीवन-लीला समाप्त की । उन्होंने श्रुतकेवली का पद प्राप्त

किया था । ७६ वर्ष की समग्र आयु पाई । स्थूलभद्र उनसे अधिक दीर्घजीवी हुए । उनकी आयु ९९ वर्ष की हुई । भद्रबाहु के पश्चात् ४५ वर्ष तक स्थूलभद्र ने जैन संघ का नेतृत्व किया । अपनी विमल साधना से साधु-साध्वी वर्ग को संयम के पथ पर चलाते हुए कुशलतापूर्वक उन्होंने शासन का संचालन किया । जिनशासन में वह काल परम्परा भेदों या गच्छ भेदों का नहीं था ।

दस पूर्वों के ज्ञाता को वादी और चौदह पूर्वों के ज्ञाता को श्रुतकेवली कहा जाता है । श्रुतकेवली भद्रबाहु के संबंध में काफी अन्वेषण किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त एक भद्रबाहु दूसरे भी हुए हैं । वे निमित्त वेत्ता भद्रबाहु माने गये हैं श्रुतकेवली के ज्ञान में निमित्तज्ञान भी उस ज्ञान के अन्तर्गत रहता है, परन्तु श्रुतकेवली उसे प्रकट नहीं करते ।

भद्रबाहु के साथ चन्द्रगुप्त का संबंध बतलाया जाता है । चंद्रगुप्त भी एक महापुरुष हो गए हैं ।

आज हमें श्रुत का जो भी अंश उपलब्ध है, वह इन्हीं सब महामनीषी आचार्यों की ज्ञानाराधना का सुफल है । इन महान् आत्माओं ने उस युग में श्रुत का संरक्षण किया जब लेखन की परम्परा हमारे यहाँ प्रचलित नहीं हुई थी । आज तो अनेकों साधन उपलब्ध हैं और श्रुत सभी के लिए सुलभ है । ऐसी स्थिति में हमारा कर्त्तव्य है कि हम इस श्रुत का श्रद्धा और भक्ति के साथ अध्ययन करें, दूसरों के अध्ययन में सहायक बनें और ऐसा करके अपने जीवन को ऊँचा उठावें । ज्ञातव्य विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, मगर जो उपादेय है आचरणीय है, उस पर आचरण करें और जो त्याज्य है उसका त्याग करें । ज्ञान हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकता है । वह भाव-आलोक है, मगर प्रदर्शित पथ पर चलने से ही मंजिल प्राप्त की जा सकती है ।

दीपक के प्रकाश से एक छात्र ज्ञानार्जन कर सकता है और कुसंस्कारों वाला दूसरा छात्र उसी प्रकाश से चोरी भी कर सकता है । दीपक दोनों के लिए समान है, दोनों को आलोक देता है । भगवान् महावीर स्वामी द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर हम यथा शक्ति चलें और चलने की अधिक से अधिक शक्ति संचित करें, यही इस जीवन का सर्वश्रेष्ठ साध्य है । आत्मा के शाश्वत कल्याण का द्वार खोलने की अमोघ चाबी भगवान् की देशना है । कितने सौभाग्य और पुण्य के प्रभाव से हमें इसके श्रवण-मनन-आचरण करने की अनुकूल सामग्री आज मिली है । भव्य पुरुषो ! प्रमाद मत करो । निस्सार वस्तुओं के लिए और अमंगलकारी प्रवृत्तियों में ही समय न

बिता दो । जीवन की घड़ियां परिमित हैं और भविष्य अनन्त है । इस स्वल्प समय में अनन्त भविष्य को सुखमय बनाने में ढील न करो । जो वीतराग की वाणी को समझने का प्रयत्न करेगा और उसे जीवन में व्यवहृत करेगा, उसका अक्षय कल्याण होगा ।

---

[८०]

राष्ट्रीय संकट और प्रजाजन

संस्कृत भाषा में एक उक्ति प्रसिद्ध है–'चक्रवत्परिवर्त्तन्ते दुःखानि सुखानि च'। अर्थात् दुःख और सुख चक्र की तरह बदलते रहते हैं। संसारी जीव का जीवन दो चक्रों पर चलता है, कभी दुःख और कभी सुख की प्रबलता होती है। प्रत्येक प्राणी के लिये यह स्थिति अनिवार्य है, क्योंकि कर्म संक्षेप में दो प्रकार के हैं–शुभ और अशुभ। शुभ कर्म का परिणाम सुख और अशुभ कर्म का परिणाम दुःख होता है। जिस जीव ने जिस प्रकार के कर्मों का बन्ध किया है, उसे उसी प्रकार का फल भोगना पड़ता है।

कर्म के बन्ध और उदय का यह गोरखधंधा अनादि काल से चल रहा है। पूर्वबद्ध कर्मों का जब उदय होता है तो जीव उनके उदय के कारण राग-द्वेष करता है और राग-द्वेष के कारण पुनः नवीन कर्मों का बन्ध कर लेता है। इस प्रकार बीज और वृक्ष की अनादि परम्परा के समान रागादि विभाव-परिणति और कर्मबन्ध का प्रवाह अनादि काल से चला आ रहा है। अज्ञानी जीव इस तथ्य को न जानकर कर्मप्रवाह में बहता रहता है।

मगर ज्ञानी जनों की स्थिति कुछ भिन्न प्रकार की होती है। वे शुभ कर्म का उदय होने पर जब अनुकूल सामग्री की प्राप्ति होती है तब हर्ष नहीं मानते और अशुभ कर्म का उदय होने पर दुःख से विह्वल नहीं होते। दोनों अवस्थाओं में उनका समभाव अखण्डित रहता है। पूर्वोपार्जित कर्म को समभाव से भोग कर अथवा तपश्चर्या करके नष्ट करना और नवीन कर्मबन्ध से बचना ज्ञानी पुरुषों का काम है।

जब मनुष्य सुख की घड़ियों में मस्त होकर आसमान में उड़ने लगता है, नीति-अनीति और पाप-पुण्य को भूल जाता है और भविष्य को विस्मृत कर देता है तब वह अपने लिये दुःख के बीज बोता है। रावण यदि प्राप्त विभूति एवं सम्पदा

के कारण उन्मत्त न बनता और दुष्कर्म की ओर प्रवृत्त न होता तो उसे सर्वनाश की घड़ी देखने को न मिलती । जन, धन, सत्ता, शस्त्र, विज्ञान, बल आदि अनेक कारणों से मनुष्य को उन्माद पैदा होता है । यह उन्माद ही मनुष्य से अनर्थ करवाता है । वह अपने को प्राप्त सामग्री से दूसरों को दुःख में डालता है । उनके सुख में विक्षेप उपस्थित करता है । उसे पता नहीं होता कि दूसरों को दुःख में डालना ही अपने को दुःख में डालना है और दूसरे के सुख में बाधा पहुँचाना अपने ही सुख में बाधा पहुँचाना है । सुख में बेभान होकर वह नहीं सोच पाता कि ऐसा कार्य उसके लिए, मानवसमाज, देश एवं विश्व के लिए हितकारी है अथवा अहितकारी? इतिहास में सैंकड़ों घटनाएं घटित हुई हैं जबकि शासकों ने उन्मत्त होकर दूसरों पर आक्रमण किया है, यहां तक कि अपने मित्र, बन्धु और पिता पर भी आक्रमण करने में संकोच नहीं किया । महाभारत युद्ध क्या था ? भाई का भाई के प्रति अन्याय करने का एक सर्वनाशी प्रयत्न । श्रीकृष्ण जैसे पुरुषोत्तम शान्ति का मार्ग निकालने को उद्यत होते हैं, महाविनाश की घड़ी को टालने का प्रयत्न करते हैं, भारत को प्रचण्ड प्रलय की घोर ज्वालाओं से बचाने के लिए कुछ उठा नहीं रखते, किन्तु उनके प्रयत्नों को ठुकरा दिया जाता है । कौरव वैभव के नशे में बेभान न हो गए होते, उनकी मति यदि सन्तुलित रहती तो क्या वह दृश्य सामने आता कि भाई को भाई के प्राणों का अन्त करना पड़े और शिष्य को अपने कलाचार्य पर प्राणहारी आक्रमण करना पड़े? मगर शक्ति के उन्माद में मनुष्य पागल हो गया और उसने अपने ही सर्वनाश को आमंत्रित किया ! नीतिकार ने ठीक ही कहा है–

विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्तिः परेषां परिपीडनाय ।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतद्, ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ।।

किसी दुष्ट जन को विद्या प्राप्त हो जाती है तो उसकी जीभ में खुजली चलने लगती है । वह विवाद करने के लिए उद्यत होता है और दूसरों को नीचा दिखला कर अपनी विद्वत्ता की महत्ता स्थापित करने की चेष्टा करता है । वह समझता है कि दुनिया की समग्र विद्वत्ता मेरे भीतर ही समाई हुई है । मेरे सामने सब तुच्छ है, मैं सर्वज्ञ का पुत्र हूँ ! किन्तु ऐसा अहंकारी व्यक्ति दयनीय है, क्योंकि वह अपने अज्ञान को ही नहीं जानता ! जो सारी दुनिया को जानने का दंभ करता है, वह यदि अपने आपको ही नहीं जानता तो उससे अधिक दया का पात्र अन्य कौन हो सकता है ? सत्पुरुष विद्या का अभिमान नहीं करता और न दूसरों को नीचा दिखा कर अपना बड़प्पन जताना चाहता है ।

खल (दुष्ट) जन के पास लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से यदि धन की प्रचुरता हो जाती है तो वह मद में मस्त हो जाता है और धन के बल से कुकर्म

करके अपने लिए गड्ढा खोदता है । अगर उसे शक्ति प्राप्त हो जाय तो दूसरों को पीड़ा पहुँचाने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझता है ।

मगर सज्जन पुरुष की विद्या दूसरों का अज्ञानान्धकार दूर करने में काम आती है । उसका धन दान में सफल होता है । सज्जन पुरुष धन को दीनों, असहायों और अनाथों को साता पहुँचाने में व्यय करता है और इसी में अपने धन एवं जीवन को सफल समझता है । सज्जन की शक्ति दूसरों की रक्षा में लगती है । वह यह नहीं सोचता कि अमुक व्यक्ति अगर पीड़ा पा रहा है, किसी सबल के द्वारा सताया जा रहा है, तो हमें क्या लेना-देना है ? वह जगत् की शान्ति में अपनी शान्ति समझता है । देश की समृद्धि में ही अपनी समृद्धि समझता है और अपने पड़ौसी के सुख में ही अपने सुख का अनुभव करता है ।

शक्ति की सार्थकता इस बात में है कि उसके द्वारा दूसरों के दुःख को दूर किया जाय । अपनी ओर से किसी को पीड़ा न पहुँचाना अच्छी बात है किन्तु कर्त्तव्य की इतिश्री इसी में नहीं है । कर्त्तव्य का तकाजा यह है कि पीड़ितों की सहायता की जाय, सेवा की जाय और उनकी पीड़ा का निवारण करने में कोई कसर न रखी जाय ।

सत्पुरुष सदैव स्मरण रखता है कि मानव जाति एक और अखण्ड है तथा पारस्परिक एवं सौहार्द्र से ही शान्ति की स्थापना की जा सकती है । मनुष्य को चाहिए कि वह दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख माने और सब के प्रति यथोचित सहानुभूति रखे ।

लोग धर्म के वास्तविक स्वरूप और उद्देश्य को नहीं समझते । इसी कारण बहुतों की ऐसी धारणा बन गई है कि धर्म का सम्बन्ध इस लोक और इस जीवन के साथ नहीं है वह तो परलोक और जन्मान्तर का विषय है । किन्तु यह धारणा भ्रमपूर्ण है । धर्म का दायरा बहुत विशाल है । धर्म में उन सब कर्त्तव्यों का समावेश है जो व्यक्ति और समाज के वास्तविक मंगल के लिए हैं, जिनसे जगत् में शान्ति एवं सुख का प्रसार होता है । धर्म मनुष्य के भीतर घुसे हुए पिशाच को हटा कर उसमें देवत्व को जागृत करता है । वह भूतल पर स्वर्ग को उतारने की विधि बतलाता है । धर्म कुटुम्ब, ग्राम, नगर, देश और अखिल विश्व में सुखद वातावरण के निर्माण का प्रयत्न करता है । आज दुनिया में यदि कुछ शिव, सुन्दर एवं श्रेयस्कर है तो वह धर्म की ही मूल्यवान देन है ।

धर्म की शिक्षा अगर सही तरीके से दी जाय तो किसी प्रकार के संघर्ष, वैमनस्य या विग्रह को अवकाश नहीं रह सकता । थोड़ी देर के लिए कल्पना कीजिए

उस विश्व की जिसमें प्रत्येक मनुष्य दूसरों को अपना सखा समझता हो, कोई किसी को पीड़ा न पहुँचाता हो बल्कि परपीड़ा को अपनी ही पीड़ा मान कर उसके प्रतिकार के लिए सचेष्ट रहता हो, प्रत्येक व्यक्ति संयममय जीवन बना कर अपने सद्गुणों के विकास में निरत रहता हो और अपनी-परायी मुक्ति के लिए यत्नशील हो । ऐसा विश्व कितना सुन्दर, कितना सुखद और कितना सुहावना होगा ! धर्म ऐसे ही विश्व के निर्माण की प्रेरणा युग-युग से देता आ रहा है ।

धर्मशास्त्र शिक्षा देता है कि जिन वस्तुओं के लिए तू लड़ता है और दूसरों का अधिकार छीनता है, वे सारी वस्तुएँ नाशवान् हैं । जो आज तेरे हाथ में है, उसका ही पता नहीं तो बलपूर्वक छीनी हुई परायी वस्तु कहाँ तक स्थायी रह सकेगी? जो दूसरे को सताएगा वह हत्यारा कहलाएगा और सदा भय से पीड़ित रहेगा । उसके चित्त में सदैव धुकपुक रहेगी कि दुश्मन मुझ पर कहीं हमला न कर दे ! कोई नया शत्रु पैदा न हो जाय । वह लड़कर और लड़ाई में विजयी होकर भी शान्ति से नहीं रह सकता । एक शत्रु को समाप्त करने के प्रयत्न में वह सैकड़ों नवीन शत्रु खड़े कर लेगा । न स्वयं चैन से रह सकेगा और न दूसरों को चैन से रहने देगा। शत्रुता ऐसी पिशाचिनी है कि जो मर-मर कर भी पुनः पुनः जीवित होती रहती है और जिसका मूलोच्छेद कभी नहीं होता । इस कारण धर्मशास्त्र कहता है कि शान्ति और सुख का मार्ग यह नहीं है कि किसी को शत्रु समझो और उसको समाप्त करने का प्रयत्न करो; सच्चा मार्ग यह है कि अपने मैत्रीभाव का विकास करो और इतना विकास करो कि कोई भी प्राणधारी उसके दायरे से बाहर न रह जाय । किसी को शत्रु न समझो और न दूसरों को ऐसा अवसर दो कि वे तुम्हें अपना शत्रु समझें ।

जो बात व्यक्तियों के लिए है वही समाज जाति व देशों के लिए भी समझना चाहिए । विस्मय का विषय है कि आज के युग में भी एक देश के सूत्रधार दूसरे देश के साथ युद्ध करने को तत्पर हो रहे है । पराधीन देश आज स्वाधीन होते जा रहे हैं, सदियों की राजनैतिक गुलामी खत्म हो रही है और साम्राज्यवाद अपनी अन्तिम घड़ियां गिन रहा है । ऐसी स्थिति में क्या अब यह संभव है कि कोई देश किसी अन्य देश की स्वाधीनता को समाप्त कर उस पर अधिक समय तक अपना प्रभुत्व कायम रख लेगा ?

आज का युद्ध कितना महँगा पड़ता है, यह किसी से छिपा नहीं है । पूर्व-काल में सीमित तरीके से युद्ध होता था । उसमें सेना ही सेना के साथ लड़ती थी और उस लड़ाई में भी कतिपय सर्वसम्मत नियम होते थे । सर्वनाश के आज जैसे साधन भी उस समय नहीं थे । मगर आज सैनिक और नागरिक सभी युद्ध की

ज्वालाओं में भस्म होते हैं और थोड़ी ही देर में घोर प्रलय का दृश्य उपस्थित हो जाता है । ऐसी स्थिति में युद्ध की बात कहना और किसी पर युद्ध थोपना बड़ी से बड़ी मूर्खता है ।

संसार के कतिपय शान्ति प्रेमियों ने इस बुराई की गहराई को समझा है । उन्होंने आवाज बुलन्द भी की है कि युद्ध बंद करो, निशस्त्रीकरण को अपनाओ और संयुक्तराष्ट्र संघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के द्वारा अपने मतभेदों को दूर करो । मगर यह आवाज अभी तक कारगर साबित नहीं हो सकी । इसके अनेक कारण हैं। प्रथम तो कुछ लोग शान्ति में विश्वास ही नहीं करते और वे सदैव लड़ने की कोशिशें करते रहते हैं । दूसरे संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी जिम्मेवार संस्था को जैसा निष्पक्ष और न्यायशील होना चाहिए, वह वैसी नहीं है । वह भी बड़े राष्ट्रों के स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण से संचालित होती है । इस कारण सच्चा न्याय करने में असफल रही है। मगर इन कारणों के अतिरिक्त सबसे बड़ा जो कारण है, वह मैं मानता हूँ कि धर्मभावना की कमी है । कोई भी राजनैतिक समाधान तब तक स्थायी और कार्यकारी नहीं हो सकता जब तक कि उसे धार्मिक रूप में मान्य न किया जाय । राजनैतिक समाधान दिमाग को ही प्रभावित करता है; जब कि धार्मिक समाधान आत्मा को स्पर्श करता है और इसी कारण उसका प्रभाव स्थायी होता है । हृदय की शुद्धि के बिना बाहर का कोई भी प्रयास सफल नहीं हो सकता । विश्वशान्ति के अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्नों के बावजूद लड़ाइयां हो रही हैं और होती रहेंगी । उनके रुकने का एक ही अमोघ उपाय है और वह यही है कि मानव हिंसा को ईश्वर के आदेश के रूप में निषिद्ध माने और अहिंसा एवं पारस्परिक सहयोग को धार्मिक विधान मान कर हृदय से उसको स्वीकार करे ।

मनुष्य को चाहिए कि वह आन्तरिक वासना को शान्त करे, ऊपर से ही शान्ति की बातें न करे । मैत्री के कोरे नारों से काम नहीं चल सकता, अन्तर्तर में मित्रता की भावना उत्पन्न होनी चाहिए । शिक्षा पद्धति में नीति और धर्म का समावेश हुए बिना यह उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता ।

दूसरे के प्रति प्रेम का भाव न हो, स्वार्थ छल-कपट और रोष ही रोष हो तो विद्वेष की ही आग भड़केगी । भारत की संस्कृति विश्वबन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत है, मगर विदेशी प्रभाव से यहाँ की शिक्षा में परिवर्तन हो गया है । चीनी यात्रियों (स्वेन सांग, फाहियान आदि) ने अपने यात्रा विवरणों में लिखा है कि मगध राज्य में मकानों पर ताला लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती । इस बात से दूसरे देशों को आश्चर्य हुआ । उन यात्रियों को बतलाया गया कि भारत में चोरी की

कहानियाँ सुनी जाती हैं परन्तु भारतीय चोरी नहीं करते । यात्रियों को इस बात पर विश्वास नहीं हुआ परीक्षा के लिए वे अपनी गठरी एक कुएँ के पास छोड़ कर आगे बढ़ गए । कोई राहगीर अपनी गठरी भूल गया है, यह कह कर लोगों ने गठरी राजकर्मचारियों के सुपुर्द कर दी । एक घुड़सवार राजकर्मचारी उस गठरी को लेकर चला और उन यात्रियों को सौंप दी । उसने यात्रियों को सावधान किया कि यात्रा में अपना सामान सँभाल कर रखना चाहिए । ताकि हवा-वर्षा-धूप आदि से अथवा इधर-उधर बिखर कर वह नष्ट न हो जाय । यात्री भारत की इस उच्च-कोटि की प्रामाणिकता को देखकर अत्यन्त प्रभावित हुए ।

आज सारा नक्शा बदल गया है । चोरी का माल कदाचित् मिल जाए तो माल के असली मालिक को उसे हस्तगत करने में भी कठिनाई होती है, पुलिस में पंचनामा आदि कई झंझटें करनी पड़ती हैं । लोगों को एक-दूसरे का विश्वास नहीं रहा है । यात्रा के समय जेबों में पैसा सुरक्षित नहीं रहता । प्रत्येक वर्ग में अप्रामाणिकता बढ़ गई है । रिश्वत, चोरबाजारी आदि बुराइयाँ, जो देश को अधःपतन की ओर ले जाने वाली हैं, बढ़ती जा रही हैं ।

सुख और दुःख के मूल दो कारण होते हैं—आन्तरिक और बाह्य । हवा लग जाना, खान-पान में गड़बड़ हो जाना दुःख के बाह्य कारण हैं; असातावेदनीय कर्म का उदय होना अन्तरंग कारण है । दुःख की रोक-थाम के लिए जैसे बाहरी उपाय किये जाते हैं, उसी प्रकार आन्तरिक उपाय भी किये जाने चाहिए । यदि अन्तर के कारण को दूर कर दिया गया तो बाह्य कारण अपने आप ही दूर हो जायेगा ।

युद्ध के वातावरण के रूप में देश पर जो संकट आया है, वह सामूहिक पाप का प्रतिफल है । सामूहिक कर्म के दूषित होने से करोड़ों लोगों के मन पर उसका असर पड़ रहा है । मोर्चे पर युद्ध करने वाले तो गिनती के सैनिक हैं परन्तु शासक, व्यवसायी, कृषक, मजदूर आदि सभी के मन में अशान्ति है, देश संकटग्रस्त है, अतएव सभी के चित्त पर दुःख की छाया होनी स्वाभाविक है । आक्रमण का मुकाबला करने का व्यवहारिक तरीका शक्ति से प्रतिरोध करना तो माना ही जाता है, किन्तु हमें आत्मपरीक्षण भी करना चाहिए कि हमारे भीतर कहीं गड़बड़ तो नहीं है ? पूर्वकाल में अकाल आदि संकट आने पर राजा लोग आत्म-शोधन करते थे । शासक अपनी त्रुटियों और स्खलनाओं का प्रतीकार करते थे ।

भारत को आज भी अपनी पुरानी संस्कृति से निर्वाह करना चाहिए । शासक वर्ग को आत्म-निरीक्षण करना चाहिए और अपनी त्रुटियों को तत्काल दूर कर

देना चाहिए। भारतीयों की सबसे बड़ी गलती यह है कि स्वाधीनता पाने के पश्चात् उन्होंने नैतिकता को एकदम विस्मृत कर दिया है। पश्चिम के प्रभाव में आकर भारत ने अपनी मौलिक मर्यादा और धर्मसंस्कृति को त्याग दिया है तथा भक्ष्य-अभक्ष्य, गम्य-अगम्य और पाप-पुण्य के विवेक को भुला दिया है। लोगों में लालच, तृष्णा और स्वार्थपरायणता बढ़ती जा रही है। अर्थलाभ ही मुख्य दृष्टिकोण बन गया है। इन सब कारणों से प्रामाणिकता गिर गई है तथा नैतिक दृष्टि से देश का पतन होता जा रहा है। इन सब बुराइयों को दूर किये बिना देश का सामूहिक जीवन समृद्ध और सुखमय नहीं बन सकता और इन बुराइयों को दूर करने का सर्वोत्तम उपाय देश-जाति आदि दस प्रकार के धर्म की शरण में जाना है।

धर्म की रक्षा करना अपनी रक्षा करना है और धर्म का विनाश करना आत्मविनाश को आह्वान करना है। नीतिकार ने ठीक ही कहा है–

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।

निस्सन्देह आज देश पर संकट के बादल मँडरा रहे हैं (उस समय चीन ने भारत पर आक्रमण कर दिया था–सम्पादक) परन्तु यह संकट भी वरदान सिद्ध हो सकता है यदि हम उससे सही शिक्षा लें। हमें इस संकट के समय धैर्य रखना है और इससे प्रेरणा लेनी है। अतीत की भूलों को दूर करना है और नवीन जीवन का सूत्रपात करना है। 'नवीन जीवन' कहने का कारण केवल यही है कि हम उस जीवन को भूल गये हैं, अन्यथा वह प्राचीन जीवन ही है जिसमें प्रत्येक वर्ग अपने-अपने धर्म का पालन करता था।

आज संकट की इन घड़ियों में देश के सभी राजनीतिक दल एक सूत्र में आबद्ध हो गए हैं। सभी वर्गों के नेता यह अनुभव करने लगे हैं कि एकता के द्वारा ही राष्ट्रीय संकट को सफलता के साथ पार किया जा सकता है। धर्म, जाति, प्रान्त, भाषा या किसी अन्य आधार से उत्पन्न कटुता के वातावरण को समाप्त कर बन्धुता, प्रीति और एकता की भावना का विकास किया गया तो देश का मनोबल बढ़ेगा और सारा संकट टल जायगा। यदि कोई देश परास्त होता है तो वह भीतर की गड़बड़ से परास्त होता है। जिस देश की जनता में हार्दिक एकता हो उसे कोई परास्त नहीं कर सकता। वह आक्रमणकारी को निकाल बाहर कर देगा।

किसी भी संगठन को शुद्ध बनाये रखने के लिए नैतिकता अनिवार्य रूप से आवश्यक है। कृषक, श्रमिक, शासक, व्यवसायी आदि सभी अपने-अपने कर्त्तव्य के प्रति प्रामाणिक रहें, अप्रामाणिकता और वैयक्तिक स्वार्थ को त्याग दें और उनमें

जागरण आ जाए तो देश के लिए अत्यन्त हितकर होगा । खास तौर से शासकवर्ग को सोचना है कि अनैतिक आचरण करने से और नैतिकता के प्रति उपेक्षा भाव रखने से क्या अनीति को बढ़ावा नहीं मिलेगा ? जनता चाहे जिस तरह से धर्नाजन करे, सरकार का खजाना भरना चाहिए; यह नीति आगे चलकर देश को रसातल में नहीं पहुँचा देगी ? क्या यह दुर्नीति सरकार के लिए ही सिरदर्द नहीं बन जाएगी ? आज नैतिकता की भावना को सजीव और साकार बनाना है यही सच्ची देशसेवा है। दिखावा करने का समय व्यतीत हो गया । भोग-विलास की वेला बीत गई है । देशवासियो ! अपने देश के महापुरुषों के जीवन, आदेश और उपदेश को याद करो । जीवन को संयममय और सादगीपूर्ण बनाओ । गृहस्थों के व्रतों एवं नियमों को पालो। खाद्यान्न की कमी है तो महीने में दो-चार उपवास करने का नियम ग्रहण करो । धर्मशास्त्र का विधान है कि प्रत्येक गृहस्थ को अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या या अपनी पसंद की किन्हीं भी तिथियों में अनशन करना चाहिए । यह धार्मिक नियम आज देश की सबसे जटिल समस्या का सरलता से समाधान कर सकता है । खाद्यान्न की कमी मांसभक्षण से पूरी करने की प्रेरणा देश को भारी खतरे में डाल देगी । एक बार मनुष्य के हृदय में जब निर्दयता और क्रूरता जाग उठती है तो वह दूसरे मनुष्यों के प्रति भी सदय नहीं रह सकता । अगर हम चाहतें हैं कि मनुष्य-मनुष्य का घातक न बने तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसके हृदय में करुणाभाव जागृत करें और करुणाभाव की जागृति के लिए प्राणिमात्र के प्रति दयावान् बनने के सिवाय अन्य कोई चारा नहीं है । जो पशुओं की हत्या करने में संकोच नहीं करेगा या मांसभक्षण करेगा, वह मनुष्यों के प्रति भी करुणाशील नहीं रह सकेगा । अतएव खाद्य-समस्या का समाधान धर्म के अनुकूल ही होना चाहिए । परिमित दिनों का अनशन (उपवास) उसका उत्तम उपाय है ।

यदि नागरिकों के व्यवहार में प्रामाणिकता आ जाय तो सरकारी कर्मचारियों की संख्या में भी कमी हो जाय और लाखों-करोड़ों का खर्च बच जाए और परिणामस्वरूप कर का भार भी कम हो जाय । शासनतंत्र को भी चाहिए कि वह जनता में प्रामाणिकता के प्रोत्साहन के लिए समुचित व्यवस्था करे । विविध प्रकार के व्यवसायी आज जो मिलावट कर रहे हैं उसके विषय में उन्हें मार्गदर्शन किया जाना चाहिए, जिससे कि वे वैसा न करें । व्यवसायियों को भी सन्मार्ग ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार प्रजा और शासकवर्ग के सम्मिलित प्रयास से प्रामाणिकता की सुदृढ़ भूमिका तैयार हो सकती है । इससे भ्रष्टाचार, घूसखोरी, मिलावट, काला बाजार आदि बुराइयाँ, जो देश के स्वास्थ्य के लिए क्षय के कीटाणुओं के समान हैं, नष्ट की जा सकती हैं । एक कवि ने कहा है–

वरं विभववन्ध्यतां सुजनभावभाजां नृणाम्, असाधु चरितार्जिता न पुनरुपार्जिता सम्पदः ।
कृशत्वमपि शोभते सहजमायतौ सुन्दरं, विपाकविरसा न तु श्वयथुसम्भवा स्थूलता ।।

धन की गरीबी बुरी नहीं है । पर दुष्कृत्यों के द्वारा उपार्जित की गई लक्ष्मी अच्छी नहीं है । परिणाम में सुन्दर स्वाभाविक कृशता में कोई बुराई नहीं है, मगर सूजन के कारण उत्पन्न होने वाली मोटाई श्रेयस्कर नहीं है । मधुमक्खियाँ काट लें और उससे शरीर फूल जाय तो क्या वह खुशी की चीज होगी ? नहीं, शरीर में सूजन आ जाने से चिन्ता होगी और अस्पताल भागना पड़ेगा । यह रोग है । इसी प्रकार अनीति से प्राप्त धन का मोटापन भी रोग है । कृशता शोभा देती है जो सहज है, परन्तु अनुचित मोटापन बीमारी की निशानी है ।

व्यापारी आदि सभी वर्ग अगर इस नीति को व्यवहार में लावें तो इस संकट के समय में स्वयं को तथा देश को भी निर्भय बना सकेंगे । पाप घटने से दुःख आप ही आप घट जाएँगे । दुःख को घटाने के लिए बाह्य उपाय भी किया जाय किन्तु अन्तरंग को भी सुधारा जाय; इससे दुःख का शीघ्र निकन्दन होगा । यह अनुभूत वाणी है, अटकलपच्चू की बात नहीं है ।

भारत की आत्मा सांस्कृतिक रूप में उज्ज्वल रही होती तो उसे पदाक्रान्त करने की सामर्थ्य किसी में नहीं होती । देश की पुण्य प्रकृति बढ़ेगी तो पाप घटेगा और पाप घटने से संताप भी अवश्य घटेगा । सिर्फ बाहर के उपायों से सन्ताप नहीं घटता । छल-बल वाले को जल्दी सफलता मिलती दीख पड़ती है, मगर वह ठोस और स्थायी नहीं होती । स्थायी विजय और शान्ति तो सुजन के साथ ही रहेगी। यद्यपि दुर्योधन को तात्कालिक लाभ दीख पड़ा, ऐसा प्रतीत हुआ कि वह सम्राट् बन गया है और युधिष्ठिर धर्म की रट लगाते हुए सर्वस्व गँवा कर जंगलों में भटक रहे हैं; किन्तु अन्तिम परिणाम क्या हुआ ? विजय युधिष्ठिर की हुई, कीर्त्ति युधिष्ठिर को प्राप्त हुई । दुर्योधन के छल-बल ने, अन्याय ने उसका और कौरववंश का सर्वनाश कर दिया ।

भारत अपनी संस्कृति पर सदा अडिग रहेगा । हंस अपनी वृत्ति को नहीं बदलता । वह मानसरोवर में रहता है । वह काक की देखादेखी नहीं करता । काक मानसरोवर के पास यदि पर्वत की चोटी पर बैठ जाय तो भी काक ही रहेगा । कहा है–

'स्वर्णाद्रिश्रृंगाग्रमधिष्ठितोऽपि काको वराकः खलु काक एव ।'

सुमेरु के शिखर पर बैठा हुआ काक भी आखिर काक ही रहता है ।

भारत की संस्कृति उच्चकोटि की, उदार और पवित्र है । उसने अपनी संस्कृति और नीति की पवित्रता के कारण ही कभी किसी पर आक्रमण नहीं किया। उसने विश्वशान्ति और विश्वहित की ही सदा कामना की है । इस नीति को बहुत लोग भारत की दुर्बलता समझते हैं, यह उनका भ्रम है । भारत की आत्मा दुर्बल नहीं है । वह आक्रमणकारी को सदैव करारा उत्तर देता रहा है और जो उससे टकराएगा, कभी सफल नहीं हो पाएगा ।

इसी विश्वास के साथ भारतीय प्रजा को अनैतिकता से बचना चाहिए और देश के गौरव के प्रतिकूल कोई कार्य नहीं करना चाहिए । अगर भारत की जनता अनैतिकता, अधार्मिकता और स्वार्थपरायणता से ऊपर उठेगी तो निश्चय समझिए कि संसार की कोई भी शक्ति उसे नीचा नहीं दिखा सकती । उसका गौरव सदा अक्षुण्ण रहेगा, उसकी प्रतिष्ठा सदा बढ़ती रहेगी और वह संसार को आदर्श राष्ट्रीय नीति का उज्ज्वल संदेश देता रहेगा ।

भारत की एक कमजोरी खाद्यान्न की कमी कही जाती है । यह कमी वास्तव में है या लालची लोगों ने, अधिक मुनाफा कमाने के उद्देश्य से अन्न का संग्रह करके उत्पन्न कर दी है, यह कहना कठिन है । लेकिन यदि वह वास्तविक है तो भी उसके प्रतीकार का उपाय है और ऐसा उपाय है जिसकी हिमायत हजारों-लाखों वर्षों से भारत के ऋषि-मुनि करते आए हैं । महीने में कुछ उपवास करने की भारतीय धार्मिक परम्परा रही है और कुछ लोग आज भी इसका पालन करते हैं। इसे व्यापक रूप दिया जाय तो सारी समस्या सहज ही हल हो जायगी । मगर खाद्यान्न की समस्या को हल करना उसका आनुषंगिक फल ही समझना चाहिए । वास्तव में उपवास का असली फल आत्मशुद्धि है । आत्मशुद्धि से शुभ भाव की वृद्धि होती है, आत्मिक शक्ति बढ़ती है और उससे जीवन में जागृति आती है । संसार के प्राणी मात्र को आत्मवत् मानने की प्रेरणा देने वाली भूमि इस प्रकार के उदात्त और पावन उपायों को अपना कर ही अपनी विशेषता एवं गुरुता कायम रख सकती है ।

दुःख की घड़ियों में मनुष्य को भय होता है । गांव-गांव, नगर-नगर और झौंपड़ी-झौंपड़ी में नास्तिक लोग भी सोचने लगे थे कि न जाने इस अष्टग्रही से क्या गज़ब होने वाला है ? लाखों का अन्न लुटाया गया, भजन-कीर्त्तन हुए । ये चीजें भय की भावना से हुईं । उस समय केवल आशंकित भय था, मगर आज वास्तविक भय उपस्थित है । हमारे नीतिकार कहते हैं–

तावद् भयस्य भेतव्यं, यावद् भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं वीक्ष्य, नरः कुर्याद्यथौचितम् ।।

भय जब उपस्थित हो जाय तो रोने और किनारा काटने से काम नहीं चल सकता । विपत्ति के समय धीरज नहीं खोना चाहिए । धीरज खो देना अनर्थ का कारण हो जाएगा । इससे विपत्ति शतगुणा भीषण हो जाती है । कहा है–

ज्ञानी को दुःख नहीं होता है, ज्ञानी धीरज नहीं खोता है ।
सद्ग्रन्थ पढ़ो स्वाध्याय करो, मन के अज्ञान को दूर करो ।
स्वाध्याय करो स्वाध्याय करो ।

भ्रान्त विचारों, अधीरता और चंचलता के भावों को दूर करने का उपाय सम्यग्ज्ञान है । ज्ञानी पुरुष संकट के समय धैर्य नहीं खोता और व्यर्थ चिन्ता नहीं करता । अगर दुःख सिर पर आ पड़े तो हाय-हाय करने से क्या लाभ है ? ज्ञान का बल होने से मनुष्य धीरज से समय काट सकता है । ऐसे ज्ञान की प्राप्ति सत्संग और स्वाध्याय से होती है ।

शुभ कर्म को बढ़ाना पाप को घटाने का कारण हो जाता है । शुभ कर्म से आध्यात्मिक शक्ति का विकास होता है और आध्यात्मिक शक्ति वह शक्ति है जिससे मनुष्य कौटुम्बिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय शक्ति में वृद्धि करता है ।

अकसर एक प्रश्न उठता है कि राष्ट्र रक्षा में सन्तसमाज का क्या योगदान है ? ऐसे प्रश्न वही कर सकते हैं जो ऊपर-ऊपर की दृष्टि से विचार करने के आदी हैं । गहराई से राष्ट्रीयता या राष्ट्रहित के सम्बन्ध में विचार करने वालों के मन में ऐसा प्रश्न नहीं उठ सकता । राष्ट्र की रक्षा केवल भौतिक साधनों से होती है, यह समझ घातक है । भौतिक साधन और समृद्धि की प्रचुरता होने पर भी यदि राष्ट्र की आन्तरिक चेतना जागृत नहीं है, राष्ट्र के निवासियों में नैतिकता, उदारता, त्यागवृत्ति और धार्मिक भावना नहीं है तो वह राष्ट्र कदापि सुरक्षित नहीं रह सकता । अतएव राष्ट्र की रक्षा उसमें निवास करने वाली प्रजा के सद्गुणों पर निर्भर है । जिस देश की प्रजा के आन्तरिक जीवन का स्तर जितना ऊँचा होगा, वह देश उतनी ही अधिक उन्नति कर सकेगा । इसके विपरीत, जिस देश के निवासी नैतिक दृष्टि से गिरे होंगे, अधार्मिक होंगे, स्वार्थपरायण होंगे, वह देश कदापि ऊँचा नहीं उठ सकता । कदाचित् ऐसा कोई देश समृद्ध और शक्तिमान दीख पड़ता हो तो यही मानना होगा कि उसकी समृद्धि और शक्ति सिर्फ ऊपरी है, उसमें स्थायित्व नहीं है । थोड़े ही समय में उसका पतन बालू की दीवाल की तरह हो जाएगा । इस प्रकार देश की असली सुरक्षा उसकी आन्तरिक चेतना की दिव्यता और भव्यता में निहित है । सन्त जन इस चेतना को जागृत करने, जागृत रखने और विकसित करने में सदा संलग्न रहते हैं । वे मानव-समाज को अपने संकीर्ण स्वार्थ से ऊपर उठ कर राष्ट्र के

व्यापक हित में विचार करने की प्रेरणा देते हैं और सब के हित में अपना हित मानने की बुद्धि प्रदान करते हैं। अतएव राष्ट्र के ठोस और आधारभूत हित और संरक्षण में उनका यह योगदान असाधारण है ।

प्रत्येक वर्ग का कर्त्तव्य पृथक्-पृथक् होता है । मजदूर अपनी जगह रह कर और अपने कर्त्तव्य का पालन करके देश की सेवा करता है । किसान अधिक उपज बढ़ाकर सेवा करता है उद्योगपति अपने ढंग से सेवा कर सकता है । अगर सभी वर्ग एक ही ढंग अखत्यार कर लें तो देश का काम चल नहीं सकता । इसी प्रकार सन्तसमाज भी अपनी मर्यादा में रह कर ही देश की सेवा करता है । वह देशवासियों में उन सद्गुणों के विकास के लिए प्रयत्न करता है जिनके अभाव में देश की आत्मा सबल नहीं हो सकती और सबल हुए बिना देश की सुरक्षा भी संभव नहीं है ।

जम्बूद्वीप के चारों ओर खाई की तरह फैला हुआ समुद्र जम्बूद्वीप को आप्लावित क्यों नहीं कर देता ? यह प्रश्न श्रीगौतम ने भगवान् महावीर से पूछा । महावीर स्वामी ने उत्तर दिया यह अनादिकालिक मर्यादा है । इसके अतिरिक्त इसमें अनेक सन्तों, सतियों और भक्तों की विद्यमानता है, इस कारण भी यह आप्लावित नहीं होता । तेजस्वी साधना वाला साधकजन यदि किसी नगर में मौजूद हो तो वह उस नगर को बचा सकता है । अगर सभी लोग अपने आत्मबल को बढ़ावें तो देश का कल्याण होगा । संकट काल में आध्यात्मिक बल बहुत लाभकारी हो सकता है। मैं आपको यही प्रेरणा देना चाहता हूँ कि 'आगमों के आधार पर चलो और आर्य संस्कृति को भूलने के बजाय अपने जीवन में उसको अधिक से अधिक स्थान दो । शासक और शासित दोनों उदारतापूर्वक कार्य करें, समझदारी अपनाएँ जिससे किसी की भूल से किसी को हानि न हो ।

देश ऋण के भार से दबा जा रहा हो और देश की प्रजा में भोग-विलास की मनोवृत्ति बढ़ती जाए, तो इससे किसी का कल्याण नहीं होगा । ऐसे समय में प्रत्येक देशवासी का कर्त्तव्य है कि वह देश के हित में ही अपना हित समझे, देश के उत्थान-पतन में अपना उत्थान-पतन माने, देश के गौरव में ही अपना गौरव अनुभव करे और सादगी, संयम तथा त्याग भावना को अधिक से अधिक अपनाए । राष्ट्रीय संकट के समय, उससे लाभ उठा कर व्यक्तिगत स्वार्थसाधन की बात सोचना अपनी आत्मा को गिराना है और अपने पैरों पर आप ही कुठाराघात करना है । समूह के मंगल में ही व्यक्ति का मंगल है ।

व्रत और नियम का संबल लेकर आध्यात्मिक विचार, सदाचार, सच्चाई और वाणी का बल बढ़ाकर प्रत्येक नागरिक यदि अपने जीवन को ऊँचा उठाएगा तो स्वतः ही समाज और देश का कल्याण होगा और आन्तरिक जीवन भी मंगलमय बन जाएगा ।

[८१]

मानसिक सन्तुलन

जीवन को उन्नत बनाने तथा आध्यात्मिक बल को बढ़ाने के लिए महावीर स्वामी ने जिस साधना का संदेश दिया है, आनन्द श्रमणोपासक के माध्यम से उसका निरूपण किया गया है। उसका उद्देश्य यही है कि उस साधना का विकास किया जाय और अपने आपको ऊँचा उठाया जाय।

आज देश की स्थिति बड़ी विषम है। युद्ध की परिस्थिति बनी है। भारतीय सैनिक अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए अपने प्राणों की बलि चढ़ा रहे हैं। शत्रु-देश सिर ऊँचा उठा रहे हैं और देश की स्वाधीनता तथा सुरक्षा को जोखिम में डालने का प्रयत्न कर रहे हैं। ऐसे समय में अध्यात्म की चर्चा कहाँ तक उपयुक्त है ? इस समय तो देशवासियों में वीरता जगाना चाहिए और आक्रान्ताओं को देश की सीमा के बाहर भगा देने की प्रेरणा करनी चाहिए। इस अवसर पर धर्म की बात करना असामयिक है। कइयों के हृदय में इस प्रकार के विचार उत्पन्न हो सकते हैं।

मगर मैं कहना चाहूँगा कि अगर ऐसे विचार आपके चित्त में आते हैं तो समझना चाहिए कि आपने गंभीर विचार नहीं किया है। देश और समाज की रक्षा के दो उपाय होते हैं—बाह्यरक्षा और आन्तरिक रक्षा।

देश पर आक्रमण होने की स्थिति में, आक्रान्ता को भगाने के लिए सैनिक बल का प्रयोग करना, शस्त्रों का निर्माण करना, उद्योगधन्धों को बढ़ाना आदि कार्य बाह्यरक्षा में सम्मिलित हैं। देशवासियों में ऐसी नैतिक भावना जाग्रत करना कि वे धीरज और साहस रखें, एकता को कायम रखें, राष्ट्रीय हितों को सर्वोपरि स्थान दें, जीवन को इतना संयममय बनाएँ कि अल्प से अल्प सामग्री से अपना काम चला सकें, लोभ-लालच के वशीभूत होकर स्वार्थ साधन में लिप्त न हों, विलास का परित्याग कर त्यागभावना की वृद्धि करें और प्रत्येक अनैतिक एवं अधार्मिक कार्य से बचते रहें, यह देश की आन्तरिक सुरक्षा है।

बाह्य सुरक्षा आन्तरिक सुरक्षा पर निर्भर है । अगर नागरिक जन अपने कर्त्तव्य और धर्म से विमुख होते हैं तो सैनिक का साहस, पराक्रम और बलिदान सार्थक नहीं हो सकता । अतएव युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिये भी यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि प्रजाजन भी अपने जीवन को सँभालें, देश में आन्तरिक शान्ति कायम रखें । जैसे नागरिकों को शस्त्रास्त्र देकर सबल बनाया जाता है, उसी प्रकार उन्हें कर्त्तव्यनिष्ठा, धीरता, सहनशीलता और नैतिकता के द्वारा प्रबल बनाना भी अत्यावश्यक है । इसके अभाव में भीतरी गड़बड़ी हो जायेगी । शस्त्रशिक्षा की अपेक्षा शास्त्रशिक्षा का महत्व कम नहीं है । भारतीय संस्कृति में दोनों की हिमायत की गई है, जो प्रजा दोनों प्रकार की शिक्षा से शिक्षित नहीं, वह जाति, समाज और देश के लिए खतरनाक हो सकती है ।

नागरिकों में अज्ञान न हो, यह भी देशरक्षा के लिए आवश्यक है । इतिहास से विदित होता है कि कई लोग अज्ञानतावश शत्रुपक्ष में मिल गए । इससे बड़ा खतरा किसी देश के लिए दूसरा क्या हो सकता है ?

मानसिक वृत्ति में सन्तुलन लाने वाला शास्त्रशिक्षण है । इससे आन्तरिक जीवन का निर्माण होता है, फिर चाहे वह शासक हो कृषक हो या कुछ अन्य हो। अज्ञानी का अपना विनाश देश के अनिष्ट का भी कारण बनेगा । अतएव आन्तरिक विजय प्राप्त करने के लिए शास्त्रशिक्षा की आवश्यकता है ।

शास्त्रीय शिक्षा में सामायिक साधना का स्थान बहुत ही महत्व का है । सामायिक से अन्तःकरण में विषमता के स्थान पर समता की स्थापना होती है । उसका दूसरा उद्देश्य मानव के अन्तस्तल में धधकती रहने वाली विषय-कषाय की भट्टी को शान्त करना है ।

सामायिक साधना के सच्चे, गहरे और व्यापक अर्थ को समझा नहीं जा रहा है । प्रतिदिन सामायिक करने वालों में भी अधिकांश जन ऊपरी विधिविधान करके ही सन्तोष मान लेते हैं । वे उस साधना को स्पर्श करने का प्रयत्न नहीं करते । उसे सजीव एवं स्फूर्त रूप प्रदान कर जीवनव्यापी नहीं बनाते । अगर सामायिक साधना हमारे जीवन का प्रेरणास्रोत और मूलमंत्र बन जाए तो उससे अपूर्व लाभ हो सकता है । जीवन में जो भी विषाद, वैषम्य, दैन्य, दारिद्र्य, दुःख और अभाव है, उस सब की अमोघ औषध सामायिक है । जिसके अन्तःकरण में समभाव के सुन्दर सुमन सुवासित होंगे, उसमें वासना की बदबू नहीं रह सकती । जिसका जीवन साम्यभाव के सौम्य आलोक से जगमगाता होगा, वह अज्ञान, आकुलता एवं चित्त विक्षेप के अन्धकार में नहीं भटकेगा ।

जीवन में अनेक प्रकार की टक्करें लगती रहती हैं, उनसे पूरी तरह बचना संभव नहीं है, किन्तु टक्करें लगने पर भी उनसे आहत न होने का उपाय सामायिक है । आप जानते हैं कि मनुष्य जब रंज की हालत में आता है तो अपने आपको संसार में सबसे अधिक दुःखी मानने लगता है और आदरणीय का आदर करना एवं वन्दनीय को वन्दन करना भी भूल जाता है । इस प्रकार विषमता की स्थिति में पड़कर वह दोलायमान होता रहता है और अपने कर्त्तव्य का पालन ठीक तरह नहीं कर पाता है । इससे बचने के लिए और सन्तुलित मानसिक स्थिति बनाये रखने के लिए सामायिक साधना ही उपयोगी होती है । जो खुशी के प्रसंग पर उन्माद का शिकार हो जाता है और दुःख में आपा भूलकर विलाप करता है, वह इहलोक और परलोक दोनों का नहीं रहता । युद्ध के समय सैनिक यदि घबरा जाता है, धैर्य गँवा बैठता है तो पीछे हट जाता है और यदि सन्तुलित अवस्था कायम रखता है तो शत्रु का सामना कर सकता है । कौटुम्बिक मामलों में यदि सन्तुलन बिगाड़ दिया जाय तो घरू व्यवहार बिगड़ जाता है और वह कुटुम्ब छिन्नभिन्न होकर बिखर जाता है ।

मानसिक दशा सन्तुलित न हो तो ज्ञानी पुरुष कुछ समय टाल कर बाद में जवाब देता है । शास्त्र, अध्यात्मशिक्षा सामायिकसाधना ही मन को सन्तुलित रखना सिखा सकते हैं ।

शम की स्थिति प्राप्त करने के लिए सामायिक साधना चाहिए । काम, क्रोध, मोह, माया आदि के कुसंस्कार इतने गहरे होते हैं कि उनकी जड़ें उखाड़ने का दीर्घकाल तक प्रयास करने पर भी वे कभी-कभी उभर आते हैं । अध्यात्मसाधना में निरत एकाग्र साधक भी कभी-कभी उनके प्रभाव में आ जाता है । कभी कोई निमित्त पाकर तृष्णा या काम की आग भड़क उठती है । यह आग अनादिकाल से जीव को सन्तप्त किये हुए है । इसे शान्त करने का उपाय क्या है ? सामायिक साधना रूपी जल के बिना यह ठंडी नहीं हो सकती । भट्टी पर चढ़ाए हुए उबलते पानी को भट्टी से अलग हटा देने से ही उसमें शीतलता आती है । इसी प्रकार नाना विध मानसिक सन्तापों से सन्तप्त मानव सामायिक साधना करके ही शान्तिलाभ प्राप्त कर सकता है ।

प्राणी के अन्तर में कषाय की जो ज्वाला सतत प्रज्वलित रहती है, उसे शान्त किये बिना वास्तविक शान्ति कदापि प्राप्त नहीं हो सकती । ऊपर का कोई उपचार वहाँ काम नहीं आ सकता । उसके लिए तो सामायिक साधना ही उपयोगी हो सकती है । अनवरत साधना चालू रहने से स्थायी शान्ति का लाभ मिलेगा । साधना ज्यों-ज्यों सबल होती जाएगी, साधक की आनन्दानुभूति भी त्यों-त्यों ही बढ़ती जाएगी । इसीलिए कहा गया है–

करलो जीवन का उत्थान, करो नित समता रस का पान –
नितप्रति हिंसादिक जो करते, त्याग को मान कठिन जो डरते,
घड़ी दो कर अभ्यास महान् बनाते जीवन को बलवान् ।।

महात्मा लोग आत्म-शान्ति के लिए साधना करते हैं, परन्तु उनकी साधना का फल उन्हीं तक सीमित नहीं रहता । सारा जगत् उस फल से लाभान्वित होता है । भगवान् महावीर ने जो उत्कृष्ट साधना की उसका फल सारे संसार को मिला । महापुरुष ऐसे कृपण नहीं होते कि अपनी अनुभूतियों को लुका-छिपा कर रखें और दूसरों को उनसे लाभान्वित न होने दें । उनका अन्तःकरण बहुत विशाल होता है और उसमें दया का महासागर उमड़ता रहता है । अतएव जगत् के दुःखी और अज्ञानान्धकार में ठोकरें खाने वाले जीवों पर अपार करुणा करके वे अपनी साधना जनित अनुभूतियों को जगत् के सामने प्रस्तुत करते हैं । प्रत्येक सत्पुरुष के लिए यही उचित है कि उसके पास जो कुछ भी साधन-सामग्री है, उससे दूसरों को लाभ पहुँचावे । जिसने ज्ञान प्राप्त किया है, वह दूसरों का अज्ञान दूर करे, जिसके पास धन है, उसका कर्त्तव्य है कि वह निर्धनों, अनाथों एवं आजीविकाहीन जनों की सहायता करे । इस प्रकार अपनी सामग्री से दूसरों को सुख-शान्ति पहुँचाना ही प्राप्त सामग्री का सदुपयोग कहा जा सकता है ।

जैसे कंजूस श्रीमन्त अपने धन का लाभ दूसरों को नहीं देता, अपने समाज और अड़ौस-पड़ौस के लोगों की भी वह सहायता नहीं करता, वह अपनी दुनिया को अपने और अपने परिवार तक ही सीमित समझता है, मानो दूसरों से उसका कोई वास्ता ही नहीं हैं, इसी प्रकार ज्ञानी जनों ने अगर कंजूसी से काम लिया होता तो इस संसार की क्या स्थिति होती ? आज हमें शास्त्रों के रूप में जो महानिधि प्राप्त है, वह कहाँ से प्राप्त होती ? हमें अपने कल्याण का मार्ग कैसे सूझता ? उस दशा में दुनिया की स्थिति कितनी दयनीय और दुःखमय बन गई होती ? मगर ऐसा होता नहीं है उदारहृदय महात्मा अपने आत्मकल्याण में विघ्न डाल कर भी जगत् के जीवों का पथप्रदर्शन करते हैं । वे अपने अनमोल वैभव को दोनों हाथों से लुटाते हैं और मानव-जाति के श्रेय के लिए यत्नशील रहते हैं ।

तो महात्माओं ने अपनी गहन एवं रहस्यमय अनुभूतियों को भी प्रकाशित किया है । उन्होंने हमें बतलाया है कि आधियों, व्याधियों और उपाधियों से मुक्ति चाहते हो तो आत्मसाधना के पथ पर अग्रसर होओ ।

दुःख से छुटकारा पाना कौन नहीं चाहता ? मनुष्यों की बात जाने दीजिए, छोटे से छोटे कीट भी दुःख से बचना और सुख प्राप्त करना चाहते हैं । इसी के

लिए वे निरन्तर प्रयास कर रहे हैं। मगर दुःखों से मुक्ति मिलती नहीं। कारण स्पष्ट है दुनिया समझती है कि बाह्य पदार्थों को अपने अधिकार में कर लेने से दुःख का अन्त आ जाएगा। मनोहर महल खड़ा हो जाय, सोने-चाँदी से तिजोरियाँ भर जाएँ, विशाल परिवार जुट जाए, मोटर हो, विलास की अन्य सामग्री प्रस्तुत हो तो मुझे सुख मिलेगा। इस प्रकार पर-पदार्थों के संयोग में लोग सुख की कल्पना करते हैं। किन्तु ज्ञानी कहते हैं–

संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःख परम्परा।

संसार के समस्त दुःखों का मूल संयोग है। आत्मभिन्न पदार्थों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना ही दुःख का कारण है। अब आप ही सोचिए कि सुःख प्राप्त करने के लिए जो दुःख की सामग्री जुटाता है, उसे सुख की प्राप्ति कैसे हो सकेगी? जीवित रहने के लिए विष को भक्षण करने वाला गुरुष अगर मूढ़ है तो सुख प्राप्ति के लिए बाह्य पदार्थों की आराधना करने वाला क्या मूढ़ नहीं है? मगर आपकी समझ में बात कहाँ आ रही है? आप तो नित्य नये-नये पदार्थों के साथ ममता का संबन्ध जोड़ रहे हैं। यह दुःख को बढ़ाने का प्रयत्न है। इससे सुख की प्राप्ति नहीं होगी। सच्चा सुख आत्मसाधना में है। आध्यात्मिक साधना जितनी-जितनी सबल होती जाएगी, सुख भी उतना ही उतना बढ़ता जाएगा। आर्त्त और रौद्र वृत्तियों को मिटाना ही शान्ति और मुक्ति का साधन है। शस्त्रविद्या इसमें सफल नहीं होती। शस्त्रविद्या तो रौद्र भाव को बढ़ाने वाली है ज्यों-ज्यों शस्त्रों का निर्माण होता गया, मनुष्य का रौद्र रूप बढ़ता गया। रौद्र रूप की वृद्धि के लिए आज तो शारीरिक बल की आवश्यकता भी नहीं है कमजोर व्यक्ति भी यंत्रों की सहायता से हजारों-लाखों मनुष्यों को मौत के घाट उतार सकता है।

शस्त्र प्रयोग तो आखिरी उपाय है। जब अन्य साधन न रह जाय तभी शस्त्र का उपयोग किया जा सकता है। शास्त्र विद्या यह विचारधारा देती है कि शस्त्र विद्या का प्रयोग विवेक को तिलांजलि देकर नहीं किया जाना चाहिए। अन्याय, अत्याचार और दूसरों को गुलाम बनाने के लिए शस्त्र का प्रयोग करना मानवता की हत्या करना है। आज जो देश अपनी सीमा विस्तार करने के लिए सेना और शस्त्र का प्रयोग करते हैं, दूसरों को गुलाम बनाने के इरादे से अत्याचार करते हैं, वे मानवता के घोर शत्रु हैं और उनका अत्याचार उन्हीं को खा जाएगा, हिटलर का उदाहरण पुराना नहीं पड़ा है। उसकी विस्तारवादी नीति ने ही उसे मार डाला।

शास्त्र विद्या यही शिक्षा देती है कि शस्त्र का प्रयोग रक्षण के लिए होना चाहिए, भक्षण के लिए नहीं। सद् गृहस्थों को कभी शस्त्र भी संभालना पड़ता है, मगर उस समय भी उसकी वृत्ति सन्तुलित रहती है।

महाराज चेटक व्रतधारी श्रावक थे। मगर कोणिक के अत्याचार का प्रतीकार करने का जब अन्य उपाय न रहा तो उन्हें सेना और शस्त्र का उपयोग करना पड़ा। इस समय शस्त्र न सँभाल कर अगर वह कायरता का प्रदर्शन करते तो अत्याचार बढ़ता, न्याय-नीति की जड़ें उखड़ जातीं और धर्म को भी बदनाम होना पड़ता।

वर्णनाग नतुआ पौषधशाला में बैठे हुए आत्मसाधना कर रहे थे। बेले की तपस्या में थे। उसी समय उन्हें युद्धभूमि में जाने और युद्ध करने का आदेश मिला। वे कह सकते थे कि तपस्या कर रहा हूँ युद्ध के लिए नहीं जा सकता। मगर नहीं, वे विवेकशील साधक थे। उन्होंने ऐसा नहीं कहा। धर्म, अहिंसा और तपश्चर्या को कलंकित करना उन्होंने घोर अपराध समझा। युद्ध का आह्वान आने पर उनके मन में खेद नहीं हुआ। हिचक नहीं हुई। उन्होंने बेला के बदले तेला कर लिया और उसी समय युद्ध के लिए तैयार हो गए। देश रक्षा का आदेश मिलने पर जी चुराना उन्होंने पाप समझा। वे पौषधशाला से बाहर निकले और रथ तैयार करवा कर युद्ध के मोर्चे पर चल दिए।

शास्त्रों के ये उल्लेख अहिंसा के स्वरूप को समझने में हमारे लिए बहुत सहायक हैं। इनसे स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा की गोद में कायरता को नहीं छिपाया जा सकता। अहिंसा कर्त्तव्यभ्रष्टता का समर्थन नहीं करती। अहिंसा के नाम पर अगर कोई देश की रक्षा से मुँह मोड़ता है, शस्त्र उठाने से इन्कार करता है, और अत्याचार को सहन करता है तो वह अहिंसा को बदनाम करता है। एक व्यक्ति जब शासन सूत्र अपने हाथ में लेता है या सेनापति का पद ग्रहण करता है तो देश और प्रजा की रक्षा करने का उत्तरदायित्व उस पर आ जाता है। किन्तु उस उत्तरदायित्व को निभाने का अवसर आने पर अगर अहिंसा की आड़ में उससे बचने का प्रयत्न करता है तो वह कायर है, उसे धर्मनिष्ठ नहीं कहा जा सकता।

अत्याचार करना हिंसा है तो कायर बनकर अत्याचार सहना, अत्याचार होने देना और उसका प्रतीकार न करना भी हिंसा है।

यों तो श्रावक स्थूल संकल्पजनित हिंसा का त्यागी होता है किन्तु निरपराध की हिंसा का ही वह त्याग करता है। स्वरक्षा या देशरक्षा में होने वाली हिंसा का वह त्याग नहीं करता। उस समय भी उसका विचार रक्षा का ही होता है। हिंसा का अवलम्बन वह विवशता से करता है।

वर्णनाग तपश्चर्या की स्थिति में भी युद्ध में संलग्न हो गया। युद्ध करते-करते जब देखा कि शरीर अब टिक नहीं सकता तो वह सावधान हो गया और

अन्तिम समय की साधना में तत्पर हो गया । युद्ध करते समय भी, शत्रुओं पर गाढ़ा प्रहार करते समय भी हिंसा में रक्षानुभूति उसे नहीं हो रही थी । गीता में जिसे निष्काम कर्म कहा गया है, वही कर्म वह दत्तचित्त होकर प्रामाणिकतापूर्वक कर रहा था ।

अन्त में वर्णनाग समस्थिति में आकर स्वर्गवासी हुआ । उसकी स्वर्गप्राप्ति का कारण था–विषम स्थिति से समस्थिति में आना, आर्त्त-रौद्र भाव त्यागना और विषय-कषायों से विमुख होकर शान्तचित्त होना ।

सामायिक साधना का प्रथम सोपान सम्यक्त्व सामायिक है । सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर ही श्रुत के वास्तविक मर्म को समझा जा सकता है । अतएव श्रुत सामायिक को दूसरा सोपान कहना चाहिए । श्रुत सामायिक प्राप्त कर लेने पर चारित्र सामायिक को प्राप्त करना आसान होता है । चारित्र सामायिक श्रुत सामायिक के बिना स्थिर नहीं रह सकती । श्रुत सामायिक के द्वारा साधक को एक ऐसा बल मिलता है जिसके कारण देव और दानव भी उसका अहित नहीं कर सकते । आनन्द, कामदेव, कुण्ड कोलिक आदि गृहस्थ साधक सामायिक साधना के बल पर ही अमर हो गये हैं ।

भगवान् महावीर स्वामी ने श्रमणों को सम्बोधित करते हुए कहा कि कामदेव के समान साधना करो । देव ने हाथी, सर्प आदि का विकराल रूप धारण करके कामदेव को धर्म से च्युत करने में कुछ उठा नहीं रखा, किन्तु उसकी एक न चली । कामदेव अपनी साधना में अडिग रहा । जिसके जीवन में साधना नहीं होती, वह थोड़े-से विक्षेप से भी चलायमान, उद्विग्न और अधीर हो जाता है, चुटकी से भी विचलित हो जाता है किन्तु आज साधना के शुद्ध स्वरूप को दुर्लक्ष्य किया जा रहा है ।

सामायिक-साधना वह शक्ति है जो व्यक्ति में नहीं, समाज और देश में भी बिजली पैदा कर सकती है । व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन में यह साधना आनी चाहिए जिससे उसका व्यापक प्रभाव अनुभव किया जा सके ।

प्राचीन भारतीय विद्वानों में एक चीज की कमी रही जो आज भी खटकती है । उन्होंने पृथक्-पृथक् रूप से जो अनुभव और चिन्तन किया, उसका संकलन करके उसे एक संगठित रूप प्रदान नहीं किया । इसके अभाव में उसके आगे की कड़ी के रूप में चिन्तन अबाध गति से चालू नहीं रह सका । उसकी श्रृंखला बीच में टूट गई । उनके महत्त्वपूर्ण प्रयास बिखरे-बिखरे रहे । उनका मेल मिलाने का कोई प्रयास नहीं किया गया । पश्चिम में इसी प्रकार का प्रयास दृष्टिगोचर होता है।

वहाँ एक सिद्धान्त को आधार मान कर उससे आगे का विचार किया गया है । वहाँ के चिन्तन में एक सिलसिला है, कड़ी है, हालांकि उनका यह चिंतन एकान्त भौतिक रूप में रहा ।

हमारे देश की आध्यात्मिक साधना को व्यावहारिक रूप मिलने से जीवन में ताकत आ जाती है, और असंभव भी संभव हो जाता है । एक कवि ने कहा है–

कर लो सामायिक रो साधन, जीवन उज्ज्वल होवेला ।
तन का मैल हटाने खातिर, नितप्रति न्हावेला ।
मन पर मल चहुँ ओर जमा है, कैसे धोवेला ।।१।।

सामायिक से जीवन सुधरे, जो अपनावेला ।
निज सुधार से देश जाति, सुधरी हो जावेला ।।२।।

गिरत-गिरत प्रतिदिन रस्सी भी, शिला घिसावेला ।
करत-करत अभ्यास, मोह का जोर मिटावेला ।।३।।

रस्सी की बार-बार की रगड़ से शिला पर भी निशान पड़ जाते हैं.। 'रसरी आवत जात तें सिल पर परत निशान ।' इसी प्रकार साधना के बल से मनुष्य की प्रकृति भी घिस सकती है । सामायिक साधना के समय काम-क्रोध आदि विकारों को नित्य 'टच' करो, टांचो और उन्हें अंकुश में लाओ तो धीरे-धीरे वे विकार कम हो जाएंगे । अगर प्रतिदिन विकारों पर चोट मारने का काम प्रारंभ किया गया तो जीवन में अवश्य ही मोड़ आएगा ।

सामायिकसाधना करना अपने घर में रहना है । सामायिक से अलग रहना बेघरबार रहना है । सामायिकसाधना करना आत्मा का घर में आना है । काम-क्रोध आदि विकारों में परिणत होना पराये घर में जाना है । किन्तु साधना के लिए अन्तःकरण को तैयार किया जाना चाहिए । नित्य की साधना बड़ी बलशालिनी होती है। घंटा भर की साधना अगर नहीं हो सकती तो १०-१५ मिनिट श्रुतसाधना ही की जानी चाहिए । उससे भी शान्ति मिलेगी ।

मगर साधना में बैठने वालों को सांसारिक प्रपंचों से मन को पृथक् कर लेना चाहिए । चित्त को प्रशान्त और एकाग्र करके साधना करने से अवश्य ही लाभ होगा । अन्तरंग साधना सामायिक के अभ्यास से ही सिद्ध होती है ।

अगर इस प्रकार से सामायिकसाधना जीवन में अपनाई गई तो इहलोक और परलोक में कल्याण होगा ।

[८२]

जीवन का कुगतिरोधक – संयम

आत्मा का स्वाभाविक गुण चैतन्य है । वह अनन्त ज्ञान-दर्शन का पुंज परमज्योतिर्मय, आनन्दनिधान, निर्मल, निष्कलंक और निरामय तत्व है । किन्तु अनादिकालीन कर्मावरणों के कारण उसका स्वरूप आच्छादित हो रहा है । चन्द्रमा मेघों से आवृत्त होता है तो उसका स्वाभाविक आलोक रुक जाता है, मगर उस समय भी वह समूल नष्ट नहीं होता । इसी प्रकार आत्मा के सहज ज्ञानादि गुण आत्मा के स्वभाव हैं कर्मरूपी मेघों द्वारा आवृत्त हो जाने पर भी उनका समूल विनाश नहीं होता । वायु के प्रबल वेग से मेघों के छिन्न-भिन्न होने पर चन्द्रमा का सहज आलोक जैसे चमक उठता है, उसी प्रकार कर्मों का आवरण हटने पर आत्मा के गुण अपने नैसर्गिक रूप में प्रकट हो जाते हैं । इस प्रकार जो कुछ प्राप्य है, वह सब आत्मा को प्राप्त ही है । उसे बाहर से कुछ ग्रहण करना नहीं है । उसका अपना भण्डार अक्षय और असीम है ।

बाहर से निधि प्राप्त करने के प्रयत्न में भीतर की निधि खो जाती है । यही कारण है कि जिन्हें अपनी निधि पानी है, वे बड़ी से बड़ी बाहरी निधि को भी ठुकरा कर अकिंचन बन जाते हैं । चक्रवर्त्ती जैसे सम्राटों ने यही किया है और ऐसा किये बिना काम चल भी नहीं सकता ।

बाह्य पदार्थों को ठुकरा देने पर भी अन्दर के खजाने को पाने के लिए प्रयास करना पड़ता है । वह प्रयास साधना के नाम से अभिहित किया गया है । भगवान् महावीर ने साधना के दो अंग बतलाए हैं – संयम और तप । संयम का सरल अर्थ है – अपने मन, वचन और शरीर को नियन्त्रित करना, इन्हें उच्छृंखल न होने देना, कर्मबन्ध का कारण न बनने देना । मन से अशुभ चिन्तन करने से, वाणी का दुरुपयोग करने से और शरीर के द्वारा अप्रशस्त कृत्य करने से कर्म का बन्ध होता है। इन तीनों साधनों को साध लेना ही साधना का प्रथम अंग है । जब इन्हें पूरी

तरह साध लिया जाता है तो कर्म बन्ध रुक जाता है । नया कर्मबन्ध रोक देने पर भी पूर्वबद्ध कर्मों की सत्ता बनी रहती है । उनसे पिण्ड छुड़ाने का उपाय तपश्चर्या है। तपश्चर्या से पूर्वबद्ध कर्म विनष्ट हो जाते हैं । भगवान् महावीर ने तपश्चर्या को विशाल और आन्तरिक स्वरूप प्रदान किया है । साधारण लोग समझते हैं कि भूखा रहना और शारीरिक कष्टों को सहन कर लेना ही तपस्या है । किन्तु यह समझ सही नहीं है । इन्द्रियों को उत्तेजित न होने देने के लिए अनशन भी आवश्यक है, ऊनोदरी अर्थात् भूख से कम खाना भी उपयोगी है, जिह्वा को संयत बनाने के लिए अमुक रसों का परित्याग भी करना चाहिए, ऐश-आराम का त्याग करना भी जरूरी है और इन सब की गणना तपस्या में है, किन्तु सत्साहित्य का पठन, चिन्तन, मनन करना, ध्यान करना अर्थात् बहिर्मुख वृत्ति का त्याग कर अपने मन को आत्मचिन्तन में संलग्न कर देना, उसकी चंचलता को दूर करने के लिए एकाग्र बनाने का प्रयत्न करना, निरीह भाव से सेवा करना, विनयपूर्ण व्यवहार करना, अकृत्य न होने देना और कदाचित् हो जाय तो उसके लिए प्रायश्चित्त-पश्चात्ताप करना, अपनी भूल को गुरुजनों के समक्ष सरल एवं निष्कपट भाव से प्रकट कर देना, इत्यादि भी तपस्या के ही रूप हैं । इससे आप समझ सकेंगे कि तपस्या कोई 'हौआ' नहीं है, बल्कि उत्तम जीवन बनाने के लिए आवश्यक और अनिवार्य विधि है ।

जिसके जीवन में संयम और तप को जितना अधिक महत्व मिलता है, उसका जीवन उतना ही महान् बनता है । संयम और तप सिर्फ साधु-सन्तों की चीजें हैं, इस धारणा को समाप्त किया जाना चाहिए । गृहस्थ हो अथवा गृहत्यागी, जो भी अपने जीवन को पवित्र और सुखमय बनाना चाहता है, उसे इनको स्थान देना चाहिए। संयम एवं तप से विहीन जीवन किसी भी क्षेत्र में सराहनीय नहीं बन सकता। कुटुम्ब, समाज, देश आदि की दृष्टि से भी वही जीवन धन्य माना जा सकता है जिसमें संयम और तप के तत्व विद्यमान हों ।

मोटर कितनी ही मूल्यवान क्यों न हो, अगर उसमें 'ब्रेक' नहीं है तो किस काम की ? ब्रेक विहीन मोटर सवारियों के प्राणों को ले बैठेगी । इसी तरह संयम जीवन का ब्रेक है । जिस मानव-जीवन में संयम का ब्रेक नहीं, वह आत्मा को डुबा देने के सिवाय और क्या कर सकता है ?

मोटर के ब्रेक की तरह संयम जीवन की गति-विधि को नियन्त्रित करता है और जब जीवन नियन्त्रण में रहता है तो वह नूतन कर्मबन्ध से बच जाता है । तपस्या पूर्वसंचित कर्मों का विनाश करती है । इस प्रकार नूतन कर्म बंधनिरोध और पूर्वार्जित कर्मनिर्जरा होने से आत्मा का कार्मिक भार हल्का होने लगता है और

शनैः-शनैः समूल नष्ट हो जाता है । जब यह स्थिति उत्पन्न होती है तो आत्मा अपनी शुद्ध निर्विकार दशा को प्राप्त करके परमात्मपद प्राप्त कर लेती है, जिसे मुक्तदशा, सिद्धावस्था या शुद्धावस्था भी कह सकते हैं ।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि जीवन में संयम एवं तप की साधना अत्यन्त उपयोगी है । जो चाहता है कि मेरा जीवन नियन्त्रित हो, मर्यादित हो, उच्छृंखल न हो, उसे अपने जीवन को संयत बनाने का प्रयास करना चाहिए । तीर्थंकर भगवन्तों ने मानव-मात्र की सुविधा के लिए, उसकी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए साधना की दो श्रेणियाँ या दो स्तर नियत किये हैं ।

(१) सागार साधना या गृहस्थधर्म और
(२) अनगार साधना या मुनिधर्म ।

अनगार धर्म का साधक वही गृहत्यागी हो सकता है जिसने सांसारिक मोह-ममता का परित्याग कर दिया है, जो पूर्ण त्याग के कंटकाकीर्ण पथ पर चलने का संकल्प कर चुका है, जो परिग्रहों और उपसर्गों के सामने सीना तान कर स्थिर खड़ा रह सकता है और जिसके अन्तःकरण में प्राणीमात्र के प्रति करुणा का भाव जागृत हो चुका है । यह साधना कठोर साधना है । विरल सत्त्वशाली ही वास्तविक रूप से इस पथ पर चल पाते हैं । सभी कालों और युगों में ऐसे साधकों की संख्या कम रही है, परन्तु संख्या की दृष्टि से कम होने पर भी इन्होंने अपनी पूजनीयता, त्याग और तप की अमिट छाप मानव समाज पर अंकित की है । इन अल्पसंख्यक साधकों ने स्वर्ग के देवों को भी प्रभावित किया है । साहित्य, संस्कृति और तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में ये ही साधक प्रधान रहे हैं और मानवजाति के नैतिक एवं धार्मिक धरातल को इन्होंने सदा ऊँचा उठाए रखा है ।

जो अनगार या साधु के धर्म को अपना सकने की स्थिति में नहीं होते, वे आगार धर्म या श्रावक धर्म का पालन कर सकते हैं । आनन्द ने अपने जीवन को निश्चित रूप से प्रभु महावीर के चरणों में समर्पित कर दिया । उसने निवेदन किया–"मैंने वीतरागों का मार्ग ग्रहण किया है, अब मैं सराग मार्ग का त्याग करता हूँ। मैं धर्मभाव से सराग देवों की उपासना नहीं करूंगा । मैं सच्चे संयमशील त्यागियों की वन्दना के लिये प्रतिज्ञाबद्ध होता हूँ । जो साधक अपने जीवन में साधना करते-करते, मतिवैपरीत्य से पथ से विचलित हो जाते हैं अथवा जो संयमहीन होकर भी अपने को संयमी प्रदर्शित और घोषित करते हैं, उन्हें मैं वन्दन-नमन नहीं करूंगा ।"

आनन्द ने संकल्प किया–"मैं वीतरागवाणी पर अटलश्रद्धा रखूंगा और शास्त्रों के अर्थ को सही रूप में समझ कर उसे क्रियान्वित करने का प्रयत्न करूंगा ।"

यदि शास्त्र का अर्थ अपने मन से खींचतान कर लगाया गया तो वह आत्मघातक होगा । उसके मर्म को समझने में बाधा उपस्थित होगी । शास्त्र का अध्ययन तटस्थ दृष्टि रखकर किया जाना चाहिए, अपना विशिष्ट दृष्टिकोण रखकर नहीं । जब पहले से कोई दृष्टि निश्चित करके शास्त्र को उसके समर्थन के लिए पढ़ा जाता है तो उसका अर्थ भी उसी ढंग से किया जाता है । कुरीतियों, कुमार्गों और मिथ्याडम्बरों को एवं मान्यताभेदों को जो प्रश्रय मिला है, उसका एक कारण शास्त्रों का गलत और मनमाना अर्थ लगाना भी है । ऐसी स्थिति में शास्त्र शस्त्र का रूप ले लेता है । अर्थ करते समय प्रसंग आदि कई बातों का ध्यान रखना पड़ता है ।

कोई सज्जन भोजन करने बैठे । उन्होंने अपने सेवक से कहा–'सैन्धवं आनय ।' वह सेवक घोड़ा ले आया, भोजन का समय था फिर भी वह 'सैन्धव' मंगाने पर घोड़ा लाया । खा-पीकर तैयार हो जाने के पश्चात् कहीं बाहर जाने की तैयारी करके पुनः उन्होंने कहा–''सैन्धवं आनय ।' उस समय सेवक नमक ले आया । यद्यपि सैन्धव का अर्थ घोड़ा भी है और नमक भी, कोष के अनुसार दोनों अर्थ सही हैं । फिर भी सेवक ने प्रसंग के अनुकूल अर्थ न करके अपनी मूर्खता का परिचय दिया । उसे भोजन करते समय 'सैन्धव' का अर्थ 'नमक' और यात्रा के प्रसंग में 'घोड़ा' अर्थ समझना चाहिए । यही प्रसंगानुकूल सही अर्थ है । ऊट-पटांग अथवा अपने दुराग्रह के अनुकूल अर्थ लगाने से महर्षियों ने जो शास्त्र रचना की है, उसका समीचीन अर्थ समझ में नहीं आ सकता ।

आनन्द ने अपरिग्रही त्यागी सन्तों को चौदह प्रकार का निर्दोष दान देने का संकल्प किया, क्योंकि आरम्भ और परिग्रह के त्यागी साधु दान के सर्वोत्तम पात्र हैं। उसने जिन वस्तुओं का दान देने का निश्चय किया, वे इस प्रकार हैं– (१) अशन (२) पान (३) खाद्य-पक्वान्न आदि (४) स्वाद्य-मुखवास चूर्ण आदि (५) वस्त्र (६) पात्र (७) कम्बल (८) रजोहरण (९) पीठ-चौकी बाजौट (१०) पाट (११) औषध-सोंठ, लवंग, कालीमिर्च आदि (१२) भैषज्य बनी-बनाई दवाई (१३) शय्या मकान और (१४) संस्तारक-पराल आदि ।

रजोहरण पाँव पोंछने का वस्त्र है, जो धूल साफ करने के काम आता है जिससे कि सचित्त जीवादि की विराधना न हो । शय्या मकान के अर्थ में रूढ़ हो गया है । इसका दूसरा अर्थ है बिछाकर सोने का उपकरण पट्टा आदि । पैरों को समेट कर सोने के लिए करीब अढ़ाई हाथ लम्बे बिछौने को 'संथारा-संस्तारक' कहते हैं। प्रमाद की वृद्धि न हो, ऐसा सोचकर साधक सिमट कर सोता है । इससे नींद भी

जल्दी खुल जाती है । आवश्यकता से अधिक निद्रा होगी तो साधना में बाधा आएगी, विकृति उत्पन्न होगी और स्वाध्याय-ध्यान में विघ्न होगा । ब्रह्मचारी गद्दा बिछा कर न सोए, यह नियम है । ऐसा न करने से प्रमाद तथा विकार बढ़ेगा ।

साधु-सन्तों को औषध-भेषज का दान देने का भी बड़ा माहात्म्य है । औषध शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है–'ओषं-पोषं धत्ते, इति औषधम्' । सोंठ, लवंग, पीपरामूल, हर्र आदि वस्तुएं औषध कहलाती हैं । यूनानी चिकित्सा पद्धति में भी इसी प्रकार की वस्तुओं का उपयोग होता है ।

प्राचीन काल में भारतवर्ष में आहार-विहार के विषय में पर्याप्त संयम से काम लिया जाता था । इस कारण उस समय औषधालय भी कम थे । कदाचित् कोई गड़बड़ हो जाती थी तो बुद्धिमान मनुष्य अपने आहार-विहार में यथोचित् परिवर्तन करके स्वास्थ्य प्राप्त कर लेते थे । चिकित्सकों का सहारा क्वचित् कदाचित् ही लिया जाता था । करोड़ों पशु-पक्षी वनों में वास करते हैं । उनके बीच कोई वैद्य-डॉक्टर नहीं है। फिर भी वे मनुष्यों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ रहते हैं । इसका कारण यही है कि वे प्रकृति के नियमों की अवहेलना नहीं करते । मनुष्य अपनी बुद्धि के घमण्ड में आकर प्रकृति के कानूनों को भंग करता है और प्रकृति कुपित होकर उसे दण्डित करती है । मांस-मदिरा आदि का सेवन करना प्रकृति के विरुद्ध है । मनुष्य के शरीर में वे आतें नहीं होतीं वह पाचन संस्थान नहीं होता जो मांसादि को पचा सकें । मांसभक्षी पशुओं और मनुष्यों के नाखून दांत आदि की बनावट में भी अन्तर है । फिर भी जिह्वालोलुप मनुष्य मांस-भक्षण करके प्रकृति के कानून को भंग करते हैं । फलस्वरूप उन्हें दंड का भागी होना पड़ता है । पशु के शरीर में जब विकार उत्पन्न होता है तो वह चारा खाना छोड़ देता है । यह रोग की प्राकृतिक चिकित्सा है । किन्तु मनुष्य से प्रायः यह भी नहीं बन पड़ता । बीमार कदाचित् खाना न चाहे तो उसके अज्ञानी पारिवारिक जन कुछ न कुछ खा लेने की प्रेरणा करते हैं और खिला कर ही छोड़ते हैं । इस प्रकार पशु अनशन के द्वारा ही अपने रोग का प्रतीकार कर लेते हैं। इसके विपरीत बीमार मनुष्य बीमारी में भी खाना ठूंसकर अधिक बीमार होता जाता है।

गर्भावस्था में मादा पशु न समागम करने देती है और न नर समागम करने की इच्छा ही करता है । मनुष्य इतना भी विवेक और सन्तोष नहीं रखता ।

मनुष्य का आज आहार सम्बन्धी अंकुश बिलकुल हट गया है । वह घर में भी खाता है और घर से बाहर दुकानों और खोमचों पर जाकर भी दोने चाटता है। ये बाजारू चीजें प्रायः स्वास्थ्य का विनाश करने वाली, विकार वर्द्धक और हिंसाजनित होने के कारण पापजनक भी होती हैं । दिनों-दिन इनका प्रचार बढ़ता जा

रहा है और उसी अनुपात में व्याधियां भी बढ़ती जा रही हैं । अगर मनुष्य प्रकृति के नियमों का प्रामाणिकता के साथ अनुसरण करे और अपने स्वास्थ्य की चिन्ता रखे तो उसे डॉक्टरों की शरण में जाने की आवश्यकता ही न हो । डॉक्टरों और वैद्य-हकीमों से और इनकी अप्राकृतिक कृत्रिम औषधियों से त्रस्त होकर कुछ बुद्धिजीवी एवं साहसी व्यक्तियों ने इस दिशा में निरन्तर खोज की—उनकी खोजों ने प्रमाणित कर दिया है कि पुरातन काल में हमारी जो खान-पान एवं रहन-सहन की सात्विक, नैसर्गिक एवं प्राकृतिक पद्धत्ति थी—वह उत्तम थी ।

आज इन अन्वेषियों ने पुनः स्थापना की है कि यह शरीर स्वयं अपना डॉक्टर वैद्य या हकीम है—इसे किसी बाहरी डॉक्टर, वैद्य, हकीम की आवश्यकता नहीं है । जो कुछ हम खाते हैं या पीते हैं शरीर अपनी पाचन-क्रिया द्वारा उनका रस बना कर अपने शरीर का अंग बना लेता है । जो अंग नहीं बन सकता उन विजातीय अंशों को यह शरीर टट्टी-पेशाब, पसीना आदि माध्यमों द्वारा बाहर निकाल देता है । इसके बाद भी अगर कोई विजातीय पदार्थ शरीर में रह गया तो शरीर पाचन क्रिया बन्द करके उस विजातीय द्रव्य को शरीर से बाहर निकालने का असाधारण प्रयत्न करता है—जुकाम, बुखार आदि के द्वारा । ऐसे समय में बुद्धिमान मानव को चाहिये कि शरीर के इस प्रयत्न को समझे और उसके इस प्रयत्न में उसकी मदद करे । प्रकृति का संकेत होता है और जुकाम-बुखार में व्यक्ति को भूख भी नहीं लगती क्योंकि शरीर उस अवस्था में पाचन क्रिया बन्द कर के शरीर की सफाई में लग जाता है । शरीर के इस संकेत को समझ कर व्यक्ति को तत्काल भोजन बन्द करके लंघन द्वारा शरीर की सफाई की क्रिया में मदद करनी चहिये । पर व्यक्ति लंघन करने के स्थान पर और खाता जाता है और शरीर के सफाई करने के प्रयत्न को निष्फल करता जाता है । दवाईयों के डंडे मार-मार कर प्रकृति के प्रयत्नों में दखल देता जाता है ।

पर जब तक विजातीय द्रव्य शरीर से नहीं निकलेगा और शरीर में जीवनी शक्ति विद्यमान है शरीर उन विजातीय द्रव्यों को निकाल कर ही दम लेगा । ऐसा करते-करते जीवनी शक्ति जब चुक जाएगी तब कोई डॉक्टर वैद्य या हकीम और उनकी औषधियां कितने ही प्रयत्न करे वे निरर्थक होगे ।

इसी तरह का उदबोधन प्रभु महावीर ने भी मानव को अपनी अन्तिम देशना में भी दिया है । इसी से इसका महत्त्व स्वतः प्रकट है । उत्तराध्ययन के १९वें अध्ययन में इसे विस्तार से समझाते हुए अन्त में कहा है—

मिग चारियं चरिस्सामि,
सव्व दुक्ख विमोक्खणिं । (गाथा-८५)

अर्थात् साधक कहता है कि मैं सभी दुःखों का क्षय करने वाली मृगचर्या का आचरण करूंगा । आगमों में भी यत्र-तत्र इस तरह के उपदेश-कण सर्वत्र बिखरे पड़े हैं ।

इन्हीं सब वीतराग पुरुषों ऋषि मुनियों के उपदेशों से सार ग्रहण करके इस देश के निर्माताओं ने इस देश की खान-पान एवं रहन-सहन प्रमुख एक परम वैज्ञानिक ग्राम्य जीवन पद्धति की नींव डाली ।

आज पुनः उसी जीवनपद्धति के पुनरुज्जीवन की आवश्यकता है । इसके बिना देश का स्वास्थ्य खतरे में हैं । वैज्ञानिक इस ओर अपनी खोज को और आगे बढ़ावें और देश की एक अपनी स्वतन्त्र खान-पान एवं रहन-सहन की राष्ट्रीय जीवन-पद्धति का आज की परिस्थितियों को देखकर पुनः निर्धारण करें । इसमें जैन आगमों ने "मृगचर्या" पद्धति के अलावा यम-नियम-संयम, ब्रह्मचर्य, योगासन, ध्यान, प्राणायाम, व्रत, उपवास, आयबिल आदि का भी स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है । सात्विक एवं प्रकृति जन्य शुद्ध औषध प्रयोग की बात का उल्लेख भी मिलता है ।

जैन-सिद्धान्त में नित्य प्रति द्रव्यों का परिमाण प्रत्येक सद्गृहस्थ द्वारा करने का भी विधान है । इसके पीछे भी आध्यात्मिकता के साथ-साथ शारीरिक स्वास्थ्य के सम्बन्ध में भी गहरा अर्थ छिपा हुआ है । शरीर-स्वास्थ्य की दृष्टि से भी जितने कम से कम सुपाच्य एवं शुद्ध सात्विक पदार्थ खाने में आवेगी, पाचन-शक्ति को कम श्रम में उतने ही अधिक पोषक-तत्त्व प्राप्त हो जाएँगे । उसे अतिरिक्त पाचन-शक्ति खर्च नहीं करनी पड़ेगी । इससे स्वतः ही स्वास्थ्य की रक्षा एवं उसकी वृद्धि होती रहेगी । व्यक्ति के बीमार होने का अवसर ही नहीं रहेगा । इसीलिये आज के प्राकृतिक चिकित्सक कहते भी हैं कि मानव बीमार होने के लिए पैदा ही नहीं हुआ । उसके लिये स्वस्थ रहना अधिक आसान है बीमार होना कठिन है बशर्ते कि वह प्रकृति के निकट रहे । उसका आचरण रहन-सहन खान-पान प्रकृति के पूर्ण अनुकूल हो ।

इस विषय में आज प्राकृतिक चिकित्सा एवं रहन-सहन, खान-पान विषयक बहुत-सा सामायिक साहित्य भी निकल रहा है । इसका भी अध्ययन करना स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयोगी है । मनीषियों ने कहा भी है–

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्

धर्म-आराधना निष्कंटक होती रहे इसके लिये शरीर के स्वास्थ्य का भी ध्यान रखना गृहस्थ के लिये अति आवश्यक है । उनका खान-पान, रहन-सहन अगर

सुन्दर-स्वस्थ व प्रकृति के अनुकूल होगा तो हम साधु-साध्वी वर्ग का स्वास्थ्य भी सुन्दर व सही रहेगा क्योंकि यह साधु-साध्वी वर्ग भी तो खान-पान के मामले में गृहस्थ वर्ग पर ही पूर्णतः निर्भर है।

कहा भी है – जैसा खावें अन्न वैसा होवे मन' इस दृष्टि से शुद्ध-सात्विक-सादा शाकाहारी भोजन जो प्रकृति के अनुकूल हो हित-मित एवं परिमित हो वही उत्तम है। ऐसा करने से अधिकाधिक स्वास्थ्य की रक्षा हो सकेगी। इसे समझना और तदनुकूल आचरण करना आज के समय की सबसे बड़ी आवश्यकता है। हम पश्चिम के खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार के अन्धानुकरण से बचें। इसी में हम सब का हित निहित है। धर्म साधना के लिये भी शरीर का स्वस्थ रहना आवश्यक है।

आज के प्राकृतिक चिकित्सकों ने जैनियों के इस द्रव्य-परिमाण के महत्त्व को समझकर अपने सतत् परीक्षणों आदि से यहाँ तक प्रतिपादित कर दिया है कि केवल मात्र हाथ की घट्टी से पिसे चोकरदार गेहूं अथवा जौ अथवा गेहूँ-जौ-चने की मिश्रित एक मात्र मोटी रोटी को बिना किसी साग-चटनी आदि के सहारे के अकेली को पूरी तरह चबा-चबाकर लगातार साल भर या छः माह तक भी खाते रहने मात्र से कैसी से कैसी बीमारी से व्यक्ति छुटकारा पाकर पूर्ण स्वास्थ्य लाभ प्राप्त कर सकता है कितनी सरल एवं सस्ती चिकित्सा की खोज इन लोगों ने कर ली है।*

अनेक प्रकार के दुर्व्यसनों ने आज मनुष्य को बुरी तरह घेर रखा है। केंसर जैसा असाध्य रोग दुर्व्यसनों की बदौलत ही उत्पन्न होता है और वह प्रायः प्राण लेकर ही रहता है। अमेरिका आदि में जो शोध हुई है, उससे स्पष्ट है कि धूम्रपान इस रोग का प्रधान कारण है। मगर यह जान कर भी लोग सिगरेट और बीड़ी पीना नहीं छोड़ते। उन्हें मर जाना मंजूर है मगर दुर्व्यसन से बचना मंजूर नहीं। यह मनुष्य के विवेक का दीवाला नहीं तो क्या है! क्या इसी बूते पर वह समस्त प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ होने का दावा करता है? प्राप्त विवेकबुद्धि का इस प्रकार दुरुपयोग करना अपने विनाश को आमन्त्रित करना नहीं तो क्या है?

लोंग, सोंठ आदि चीजें औषध कहलाती हैं। तुलसी के पत्ते भी औषध में सम्मिलित हैं। तुलसी का पौधा घर में लगाने का प्रधान उद्देश्य स्वास्थ्य लाभ ही है।

---

* इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक श्री जानकी शरण वर्मा द्वारा लिखित एवं भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित पुस्तक "रोगों की अचूक (प्राकृतिक) चिकित्सा" द्रष्टव्य है। (सम्पादक)

पुराने जमाने में इन चीजों का ही दवा के रूप में प्रायः इस्तेमाल होता था । आज भी देहात में इन्हीं का उपयोग ज्यादा होता है । इन वस्तुओं को चूर्ण, गोली, रस आदि के रूप में तैयार कर लेना भेषज है ।

आनन्द ने साधु-साध्वी वर्ग को दान देने का जो संकल्प किया उसका तात्पर्य यह नहीं कि उसने अन्य समस्त लोगों की ओर से पीठ फेर ली । इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह दुःखी, दीन, पीड़ित अनुकम्पापात्र जनों को दान ही नहीं देगा । सुख की स्थिति में पात्र-अपात्र का विचार किया जाता है, दुःख की स्थिति में पड़े व्यक्ति में तो पात्रता स्वतः आ गई । अभिप्राय यह है कि कर्म निर्जरा की दृष्टि से दिये जाने वाले दान में सुपात्र-कुपात्र का विचार होता है किन्तु अनुकम्पा बुद्धि से दिये जाने वाले दान में यह विचार नहीं किया जाता । कसाई या चोर जैसा व्यक्ति भी यदि मरणान्तिक कष्ट में हो तो उसको कष्ट मुक्त करना, उसकी सहायता करना और दान देना भी पुण्यकृत्य है, क्योंकि वह अनुकम्पा का पात्र है । दाता यदि अनुकम्पा की पुण्यभावना से प्रेरित होकर दान देता है तो उसे अपनी भावना के अनुरूप फल की प्राप्ति होती है ।

गृहस्थ आनन्द भगवान् महावीर स्वामी की देशना को श्रवण करके और व्रतों को अंगीकार करके घर लौटता है । उसने महाप्रभु महावीर के चरणों में पहुँच कर उनसे कुछ ग्रहण किया । उसने अपने हृदय और मन का पात्र भर लिया । आप्त पुरुष की वाणी श्रवण कर जैसे आनन्द ने अपने जीवन-व्यवहार में उसे उतारने की प्रतिज्ञा की, उसी प्रकार प्रत्येक श्रावक को जिनवाणी को व्यावहारिक रूप देना चाहिए। ऐसा करने से ही इह-परलोक में उसका कल्याण होगा ।

जीवन में आमोद-प्रमोद के भी दिन होते हैं । जीवन का महत्त्व भी हमारे सामने है । यथोचित सीख लेकर हमें उस महत्त्व को उपलब्ध करना है । यों तो ये सांसारिक मेले आप बहुत करते हैं किन्तु मुक्ति का मेला मनुष्य कर ले, आध्यात्मिक जीवन बना ले तो उसे स्थायी आनन्द प्राप्त हो सकता है । कवि ने कहा है–

मुक्ति का मेला कर लो भाव से, अवसर मत चूको ।
दया दान की गोठ बनाओ, भांग भगति की पीओ ।।

संसार में दो किस्म के मेले होते हैं– (१) कर्मबंध करने वाले और (२) कर्म-बंध को काटने वाले अथवा यों कहलें कि (१) मन को मलिन करने वाले और (२) मन को निर्मल करने वाले ।

प्रथम प्रकार के मेले काम, कुतूहल एवं विविध प्रकार के विकारों को जागृत करते हैं । ऐसे मेले बाल-जीवों को ही रुचिकर होते हैं । संसार में ऐसे बहुत मेले

देखे हैं और उन्हें देख कर मनुष्यों ने अपने मन मैले किये हैं। उनके फलस्वरूप संसार में भटकना पड़ा है। अब यदि जन्म-मरण के बन्धनों से छुटकारा पाना है तो मुक्ति का मेला कर लो।

कबीरदासजी ने भाव की भंग, मरम की काली मिर्च डाल कर पी थी और अपने हृदय में प्रेम की लालिमा उत्पन्न की थी।

आनन्द आदि साधकों ने बन्धन काटने वाले मेले के स्वरूप को समझा। उन्होंने नियम-संयम का नशा लिया। इससे उनका जीवन आनन्दमय बन गया। जीवन के वास्तविक आनन्द को प्राप्त करने के लिए आनन्द के समान ही साधना को अपनाना होगा। इसी में मानव का स्थायी कल्याण है।

---

[८३]

स्वाध्याय

आज का दिन चातुर्मासिक पर्व के नाम से जाना जाता है । चार मास पर्यन्त, इस वर्षावास में, ज्ञान-गंगा की जो धारा प्रवाहित हो रही थी, वह अपनी दिशा बदलने वाली है । चार मास से ज्ञान और सत्संग का जो यज्ञ चल रहा था, आज उसकी पूर्णाहुति है। श्रमणवर्ग अपना स्थिर निवास त्यागकर पुनः विहारचर्या अपनाएँगे ।

अन्त के इन तीन दिनों में 'सामायिक सम्मेलन' के आयोजन ने इस पर्व को सोने में सुगंध की तरह भर दिया है । आज स्वाध्याय की ज्योति को जगाने का दिवस है ।

यह आत्मशोधक पर्व है, जिसमें इस जीवन की शुद्धि सफलता और श्रेय का विचार करना है और भविष्य का निर्माण करना है ।

भगवान् महावीर का अनेकान्तमार्ग, जिसने कोटि-कोटि बन्धनबद्ध प्राणियों को मुक्ति और स्वाधीनता का मार्ग प्रदर्शित किया है, ज्ञान और क्रिया के समन्वय का समर्थन करके चलता है । उसने हमें बतलाया है कि एकांगी कर्म से अथवा एकांगी ज्ञान से निस्तार नहीं होगा । जब तक ज्ञान और क्रिया एक-दूसरे के पूरक बनकर संयुक्त बल न प्राप्त कर लेंगी, तब तक साधक की साधना में पूर्णता नहीं आएगी, वह लंगड़ी रहेगी और उससे सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सकेगी । क्रियाहीन ज्ञान मस्तिष्क का भार है और ज्ञानहीन क्रिया अन्धी है । दोनों एक-दूसरे के सहयोग के बिना निष्फल हैं । उनसे आत्मा का कल्याण नहीं होता । कहा भी है–

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं, हता चाज्ञानिनां क्रिया ।

अर्थात् क्रिया से रहित ज्ञान और ज्ञान से रहित क्रिया वृथा है । वह विशाल से विशाल और गम्भीर से गम्भीर ज्ञान आखिर किस काम का है जो कभी व्यवहार में नहीं आता ? उससे परमार्थ की तो बात दूर, व्यवहार में भी लाभ नहीं हो

सकता । जो मनुष्य अपनी मन्जिल तक जाने के मार्ग को जानता है, दूसरों को बतला भी देता है, मगर स्वयं एक कदम भी नहीं उठाता, उस ओर चलने का कष्ट नहीं उठाना चाहता, वह क्या जीवनपर्यन्त भी अपनी मन्जिल पर पहुँच सकेगा ? कदापि नहीं । ज्ञान पथ को आलोकित कर सकता है मगर मन्जिल तक पहुँचा नहीं सकता ।

एक दीर्घकाल का रोगी है । अनेकों चिकित्सकों के पास पहुँच कर उसने रोग की औषध पूछी है । उन औषधों को वह भलीभांति समझ गया है, मगर जब तक औषध का सेवन नहीं करेगा, तब तक क्या ज्ञान मात्र से वह स्वास्थ्य लाभ कर लेगा ?

इससे भलीभांति सिद्ध है कि कोरा ज्ञान, क्रिया के अभाव में कार्यसाधक नहीं होता । इसी प्रकार ज्ञानहीन क्रिया भी फलप्रद नहीं होती । एक मनुष्य अपनी मन्जिल पर पहुँचने के लिए चल रहा है, चल रहा है और चलता ही जा रहा है । मगर उसे पता नहीं कि किस मार्ग से चलने पर मन्जिल तक पहुँच पाएगा । ऐसी दशा में उसका चलना किस काम आएगा ? अज्ञान के कारण संभव है उसका चलना उसकी मन्जिल को और अधिक दूर कर दे । मन्जिल तक पहुँचने के लिए, मंजिल के विरुद्ध दिशा में चलने वाला कब मन्जिल तक पहुँच सकेगा ? रोगी रोग के शमन के लिए औषध को जानने का प्रयत्न न करे और अनजाने कुछ भी अंटसंट खाता रहे तो क्या वह रोग का निवारण करने में समर्थ हो सकेगा ?

जो मनुष्य यह नहीं देखता कि जिसे वह खा रहा है वह गुणकारी है या हानिकारक, उसे गंभीर परिणाम भुगतना पड़ सकता है । ऐसी स्थिति में कई लोगों को जिन्दगी से हाथ धोना पड़ा है । पदार्थ को न पहचानने तथा गुणदोष को न देखने से भयंकर हानियां होती हैं । नायलोन का कपड़ा पहनकर उसकी तासीर को न जानने के कारण सैकड़ों लोग जल मरे हैं । आए दिन महिलाओं के जल मरने के समाचार पढ़ने में आते रहते हैं । वस्तु अमुक गुण-धर्मवाली है, यह ख्याल रहे तो मनुष्य हानि से बच सकता है । आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र में कहा है–

स्वयं परेण वा ज्ञातं फलमद्याद्विशारदः ।
निषिद्धे विषफले वा, मा भूतस्य प्रवर्त्तनम् ।।

अर्थात् बुद्धिमान मनुष्य को उसी फल का भक्षण करना चाहिए जिसे वह स्वयं जानता हो या दूसरा कोई जानता हो, जिससे कि निषिद्ध या विषैला फल खाने में न आ जाए । निषिद्ध फल खाने से व्रतभंग होता है और विषाक्त फल खाने से प्राणहानि हो सकती है ।

मान लीजिए एक तश्तरी में शिलाजीत और अफीम का टुकड़ा पड़ा है। यदि शिलाजीत के बदले अफीम खाली जाये तो सब खेल खत्म हो जाएगा। परन्तु जो शिलाजीत को पहचान कर खाएगा, उसे कोई खतरा नहीं होगा। इसी कारण अज्ञात वस्तु खाने का निषेध किया गया है।

तात्पर्य यह है कि क्या ग्राह्य है और क्या अग्राह्य है, यह जानने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। इसके बिना की जाने वाली क्रिया सफल नहीं होती।

ज्ञान नेत्र हैं तो क्रिया पैर हैं। नेत्र मार्ग दिखलाएगा, पैर रास्ता तय करेगा।

पाप-पुण्य, बन्ध-मोक्ष, जीव-अजीव आदि का ज्ञान मानो नेत्र हैं। इस ज्ञान को क्रिया रूप में परिणत किया जाय तो यह वरदान सिद्ध होगा। अतएव सच्चा आराधक वही है जो ज्ञान और क्रिया का समन्वय साध कर अपने जीवन को उन्नत करता है।

अनेक जानकार व्यक्ति साधना के पथ पर नहीं चलते, परन्तु वे साधना के महत्व को स्वीकार करते हैं। सच्चे ज्ञान के होने पर यदि बहिरंग क्रिया न भी हो तो अंतरंग क्रिया जागृत हो ही जाती है। ऐसा न हो तो सच्चे ज्ञान का अभाव ही समझना चाहिए।

इस प्रकार जीवन को ऊँचा उठाने के लिए ज्ञान और क्रिया दोनों के संयुक्त बल की आवश्यकता है। सामायिक साधना में भी ये दोनों अपेक्षित हैं। इन दोनों के आधार पर सामायिक के भी दो प्रकार हो जाते हैं—(१) श्रुत सामायिक और चारित्र सामायिक।

मुक्तिमार्ग में चलना चारित्र सामायिक है। इसके पूर्व श्रुत सामायिक का स्थान है जिससे जीवन की प्रगति या आत्मिक उत्कर्ष के लिए आवश्यक सही प्रकाश मिलता है। इसी प्रकाश में साधक अग्रसर होता है और यदि यह प्रकाश उपलब्ध न हो तो वह लड़खड़ा जाता है।

व्यक्तिगत या सामूहिक जीवन में विकारों का जो प्रवेश होता है, उसका कारण सही ज्ञान न होना है। ज्ञान के आलोक के अभाव में मनुष्य विकारों का मार्ग ग्रहण कर लेता है। इस कुमार्ग पर चलते-चलते वह ऐसा अभ्यस्त हो जाता है, एक ऐसे ढांचे में ढल जाता है कि उसे त्यागने में असमर्थ बन जाता है। ऐसी स्थिति में उसका सही राह पर आना तभी संभव है जब किसी प्रकार उसे ज्ञान का प्रकाश मिल सके। ज्ञानप्राप्ति के लिए आवश्यक है कि मनुष्य नियमित रूप से स्वाध्याय करे।

स्वाध्याय जीवन के संस्कार के लिए अनिवार्य है । स्वाध्याय ही प्राचीनकालीन महापुरुषों के साथ हमारा सम्बन्ध स्थापित करता है और उनके अन्तस्तल को समझने में सहायक होता है । भगवान् महावीर, गौतम और सुधर्मा जैसे परमपुरुषों के वचनों और विचारों को जानने का एकमात्र उपाय स्वाध्याय ही है । आज स्वाध्याय के प्रचार की बड़ी आवश्यकता है और उसके लिए साधकों की मण्डली चाहिए । ज्ञानबल के अभाव में त्यागियों के ज्ञानप्रकाश को ग्रहण करने वाले पर्याप्त पात्र नहीं मिलते । इसका कारण स्वाध्यायविषयक रुचि का मन्द पड़ जाना है । श्रुतबल की मन्दता वाले श्रोता स्वाध्याय के महत्व को नहीं समझ पाते ।

सम्यक्त्व में श्रद्धा का बल निहित होता है । भरत को यह बल प्राप्त था। चारित्र सामायिक का बल उसे प्राप्त नहीं था तथापि श्रुत सामायिक का बल प्राप्त होने से उन्हें केवल-ज्ञान प्राप्त हो सका । यही नहीं, भरत की आठ पीढ़ियां महल में निवास करती हुई भी मुक्ति पा गई । इसका कारण भी सम्यक्त्व एवं श्रुत सामायिक का बल था ।

इसका आशय यह न समझ लें कि भरत और उनकी सन्तान ने चारित्र के बिना ही मोक्ष प्राप्त कर लिया । नहीं, चारित्र के अभाव में मोक्ष कदापि संभव नहीं है । इस कथन का आशय यह है कि सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक का प्रबल बल होने पर बाह्य क्रिया काण्ड रूप व्यवहारचारित्र के बिना भी स्वात्मरमण रूप निश्चय चारित्र प्राप्त हो सकता है । सामान्य मनुष्य काम-क्रोध आदि की विविध तरंगों में बहता-उछलता रहता है । भरत भारतवर्ष के छहों खंडों के अधिपति होकर भी इन तरंगों के प्रभाव से प्रभावित नहीं हुए । घर का आनुवंशिक संस्कार भी और मनुष्य के अतीतकालिक संस्कार भी ऐसी जगह वह काम कर जाते हैं जो कॉलेज की शिक्षा या शास्त्राध्ययन से भी प्राप्त नहीं हो सकते । पी.एच.डी. की उच्च उपाधि प्राप्त कर लेने वाले व्यक्ति का दिमाग भले ही गुमराह हो जाय परन्तु सुसंस्कृत व्यक्ति गुमराह नहीं हो सकता । भरत अपने अन्तिम जीवन को निर्वाण के योग्य बना सके, इसका प्रधान कारण श्रुत और सम्यक्त्व है ।

सामायिक के दो रूप हैं—साधना और सिद्धि । श्रुत सामायिक से साधना संकल्प का आरंभ और उदय होता है । वह विकास पाकर ज्ञान और चारित्र के द्वारा आत्मा में स्थिरता उत्पन्न करता है । यह आत्मस्थिरता ही सामायिक की पूर्णता है । आत्मप्रदेशों का स्पन्दन या कम्पन जब समाप्त हो जाय तभी सामायिक की पूर्णता समझनी चाहिए। इसे आगम की भाषा में अयोगी दशा की प्राप्ति कहते हैं ।

आज केवलज्ञानी इस क्षेत्र में विद्यमान नहीं हैं, श्रुतकेवली भी नहीं हैं। किन्तु महापुरुषों की श्रुताराधना के फलस्वरूप उनकी वाणी का कुछ अंश हमें सुलभ है। इसीके द्वारा हम उनकी परोक्ष उपासना का लाभ प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए स्वाध्याय करना आवश्यक है। स्वाध्याय चित्त की स्थिरता और पवित्रता के लिए भी सर्वोत्तम उपाय है।

जीवन को ऊँचा उठाने का अमोघ उपाय श्रुताराधन है। यदि व्रत विकृत होता हो, उसमें कमजोरी आ रही हो तो स्वाध्याय की शरण लेनी चाहिए। स्वाध्याय से बल की वृद्धि होगी, आनन्द की अनुभूति और नूतन ज्योति की प्राप्ति होगी।

आनन्द ने साधना द्वारा पन्द्रह वर्ष के पश्चात् साधुजीवन की भूमिका प्राप्त कर ली। वास्तव में साधना एक अनमोल मणि है जिससे मानव की आत्मिक दरिद्रता दूर की जा सकती है। साधना के क्रम और सही पथ को विस्मृत न किया जाय और उसे रूढ़िमात्र न बना दिया जाय। साधना सजीव हो, प्राणवान् हो और विवेक की पृष्ठभूमि में की जाय तभी उससे वास्तविक लाभ उठाया जा सकता है। अन्यथा मणिधर होते हुए भी अन्धकार में भटकने के समान होगा। जब साधना के द्वारा आत्मा सुसंस्कृत बनती है तो उसमें ज्ञान की ज्योति जागृत हो जाती है, जीवन ऊँचा उठता है और ऐसा व्यक्ति अपने प्रभाव एवं आदर्श से समाज को भी ऊँचा उठा देता है।

जीवमात्र में राग और द्वेष के जो गहरे संस्कार पड़े हैं उनके प्रभाव से किसी वस्तु को प्रेम की दृष्टि से और किसी को द्वेष की दृष्टि से देखा जाता है। जिस वस्तु को एक मनुष्य राग की दृष्टि से देखता है, उसी को दूसरा द्वेष की दृष्टि से देखता है। भगवान् महावीर जैसे वीतराग, निर्मल, निष्कलंक, सर्वहितंकर परम-परमात्मा को भी विपरीत दृष्टि से देखने वाले मिल जाते हैं तो अन्य के विषय में क्या कहा जाय?

विरोधमय दृष्टि से दूसरों की बुराइयाँ तो दिखेंगी पर अच्छाइयां दृष्टिगोचर न होंगी। अनादिकाल से मनुष्य स्वार्थ के चक्र में फँसा है। स्वार्थ में थोड़ी ठेस लगने से विरोधी भाव जागृत हो जाते हैं। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने जीवन में तटस्थता के दृष्टिकोण को विकसित करें। ऐसा करने से किसी भी वस्तु के गुण-दोषों का सही मूल्यांकन किया जा सकता है।

लौंकाशाह जैसे व्यक्ति समय पर आगे आए जिन्होंने गृहस्थों के लिए भी श्रुत के अध्ययन का मार्ग खोला। इससे पूर्व बाबा लोगों ने आगम-श्रुत पर

एकाधिकार कर लिया था। मगर लौंकाशाह ने समाज को अंधेरे से बाहर निकाला। वस्तुस्वरूप को उन्होंने समझा था, इस कारण मार्ग का स्वरूप सामने आया। श्रुतज्ञान का अभाव कुछ हद तक दूर हुआ। मगर आज की नयी पीढ़ी श्रुतज्ञान के प्रति उदासीन होती जा रही है। धार्मिक विज्ञान की दृष्टि से कितने प्रकार के जीव होते हैं, तरुण पीढ़ी वाले यह नहीं बता सकेंगे। जहाँ इतनी बात का भी पता न हो वहां धर्म एवं शास्त्रों के हार्द को समझे जाने की क्या आशा की जा सकती है? लौंकाशाह ने सोचा कि श्रुतज्ञान तो प्रत्येक मानव के लिए आवश्यक है, और लौंकाशाह के कहलाने वाले अनुयायी आज श्रुतज्ञान के प्रति उपेक्षाशील हो रहे हैं, यह खेद और विस्मय की ही बात है।

धार्मिक संघर्ष के समय साहित्य के विनाश का क्रम भी चला था। जैसे सैनिक दल विरोधी पक्ष के खाद्य और शस्त्रभण्डार आदि का विनाश करते हैं, वैसा ही विरोधी धर्मावलम्बियों ने साहित्य का विनाश किया। फिर भी आज हमारे समक्ष जो श्रुतराशि है, वह सत्य मार्ग को समझने-समझाने के लिए पर्याप्त है।

लौंकाशाह ने उनके अध्ययन का गृहस्थों के लिए भी समर्थन किया। उन्होंने समाज में फैले उन विकारों को भी दूर किया, जो सम्यग्दर्शन के लिहाज से बुरे थे। सामायिक-पौषध को उड़ाने की बात उन्होंने नहीं कही, सिर्फ विकारों पर ही चोट लगाई।

हम बँधे हैं जिन वचनों से। जिन वचन के नाम पर की गई या की जाने वाली स्खलनाओं से हम नहीं बँधे हैं। हम महावीर के वचनों से बँधे हैं जिनके लिए आत्मोत्सर्ग करना अपना सौभाग्य समझेंगे।

विक्रम सम्वत् १५३१ में ५४ जनों के साथ लौंकाशाह जिन-धर्म में दीक्षित हुए। उन्होंने कोई नयी चीज नहीं रखी, सिर्फ भूली वस्तु की याद दिलाई। जैसे भूगर्भशास्त्रवेत्ता जलधारा को जान कर गांव के पास उस स्रोत को ला सकता है, ऐसी ही बात लौंकाशाह के प्रति कह सकते हैं। मगर यह भी कोई कम महत्व की बात नहीं है। सोयी जनता को उन्होंने जगाया और कहा कि महात्मा जो कहें सो मान लें, यह ठीक नहीं है। हम स्वयं श्रुत की आराधना करें। कवि ने कहा है—

कर लो श्रुत वाणी का पाठ, भविक जन, मन-मल हरने को।
बिन स्वाध्याय ज्ञान नहीं होगा, ज्योति जगाने को।
राग-रोष की गांठ गले नहीं, बोधि मिलाने को।
जीवादिक स्वाध्याय से जानो, करणी करने को।
बन्ध-मोक्ष का ज्ञान करो, भवभ्रमण मिटाने को।।

लौंकाशाह की समाज को सबसे बड़ी देन है—भूली हुई स्वाध्यायवृत्ति को पुनः जागृत करना। स्वाध्याय के अभाव में जीवन में विकार आ जाना स्वाभाविक है। रेशमी या अन्य किसी बढ़िया से बढ़िया वस्त्र को कितना ही संभाल कर रखा जाय, फिर भी कुछ दिनों में उसका रंग बदल जाएगा या उसमें दाग लग जाएँगे।

विषय-कषाय का मूल स्रोत कायम है, अतएव मानव के गड़बड़ाने की संभावना बनी रहती है। किन्तु बातों से या सम्भाषण से काम नहीं चलेगा। अच्छे से अच्छे प्रस्ताव पास कर लेने से भी क्या होना-जाना है ? शासन ऊँचा उठेगा क्रियात्मक रूप देने से। पाँच वीर यदि दृढ़ संकल्प के साथ कार्य में जुट जाएँ तो पाँच सौ आदमियों से भी अधिक काम कर सकते हैं।

लौंकाशाह के विचारों का देश भर में फैलाव हुआ। सबकी हृत्तंत्री झंकृत हुई। किन्तु प्रत्येक आन्दोलन कुछ समय के पश्चात मन्द पड़ जाता है, चिन्तनधारा भी धीमी हो जाती है। बीच में यदि कोई प्रभावशाली व्यक्ति उदित हो जाय तो समाज पुनः जागृत हो जाता है।

महिमा-पूजा के प्रलोभन में या प्रवाह में बहने से साधना विकृत हो जाती है। जो इस चक्कर में पड़ता है वह पतित हुए बिना नहीं रहता। वह फिर से अधोगामी हो जाएगा। राजसन्मान की कामना जब अन्तर में उत्पन्न हो जाती है तो साधना का सारा चक्र बदल जाता है।

इस तरह लौंकाशाह के पश्चात् भी समय-समय पर क्रियोद्धार के लिए अनेक महात्मा सामने आए और उन्हीं का प्रताप है कि हम वीतराग की वाणी का लाभ आज ले रहे हैं। यह उन्हीं स्वाध्यायशील महर्षियों के कठिन परिश्रम का फल है। यह समझना बड़ी भूल होगी कि श्रुतरक्षा का भार साधुसमाज पर ही है, गृहस्थों पर नहीं। श्रमणवर्ग की अपेक्षा संघ एवं समाज पर श्रुतरक्षण का भार अधिक है। मुनियों की छोटीसी टुकड़ी इधर-उधर बिखरी हुई है। उनका सर्वत्र पहुँचना संभव नहीं है। गृहस्थ वर्ग को वीतराग की वाणी का प्रसार करने की अनेक सुविधाएँ प्राप्त हैं। उसके प्रसार का अर्थ यह है कि जिज्ञासुजनों को श्रुत की प्रतियां सुलभ हों, युगानुकूल भाषाशैली में उनका अनुवाद हो, उनके महत्व को प्रदर्शित करने वाली सामग्री प्रस्तुत हो, समालोचनात्मक एवं तुलनात्मक पद्धति से उनका अध्ययन, मनन करके उन पर सुन्दर प्रकाश डाला जाय, इत्यादि। छोटे से छोटे ग्रामों में भी आगम उपलब्ध किये जाने चाहिए। वहां अगर स्वाध्याय चलता रहे तो साधु-सन्तों के न पहुँचने पर भी धार्मिक वातावरण बना रह सकता है।

आज देश में युद्ध का वातावरण होने से संकट का काल है, उसी प्रकार धार्मिक दृष्टि से भी यह संकटकाल है। आज का मानव भौतिक वस्तुओं और आवश्यकताओं में इतना लिप्त हो गया है कि वह धर्म की सुध भूल रहा है। ऐसे समय में धर्मप्रिय लोगों को विशेष रूप से सजग होना चाहिए। साक्षरता के इस युग में अन्यान्य विषयों को पढ़ने की रुचि यदि धर्मशास्त्र पठन रुचि में बदल जाय तो कुछ कमियाँ दूर हो जायँ। आज तो स्थिति ऐसी है कि अध्यात्म साधना के लिए समय निकालना लोगों को कठिन प्रतीत हो रहा है यदि लगन वाले लोग इस ओर ध्यान दें तो बड़ा लाभ होगा। धर्म के प्रति रुचि जगाने के लिए ऐसे व्यक्तियों की सेवा अपेक्षित है। आध्यात्मिक-संगठन के निर्माण के लिए तरुणों को तैयार किया जाना चाहिए।

अजमेर में एक मियांसाहब प्रवचन सुनने आया करते थे। उन्होंने बतलाया कि नवजवानों में इबादत करने की रुचि घट रही है। इबादत करने नहीं आने वाले नवयुवकों की तालिका बनानी पड़ रही है। इससे कुछ लाभ हुआ है। इबादत करने वालों की संख्या में कुछ वृद्धि हुई है। किन्तु आप लोग ऐसा प्रयास कहां करते हैं? महाजनों को तो जन्म से ही अर्थ की घूंटी पिलाई जाती है। पचहत्तर वर्ष के वृद्ध भी अर्थ-संचय में संलग्न रहते हैं। जिन लोगों ने अर्थ को ही जीवन का सर्वस्व या परमाराध्य मान लिया है और जिनका यह संस्कार पक्का हो गया है, उनके विषय में क्या कहा जाय ? मगर नयी पीढ़ी को अर्थ की घूंटी से कुछ हटा कर धर्म की घूंटी दी जाय तो उनका और शासन का भला होगा।

गृहस्थ प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों की साधना कर सकता है। वृद्धावस्था में ईश्वर-भजन में अधिक समय व्यतीत हो, इस परम्परा को पुनः जीवित करने की आवश्यकता है। नयी पीढ़ी के जीवन का मोड़ बदलना आवश्यक है। श्रावकवर्ग यदि श्रुतसेवा के मार्ग को अपना लें तो वह अपने धर्म का पालन करता हुआ श्रमणों को भी प्रेरणा दे सकता है।

स्वाध्याय की ज्योति घर-घर में फैले, लोगों का अज्ञान दूर हो, वे प्रकाश में आएं और आत्मा के श्रेय में लगें, यही सैलाना—वासियों को मेरा सन्देश है।

---

[८४]

विदाई की बेला में

भगवान् महावीर ने जीवन को उच्च बनाने और आत्मा को निर्मल बनाने के लिए रत्नत्रयी का सन्देश दिया है, जिसमें (१) सम्यग्ज्ञान (२) सम्यग्दर्शन और (३) सम्यक्चारित्र का समावेश होता है । साधु-साध्वीवर्ग इन तीन रत्नों की उपासना को ही अपने जीवन का एक-मात्र लक्ष्य मान कर प्रवृत्ति करता है । श्रावक-श्राविकाओं को भी यथाशक्ति इनकी आराधना करनी होती है । इनकी यथासंभव आराधना से ही श्रावक-श्राविका का पद प्राप्त होता है ।

अपनी श्रेयस् साधना के लिए ही साधु-साध्वीवर्ग निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं-एक स्थान पर स्थिर रह कर निवास नहीं करते । यदि साधु-साध्वी एक स्थान में रहें तो उनका जीवन गतिशील नहीं रह जाएगा । संत एक विशिष्ट लक्ष्य को लेकर चलते हैं । वह लक्ष्य विराग से ही प्राप्त किया जा सकता है । न किसी पर राग, न किसी पर द्वेष हो । समभाव या तटस्थ वृत्ति का जीवन में जितना अधिक विकास होगा, उतनी ही शान्ति और निराकुलता की प्राप्ति हो सकेगी । मनुष्य दुःख, शोक, सन्ताप आदि से ग्रस्त रहता है, इसका मूल कारण उसकी राग-द्वेषमय वृत्ति है । इससे पिण्ड छुड़ाना सुख, शान्ति और आत्मकल्याण के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है ।

एक स्थान में स्थिर रहने से स्नेह सम्बन्ध आसक्ति के रूप में न बदल जाय, इस सम्भावना को ध्यान में रखते हुए भगवान् ने सन्त-सतियों के लिए सतत् विचरण करने का विधान किया है । प्रभु ने कहा-"हे साधको ! भ्रमण करने से शारीरिक श्रम होगा, काययोग का हलन-चलन होगा और धर्म की वृद्धि भी होगी । यदि तुम विचरणशील रहोगे तो तुम्हारी कोई हानि नहीं होगी और दूसरों को लाभ होगा ।" कहा है-

बहता पानी निर्मला, पड़ा गंदीला होय ।
साधु तो रमता भला, दाग न लागे कोय ।

साधु रमता-रमता कहीं भी चला जाता है । एक ग्राम या नगर में अधिक से अधिक कितने दिनों तक ठहरना चाहिए, इसकी मर्यादा बाँध दी गई है । साधुओं के समान साध्वियों के लिए उग्र विहार का रूप नहीं है । उनके लिए एक जगह रहने का काल द्विगुणित माना गया है । कभी लौंद का महीना आ गया या जीव-जन्तुओं का संचरण बन्द न हुआ या कोई अन्य विशेष कारण उपस्थित हो गया तो छह मास तक स्थिर-निवासकाल बढ़ाया जा सकता है । किन्तु कारण के बिना उसे नहीं बढ़ाया जा सकता । साधुओं की इस विहारचर्या का दूसरा उद्देश्य भगवान् वीतराग की ज्ञानगंगा को दूर-दूर और सर्वत्र प्रवाहित करना भी है । आधियों, व्याधियों और उपाधियों से पीड़ित और अनेकविध सांसारिक सन्तापों से सन्तप्त प्राणियों को शान्ति प्रदान करना है ।

चार मास के वर्षाकाल का साधना के चार मार्गों के साथ बड़ा ही सुन्दर मेल बैठता है । इस काल में ज्ञान के आदान-प्रदान का कार्य चलता रहता है ।

हम आषाढ़ शुक्ला नवमी को सैलाना में आए और कार्त्तिकी पूर्णिमा तक रहे । यहाँ के नागरिकों की श्रद्धा, भक्ति, सुजनता तथा शील-व्यवहार का हमारे हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा है । चातुर्मास के समय कुछ साधु-साध्वियों को शारीरिक वेदना का अनुभव करना पड़ा, किन्तु अब वे स्वस्थ हो गए हैं । हमने अपनी चातुर्मासिक साधना का समय पूर्ण कर लिया है । लोगों की सरलता, सुजनता एवं श्रद्धा से हमें बड़ा प्रमोद मिला है । सैलाना वासियों का धार्मिक योगदान बड़ा उत्तम रहा । यहाँ संघनायक न होते हुए भी आदर-सम्मान की प्रवृत्ति, साधुओं के प्रति, श्रद्धाभक्ति ऐसी थी जैसे सब एक शासन सूत्र में बँधे हों । अब नियमित रूप से संघ का निर्वाचन हो गया है और श्री तखतमलजी अध्यक्ष, श्री रांकाजी उपाध्यक्ष एवं लोढ़ाजी मन्त्री चुने गए हैं । ये निर्वाचित पदाधिकारी भविष्य में अधिक उत्साह और शक्ति के साथ कार्य करेंगे, ऐसी आशा है ।

यहां के बालकों तथा नवयुवकों ने बहुत उत्साह दिखलाया । इन भाइयों से मैं अपेक्षा रखता हूँ कि वे शारीरिक श्रम के कार्यों में रुचि लेते रहेंगे तथा ज्ञान का बल संचित करके अपने अन्तरंग और बहिरंग को क्षमतायुक्त बनाएँगे । इन्हें संसार के उत्तरदायित्वों का निर्वाह करना है और शासन के उत्थान का भार भी वहन करना है। जीवन भव्य, दिव्य एवं आध्यात्मिक दृष्टि से उच्च बनाने की दिशा में प्रयास करना सर्वोपरि कर्त्तव्य है, इस तथ्य को आपको कभी विस्मृत नहीं करना चाहिए । जन-साधारण में नैतिक और आध्यात्मिक जागरण आये बिना किसी भी देश की उन्नति लंगड़ी है । वह टिकाऊ नहीं होगी । अतएव राष्ट्रीय उन्नति के दृष्टिकोण से भी धर्म के प्रचार की अनिवार्य आवश्यकता है ।

सैलाना में २०-३० वर्ष पूर्व से ज्ञानोपासना की रुचि रही है । मैं चाहता हूँ कि मेरे जाते-जाते आप लोग प्रतिज्ञाबद्ध होकर आश्वासन देंगे कि आप निरन्तर धर्म की सेवा करेंगे और जीवन को उच्च बनाएँगे । आप ऐसा करेंगे तो मुझे अतीव सन्तोष होगा ।

जो कुछ खाया जाता है उसे पचाने से ही शरीर पुष्ट होता है । प्रवचनों द्वारा आपने जो कुछ ज्ञानसंग्रह किया है, उसका उपयोग करने का अब समय है । ऐसा करने से आपका जीवन सुखमय बनेगा ।

भूमि में बीज पड़ने से और अनुकूल हवा, पानी आदि का संयोग मिलने से अंकुर फूट निकलते हैं । भूमि में बीज जब पड़ता है तो भूमि उसे ढँक लेती है । आपके हृदय-रूपी खेत में धर्म के बीज डाले गए हैं, सिंचाई भी हो गई है । अब उन्हें सुरक्षित रखना और फल पका कर खाना यह हम आपके हाथ में छोड़ जाते हैं। अगर आप उन फलों का ठीक तरह से उपभोग करेंगे तो अपना जीवन सफल बना लेंगे ।

एक छोटा-सा व्यक्ति भी यदि बस्ती के कार्यों में रस ले तो दूसरे उसका अनुकरण करते हैं । सत्कर्म भी अनुकरणीय हैं । यहां साधुओं की वाणी को सुनने कृषकबन्धु तथा अन्य काम-काजी लोग भी आए । यदि सत्संग का क्रम निरन्तर चलता रहा तो ज्ञान सदा जागृत रहेगा ।

आज कोई विशेष नवीन बात नहीं कहनी है, पिछले दिनों कही गई बातों को ही सामान्य रूप से स्मरण कराना है और उनकी ओर सदा ध्यान रखने की प्रेरणा करनी है ।

आनन्द का श्रावकमार्ग आपके लिए ज्वलंत उदाहरण बने । ऊँचे कुल में जन्म लेने मात्र से कोई भक्त या ऊँचा नहीं होता, अच्छी करनी करने से भक्त बनेगा और ऊँचा कहा जाएगा । आरम्भ-परिग्रह का आकर्षण अनर्थों का मूल है । इसे नियन्त्रित करने का सदैव ध्यान रखना चाहिए । सदैव जीवन को संयममय बनाने का प्रयत्न करना चाहिए । राष्ट्रीय संकटकाल में यदि मानव संयम नहीं रखेगा तो देश की महती हानि होगी । प्रदर्शन करने और महलों में सोये पड़े रहने के दिन लद गए। अब सादगी, स्वावलम्बन, श्रमशीलता, वैयक्तिक स्वार्थ के त्याग तथा धर्मसाधना के प्रति आदर का युग है । धर्म संजीवनी बूटी के समान सारे संसार के त्रास को नष्ट करने वाला है । धर्म से व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का भी कल्याण होगा ।

जिसके जीवन में सत्य, सरलता, श्रमशीलता और धर्मनिष्ठा आ जाती है, वह समाज में स्वतः आदरणीय बन जाता है । आनन्द का संयममय जीवन दूसरों के लिए

अनुकरणीय बन गया । उसने अपने जीवन के साथ अपनी पत्नी के जीवन को भी संयम के मार्ग पर चलाया । व्रत ग्रहण कर घर लौटते ही अपनी पत्नी को व्रतग्रहण की प्रेरणा की । पत्नी ने भी भगवान् के चरणों में उपस्थित होकर श्राविका के योग्य व्रतों को अंगीकार किया । इस प्रकार पति और पत्नी दोनों अनुरूप हो गए ।

पति और पत्नी के विचार एवं आचार में जब समानता होती है तभी गृहस्थी स्वर्ग बनती है और परिवार में पारस्परिक प्रीति एवं सद्‌भावना रहती है । जिस घर में पति-पत्नी के आचार-विचार में विरूपता-विसदृशता होती है, वहाँ से शान्ति और सुख किनारा काट कर दूर हो जाते हैं । पत्नी-पति का आधा अंग कही गई है, इसका तात्पर्य यही है कि दोनों का व्यक्तित्व पृथक्-पृथक् प्रकार का न होकर एकरूप होना चाहिए । दोनों में एक-दूसरे के लिए समर्पण (स्व-अर्पण) का भाव होना चाहिए। जैसे आदर्श पत्नी स्वयं कष्ट झेल कर भी अपने पति को सुखी बनाने का प्रयत्न करती है, उसी प्रकार पति को भी पत्नी के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए । दोनों में से कोई एक यदि श्रावकधर्म से विमुख होता हो तो दूसरे को चाहिए कि वह प्रत्येक संभव और समुचित उपाय से उसे धर्मोन्मुख बनावे । महारानी चेलना ने किस प्रकार धर्म में दृढ़ रह कर सम्राट श्रेणिक को धर्मनिष्ठ बनाने का प्रयास किया था, यह बात आप जानते होंगे ।

आनन्द दूरदर्शी गृहस्थ था । उसने सोचा कि घर में विषमता होने से शान्ति प्राप्त न होगी । अतएव उसने अपनी पत्नी शिवानन्दा से कहा—"मैंने बारह व्रत अंगीकार किये हैं, देवानुप्रिये ! तू भी प्रभु के चरणों में जाकर व्रत अंगीकार कर ले।" शिवानन्दा ने अतीव हर्ष और उल्लास के साथ व्रत स्वीकार कर लिये ।

भगवान् महावीर स्वामी के सप्तम पट्टधर आचार्य श्री स्थूलभद्र ने महामुनि भद्रबाहु से दस पूर्वों का ज्ञान अर्थसहित और अन्तिम चार पूर्वों का ज्ञान सूत्र रूप में प्राप्त किया । भद्रबाहु के पश्चात् स्थूलभद्र ने कौशलपूर्वक शासनसूत्र संभाला । उस काल तक वीरसंघ में किसी प्रकार का शाखाभेद नहीं हुआ था । वह अखंड रूप में चल रहा था । श्वेताम्बर, दिगम्बर आदि भेद बाद में हुए ।

स्थूलभद्र के आचार्यत्व काल के ४४ वें वर्ष वीर नि. सं. २१४ में आषाढाचार्य के शिष्य अव्यक्तवादी निन्हव हुए ।

आषाढाचार्य का अन्तिम समय सन्निकट आया । उनके शरीर में प्रबल वेदना उत्पन्न हुई और उनकी जीवनलीला समाप्त हो गई । वे अपने शिष्यों को जो वाचना दे रहे थे, वह पूर्ण नहीं हो पाई थी, अतएव धर्मस्नेह के कारण स्वर्ग से आकर वे अपने मृतक शरीर में पुनः अधिष्ठित हो गए । प्रातःकाल शिष्यों को जगाकर वाचना

पूरी की । अन्त में उन्होंने इस रहस्य को प्रकट कर दिया । बतलाया कि 'मैं शरीर त्याग कर स्वर्ग चला गया था और पुनः इस शरीर में अधिष्ठित हो गया हूँ ।'

इस प्रकार गुरु के रूप में देवता ने काम किया । शिष्यों ने उनके शरीर को त्याग दिया । मगर इस घटना ने विषम रूप धारण कर लिया । कतिपय साधुओं के मस्तिष्क में एक व्यापक सन्देह उत्पन्न हो गया । उन्होंने सोचा हमने असंयमी देव को साधु समझ कर वन्दना की । ऐसी स्थिति में क्या पता चल सकता है कि कौन वास्तव में साधु है और कौन साधु नहीं है ? बेहतर है कि कोई किसी को वन्दना ही न करे ।

इस प्रकार विचार कर उन्होंने आपस में वन्दन व्यवहार बन्द कर दिया । स्थविरों ने उन्हें समझाया—वह वास्तव में साधु नहीं था, देव था, यह आपने कैसे जाना ? देव के कहने से ही न ! अगर आप देव के कथन पर विश्वास कर सकते हैं तो जो साधु अपने को साधु कहते हैं, उनके कथन पर विश्वास क्यों नहीं करते ? देव की अपेक्षा साधु का कथन अधिक प्रामाणिक होता है । फिर भी आप देव के कहने को सत्य समझें और साधु के कथन को असत्य समझलें, यह न्यायसंगत नहीं है।

इस प्रकार बहुत कुछ समझाने-बुझाने पर भी वे सन्देहग्रस्त साधु समझ न सके। तब उन्हें संघ से पृथक् कर दिया गया ।

पृथक् हुए साधुओं की मंडली घूमती-घूमती राजगृह नगर में पहुँची । वहां के राजा उस समय बलभद्र थे । उन्हें इन साधुओं की भ्रान्त धारणा का पता चल चुका था । बलभद्र जिनमार्ग के श्रद्धालु श्रावक थे । अतएव उन्होंने इन साधुओं को सन्मार्ग पर लाने का निश्चय किया । अपने सेवकों द्वारा साधुओं को बुलवाया । साधुओं के आने पर राजा ने आज्ञा दी—"इन सबको मदोन्मत्त हाथियों के पैरों से कुचलवा दिया जाय ।"

देखने-सुनने वाले दंग रह गए । राजसभा में सन्नाटा छा गया । साधुओं के पैर तले की धरती खिसक गई । लोगों ने राजा के भीतरी आशय को समझा नहीं था, अतएव उनके हृदय में उथल-पुथल मच गई । मगर राजा के आदेश के सामने कोई चूं न कर सका।

मदमस्त हाथी लाये गये और साधु एक कतार में खड़े कर दिये गये । साधुओं के सिर पर मौत मंडराने लगी । अपना अन्तिम समय समझ कर उनमें से एक साधु ने बचाव करने का विचार किया । उसने सोचा—"जब मरना है तो डरना क्या? तो आखिर राजा से पूछ तो लेना चाहिए कि किस अपराध में हमें यह भयंकर

मृत्युदण्ड दिया जा रहा है । राजा क्रुद्ध भी हो गया तो प्राणनाश से अधिक क्या करेगा ? सो वह तो कर ही रहा है । संभव है हमें अपनी सफाई पेश करने का अवसर मिल जाय ।"

इस प्रकार विचार कर साधु ने कहा—"राजन् ! आप श्रावक होकर भी क्यों हम निरपराध साधुओं के प्राण ले रहे हैं ?"

राजा को अपनी बात समझाने का अवसर मिल गया । उसने उत्तर दिया—"कौन जाने आप लोग साधु हैं अथवा साधु के वेष में चोर हैं ? आप अपने को साधु कहते हैं मगर आपके कथन पर कैसे विश्वास किया जा सकता है ? जब आप लोगों को आपस में ही एक-दूसरे पर विश्वास नहीं, आपमें से कोई किसी को निश्चित रूप से साधु नहीं मानता, फिर हम कैसे आपको साधु मान लें ? अगर आप एक-दूसरे को साधु समझते होते तो परस्पर वन्दना व्यवहार करते ।"

राजा के इतना कहते ही साधुओं की बुद्धि ठिकाने आ गई । उन्होंने अपनी भूल के लिए पश्चात्ताप किया ।

जब शासन में किसी प्रकार का विसंवाद उत्पन्न हो और शासन का अपवाद होता हो तो श्रावक ढाल बन जाता है और परिस्थिति को सुधारने का काम करता है। भीतर में वह कान पकड़े तो भी कोई बुरा नहीं मानता ।

साधुगण राजा बलभद्र से क्षमायाचना करके गुरुचरणों में जा पहुँचे ।

वीर निर्वाण सम्वत् २१५ में स्थूलभद्र स्वर्गधाम सिधारे । इन्हीं महामुनि स्थूलभद्र की श्रुताराधना का सुफल हम आज भोग रहे हैं । हमें इस मंगलमय जीवन के चिन्तन का अवसर मिला, यह हमारे कल्याण का कारण बनेगा ।

बन्धुओ ! आपके समक्ष जो आदर्श उपस्थित किए गए हैं, वे आपके पथ-प्रदर्शक बन सकते हैं । आप इनसे प्रेरणा लेते रहेंगे तो आपका जीवन कल्याणमय बन जाएगा । स्वाध्याय के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है । आशा करता हूँ कि आप स्वाध्याय की धारा को टूटने नहीं देंगे । उपाश्रय रूपी विद्यालय में अध्यापक की छड़ी नहीं घूमेगी, फिर भी आप लोग स्वयंचालित अस्त्र के समान चलते रहिए । इन शब्दों के साथ मैं आह्वान करता हूँ कि भगवान् महावीर की मंगलमयी वाणी को हृदय में धारण कर स्व-पर एवं लौकिक-लोकोत्तर कल्याण के भागी बनें ।

गुरु-गजेन्द्र-गणि-गुणाष्टकम्

वसन्ततिलकावृत्तम्

(१)

हे तात ! हे दयित ! हे भुवनैकबन्धो !
शोभानिधे ! सरल ! हे करुणैकसिन्धो !

त्वामाश्रितो गुरु-गजेन्द्र जगच्छरण्य !
मां तारयाशु भवधेस्तु भवाब्धिपोत !

हे प्राणाधिक वल्लभ तात ! हे त्रिभुवन के एकमात्र बन्धो ! हे शोभा के सागर ! हे नितान्त सरल ! करुणा के अथाह सिन्धु ! संसार के सचराचर प्राणिवर्ग को शरण प्रदान करने वाले गुरुवर गजेन्द्र ! (श्री हस्तिमलजी महाराज साहब) मैं आपकी शरण में आया हूँ । हे भवसागर से पार उतारने वाले महान् जहाज ! मुझे शीघ्र ही संसार-सागर से पार उतारिये ।

(२)

स्वाध्यायसंघ-सहधर्मिसमाज-सेवा,
सिद्धान्त-शिक्षणविधौ विविधोपदेशः ।

अध्यात्मबोधनपरास्तव शंखनादाः
गुञ्जन्ति देव ! निखिले महिमण्डलेऽस्मिन् ।।

हे गुरुदेव ! स्वाध्याय संघ, सहधर्मि-वात्सल्य, समाज-सेवा एवं शास्त्रों के शिक्षण के सम्बन्ध में आपके विविध विषयों के उपदेश और अध्यात्म-भाव को प्रबुद्ध कर देने वाले आपके शंखनाद इस सम्पूर्ण महिमण्डल में गूंज रहे हैं ।

(३)

क्षोण्या सदा तिलकभूतमरोर्धरायाम्,
राठोड़वंशक्षितिपैः परिपालितायाम् ।

रूपा-सती-तनय ! केवलचन्द्रसूनो !
जन्माभवत् तव कलेः मदभञ्जनाय ।।

हे रूपासती के लाल–श्री केवलचन्द्रजी के आत्मज ! आपका जन्म कलिकाल के प्रभाव को निरस्त करने के लिये, राठोड़ वंश के राजाओं द्वारा सुशासित-सुरक्षित सदा सकल महीमण्डल की तिलक स्वरूपा मरुभूमि में हुआ ।

(४)

तिर्यक्-नृ-नारक-निगोद-सुरासुराणां,
बंभ्रम्य योनिनिवहेषु चिरौघकालम् ।

पूर्वार्जितैः शुभतरैर्गणिवर्यपुण्यैः,
लब्धास्ति ते चरणरेणु-पुनीत-सेवा ।।

हे आचार्य प्रवर ! मुझे नरक, निगोद, तिर्यञ्च, मानव, देव, असुर आदि चौरासी लाख जीव योनियों में अनन्त काल तक भटकने के पश्चात् पूर्व जन्मों में उपार्जित अतीव शुभ पुण्यों के फलस्वरूप आपके चरणारविन्दों की पवित्र रज की सेवा प्राप्त हुई है ।

(५)

रत्नत्रयं दुरित-दुर्गक्षयैक वज्रं,
प्राप्तोऽस्मि पूज्य ! तव भूरि दया प्रसादात् ।

मिथ्यात्व मोह-ममता-मद-लुम्पकाः मां,
किं हा तथापि न हि देव ! परित्यजन्ति ।।

हे पूज्यवर ! आपकी असीम दया के प्रसाद से, मुझे पापों के गढ़ को नष्ट करने में पूर्णतः सक्षम, वज्रतुल्य रत्नत्रय प्राप्त हुआ है । तथापि हे आराध्यदेव ! यह दुःख की बात है कि ये मिथ्यात्व, मोह, ममत्व और मद रूपी लुटेरे मेरा पीछा क्यों नहीं छोड़ रहे हैं ?

(६)

लब्धोऽसि हे कुशलवंश-धुराधुरीण ।
संसार-तारणविधौ पटुकर्णधारः ।
चित्तं कषाय-निखिलार्ति-हरौषधं त्वां,
कल्पद्रु माभमपि प्राप्त सुपीड़ितोऽस्मि ।।

हे कुशल-वंश-श्रमण परम्परा के कुशल धुराग्रणी नायक ! भव्यों को संसार-सागर से पार लगाने वाले आप जैसे समर्थ कर्णधार मुझे मिल गये हैं । मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि विषय-कषायों तथा सब प्रकार के दुःख-द्वन्द्व को नष्ट कर देने में समर्थ दिव्य औषधि तुल्य एवं सभी इच्छाओं को पूर्ण करने वाले कल्पवृक्ष के समान आपको पाकर भी मैं (भव-रोग से) पीड़ित हूँ ।

(७)

नाम्नापि ते गुरु गजेन्द्र ! लयं व्रजन्ति,
विघ्नोपसर्ग-दुरितौधभव-प्रपञ्चाः ।
साक्षात् शिवौध ! तब दर्शन-वन्दनेन,
कर्मारयोयदिलयं ति किमत्र चित्रम् ।।

हे गुरुदेव गजेन्द्राचार्य ! आपका नाम लेते ही सभी प्रकार के विघ्न, उपसर्ग, पापपुंज और संसार के प्रपञ्च तिरोहित हो जाते हैं, तो हे मूर्तिमान् कल्याणकुंज! आपके दर्शन और वन्दन से यदि कर्मशत्रु नष्ट होते हैं, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

(८)

प्रातर्जपामि मनसा तव नाममन्त्रं
मध्येऽन्हि ते स्मरणमस्तु सदा गजेन्द्र ।
सायं च ते स्मरणमस्तु शिवात नित्यं,
नामैव ते वसतु शं हृदयेऽष्मदीये ।।

हे गजेन्द्राचार्य ! मैं प्रातःकाल आपके नाममन्त्र का अन्तर्मन से जप करता हूँ । मध्याह्न में भी आपके मंगलकारी नाममंत्र का स्मरण रहे । नित्य ही सायंकाल के समय में भी कल्याण के लिये आपका स्मरण रहे । हे देव ! हमारे हृदय में केवल आपका कल्याणकारी नाम ही बसा रहे ।

– गजसिंह राठौड़